विचार नवनीत

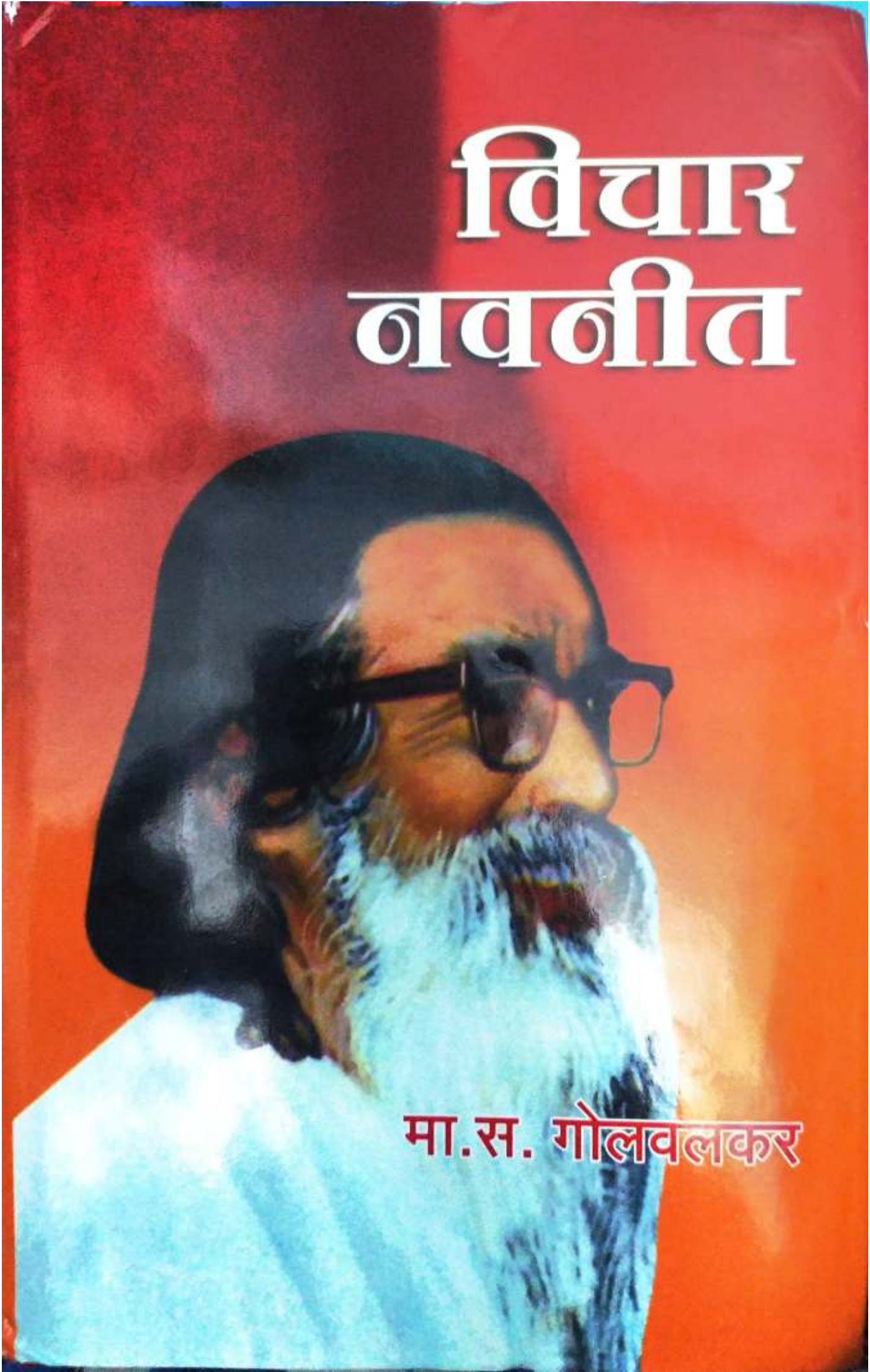

मा.स. गोलवलकर

SHOUT
SHARE IT

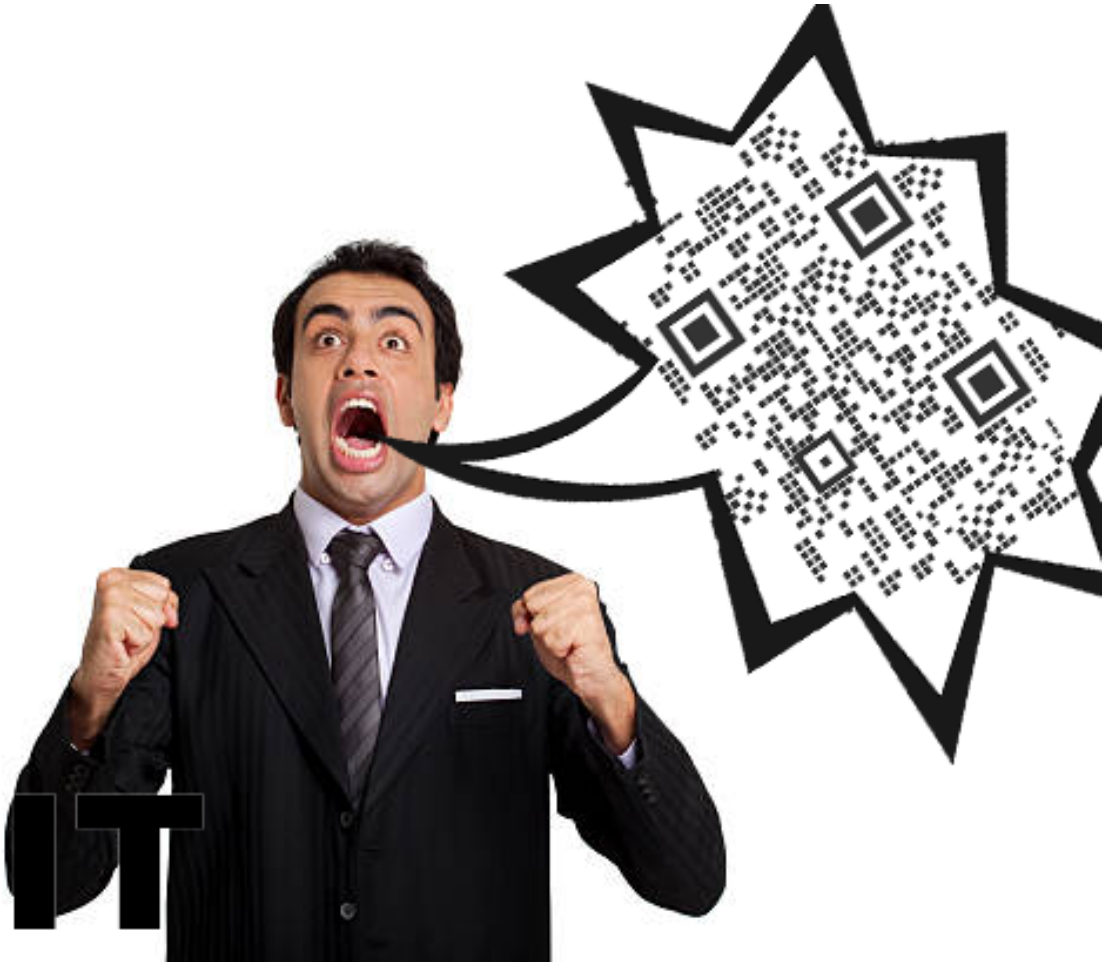

ABHINAV BHARAT

The Untold Hero Veer Savarkar

Relish the life, work, & achievements of
Veer Savarkar
through the authentic books and documents.

GET IT ON Google Play

Instagram : @Savarkar_For_Life

Site : RisingHindutva.in

Books : RisingHindutva.in/Book

Visit [RisingHindutva.in] for more books !

मा. स. गोलवलकर

विचार नवनीत

(अंग्रेजी पुस्तक 'बंच ऑफ थॉट्स' का हिन्दी संस्करण)

विचार नवनीत

माधव राव सदाशिव राव गोलवलकर

प्रकाशक :

ज्ञान गंगा प्रकाशन

मधुकर भवन, बी-१६, न्यू कॉलोनी

जयपुर, राजस्थान

प्रकाशक :
ज्ञान गंगा प्रकाशन
मधुकर भवन,
बी-१६, न्यू कॉलोनी
जयपुर, राजस्थान
दूरभाष : २३७१५६३ (०१४१)

मूल्य : २२५.०० रुपये

षष्ठम् संस्करण
दिसम्बर, 2018
संवत् २०७५

ISBN : 978-81-904440-1-9

मुद्रक:
क्लासीफाइड प्रिण्टर्स
६, हथरोई, अजमेर रोड, जयपुर
दूरभाष : ०१४१-२३७५६०६

प्रकाशीय निवेदन

परम पूजनीय श्री गुरुजी के विचारों पर आधारित **'विचार नवनीत'** का यह पंचम संस्करण पाठकों के लिए प्रस्तुत करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। यह संकलन मूल अंग्रेजी ग्रंथ Bunch of Thoughts का हिन्दी अनुवाद है। Bunch of Thoughts के प्रकाशक 'साहित्य सिन्धु प्रकाशन' बंगलौर के हम आभारी हैं, जिनके कारण पाठकों को परम पूजनीय श्री गुरुजी के विचारों का यह विस्तृत संकलन उपलब्ध हो पाया है।

'विचार नवनीत' का प्रथम संस्करण लोकहित प्रकाशन, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। ज्ञान गंगा प्रकाशन उनके भी आभारी हैं कि उन्होंने हमें यह संस्करण प्रकाशित करने की स्वीकृति दी। Bunch of Thoughts के हिन्दी अनुवाद का दुष्कर कार्य लखनऊ में बैंक अधिकारी श्री भारत भूषण जी आर्य ने किया। श्री विरेश्वर जी द्विवेदी (पूर्व सम्पादक, 'राष्ट्र धर्म' मासिक) ने इसे और अधिक सुस्पष्ट तथा संशोधित किया। बरेली कॉलेज के हिन्दी विभाग के पूर्व अध्यक्ष डॉ. भगवान शरण भारद्वाज के भी हम आभारी हैं जिन्होंने हिन्दी अनुवाद को पूर्ण करने के काम में 15 दिन अहर्निश परिश्रम किया।

'विचार नवनीत' के द्वितीय संस्करण के सम्पादन कार्य में 'संस्कार भारती' राजस्थान के श्री रवीन्द्र भारती तथा मानसरोवर, जयपुर के कई कार्यकर्ताओं का भी सहयोग मिला, उनके भी हम आभारी हैं।

'विचार नवनीत' का यह पंचम संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत है। इसमें कुछ त्रुटियां अवश्य रही होंगी, उसके लिए हम आपसे क्षमा याचना करते हुए आपके बहुमूल्य सुझावों का स्वागत करेंगे।

ज्ञान गंगा प्रकाशन समिति, राजस्थान

(प्रथम एवं द्वितीय संस्करण की भूमिकाओं के अंशों सहित)

• पंचम संस्करण की भूमिका •

सामान्य बोलचाल में आर. एस. एस. नाम से प्रसिद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना विजयादशमी के दिन सन् १९२५ में हुई थी। श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर उपाख्य श्री गुरुजी को संगठन की बागडोर सौंपकर संघ-संस्थापक पूज्य डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार सन् १९४० में परलोक सिधार गये। श्री गुरुजी भी अंतिम श्वास तक अर्थात् १९७३ तक सरसंघचालक पद का दायित्व वहन करते रहे।

श्री गुरुजी के विचारों को संकलित करने का हमारा यह प्रयास अथाह समुद्र के किनारे कुछ मुक्ता-कणों को बटोरने का प्रयत्न मात्र है। २५ वर्ष से भी अधिक लम्बी कालावधि के नेतृत्व काल में अनेकों बौद्धिकों, वार्ताओं, चर्चाओं एवं अनौपचारिक बैठकों में सब प्रकार से राष्ट्रीय मुद्दों पर अभिव्यक्त किए गए उनके विचारों को एक पुस्तकाकार रूप में संजो पाना बड़ा दुष्कर कार्य है। वास्तव में तो हम यहां विभिन्न विषयों पर उनकी टिप्पणी मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए उनके कुछ विचारों को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत पिरोया गया है, फिर भी यह दावा नहीं है कि इन्हें हम पूर्णतः स्पष्ट कर सके हैं। उनके शब्दों और भाषाभिव्यक्ति को ठीक से प्रस्तुत कर पाने की अपनी सीमाओं से हम भली भांति अवगत हैं। इन सारी चिन्ताओं के होते हुए भी हमने यह कार्य इसलिए अपने हाथ में लिया है कि उनके विचारों की कांति इन सीमाओं के पार जाकर राष्ट्रीय चिन्तन को प्रदीप्त करेगी। आगामी पृष्ठों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि श्री गुरुजी के विचार हमारे राष्ट्रीय मानस की आज की विद्यमान भ्रान्त अवस्था में दीप्त प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हो रहे हैं। हमारे देश में व्याप्त संकट भौतिक (बाह्य) की अपेक्षा बौद्धिक एवं मानसिक अधिक है। आज जो भी व्याधि हमारे राजनीति-शरीर में व्याप्त दिखाई दे रही है उनका मूल हमारे राष्ट्रीय कार्य-कलापों को संचालित करने वाले नेतृत्व की मानसिक दुर्बलता एवं बौद्धिक विकृतियों में है। अधिकतर ये असफलताएं ऊंचे आदर्शों के छद्म में अपने अनर्थकारी प्रभावों को छिपाकर इठलाया करती हैं। श्री गुरुजी के विचारों में ऐसी सभी कालिमा को दूर कर राष्ट्रीय मस्तिष्क को सही दृष्टि एवं उचित कार्य की प्रेरणा से भर देने की तीव्र ऊष्मा और प्रकाशमयता है।

अपने प्रकाशन (लगभग तीन दशक पूर्व) से यह पुस्तक प्रायः सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में मुद्रित की जा चुकी है। इसने वास्तव में देश के सभी हिस्सों और

विदेश के भी चिंतन को आलोडित किया है। यह स्पष्ट है कि इसने एक बड़ी और गहन आवश्यकता को पूरा किया है। यह कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी कि विचार नवनीत के जीवन्त चिंतन ने लाखों नहीं तो सहस्रों लोगों को प्रेरणा दी है। प्रो. एम. ए. वेंकट राव अपनी प्रस्तावना में कहते हैं–''यह देखा जाएगा कि संघ द्वारा अपनाए गए एवं श्री गुरुजी द्वारा जिनकी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, ऐसे सिद्धान्त एवं पद्धतियां, कितनी संपूर्ण, कितनी सकारात्मक, कितनी देशभक्तिपूर्ण, कितनी व्यावहारिक एवं उसी समय सैद्धान्तिक हैं।''

जैसी कि अपेक्षा है कि यह चिन्तन हमारे राष्ट्रीय जीवन के शाश्वत एवं चिरस्थायी पक्षों से युक्त है, साथ ही समसामयिक भी। उचित उपाख्यानों तथा उदाहरणों से युक्त आज की ज्वलंत समस्याओं का विश्लेषण स्थायी सिद्धान्तों पर बल देने और उन्हें विशिष्टता प्रदान करने में सहायता करता है। 'विचार–नवनीत' (बंच ऑफ थॉट्स) में यह विशिष्टता समाहित है। हमारे राष्ट्रीय पट के ताने–बाने का निर्माण करने वाले स्थायी मूल्य पाठक पर पुनः–पुनः अपनी छाप छोड़ते हैं।

तृतीय संस्करण में हमने एक तालिका और कुछ छोटे संशोधन जोड़े हैं, जो द्वितीय संस्करण में छूट गए थे। हमें विश्वास है कि वर्तमान संस्करण का भी पूर्व संस्करणों की भांति उत्साहपूर्वक प्रबुद्ध स्वागत किया जाएगा। 'विचार–नवनीत' (बंच ऑफ थॉट्स) के लिए राष्ट्र की निरन्तर बढ़ती मांग पर्याप्त सिद्ध करती है कि यह एक शाश्वत आकर्षण सहित सर्वोत्कृष्ट विचार–दर्शन है, जिसकी राष्ट्र के पुनरुत्थान एवं पुनर्निर्माण के लिए आवश्यकता है। हम स्वर्गीय प्रो. एम. ए. वेंकट राव के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजति अर्पित करते हैं, जो विस्तृत ज्ञान–सम्पन्न एवं महान् गहन दृष्टियुक्त विद्वान थे, जिन्हें उनकी श्रेष्ठ भूमिका के लिए यह ग्रंथ समर्पित है। हम श्री वी.एस. गोडबोले के भी आभारी हैं जिनका विस्तृत मार्गदर्शन प्रस्तुत संस्करण को अद्यतन करने में सहायक बना। हम उन सभी का, जिनके प्रेमपूर्ण सहयोग ने इस श्रमसाध्य लेकिन सुखद कार्य को संभव बनाया है, अपना धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

बंगलोर

प्रकाशक
(बंच ऑफ थॉट्स)

• प्रस्तावना •

स्वाधीन भारत बहुअंगी पुनर्जागृति और पुनर्निर्माण के काम में लगा हुआ है। इसका कम अथवा अधिक मात्रा में विचारपूर्ण लक्ष्य है, वह जिसे संक्षेप में राष्ट्र-निर्माण (अथवा पुनर्निर्माण) कह सकते हैं-जीवन के एक योग्य तथा प्रेरणादायक रेखाचित्र के अनुसार अपने समाज के भवितव्य का मार्गदर्शन करने वाले शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में इसकी मूर्ति खड़ी करना, जिससे वह राष्ट्र वर्तमान अथवा भावी भारतवर्ष की आवश्यकताओं के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सके।

यह युग पिछली शताब्दी में राजा राममोहन राय के आविर्भाव और कार्यों से लगभग प्रारम्भ हुआ और रामकृष्ण तथा विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, अरविन्द और लोकमान्य तिलक, गांधी और रवीन्द्रनाथ, डॉ. हेडगेवार और वीर सावरकर जैसे उत्कृष्ट विचारकों के विविध क्षेत्रों में जीवन-कार्यों के माध्यम द्वारा आज तक चला आता है। ये केवल कुछ प्रतिनिधि नाम हैं, इनसे राष्ट्रपुरुषों की गौरवपूर्ण मण्डली की सूची समाप्त नहीं हो जाती।

हावेल, राधाकुमुद मुखर्जी और विशेषरूप से मराठा इतिहासकारों एवं कतिपय अंग्रेज, फ्रेंच तथा जर्मन भारती-शास्त्रियों (इंडोलॉजिस्ट्स) ने भारतीय इतिहास की अधिक आशापूर्ण तथा सकारात्मक भूमिका को प्रस्तुत किया है। उन्होंने समय-समय पर राष्ट्रीय आत्मा के पुनर्जागरण और हमारे समाज की मुख्य चिन्तनधारा के वर्चस्व की क्रमिक कालावधियों का अधिक सच्चाई से वर्णन किया है। मौर्य, शुंग तथा गुप्त वंशों एवं हर्षवर्धन के शासनकाल ऐसे ही स्वर्णिम-पृष्ठ माने जा सकते हैं।

विदेशी विचारों और आदर्शों की सम्पूर्ण-प्रतिनिधि ब्रिटिश सत्ता के साथ संघर्ष और विजय की वर्तमान अवस्था भी राष्ट्रीय-पुनर्जागरण और भारतीय-चिन्तन के वर्चस्व के प्रयत्न का काल है, पूर्व में भी अन्य अनेक कालावधियों में राष्ट्रीय आत्म-चेतना का पुनः-पुनः स्वत्वाग्रह और इसी प्रकार अपनी संस्कृति की उन जड़ों का विचारपूर्वक अन्वेषण हुआ है, जिन पर आधुनिक जीवन को पुनः आरोपित किया जा सके और ओजस्वी विकास और शक्ति की दृष्टि से उसे पोषित किया जा सके।

इस बहुमुखी प्रयत्न में, राष्ट्र-निर्माण के ढांचे के रूप में, भारतीय संस्कृति का चित्र पश्चिम से आयी हुई भ्रमात्मक धारणाओं और हमारे प्राचीन जीवन के विकृत विचारों से दबा हुआ है।

विचारों, मानसिक आवेगों और कल्पनाओं के इस भंवर में मोहनदास करमचन्द गांधी ने एक शक्तिशाली व्यापक प्रभाव को समाविष्ट किया, जिसमें भारतीय संस्कृति की भावना के अनुरूप बहुत से तत्व थे।

परन्तु क्योंकि दुर्भाग्य से गांधी-आन्दोलन का प्रमुख विचार राजनैतिक था, अतः उसने जिन सांस्कृतिक तत्वों का आह्वान कर उन्हें प्रवृत्त किया था, उनको वास्तविक शुद्धता और ओज में नहीं ग्रहण किया जा सका और जीवित अतीत के मूल्यों तथा राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-व्यवस्था के विचारों और विविध धर्मों से उन्हें स्वाभाविक और अवयव-अवयवी भाव में समन्वित रीति से सम्बद्ध नहीं किया गया। उन सबका प्रेरणा से अस्पष्ट स्रोतों के रूप में समान शत्रु अर्थात् विदेशी शासकों के विरुद्ध प्रयोग किया गया। लम्बे विदेशी शासन के अधीन प्रस्थापित विभिन्न विषयों की वर्तमान व्यवस्था की स्थान पूर्ति करने के लिए उन सांस्कृतिक तत्वों ने नये भारतीय समाज के और राज्य, अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था का कोई भावात्मक ढांचा प्रस्तुत नहीं किया। वह (गांधी आन्दोलन) प्रमुख रीति से नकारात्मक था, महात्माजी का अनुसरण करने वाले विविध प्रकार के नेता इन बातों के सम्बन्ध में भावात्मक आधार पर निर्णयात्मक विचार करना उत्तर-स्वाधीनताकाल के लिए स्थगित रखना चाहते थे। अतः हम देखते हैं कि महात्मा जी, जवाहरलाल नेहरू आदि जैसे व्यक्तियों को, जिनके साथ मनुष्य, राष्ट्र और परमात्मा के मूलभूत विचारों के सम्बन्ध में उनका कोई सादृश्य नहीं है, राष्ट्रनेता के नाते अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते हैं। नेहरू-मस्तिष्क अधिकांश में विदेश-निर्मित है और अपनी 'भारत की खोज' के बावजूद भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ रूप की भावना श्री नेहरू कभी ग्रहण नहीं कर पाये। इसलिए प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के नेता के रूप में स्वाधीन भारत की रचना करने के लिए नया समाज प्रस्थापित करने की जिस योजना का वह प्रयोग कर रहे हैं, वह योजना है-'समाज का समाजवादी ढांचा' जो कि अतीत के आधारात्मक विचारों की तुलना में कहीं अधिक अमूर्त और ऊपरी, कहीं अधिक यंत्रवत् तथा वर्गसंघर्ष की बिना सुलझी हुई समस्याओं से भरा हुआ है।

शताब्दियों की संस्कृति और सभ्यता ने भारतीय समाज को, उसके सर्वोत्तम स्वरूप में जैसा संघटित और निर्मित किया है (जो हमारे समाज के सभी श्रेणी के लोगों के अवचेतन में अभी जाग्रत है) उसकी भावात्मक कल्पना का शासन के और सरकारी तथा अन्य अधिकारी नेताओं के द्वारा संचालित राष्ट्रीय नवनिर्माण के प्रयत्नों में अभाव बहुत ही अधिक निराशाप्रद है। उस गम्भीर न्यूनता का सबसे प्रमुख चिह्न शिक्षा के क्षेत्र की असफलता है। भारतीय शिक्षा पद्धति में कुछ बहुत महत्वपूर्ण सृजनात्मक विशेषताएं

हैं जो कि औदात्य का निर्माण करने वाली हैं और जिनके द्वारा सभी के चरित्र-निर्माण में समान स्तर की सफलता प्राप्त होने के कारण वह जीवन के अन्तरतम स्रोतों को प्रभावित करती हैं। परन्तु वर्तमान नेतृत्व इस क्षेत्र में पूर्ण रीति से असफल रहा है और भारतीय शिक्षा-पद्धति के मूलभूत गुणों और उसके स्वरूप के आध्यात्मिक वातावरण को उसके आन्तरिक रूप में ग्रहण करने की शक्ति का पूर्ण अभाव प्रदर्शित करता है।

पूर्व के आक्रमणकारियों-शक, सीथियन, हूण आदि-को आत्मसात् करने में हमारा देश सफल हुआ था परन्तु मुसलमानों को राष्ट्रीय समाज में समाविष्ट करने की भारत की असफलता एक उल्लेखनीय तथ्य है, जिसकी कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के नये भारतीय नेताओं ने पूर्ण उपेक्षा की। मुसलमानों को बहुसंख्यकों के मूल्य पर सुविधाएं देकर अपना बनाने का प्रयत्न उनकी बड़ी भारी भूल थी। अन्तिम परिणाम द्वारा यही प्रदर्शित हुआ। प्राप्तकर्ता की विचारसरणी में परिवर्तन हुए बिना दी गई सुविधाओं से आवश्यक परिवर्तन होना सम्भव नहीं था।

आत्मसात् करना सम्भव भी है और आवश्यक भी, परन्तु उसके लिए सही तत्वज्ञान, सही मनोवृति, सही व्यवहार-नीति और सही युक्तियां चाहिए। परन्तु भारतीय नेता इस प्रकार की व्यवहार-पद्धति का विकास करने में अयोग्य सिद्ध हुए। वे अपनी प्रचंड भूल पर तब तक अचल रहे जब तक कि परिणामस्वरूप उन्होंने मातृभूमि का विभाजन स्वीकार न किया। उनकी वैसी ही सत्यानाशकारी कार्यशैली आज भी है और इस प्रकार वे ''पाकिस्तानी'' तत्वों को और भी प्रोत्साहन दे रहे हैं।

एक अन्य दृष्टि से भी राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं का विश्व की ओर देखने का दृष्टिकोण बहुत नकारात्मक और इसलिए असफल और निराशाप्रद सिद्ध हुआ है। इसका सरोकार वर्तमान पश्चिमी सभ्यता के प्रति स्वतंत्र भारत के योग्य सम्बन्ध की जो परिकल्पना होना चाहिए उससे है। यह बहुत बार भुला दिया जाता है कि हिन्दू शब्द का एक राष्ट्रीय स्वरूप है। वह 'भारतीय' (इंडियन) शब्द के समानार्थी है-अर्थात् उन लोगों से संलग्न है जो सिन्धु नदी के समीप रहते थे। यह भारत की भूमि पर प्रागैतिहासिक काल से सहस्राब्दियों में विकसित भारतीय राष्ट्र की सम्पूर्ण संस्कृति और सभ्यता को सूचित करता है।

गांधी-युग में कुछ नेताओं के विचार में अतीत की जीवित जड़ों से फूटी हुई तथा वर्तमान पश्चिमी मूल्य-समुच्चय में से सर्वोत्कृष्ट को आत्मसात् करने वाली एक विकासशील भारतीय सभ्यता की कल्पना का एक प्रधान स्थान था। गांधीजी की छोटी-सी पुस्तक ''हिन्द स्वराज्य'' उनकी इस इच्छा की बोधक है, यद्यपि उनमें जिन

विचारों की रूपरेखा है उनके प्रति चारों ओर सहमति नहीं थी।

परन्तु आज हम देखते हैं कि एक विदेशी, अनात्मसात्, अपरिष्कृत, वर्गयुद्ध से प्रभावित मार्क्सवाद से सम्बन्धित एकाश्म (मोनोलिथिक) सामाजिक ढांचा अधिकारियों के संरचनात्मक आदर्शों (स्ट्रक्चरल आइडियल्स) तथा वास्तविक नीतियों को प्रभावित कर रहा है। और यह हो रहा है, इतने विशाल और भाग्य निर्णायक कार्य के लिए आवश्यक विचारों का पुनराकलन किये बिना ही।

इस विषय में भी सत्ताधारी नेताओं के मस्तिष्क में भारतीय सांस्कृतिक विचारों की शून्यता उन विचारों और आदर्शों से पूरी की जा रही है जो राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए अनुपयुक्त है। सृजनात्मक सुधार की तुलना में मूर्तिभंजक पद्धतियों को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो रहा है।

दोनों ही क्षेत्रों में अर्थात् अल्पसंख्यकों के राष्ट्र में समाविष्ट करने और पश्चिमी सभ्यता के आत्मसात् करने (उसके राजनैतिक-सामाजिक-दर्शन तथा उसके विज्ञान और प्रौद्यौगिकी दोनों विषयों में) के सम्बन्ध में भारत को अधिक भावात्मक और अधिक सृजनात्मक नीति अपनाने की आवश्यकता है। यह नीति भारतीय समाज के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की उत्तमोत्तम विशेषताओं को और राष्ट्रीयता तथा पाश्चात्यता के चिरस्थायी तत्वों को सही अनुपात में रखने के सम्बन्ध में स्पष्ट दृष्टि द्वारा तथा उनके मानव-महत्व के सम्बन्ध में असन्दिग्ध अन्तर्दृष्टि के आधार पर निश्चित होनी चाहिए।

यह महत्व की बात है कि इस अधिक यथार्थ दृष्टिकोण को डॉ. हेडगेवार द्वारा १९२५ में नागपुर में स्थापित संस्था में मूर्तरूप प्राप्त हुआ। उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (जिसका शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद है-नेशनल वालंटियर कोर) के नाम से ज्ञात आन्दोलन में सन्निहित दर्शन और इतिहास अधिक भावात्मक तथा ठोस प्रेरणायुक्त था जिसका अधिक प्रमुखता प्राप्त गांधी आन्दोलन में अभाव था। तत्कालीन राजनैतिक रुचि और राष्ट्रीय स्वाधीनता की अत्यावश्यकता के कारण यद्यपि गांधी-आन्दोलन को ही शीर्षकों में स्थान प्राप्त हुआ था।

भारतीय संस्कृति के सही दर्शन और इतिहास के अतिरिक्त डॉ. हेडगेवार ने मानसिक तथा शारीरिक व्यायामों के शिक्षाक्रम द्वारा तरुणों के प्रशिक्षण की एक अनोखी पद्धति ढूंढ निकाली। प्रशिक्षण में शरीर और मस्तिष्क के संयोजन की दृष्टि से संघ की शिक्षापद्धति, संगीत और व्यायाम (म्यूजिक और जिम्नास्टिक) की प्लेटो की पद्धति के प्रमुख तत्वों का स्मरण कराती है। संगीत से प्लेटो का अर्थ था कला और विज्ञान का सम्पूर्ण क्षेत्र-इतिहास, दर्शन, विज्ञान तथा ललित कलाएं। व्यायाम से उसका अर्थ था,

स्वस्थ मस्तिष्क का स्वस्थ शरीर में विकास करना जहां संगीतज्ञ के हाथों में बज रही वीणा के समान स्वस्थ शारीरिक अवस्था में आत्मा की श्रेष्ठ उदात्त प्रवृत्तियां निनादित हों।

संघ के तरुण स्वयंसेवकों के व्यायाम को देखकर प्रेक्षक को यह अनुभव हो जाता है कि प्लेटो के आदर्श को साकार करने में वे कितने अधिक सफल हुए हैं।

परम पूजनीय श्री गुरुजी (गोलवलकर) द्वारा अपने जीवनकाल में विभिन्न अवसरों पर देश के भिन्न-भिन्न भागों में संघ के कार्यकर्ताओं और जनता के समक्ष प्रकट किए गए विचारों के इस संग्रह में भारतीय संस्कृति के दर्शन और इतिहास की रूपरेखा तथा डॉ. हेडगेवार द्वारा निर्दिष्ट संघ की राष्ट्र-निर्माण की पद्धति भी दी हुई है।

आज देश में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के प्राय: सबसे प्रभावी आन्दोलन के रूप में (जिसका पंजाब से मद्रास तक, देश के प्राय: प्रत्येक भाग में विस्तार हो चुका है) संघ की पूरी भूमिका को समझने के लिए यह आवश्यक है कि अनभिज्ञ और ईर्ष्यालु विरोधियों की ऐसी क्षुद्र आलोचनाओं को कि यह साम्प्रदायिक अथवा हीन अर्थ में केवल ''हिन्दू'' है, अविचारणीय माना जाय।

यह राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन पर आधारित है तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की परिकल्पना करता है।

जो दृष्टिकोण यह प्रस्तुत करता है, उसमें सब अल्पसंख्यकों के लिए स्थान है, इस शर्त पर कि वे अपने जीवन में राष्ट्र के सर्वोच्च सत्य के समक्ष पूरे हृदय से आत्मसमर्पण करें, राष्ट्र विश्वव्यापी सत्यों का माध्यम मात्र है और उनसे अधिक महत्वपूर्ण कोई सत्ता नहीं है। यह उस अतिरेकी राष्ट्रवाद के स्वरूप से भिन्न है, जिसका परिचय पश्चिमी जगत् के हाल के इतिहास में मुसोलिनी और हिटलर के नाम से संबंधित पाया जाता है।

यह जन्मभूमि में मां की प्रतिमा के रूप में राष्ट्रीय समाज के प्रति निष्ठा और भक्ति की शिक्षा देता है। नागरिकों को यह सिखाया जाता है कि उन्हें मातृभूमि की एकता और संगठन के प्रति सर्वोच्च बलिदानी निष्ठा रखनी चाहिए। भूमि तथा समाज की आध्यात्मिक एकता के स्वरूप राष्ट्र के प्रति जिनमें भक्ति की भावना है, वे वास्तविक रूप से भारतीय तथा हिन्दू हैं। मानसिक समर्पण अंतिम तथा सर्वोच्च होना चाहिए।

यह इस बात के साथ बिल्कुल संगत है कि विभिन्न जमात और पन्थ अपनी-अपनी पूजा की पद्धति और सामाजिक प्रथाएं बनाए रखें, यदि उनकी ये बातें सामाजिक संघटन के प्रतिकूल नहीं हैं।

मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों आदि को पूर्ण उपासना स्वातंत्र्य है जब तक कि

वे राष्ट्रीय समाज की श्रद्धा और उसके प्रतीकों को विनष्ट करने अथवा उनकी जड़ें काटने का प्रयत्न नहीं करते। उन्हें अपने अन्तिम तथा एकमात्र दैवी ज्ञान के ऐकान्तिक दावों को राष्ट्रीय समाज की धारणाओं के समक्ष अधीनस्थ कर देना चाहिए। वह जीवन में और सम्भाषण में अपने मत को प्रमाणित मान कर चल सकते हैं परन्तु उन्हें मत-परिवर्तन की अनुचित और अनाध्यात्मिक पद्धतियों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

राष्ट्रीय तादात्म्य के लिए यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यकों सहित सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाज को अतीत के सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को अपनाना चाहिए। उन्हें राष्ट्रीय धर्म, सर्वश्रेष्ठ परम्परागत आचार में प्रतिष्ठित नैतिक सिद्धान्तों और जीवन पद्धतियों के विधान के प्रति आदरभाव रखना चाहिए। सांस्कृतिक इतिहास में उन्हें पूर्ण रीति से अपने मस्तिष्क और हृदय द्वारा सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों का गुण निरूपण करना चाहिए। अहिन्दू राम और कृष्ण को लौकिक उदाहरणों के रूप में महत्व दे सकते हैं जबकि हिन्दू उन्हें आध्यात्मिक आदर्श (अवतार) के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

मुस्लिमकाल का राष्ट्रीय इतिहास बिना संवारे, विशुद्ध सत्य का कथन करते हुए लिखा जाना चाहिए और वास्तविक इतिहास के वीरों द्वारा उदाहृत सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को सबको महत्व देना चाहिए।

इस प्रकार इन विचारों द्वारा सर्वश्रेष्ठ भारतीय समाज का तथा जीवन और संस्कृति के सभी क्षेत्रों-दर्शन, कला, सामाजिक व्यवस्था के मूल्यों के ढांचे का चित्र जो कि संघ राष्ट्रीय मस्तिष्क रूपी आइने के सम्मुख उपस्थित करना चाहता है-शांतिपूर्ण और धैर्यपूर्वक चित्रित होता जाता है। भूदृश्य असंख्य पेड़ों से भरे होने के कारण सम्पूर्ण वन को दृष्टिगत करने के लिए यह आवश्यक है कि भूदृश्य की सम्पूर्ण रूपरेखा को विहंगम दृष्टि से देखा जाय और फिर उसकी रचना में विवरण की बातों का स्थान स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इन भाषणों में बार-बार आने वाली विषय-वस्तु है अतीत की सांस्कृतिक परम्परा का अभिमान। अध्याय के बाद अध्याय सामाजिक जीवन में वर्तमान काल में अनुकरण करने और व्यक्तिगत चरित्र तथा व्यक्तित्व में ग्रहण करने के योग्य प्रेरणाप्रद मूल्यों को व्यक्त करने वाली विशेषताओं के किसी न किसी पहलू की ओर इंगित करता है। परम्परा प्राप्त संस्कृति के श्रेष्ठतम मूल्यों के विषय में आज भी उनकी मार्गदर्शन करने की सामर्थ्य के प्रति श्रद्धा स्थिर करने के विषय में इसमें पर्याप्त कहा गया है।

१. दर्शन

भारतवर्ष के विशिष्ट दर्शन के नाते वेदान्त चिरन्तन आनन्द देने वाले परमात्मा

द्वारा व्याप्त एक विश्व की परिकल्पना करता है। ऐसी सर्वोच्च विश्वात्मा के स्फुलिंगों के रूप में व्यक्तिगत आत्माओं का दैवी लक्ष्य है विश्व के साथ एकात्मता प्राप्त करना तथा परमेश्वर तुल्य बनना। इससे यह निश्चित हो जाता है कि सभी आत्माओं के व्यक्तित्वों में समानता है। जनतंत्र का इससे अधिक श्रेष्ठतर और कौन सा आधार हो सकता है? उदारतापूर्ण व्यवहार और समाज के जीवन में स्वार्थ-त्याग की भावना के भाग लेने के लिए इससे अधिक और कौन सी महानतर स्फूर्ति हो सकती है? परिवार, जाति तथा स्थानीय क्षेत्र के पश्चात् राष्ट्र ही एक ऐसा समुदाय है, जिसकी सेवा के द्वारा हम नैतिक स्तर में ऊंचे उठते हैं।

सभी समूह जो इस कल्पना और अनुशासन के भागी हैं, वे देश के समान नागरिक हैं, पर अन्य कोई नहीं। देशद्रोहियों को जब तक उनकी भावना में ही परिवर्तन नहीं होता, राष्ट्रीय बन्धुत्व की श्रेणी में आत्मसात् नहीं किया जा सकता।

२. सहिष्णुता

प्रज्ञा तथा तादात्म्य की भावना से उत्पन्न होने के कारण ईश्वर का सर्वव्यापकत्व दिग्दर्शित करने वाले इस दर्शन ने सभी दृष्टिकोणों, धार्मिक मतों और जीवन पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता के भारतीय सिद्धान्त को जन्म दिया है। सभी उस विश्वात्मा की अभिव्यक्तियां हैं और इसलिए अपनी गति से, अपने ढंग से तथा अपने प्रतीकों के माध्यम से उसी लक्ष्य पर पहुंच सकते हैं, यदि उनकी आकांक्षा और प्रयत्न में ईमानदारी हो। उन्नति करते समय भूलों का अपने आप सुधार होता जाएगा।

३. अधिकारभेद

विभिन्न योग्यताओं के अनुसार व्यवस्था की भिन्नता वह सूत्र है, जिसके द्वारा लक्ष्य की एकता और मांगों की भिन्नता में सामंजस्य स्थापित होता है।

४. समाज व्यवस्था

भारत में ऐसे विचारों के द्वारा समाज-व्यवस्था की रूपरेखा निर्मित हुई है जिसके द्वारा इसके सदस्य युगों के अनुभव का उपयोग करते हुए तथा व्यक्तित्व को अधिक उच्च धरातल पर उठाते हुए जीवन के सोपान पर साधारणतया निर्बाध रीति से सीढ़ी अग्रसर हो सकते हैं।

व्यक्ति का जीवन ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास में विभाजित है। प्रथम काल में विद्यार्थी सांस्कृतिक परम्परा को ग्रहण करता है तथा सत्य, विज्ञान, दर्शन, विधि (धर्मशास्त्र) तथा कलाओं को आत्मसात् करता है। द्वितीय में, वह समाज के सदस्य तथा अपने परिवार में मुखिया के नाते अपने कर्तव्य पूर्ण करता है। गृहस्थ कर

देता है, राज्य की सहायता करता है तथा दान करता है। जीवन का द्वितीयार्ध व्यक्ति को इस बात के लिए तैयार करता है कि वह सांसारिक जीवन के ब्यौरे की बातों में अपने को न फंसाये और, परमात्मा का चिन्तन कर सके। जीवन के मूल्य, जिसमें परिवार के अन्तर्गत तथा उसके बाहर स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में भी सम्मिलित है, एक ऐसा ढांचा प्रस्तुत करते हैं, जिसका विश्वव्यापी महत्व है। उससे जीवन सर्वोत्तम हो जाता है और उसमें उपभोग, प्राप्ति तथा शांति (काम, अर्थ, धर्म) का पूर्ण संतुलन रहता है। यही आश्रम-धर्म है, जिसके लाभदायक समाज-शास्त्रीय महत्व को पश्चिम ने आज भी ठीक से आत्मसात् नहीं किया है।

समाज-व्यवस्था का एक दूसरा पक्ष है विभिन्न व्यावसायिक समूहों के कर्तव्य और अधिकार अर्थात् स्वधर्म। सत्य, अस्तेय, अहिंसा आदि सार्वभौम मूल्यों के अतिरिक्त भारतीय नीतिशास्त्र विभिन्न व्यवसायों को भी मान्यता प्रदान करता है-विचारक और पुजारी अर्थात् सत्य और परमात्मा अथवा प्रकृति अथवा वास्तविकता के स्वतंत्र उपासक, योद्धा और प्रशासक, कार्य-संचालक आदि, व्यापारी और उद्योगपति और परिवाहक, कृषक और पशुपालक और पशु-संवर्धक आदि। किसी भी प्रगतिशील समाज में सामाजिक कार्य-विभेद उत्पन्न होने पर ये वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि उनके कर्तव्य निर्धारित कर दिये जाते हैं और समाज की उनके प्रति सामाजिक अपेक्षाएं स्पष्ट हो जाती हैं, जिससे प्रत्येक को यह ज्ञान हो जाए कि उससे क्या आशा की जाती है-अपने अधिकारों और कर्तव्यों की-तो एक समन्वित सामाजिक व्यवस्था स्वत: ही उत्पन्न हो जायेगी। वर्तमान समाज योग्यता के अनुसार, स्वधर्म के अर्थात् कर्म और गुण, चरित्र और आचार और प्रत्येक के व्यवसाय से उत्पन्न होने वाले कर्तव्यों के आधार पर व्यवसायों को चुनने की सबको छूट देगा।

५. वर्ग युद्ध नहीं

समाज के प्रति भारतीय दृष्टिकोण एक और दृष्टि से श्रेष्ठ है कि उसका वर्ग-युद्ध स्वीकार नहीं है। वह मानता है कि सामाजिक सामंजस्य सम्भाव्य है चाहे वह विधियों, प्रथाओं, व्यवहार-नियमों और आदेशात्मक कार्यों की एक पूर्ण रीति से प्रचलित व्यवस्था के रूप में न आ सके।

समूहों और व्यक्तियों के व्यवहार के निरूपक के रूप में धर्म विभिन्न परस्पर विरोधी पक्षों के दावों में सामंजस्य स्थापित करता है। परस्पर विरोधी पक्षों द्वारा समाज की, की जाने वाली सेवा तथा समाज में किये जाने वाले कार्यों के आधार पर यदि इस संघर्ष का निष्पक्ष रूप से अध्ययन हो तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रत्येक

समूह के दावों में सत्य और न्याय का कितना अंश है। पंचायत द्वारा अभिव्यक्त हितों और मूल्यों के सामंजस्य की अभिव्यक्ति और उसका निश्चित रूप धारण करना धर्म कहा जायेगा। संघर्षों को सुलझाने की पंचायत-पद्धति के चिरकालीन भारतीय विश्वास का यही मूल है। यह एक ही साथ जनतांत्रिक, वैज्ञानिक तथा नैतिक भी है।

अत: वर्ग-युद्ध अथवा विभिन्न कार्यों और वर्गों की असमाधेय प्रतिद्वंद्विता के विनाशकारी विचार से भारतीय योजना सफलतापूर्वक मुक्त रही।

'धर्म' शब्द के प्रयोग से उसमें विभिन्न सम्प्रदायों तथा धार्मिक संघों के जो एक ही भावों के लिए पृथक् शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं, जैसे मुसलमान, ईसाई-समावेश होने पर कोई निषेध नहीं है। इन विचार, पद्धति और मूल्यों का भाव-तत्त्व स्पष्ट रूप से असाम्प्रदायिक और मानवीय है।

अत: मनुष्य और प्रकृति के तत्वज्ञान और सामाजिक हित दोनों के ही दृष्टिकोण से, भारतीय योजना एक व्यापक सामाजिक दर्शन प्रस्तुत करने में समर्थ है और वर्तमान जटिल जीवन में सुरक्षा प्रदान करने वाला ढांचा दे सकती है। यह एक ऐसा सामाजिक दर्शन है जो कि मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के प्रचलित हिंसात्मक तथा पंकिल सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है।

राज्य की सार्वजनिक हित के कर्ता के रूप में भूमिका अर्थात् राजधर्म जिसे अब राज्यनीति अथवा राज्यधर्म कहा जा सकता है, के सम्बन्ध में भी भारतीय विचार की युक्तिसंगत धारणाएं हैं। राज्य को पक्ष विशेष के हितों से ऊपर रहना चाहिए और सब कार्यों का धर्म के अनुसार नियंत्रण करना चाहिए। राजनीति अथवा समाज शास्त्र के भारतीय शास्त्रों के अनुसार राज्य उच्च वर्ग का वर्ग-प्रतिनिधि नहीं है। न वह शोषण का एक साधन है। वह नैतिकता अर्थात् धर्म का माध्यम है। सामाजिक सत्ता के साथ आर्थिक सत्ता संयुक्त करने के अर्थ में वह समाजवाद का निषेध करता है। राज्य व्यापारी अथवा उत्पादक नहीं है परन्तु उसे सब व्यवसायों को नियंत्रित करने का अधिकार है। इस प्रकार भारतीय विचार वर्तमान संघर्षों और सामाजिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करने में सहायक है और अधिक विस्तृत अनुभव तथा प्रौढ़ चिन्तन पर आधारित होने के कारण अधिक संतोषप्रद समाधान खोज निकालते हैं।

निस्संदेह हम अतीत का अतिक्रमण कर सकते हैं, परन्तु तभी जब उसके माध्यम से विचार कर नये निष्कर्षों की प्राप्ति करें, उसकी उपेक्षा करके और नये सिरे से प्रारम्भ कर के नहीं।

और यह पूर्व के प्रयासों का अपव्यय होगा, यदि हम शून्य से विचार प्रारम्भ करें जबकि हमारी इच्छा होते ही हमें महत्वपूर्ण विचार उपलब्ध हो सकते हैं। यह वैसा ही होगा जैसे प्रत्येक वैज्ञानिक सभी पूर्व के अन्वेषणों की उपेक्षा कर मौलिकता की भ्रमपूर्ण धारणा लेकर, नये सिरे से कार्य प्रारम्भ करे।

वास्तविक और दृढ़ नींव के ऊपर निर्मिति करना उग्र राष्ट्रवाद नहीं, सामान्य बुद्धि है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ केवल विचारों और आदर्शों की शिक्षा देने वाला विद्यालय ही नहीं है, वह चरित्र-निर्माण की व्यावहारिक शिक्षा देने वाला विद्यालय भी है। जैसा बताया जा चुका है-स्वयंसेवकों का कई शिविरों में प्रशिक्षण होता है जिनमें गीत, सामूहिक जीवन, इतिहास तथा राष्ट्रीय आदर्शों और राष्ट्रीय महापुरुषों के विषय में चर्चा, कवायद् और शारीरिक व्यायाम आदि के द्वारा, मातृभूमि की सेवा का लक्ष्य और उसका अभ्यास, चरित्र का एक अंग बन गया है। उदाहरण प्रस्तुत कर उसके प्रभाव का पूरा लाभ लिया जाता है।

शाखाओं में स्वयंसेवकों के दिन-प्रति-दिन के एकत्रीकरणों, राष्ट्रीय उत्सवों, महापुरुषों की जयन्तियां मनाने के समय बड़े सम्मेलनों, भाषणों, प्रदर्शनों तथा अन्य ढंगों के द्वारा साहस, अनुशासन, समाज के प्रति सेवा के भाव तथा गुरुजनों और विद्वानों के प्रति सम्मान का भाव निर्माण किया जाता है। सुपरिचित आदर्शों और भारतीय संस्कृति की पद्धति के पूर्ण अनुरूप देश में तरुणों के प्रशिक्षण की यह एक अनूठी पद्धति है।

स्वयंसेवकों के शिविरों में अथवा नित्य कार्यक्रमों से किसी के प्रति घृणा की थोड़ी सी भी ध्वनि नहीं सुनाई देती। स्वयंसेवकों के सम्पूर्ण मस्तिष्क और हृदय में केवल मातृभूमि की भावात्मक मूर्ति प्रस्थापित की जाती है।

अपने इस वर्तमान नेता के विचारों को इन पृष्ठों में संकलित किया गया है। इन विचारों में हमें आधुनिक भारतीय नेतृत्व के उस विशेष अलग प्रकार के मस्तिष्क की झलक देखने के लिए उपलब्ध है जिसकी उपेक्षा विदेशीयता के रंग में रंगी अधिक प्रसिद्ध गांधीवादी कांग्रेस के द्वारा होती रही है। यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि संघ द्वारा मान्य राष्ट्र-निर्माण के सिद्धान्त और उसकी कार्यपद्धति कितनी पूर्ण, कितनी भावात्मक, कितनी देशभक्तिपूर्ण और साथ ही कितनी आदर्शवादी एवं व्यावहारिक भी है। यह भी दृष्टिगोचर होगा कि सही पद्धति के अनुसार राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के आधारों को प्रस्तुत

करने और राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रेरणा प्रदान करने के अन्य सभी वर्तमान प्रयत्नों का संघ एक अनिवार्य मौलिक संशोधक है। यह साम्प्रदायिक नहीं, राष्ट्रीय है। और इसकी राष्ट्रीयता में उन सब नागरिकों के लिए स्थान है जो कि समाज-सेवा का जीवन व्यतीत करते हुए, प्रतिरक्षा जिसका सबसे कम महत्वपूर्ण अंग नहीं है, आध्यात्मिक राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना ग्रहण करते हैं। सेवाभाव अथवा त्याग के लिए भी तत्परता इस आन्दोलन का विशेष लक्षण है।

एम. ए. वेंकटराव

बंगलौर
२८ अप्रैल, १९६०

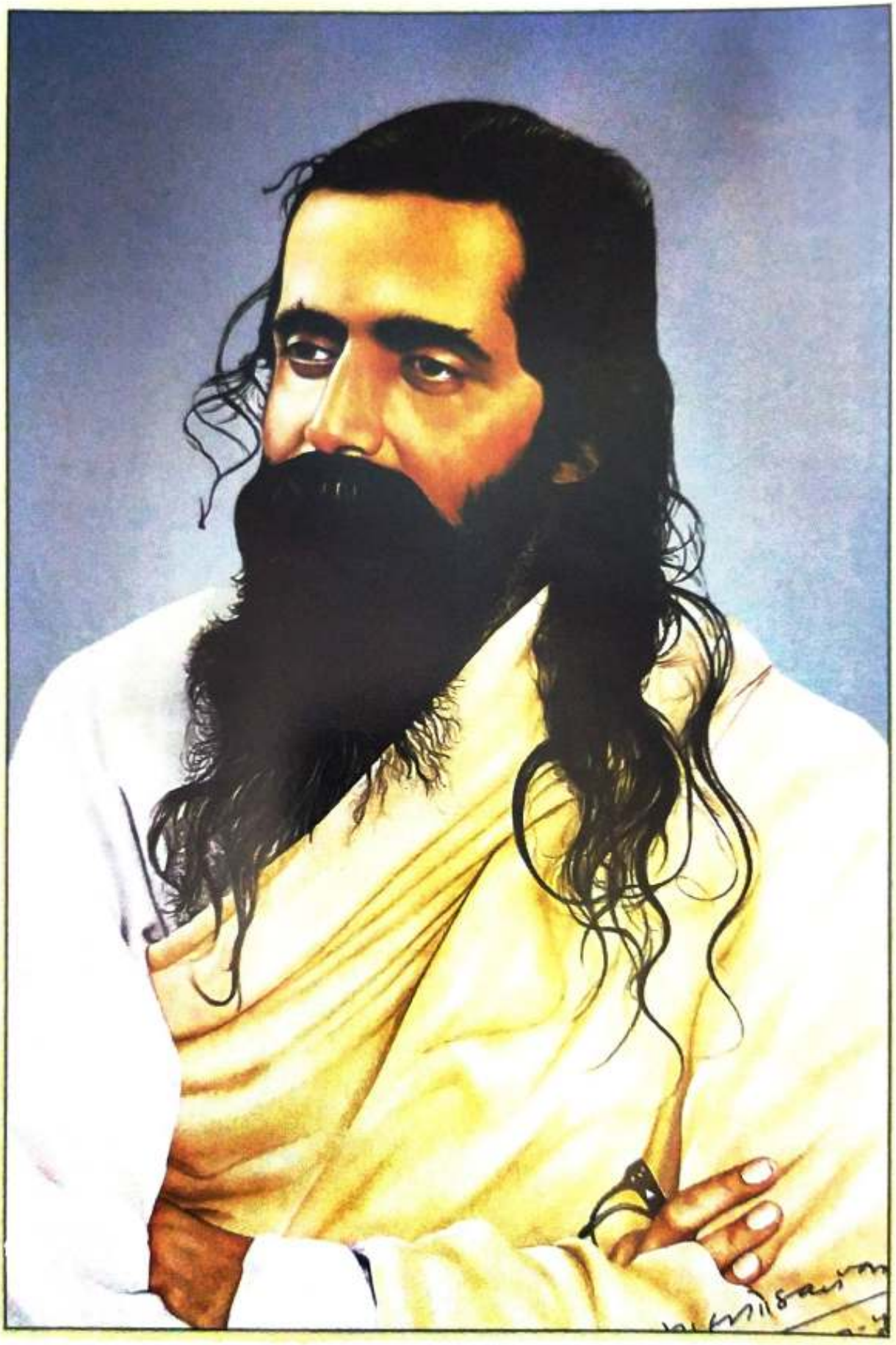

परमपूजनीय श्री गुरुजी

श्री गुरुजी : व्यक्तित्व विचार

सन् १९०६ ई. में नागपुर में जन्मे श्री माधव सदाशिव गोलवलकर अपने माता-पिता की नौ सन्तानों में से एकमात्र जीवित पुत्र थे। ऐसा लगता है कि भाग्य ने ही एक विशेष उद्देश्य के लिए उन्हें जीवित रखा। तभी तो बाद के वर्षों में वे राष्ट्र के आशा-केन्द्र के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघसंचालक बने।

बाल्यकाल से ही मेधावी रहे माधवराव नागपुर विश्वविद्यालय के हिस्लॉप कॉलेज से स्नातक हुए। तत्पश्चात् उन्होंने वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.एससी. उत्तीर्ण की। उस अवधि में वे उस काल के प्रसिद्ध हिन्दू नेता और विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी के प्रेरणादायक व्यक्तित्व से प्रभावित हुए। बाद में दो वर्ष तक वे वहीं अध्यापक रहे। उनके प्रिय शिष्यगण आदर से उन्हें ''गुरुजी'' कहने लगे और यही उपनाम आगे भी उनसे जुड़ा रहा। जब वे अध्यापक थे तभी अपने एक छात्र श्री प्रभाकर बलवन्त (भैयाजी) दाणी की प्रेरणा से जो आगे चलकर संघ के सरकार्यवाह बने, वे संघ में प्रविष्ट हुए।

श्री गुरुजी सन् १९३३ में नागपुर लौट आये और यहां वे संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार के चुम्बकीय व्यक्तित्व से आकर्षित हुए। इस संपर्क ने शीघ्र ही उनका ऐसा कायापलट किया, जैसे नरेन्द्र का श्रीरामकृष्ण से मिलने पर हुआ था। अविवाहित जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेकर उन्होंने विधि का अध्ययन किया तथा कुछ समय तक वकालत की। परन्तु अधिकांश समय और शक्ति वे संघ की गतिविधियों में लगाने लगे।

किन्तु अपने व्यक्तिगत व्यवसाय या सुख-सुविधा से ही बचे रहने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं थी। उनकी आंतरिक आकांक्षा के अनुसार, आध्यात्मिक साधना हेतु वे रामकृष्ण मठ के सारगाछी आश्रम चले गये। वहां वे कुछ महीने रहे और श्रीरामकृष्ण के अनुयायी तथा स्वामी विवेकानन्द के गुरु-भाई स्वामी अखंडानन्द से मंत्र-दीक्षा ग्रहण की। उनके गुरु ने अपने अंतिम दिनों में उन्हें आश्रम के बाहर रहकर समाज की सेवा में लगने का आदेश दिया। श्रीगुरुजी सन् १९३७ में नागपुर लौट आए और उसके बाद पूरे मन से संघ के कार्य में जुट गए। डॉ. हेडगेवार ने बड़ी बारीकी से उन्हें परख लिया और नागपुर के तृतीय वर्ष के प्रशिक्षण वर्ग के सर्वाधिकारी का महत्वपूर्ण दायित्व सौंपा तथा फिर सरकार्यवाह, ऐसे बढ़ाते हुए दायित्वों को सौंपने लगे।

श्री गुरुजी की बौद्धिक एवं मानसिक क्षमता के बारे में अपने वरिष्ठ सहयोगियों से परामर्श करने के बाद १९४० में डॉक्टर साहेब ने अपने निधन के बाद सरसंघचालक का दायित्व श्री गुरुजी को सौंपे जाने का निश्चय प्रकट कर दिया।

श्री गुरुजी ने ३३ वर्षों (१९४० से १९७३) के लम्बे समय तक संगठन में मार्गदर्शक और दार्शनिक की भूमिका निभाई। अनवरत एवं अथक प्रयास करते हुए वे प्रत्येक प्रांत का वर्ष में दो बार भ्रमण करते थे। इस प्रकार कम से कम साठ बार उन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया। संभवत: आज भी यह अपने आप में एक अद्वितीय कीर्तिमान है। श्री गुरुजी ने असम और केरल जैसे दूरस्थ प्रांतों तक कार्य के विस्तार को तीव्र और ऊर्जावान गति प्रदान की। जब उन्होंने रा.स्व.संघ द्वारा संचालित हिन्दू पुनरुत्थान अभियान के कर्णधार के नाते बागडोर संभाली, तब हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना केवल एक कोरा चिंतन मात्र थी। परन्तु, अपनी असीम प्रतिभा के बल पर उन्होंने हिन्दू राष्ट्र की ऐतिहासिक, सामाजिक पृष्ठभूमि और शुद्ध अवधारणा अकाट्य रूप में प्रस्तुत की। इस प्रकार उन्होंने संघ के वैचारिक आधार को सामान्य ग्रामीण से लेकर नगरीय तक की समझ के अनुकूल बनाया। अपनी वाणी और कृति से उन्होंने शाखा-पद्धति को बारीकी से परिपूर्ण बनाया जिससे वह उचित संस्कारों से युक्त व्यक्ति निर्माण का आदर्श साधन बन सकी। १९४० से पूर्व पूर्णकालिक प्रचारकों की परंपरा कम थी। उसे तेजी से बढ़ाकर पूरे देश में शाखाओं के व्यवस्थित विस्तार के लिए एक सशक्त अंग के रूप में स्थापित करने का भी श्रेय श्रीगुरुजी को है।

जब गुरुजी ने संघ की बागडोर संभाली उस समय देश की स्थिति बहुत नाजुक बनी हुई थी। सर्वत्र स्वराज्य की चर्चा चली थी। संघ जैसे संगठन की प्रासंगिकता पर अनेक शंकाएं और जिज्ञासाएं उठाई जा रही थीं। श्री गुरुजी शांति से और सुसंगत ढंग से समझाते थे कि किस प्रकार एक सुसंगठित समाज ही स्वराज्य को सुरक्षित रख कर उसके फलों का आस्वादन कर सकता है। उन्होंने यह भी समझाया कि राष्ट्रीयता की सही अवधारणा क्या है तथा स्वराज्य के लिए वह शुद्ध दर्शन ही प्रेरक बन सकता है। देशव्यापी दंगों और हिन्दुओं के ग्राम-सम्पत्ति एवं मानबिंदुओं पर आक्रमणों की भयावह परिस्थिति में श्री गुरुजी वीरोचित मुद्रा में दृष्टिगोचर हुए। उन्होंने अविराम पूरे देश की यात्रा की-विशेषत: पंजाब और सिन्ध की-और जनता के मनोबल को दुर्दम्य बनाया तथा त्याग और बलिदान की चेतना जगाई। उनके आह्वान का स्वयंसेवकों ने जिस प्रकार प्रतिसाद दिया और नारकीय इस्लामिक उन्माद से हिन्दू भाइयों और बहिनों के प्राण व सम्मान की रक्षा की, इसकी रोमांचक गाथा श्री गुरुजी के प्रेरणादायक नेतृत्व की उज्ज्वल साक्षी है।

श्री गुरुजी के फौलादी नेतृत्व की परीक्षा एक बार फिर हुई, जब केंद्र की कांग्रेस सरकार ने, तुच्छ दलीय उद्देश्य से, महात्मा गांधी की हत्या का फायदा उठाकर सन् १९४८ में संघ पर प्रतिबन्ध लगाया, अत्यंत भड़काऊ और विद्वेषपूर्ण प्रचार किया। श्री गुरुजी की गिरफ्तारी के विरुद्ध संघ बड़ी निर्भीकता से उठ खड़ा हुआ और सत्याग्रह के उन्मेष की वेला में सम्पूर्ण देश में स्वयंसेवकों की गिरफ्तारियां और यातनाओं ने राष्ट्र के अंत:करण को झकझोर दिया। फलत: सरकार को प्रतिबंध उठाना पड़ा।

किंतु इस विजय के पश्चात् स्वयं-स्फूर्त प्रचण्ड जन-स्वागत के बाद भी श्री गुरुजी ने अपना संयम बनाए रखा और स्वयंसेवकों से आग्रह किया कि वे भावावेश में आकर विरोध एवं विद्वेष के शिकार न हों तथा नवार्जित स्वातंत्र्य को सुदृढ़ करने में राष्ट्र के कर्णधारों का सहयोग करें। उदाहरण के रूप में १९४७ के देश-विभाजन के बाद जब कश्मीर का भाग्य अंधकार में लटक रहा था तब श्री गुरुजी, सरदार पटेल के कहने पर महाराजा से मिले और भारत में अविलम्ब विलय के लिए उनको तैयार किया। आगे फिर श्री लालबहादुर शास्त्री के निमंत्रण पर १९६५ में पाक-आक्रमण के समय सर्वदलीय बैठक में भाग लिया और प्रभावी प्रतिरोधात्मक सही रणनीति निर्धारित करने में सहायता की।

अब हिन्दू राष्ट्र के नवोत्थान की संकल्पना को मूर्त रूप देने में संघ की नवीन भूमिका स्पष्ट शब्दों में निरूपित करने का कठिन कार्य सामने आया। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यरत -अ.भा. विद्यार्थी परिषद, भारतीय मजदूर संघ, विश्व हिन्दू परिषद, भारतीय वनवासी कल्याण आश्रम, विद्या भारती तथा सेवा कार्य जैसे अनेक संगठनों का निर्माण हुआ। आगे चलकर आपने गोवंश जैसे राष्ट्रीय मान-बिन्दुओं के प्रति राष्ट्र के अंत:करण में सोई हुई श्रद्धा जगाने के लिए जन-जागरण के माध्यम से एक विशाल अभियान प्रारम्भ किया। श्री गुरुजी की ही प्रेरणा से संघ के स्वयंसेवक १९६३ में स्वामी विवेकानन्द की जन्म शताब्दी के ऐतिहासिक अवसर पर हिन्दू पुनरुत्थान का उनका ओजस्वी संदेश चारों ओर प्रसारित करने और कन्याकुमारी के समुद्र में भव्य विवेकानन्द शिला-स्मारक खड़ा करने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ कूद पड़े।

भारत के सर्वसाधारण समाज तथा प्रबुद्ध वर्ग से समान रूप से निकट संपर्क होने के कारण श्रीगुरुजी राष्ट्र की धड़कन से सदैव परिचित रहते थे। इस कारण कई बार आने वाली घटनाओं का उनको पूर्वाभास हो जाता था जिसकी वह शासकों तथा समाज को तथा लोगों को चेतावनी भी देते रहते थे। छठी दशाब्दी के प्रारम्भ में जब सरकार ने अपनी पूर्व वचन-बद्धता के कारण भाषावार प्रान्त रचना के लिए एक

त्रिसदस्यीय आयोग की नियुक्ति की, उस समय श्रीगुरुजी ने अकेले ही इसके संभाव्य परिणामों के बारे में चेतावनी दी और एकात्मक शासन प्रणाली के लिए आग्रह किया। उसी समय उत्तर-पूर्वी राज्यों में फैली अशांति को लेकर उन्होंने ईसाई मिशनरियों की उन राष्ट्रविघातक गतिविधियों की शासनाधीशों को चेतावनी दी, जिनके कारण आज देश को भारी मूल्य चुकाना पड़ रहा है। पांचवीं दशाब्दी के मध्य में जब हमारे राजनेता "हिन्दी-चीनी भाई भाई" का राग अलाप रहे थे तब श्री गुरुजी ने सार्वजनिक रूप से कितना सही परामर्श दिया था कि इस थोथे शब्द-जाल के धोखे में न आएं। अपनी सीमाओं की सुरक्षा की सुदृढ़ व्यवस्था करें। उन्होंने पहले से ही चीन के दुष्ट मनसूबों को समझ लिया था कि वह हमको भुलावे में रखकर सीमा-पार से हमारे ऊपर आक्रमण करना चाहता है। सन् १९६१ की जनगणना से पहले जब पंजाब समस्या प्रारंभिक अवस्था में थी, उनका ही एकमात्र साहसपूर्वक, विवेकपूर्ण आह्वान था कि सहजधारी हिन्दू अपनी मातृभाषा पंजाबी लिखाएं तथा सभी सिख बंधु अपने को हिन्दू लिखाएं। आज यह हम देख सकते हैं कि उनकी प्रत्येक चेतावनी 'भविष्यवाणी' सिद्ध हुई तथा उनकी अवहेलना के कैसे दुष्परिणाम निकले हैं। श्री गुरुजी की प्रथम चिंता का विषय हमेशा यही रहा कि हिन्दू समाज में आंतरिक विघटन एवं विभेद समाप्त हों। शंकर, मध्व, रामानुज तथा अन्य पीठाधिष्ठित धर्माचार्यों को सहमत कर लेने वाले, उनके अनुनय-विनय का ही परिणाम था कि उन्होंने पहले कर्नाटक विश्व हिन्दू परिषद के उडुप्पी सम्मेलन में तथा बाद में प्रयाग के १९६९ में हुए विश्व हिन्दू सम्मेलन में सर्वसम्मति से छुआछूत, जातिवाद, वर्गवाद आदि बुराइयों को समाप्त करने की घोषणा की और हिन्दू समाज का समरसतापूर्ण एकता के लिए आह्वान किया।

इस प्रकार हिन्दू राष्ट्र के नवोत्थान के आदर्श के प्रति असंदिग्ध प्रतिबद्धता होने के कारण उन्होंने एक महान् ध्येय से अनुप्राणित, अनुशासित विशाल संगठन खड़ा करने में सफलता पाई। अपनी मृत्यु से पूर्व श्री बालासाहब देवरस (मधुकर दत्तात्रय देवरस) के सुयोग्य हाथों में अपना उत्तराधिकार लिखित रूप में उन्होंने सौंप दिया।

५ जून १९७३ को उनकी जीवन लीला समाप्त हुई। वह अपने पीछे छोड़ गये संघ की सतत विकासोन्मुखी प्रेरणादायक परंपरा। संक्षेप में उनका गतिशील कर्त्तव्य उनके आशा और विश्वास से युक्त अंतिम संदेश में मूर्तिमन्त हो उठा, जो उन्होंने १९७३ की नागपुर की अ.भा. प्रतिनिधि सभा के सम्मुख दिया कि अंततोगत्वा संघ अपने उद्देश्य में सफल होकर रहेगा। उनके शब्द थे-"सर्व दूर विजय ही विजय है?"

❑❑❑

१९४७ के पूर्व तथा १९४७-४८ में मार्गदर्शन के कुछ अंश

पांचवें दशक के अंत में, विशेषत: जब विभाजन की चर्चाएं हवा में गहरी थीं, श्री गुरुजी अपने सार्वजनिक भाषणों में अखण्ड भारत को माता के रूप में प्रतिस्थापित कर रहे थे। उन्होंने युवकों का आह्वान किया कि वे उसके सम्मान और गौरव के रक्षार्थ खड़े हो जाएं। एक भावप्रवण आवाज में वे गरजे कि "मां चामुण्डा का आह्वान है कि उसकी संतानें अपने कर्म के मार्ग पर अपना जीवन बलिदान करने को तत्पर रहें।"

निर्माणाधीन (कंपोजिट) राष्ट्र

अब एक नए मिले-जुले (कंपोजिट) राष्ट्र का निर्माण, अर्थात् "हम निर्माणाधीन राष्ट्र हैं" आदि चर्चाएं चल पड़ी हैं। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि समान शत्रु (ब्रिटिश) के सामने हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सभी को संयुक्त राष्ट्र के रूप में संगठित हो जाना चाहिए।

निसंदेह संकटकाल में किसी से भी (शत्रु से भी) मित्रता करनी पड़ती है। किंतु जब समान खतरा ही नहीं रहेगा, तो पुराने विद्वेष अपने भयानक चेहरे फिर से उठाने लगेंगे। अंग्रेज और आयरिश लोग और जिन्होंने अनेक आक्रमण सामूहिक रूप में सहे और जो सैकड़ों वर्षों यूनाइटेड किंगडम के प्रशासन के अधीन भी रहे, अपना एक राष्ट्र नहीं बना सके। जो पहले से एक राष्ट्र हैं उनमें एक सर्वप्रभावी संकट उनके एक राष्ट्रीय जीवन के प्रति अधिक गहन अनुभूति संचारित करता है, किंतु अनेक राष्ट्रीयताओं को एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं कर सकता।

उदाहरणार्थ ओलावृष्टि के समय बहुत से जीव-जन्तु और लोग पास के ही किसी एक घर में शरण ले सकते हैं किंतु वे एक परिवार का रूप नहीं ले सकते। एक राष्ट्र के लिए एक सर्वनिष्ठ समान परंपरा, एक सर्वमान्य ऐतिहासिक नाता और अपनत्व की भावना का होना आवश्यक होता है।

आदर्श व्यक्ति या अवतार

अनोखी धारणा यह है कि एक आदर्श व्यक्ति (अवतार) समाज के समस्त दोषों का निराकरण करने में समर्थ रहेगा। हम नहीं जानते कि इतने आदर्श व्यक्ति

वास्तव में कहीं पर पाया गया है। आधुनिक युग में, फिर भी कुछ व्यक्ति मिलकर अपने व्यक्तिगत गुणों के साथ सामूहिक रीति से एक आदर्श चरित्र का रूप धारण कर सकते हैं। ठीक उसी प्रकार, जैसे मनुष्य के समस्त अंग-प्रत्यंग मिलकर एक भाव से और एक निर्देशन में संचालित होते हैं और सब के सब एक साथ एक सुसंगठित व्यक्तित्व के रूप में कार्य करते हैं। जब ऐसा व्यक्तित्व प्रेम और सौहार्द्र न कि घृणा और द्वेष के साथ कार्य करे तो वह अवस्था दैवी-अवस्था ही होगी।

संक्षेप में यह वही है जो हम उपलब्ध करना चाहते हैं। ठीक इसी बात के लिये हमारा यत्न चल रहा है। ऐसी आलोचना हो रही है मानो हमारे संगठन में आध्यात्मिक प्रशिक्षण का तत्त्व नहीं है। लेकिन यह जानना होगा कि अध्यात्म वास्तव में है क्या? क्या केवल बौद्धिक और दार्शनिक उपदेश या विचार-विमर्श ही अध्यात्म हैं? क्या अपने धर्म और संस्कृति की महानता पर व्याख्यान दे देने से काम चलेगा?

एक बार नागपुर में एक वृद्ध अधिवक्ता सज्जन अपनी पुत्री और उसके दो पुत्रों के साथ अपने घर में थे। अचानक घर में आग लग गई। वह वृद्ध व्यक्ति उस समय एक धार्मिक पुस्तक पढ़ रहे थे। जब उन्होंने धुआं देखा तो सोचा कि यह उनके घर से नहीं उठ रहा और वे उससे उदासीन हो गए। किंतु जैसे उनकी पुत्री ने बेतहाशा आकर बताया कि उनके ही घर में आग लग गई है-तत्काल उस वृद्ध व्यक्ति की उदासीनता हवा हो गई और वे बहुत व्यग्र हो उठे, वे बाहर दौड़े। अपनी सारी दार्शनिकता के प्रति वे एक ही क्षण में उदासीन हो गए। उनके वरिष्ठ मित्र उन्हें सांत्वना देने वहीं प्रकट हो गए थे। उसी समय हमारे स्वयंसेवकों की एक टोली चुपचाप अंदर की ओर गई और उनकी पुत्री व सोते हुए बच्चों को बचा लाई तथा अग्निशमन को भी बुला भेजा। स्वयंसेवक काले हाथों व कपड़ों में लौट आए और उन्होंने बताया कि पड़ोसी उस आग की ओर देख रहे थे तथा मौखिक संवेदना दे रहे थे। स्वयंसेवकों ने इस प्रकार का प्रशिक्षण जो संघ से प्राप्त किया, क्या वह व्यवहार का वेदान्त नहीं है? वास्तव में सारांशत: ये वे संस्कार हैं, जिनकी आज के हिन्दू समाज को परम आवश्यकता है।

आज संघ की प्रासंगिकता

आजकल देश में महत्वपूर्ण उन्नतियां हो रही हैं। स्वतंत्रता और स्वराज की काफी चर्चा है। प्राय: एक प्रश्न उठाया जाता है-इसके बाद हमारे जैसे संगठन की

क्या उपादेयता है? हमारा सामान्य उत्तर यही होता है असंगठित और कमजोर राष्ट्र स्वराज का पूर्ण लाभ व उसके फलों का आस्वादन नहीं कर सकता। ऐसा होना ठीक उस बीमार की तरह होगा जिसे न तो भूख लगती है, न पचा लेने का सामर्थ्य है और उसको गरिष्ठ एवं स्वादिष्ट भोजन परोस दिया जाए। यह तो केवल बलवान और स्वस्थ व्यक्ति के लिए ही संभव है जो उस भोजन का आनन्द लेकर उसे पचा सके और अधिक शक्तिशाली बने।

स्वराज और स्वतंत्रता के कोलाहल के बीच कुछ लोग तुरन्त ही हमारी आवाज नहीं सुन पाते। ऐसे में लोगों को हमारे काम के बारे में मनवाना कैसे संभव होगा? चिकित्सक तीन प्रकार के होते हैं। एक रोगी के पास जाता है उसकी जांच करता है, उसे औषधि लिखकर देता है और लौट आता है। वह रोगी की इससे अधिक देखभाल नहीं करता। उसे इससे भी सरोकार नहीं कि रोगी ने उसकी औषधियां ली भी हैं या नहीं। दूसरे प्रकार का चिकित्सक रोगी को समझाता है, मनवाता है, और मधुर व्यवहार से कड़वी दवा पिला देता है। यदि रोगी अब भी ठूंठ सा बना रहे और दवा लेने से इंकार करता हो तो तीसरे प्रकार का चिकित्सक उसके हाथ कसकर पकड़ लेता है और ताकत से उसके गले में दवा उतार देता है। हमने मध्यम मार्ग चुना है–वह है दूसरी प्रकार के चिकित्सक का।

कोई भी समाज अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहे तो आवश्यक है उसके शरीर का कोई भी अंग कमजोर और अपंग न हो। ऐसा होना शृंखला की सारी शक्ति उसके दुर्बलतम जोड़ पर ही टिकी रहती है। हिन्दुओं की दुर्बल कड़ी उनमें एकत्व के भाव का न होना है। एक सामाजिक जीवन होने के भाव को हम आत्मसात् नहीं करना चाहते, न ही चाहते हैं कि एक–दूसरे की सहायता करें और न ही करते हैं। यद्यपि हमें समझ लेना चाहिए कि इन विस्मयकारी बाह्य विरोधाभासों के होते हुए भी, जो हमारे जैसे विशाल देश में अपरिहार्य हैं, इनके भीतर एक पूर्ण एकत्व का धीर–प्रवाह संचारित है। यह सब उस वृक्ष की भांति है जिसकी प्रत्येक शाखा एक ही जड़ से अपना पोषण करती है।

परकीयानुकरण

आजकल बहुत से लोग ऐसा महसूस करते हैं कि हमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण के लिए इंगलैंड, अमेरिका या रूस का मॉडल स्वीकार कर लेना चाहिए। किसी भी प्रकार उन्हें ऐसा विश्वास हो चुका है कि हम हमारे जांचे–परखे प्राचीन

मूल्यों और प्रेरणास्पद ऐतिहासिक परंपराओं के आधार पर खड़े नहीं हो सकते। वे हमारी राष्ट्रीय पहचान को सर्वदूर त्याज्य मानते हैं। हम स्वयं को हिन्दू कहने पर शर्म महसूस करते हैं। हमारे देश में ऐसा प्रतीत होता है मानो यहां केवल मुस्लिम और गैर-मुस्लिम ही हैं। विदेशी आदर्शों और विचारों के प्रति आसक्ति के कारण ही हमारे अपने गौरवपूर्ण जीवन मूल्यों पर ग्रहण लग गया। यहां तक कि हमारे संविधान निर्माता भी इसी प्रभावकारी दृष्टिकोण के दबाव में दिखाई पड़ते हैं। ऐसी प्रवृत्ति और दिशा की कमी हिन्दू समाज को सार्थक रूप में स्वाभिमान से युक्त कर अपने महान् और पवित्र सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परंपराओं में आस्था की प्रवृत्ति से पुनर्गठित करके ही दूर की जा सकती है।

❑❑❑

विषयानुक्रम

प्रथम भाग–जीवन लक्ष्य

१. **हमारा जागतिक लक्ष्य** ३–११

वर्तमान मानसिक ग्रन्थि–प्रथम विश्व–विचार देने वाले हिन्दू ही–विरोधों का संसार–राष्ट्रीयता के उन्मूलन के लिए उत्पन्न सिद्धान्त, असफलता, उदा. रूस में साम्यवाद–राष्ट्रों के एकीकरण के विविध प्रयोग–दुविधा, हमारा सुझाव: मानव एकता का आन्तरिक बन्धन–जागतिक लक्ष्य के लिये हिन्दू ही सज्जित–प्रथम पग।

२. **मानवता का परम आश्रय (प्रेरणा–स्रोत)** १२–१८

आधुनिक समाज के दो प्रेरक–भाव : 'प्रतिस्पर्धा' एवं 'उन्मुक्तता'– दोनों ही सामाजिक विघटन, संघर्ष, युद्ध के प्रेरक–परिणाम–शान्ति–विनाश। उदाहरण : पश्चिमी उपनिवेशवाद, 'जीवन स्तरोन्नयन' जो मनुष्य को सुख से वंचित करता है–वास्तविक सुख का स्रोत बाह्य पदार्थों में नहीं, वरन् अन्तर्जगत् में–मार्ग–इच्छाओं का अन्त–सर्वोच्च स्थिति–मोक्ष, पुरुषार्थ चतुष्टय परम समाधान।

३. **समय की चुनौती** १९–२७

जनतंत्र का जन्म प्रतिक्रिया के रूप में–पूंजीवाद के अनिष्ट–वाद की प्रतिक्रिया, कम्युनिज्म–इसकी भविष्यवाणी तथा वचन की असत्यता, उदाहरण: रूस–दोनों ही सिद्धान्त के मूल आधार से हटे रहे–दोनों ही भौतिकवाद के प्रसूत–सिद्धान्त के रूप में असफल–समानता की गलत कल्पना–व्यक्ति और समाज का हमारा दृष्टिकोण–मनुष्य का महत्व, पद्धतियों का नहीं।

४. **सम्यक् राजनैतिक एवं आर्थिक संरचना** २८–३४

वर्तमान निर्वाचन–प्रणाली दोषपूर्ण–सच्चे प्रतिनिधि सामने नहीं आ पाते–क्षेत्रीय एवं व्यावसायिक प्रतिनिधित्व साथ–साथ–निर्विरोध पंचायत चुनाव सर्वसम्मत हो–समाजवाद की परिणति दासता में–न्यासी पद्धति का सिद्धान्त–वैयक्तिक उत्प्रेरणा और सम्पत्ति के विकेन्द्रीकरण में सन्तुलन–हिन्दू–जीवन मूल्य : सफलता के मेरुदण्ड।

५. हमारी राष्ट्रीय आत्मा की पुकार ३५-४३
पुनरुज्जीवन, प्रतिक्रिया नहीं-संस्कृति अनिर्वचनीय फिर भी सर्वसमावेशी-देवतास्वरूप राष्ट्र-सेवा की सही भावना-अधिकार नहीं कर्तव्य, विविधता में एकता, सामान्य को उन्नत करना-वर्तमान विपर्यास-अमरता की जड़ों का सिंचन।

६. सच्चे राष्ट्रीय वैभव के लिये ४४-५४
वैभव की हमारी अनुपम भावना-चतुर्विध प्राप्ति-व्यक्ति के विकास एवं समाज के संगठन के लिए धर्म-भौतिकवाद का दु:खान्त-वह क्या था जिसने हमें विश्व गुरु बनाया-वैभव के योगक्षेम के लिये संगठित शक्ति-संगठन के लिये योग्य व्यक्ति।

७. भावात्मक सक्रिय हिन्दुत्व जीवन की आवश्यकता ५५-६६
अपरिभाष्य 'हिन्दू'-उद्देश्य : ईश्वरानुभूति-विशिष्ट लक्षण - हमारे अनुपम आदर्श-दैनिक जीवन में आदर्शों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता-प्रतिक्रियात्मक हिन्दुत्व के परिणाम-दैनिक संस्कारों का महत्व-आधुनिकवाद की झक-सभी क्षेत्रों में हिन्दू आदर्श-राष्ट्र के स्वधर्मानुसार जियो।

८. कार्य और लक्ष्य का स्वरूप ६७-७९
सरल उपाय की झक-राजनीति का प्रलोभन, इतिहास की चेतावनी-हमारे सामर्थ्य का रहस्य राष्ट्रीय कायाकल्प के लिए प्रेरणा, सत्ता भ्रष्ट करती है-सत्ता पर नियंत्रण-राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति के योग के परिणाम, यूरोप से शिक्षा-संघ द्वारा लोकशक्ति का निर्माण-राष्ट्रीय प्रतिज्ञा का समर्थन।

द्वितीय भाग-राष्ट्र और इसकी समस्याएं

९. हमारी मातृ-भूमि ८३-९८
१. एक महान कल्पना-हमारी दिव्य मातृभूमि-प्राचीन भावना-उसके उच्छेदन हेतु अंग्रेजों का प्रयत्न-अति पुरातन भारत का वर्णन-हिमालय-पूर्णचित्र-ईश्वर साक्षात्कार के लिए सुचयित देश-देशभक्ति का अध्यात्मीकरण-इसकी जीवन्त परम्पराएं।

२. **वीरव्रती निष्ठा की आवश्यकता**–बुद्धिवाद की सीमाएं–मातृत्व की भावना, विकास का चिह्न–भक्ति के दो पहलू–पराक्रमी भक्ति ही महत्वपूर्ण–''घास का तिनका भी नहीं उगता'' की मनोवृत्ति के परिणाम–राजनीतिक सीमाओं का निर्धारण राष्ट्रीय इच्छा शक्ति के द्वारा।

१०. मातृभूमि के पुत्र ९९–१२१

हिन्दू नाम क्यों? हमारी सामाजिक विविधता विकास का लक्षण–अनेकों पन्थ परन्तु एक धर्म–इसका दुहरा प्रयोजन–वर्तमान विपर्यास के कारण–वर्ण व्यवस्था, मूल रूप दासता का कारण नहीं, वर्तमान विपर्यास–हमारी सभी भाषायें राष्ट्रीय–तमिल के पृथकत्व की काल्पनिक कहानी–हिन्दी ही सरकारी भाषा क्यों? –वर्तमान भाषायी अभिनिवेश–आर्यद्रविड़ विवाद–एक राजनीतिक खेल, नये–नये झगड़े–अन्तर्निहित एकता की अनुभूति, जन्मत: कर्त्तव्य।

११. पौरुषयुक्त राष्ट्र जीवन के हेतु १२२–१३४

राष्ट्र एक भावात्मक कल्पना–आधुनिक विद्वानों के कथन–भारत का पुत्र, हिन्दू, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक सजातीयता–अत: हिन्दू राष्ट्र–अहिन्दू और राष्ट्रीयता का निकर्ष–पोषण नहीं वरन् संस्कृति का महत्व–अहिन्दू को आह्वान–आत्मसात् की भावना का पुनरुज्जीवन–हिन्दूराष्ट्र में अहिन्दू–राष्ट्रीय एकात्मता के लिये आधार।

१२. प्रादेशिक राष्ट्रवाद १३५–१५२

१. **उसके मूल**–'राष्ट्रीय' शब्द क्यों–इंग्लैण्ड की चाल–अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव–विकृत इतिहास–प्रादेशिक राष्ट्रत्व का जन्म–उसका बेतुकापन।
२. **उसके फल**–दिशाभ्रष्ट क्रान्तिकारी–कांग्रेस प्रतिक्रियावादी हो गई–अहिन्दू जातियों की प्रकृति–मुस्लिम तुष्टीकरण–हिन्दुओं का आत्म–विनाश का आह्वान–नेतृत्व, एक शोचनीय अभिशाप–व्याधि यथापूर्व–प्रारम्भिक बड़ी भूल को शुद्ध करो।

१३. दृढ़ धारणा के लिए साहस का आह्वान १५३–१५९

धर्म निरपेक्षतावादी और हिन्दू राष्ट्रीयता–भीति भावना, हिन्दू–मुस्लिम भाई–भाई का मूल–एक शिक्षाप्रद कथा–हिन्दू राष्ट्रीयता की अन्तर्निहित दृढ़ धारणा–सत्य को भी प्रमाण चाहिए।

१४. हिन्दू-राष्ट्र की अनुपमता १६०-१६५

१. हिन्दू-राष्ट्र एवं अल्पसंख्यक वर्ग-''धार्मिक-अल्पसंख्यकता'' की अवधारणा त्याज्य-इंडोनेशिया, तुर्की आदि का उदाहरण-हिन्दू-राष्ट्र की सर्वहितैषी परम्पराएं-उदाहरण।

२. हिन्दू-राष्ट्र और सेक्युलर वाद-'सेक्युलर वाद' नहीं राष्ट्रवाद सकारात्मक हिन्दू धारणा।

१५. मूलभूत सत्यों का उद्घोष १६६-१७७

'राष्ट्रीय एकता', 'साम्प्रदायिकता' आदि शब्दावली का वास्तविक सम्पृक्तार्थ-बहुसंख्यक, साम्प्रदायिकता एक तर्क विसंगत शब्दावली-साम्प्रदायिकता के सात प्रकार-विकृति का कारण : पंथगत अत्यासक्ति-साम्प्रदायिकता के निवारण के साधन व उपाय - सबके लिए राष्ट्रीय संस्कार, दोषपूर्ण भाषा-नीति का परित्याग, एकात्मक राज्य, आक्रामक व्यवहार कार्यकलापों पर विराम-आत्मसातीकरण का वास्तविक मार्ग, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का एकात्मकता का ध्येय।

१६. आन्तरिक संकट १७८-२०३

१. मुसलमान-विभाजन के पश्चात् मुसलमान-दुहरी व्यूह रचना : सीधा आक्रमण, संख्या में वृद्धि-हमारे नेताओं की नीति, हिंसा लाभदायक-टाइम-बम-कुछ न भूलना, कुछ न सीखना-लघु पाकिस्तान-राष्ट्रीय मुसलमानों की कलई खुल गयी-वास्तविकता का सामना करो।

२. ईसाई-मानवता के नकाब में-अधार्मिक और राजनीतिक युक्तियां-नियोगी कमेटी का अधिनिर्णय-नागालैण्ड, केरल आदि में गतिविधियां-सम्पूर्ण संसार में वही कहानी।

३. कम्युनिस्ट-कम्युनिज्म किस प्रकार जड़ जमाता है-पश्चिम का गलत दृष्टिकोण-प्रतिक्रियात्मक उपाय : भूदान-समाजवाद का संकट-चीन के पद चिह्नों पर-राष्ट्रीय प्रतिभा पुनरुज्जीवित करो।

तृतीय भाग–वैभव का मार्ग

(राष्ट्रीय चेतना का जागरण)

१७. ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति २०७–२२३

समाज के प्रति हमारा ऋण–सर्वोच्च सेवा–विगत वैभव–शत्रुओं द्वारा विनाश–एक समय सामर्थ्य संपन्न और स्वतंत्र–जयचंदों की परम्परा के कारण मुसलमानों तथा अंग्रेजों की सुफलता–व्याधि गई नहीं, पाकिस्तान का निर्माण–आन्तरिक विभेद–इतिहास की पुरावृत्ति, द्रविडनाड आदि–संघात्मक ढांचा, एक विषाक्त बीज–मूलभूत उपाय।

१८. एकात्मक शासन की अनिवार्यता २२४–२३०

१९. शाश्वत अधिष्ठान २३१–२४२

भावात्मक आधार की आवश्यकता–प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण के परिणाम–संघ का उद्देश्य स्थायी संगठित जीवन–अस्थायी आन्दोलनों का भवितव्य, कांग्रेस–प्रवाह–पतित राष्ट्र–उपाय–खतरे का संकेत।

२०. आधार–तत्वों का पोषण २४३–२४८

शिक्षा : अन्तर व्यक्तित्व के प्राकट्य हेतु शिक्षक : एक चरित्र–निर्माता, वर्तमान विकृत शैक्षिक प्रवृत्ति की शुद्धि कीजिए–हिन्दुत्व के प्रति सच्ची निष्ठा–हमारा उपहासकारक इतिहास–राष्ट्रीयता के सत्यबोध को प्रोत्साहन दीजिए।

२१. चुनौतियां अनेक २४९–२५५

हिन्दू संगठन के मार्ग व्यवधान–आत्मगौरव का अभाव, क्षेत्रीयता का भूत–तेलंगाना संघर्ष, सकारात्मक शासन घोषित करिये–भ्रष्टाचार का ताण्डव–वन्देमातरम् का मुस्लिमों द्वारा पुन: विरोध–हिन्दू ही भूमिपुत्र–सत्य की अस्वीकृति घातक।

२२. राष्ट्रीय जीवन का अमृत कुंभ २५६–२७६

१. वास्तविकता का संसार–शक्तिमान दुर्बल को खा जाता है–विश्व इतिहास का महान् तथ्य–विश्व का वर्तमान चित्र–घोषणाएं बदलती हैं, वास्तविकता वहीं बनी रहती है–परस्पर मित्रता की

मृगतृष्णा–शक्तिमान और दुर्बल की मित्रता–शान्ति एवं स्वातंत्र्य के लिये शक्ति।

२. अन्तिम अनुशास्ति–ऊंची नि:सार सदुक्तियों के संकट–पंचशील का भवितव्य–अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा की कपोल कल्पना–संसार शक्ति के सामने झुकता है। हमारी विपर्यस्त धारणाएं–अहिंसा कि कापुरुषता? –हमारे महान उदाहरण–सही तत्त्वज्ञान–शक्ति का सच्चा स्रोत।

२३. विजय के उपासक २७७–२८८

महान् व्यक्तियों को देवत्त्व प्रदान करना–धर्मशास्त्रों का गलत अर्थ लगाना–मूल में स्वार्थ और विवशता–प्रयत्न ही परमेश्वर है–महान् उदाहरण–विजयशाली की पूजा, बलिदानी, महान् परन्तु आदर्श नहीं–राजपूतों के हौतात्म्य से शिक्षा–कर्म करना, प्रतिक्रिया नहीं–सही कर्म का तत्त्वज्ञान।

२४. विजय के लिए संघर्ष २८९–३१५

१. समुचित उपाय–भय का स्वरूप और परिमाण–लोगों की इच्छा –शक्ति को बनायें–सुदृढ़ राष्ट्रीय नेतृत्व चाहिए–राष्ट्र के मनोधैर्य को बनाये रखो–ध्येयवान/वचन/मितव्ययता!–व्यक्तिपूजा का संकट–कम्युनिस्ट 'विभेद' एक छल–चीन की 'युद्धबन्दी' की चेतावनी–पाकिस्तानी पंचमांगियों से सावधान–पाकिस्तान का तुष्टीकरण आत्मघाती–मित्रों को पहिचानो–विश्वस्त प्रहरी को सुदृढ़ करो।

२. समुचित तत्त्वज्ञान–वास्तविक विभीषिका–चरित्रहीनता चरम सीमा पर–नैतिकता ऊपर से नीचे की ओर–प्रेरणादायी आदर्श–हिन्दूराष्ट्र का ऐतिहासिक आह्वान–नेताओं का स्वप्न–वास्तविकता की पुकार–'एकपक्षीय सौजन्य' की भवितव्यता–वास्तविक राष्ट्रीय शक्ति–सामर्थ्य से मित्रों की प्राप्ति–एक वरदान, किन्तु कब?

२५. युद्धरत राष्ट्र ३१६–३३९

१. नवीन युग का आह्वान–स्वाभिमान, राष्ट्र का जीवन–प्राण–यंत्र की तुलना में मनुष्य की श्रेष्ठता–कपोल–कल्पना चूर–चूर हो गई–राष्ट्र की पराक्रमी प्रकृति–राष्ट्रीय नीतियों के लिए मार्गदर्शक दिशा–वास्तविक युद्ध–साधनों को नष्ट करना–अखण्ड भारत, एकमात्र समाधान –राष्ट्रसंघ

अपने वास्तविक रूप में–अन्तरराष्ट्रीय मैत्री का नियम–कश्मीर, एक समाप्त अध्याय–इससे बड़े युद्ध का स्वागत करो।

२. चुनौती का सामना–स्वावलम्बन, स्वतंत्रता का मेरुदण्ड, अणु बम –पेट की चुनौती–रुपये का सम्मोहन भंग करो–विदेशी निर्भरता का मूल्य–इंग्लैण्ड का उदाहरण–राष्ट्र के मनोधैर्य का निर्माण–सरकार का उत्तरदायित्व–संदेहात्मक तत्वों के आत्मसात् का मार्ग–वर्तमान युद्ध एक महान् शोधक–एकता–प्रासंगिक और स्थायी–हिन्दू राष्ट्रीयता के सभी 'वादों' की परिपूर्णता।

२६. शिक्षाएं विस्मृत न हों ३४०–३४४

विश्व–परिस्थितियों का सत्य–शत्रु–शेष न छोड़ें–युद्ध के प्रति हमारा पारम्परिक दृष्टिकोण–जनसमर्थन ही मुख्य आधार–शिक्षाएं।

२७. (क) नीलगगन में पल–पल फहरे अपनी विमल पताका ३४५–३५१

(ख) सामाजिक उत्थान के लिए

राष्ट्रीय स्वाभिमान जगाइये–आदर्श राजदूत–नियमित संस्कारों की आवश्यकता–दूसरों के सद्गुणों को आत्मसात् करो–स्थानीय जनता की सेवा करो–अफ्रीका के कटु प्रसंग–विश्वधर्म प्रचारक के रूप में–प्रश्नोत्तरी।

२८. अस्पृश्यता का उपचार ३५२–३५८

पांथिक विकृति ही मूल कारण–धर्मगुरुओं का ऐतिहासिक आह्वान–हिंसक दृष्टिकोण का प्रति प्रभाव–हरिजन–सवर्ण टकराव का प्रेरित प्रचार–सभी जातियों के जरूरतमंदों के लिए विशेषाधिकार–अस्पृश्य भी अनेक क्षेत्रों में श्रेष्ठ–अन्त:करण पर आधारित कार्य प्रणाली–संघ की सफलता का रहस्य।

२९. उपेक्षित बन्धुओं की सेवा ३५९–३६५

अंग्रेजों की विघटनकारी नीति अभी जारी–ईश भक्ति के माध्यम से दीनोत्थान–विदेशी धर्म–प्रचारकों से सीख–जनगणना में हिन्दू घोषित करो–उनका पिछड़ापन हमारे दोषों का परिणाम–सेवा में कर्मयोगी की भावना–प्रश्नोत्तर।

३०.आत्मीयता ही सर्वोत्तम समाधान ३६६–३६९

स्वदेशी व विदेशी चाय उत्पादकों में भेद–विश्वास एक अन्तर्निहित अच्छाई–प्रथम कर्त्तव्य निर्धन के प्रति–इन्दितकराई (तमिलनाडु) का उदाहरण, महत्वपूर्ण है हृदय।

३१.मातृ–शक्ति का आह्वान ३७०–३७६

घर को संस्कार–केन्द्र बनाना–प्रात: स्तवन, सामाजिक परिवेश–अकेलेपन का प्रतिकार–साक्षरता अभियान, रोजगार प्रशिक्षण, बहनों को संस्कार, सावित्री–भाव का आह्वान।

३२.हम और हमारे विद्यार्थी ३७७–३८६

चतुर्थ भाग–व्यक्ति–निर्माण

३३.सफल कार्य–पद्धति ३८९–४२५

१. राष्ट्र के वास्तविक पुनर्गठन के लिए–क्रांतिकारी और जन–आन्दोलनों की त्रुटियां–व्यक्ति निर्माण की दैनंदिन कार्यपद्धति–प्रत्यक्ष आचरण का आग्रह–राष्ट्रीय प्रतीक भगवाध्वज–हमारा गुरु, व्यक्ति अथवा ग्रंथ की नहीं, आदर्श की पूजा–शाखा राष्ट्रीय पुनर्गठन का केन्द्र–राष्ट्रीय उत्सवों की परम्परा–संस्थावाद से भय–युद्धप्रिय वर्गों का प्रभुत्व–एक अहिन्दू धारणा–सम्पूर्ण समाज को संगठित करने के लिए संघ।

२. यथार्थ दृष्टिकोण–राजनीतिक दल एवं राष्ट्रीय दृढ़ीकरण–इंग्लैण्ड और भारत–मूलगत औषधि की आवश्यकता–मानसिक परिवर्तन कैसे किया जाय–क्षणिक आवेगों की लहरें लौट पड़ती हैं–संस्कारों के लिए नियम–छोटी चीजों से बड़ी चीजों तक, अनुशासनहीनता–शक्ति की शत्रु–वास्तविक शत्रु–वर्तमान भ्रांतियां–स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति–स्वावलम्बन, अहं का विलोप–व्यवहार के बाद उपदेश–अनुशासित एवं समर्पित–राष्ट्रीय पुन:जीवन के लिए बीज–केन्द्र।

३. कार्यप्रणाली की अमोघता–सिंहतुल्य साहसी अन्त:करण वाले लोगों का निर्माण–स्वत:स्फूर्त एकता, संयम और स्वार्थत्याग के लिए–उपयुक्त कार्यपद्धति–वयस्कों का दायित्व।

३४.वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय चारित्र्य ४२६–४३६

हमारा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य, व्यक्तिगत चारित्र्य–साधनों की शुचिता–व्यक्तिगत प्रमाद, राष्ट्रीय संकट–उदासीन सज्जनता के दुष्परिणाम–राष्ट्रीय संकट–जीवन–प्राण–इतिहास का निर्णय–भक्ति व्यापार नहीं है–भक्ति का सामर्थ्य–जब चरित्र प्रस्फुटित होता है।

३५.पौरुषवान बनें ४३७–४५२

नींव के पत्थर बनें–सेवा का आदर्श–स्वावलम्बन, ज्वलन्त उदाहरण–व्यक्तिगत उन्नतिवाद का अभिशाप–सम्यक् आदर्श का वरण–अतिवाद का त्याग–राष्ट्रसेवा–हीनता के भावों तथा अन्धानुकरण के विमोचन, सस्ते अनुकरण–विश्व में सम्मान प्राप्त करने का रहस्य, हमारे पुरातन आदर्श, सनातन परम्परा–मां की अभिलाषा।

३६.ध्येयवादी मनुष्य ४५३–४६६

वास्तविक महानता, साधारण को महान बनाया–अकृत्रिम तादात्म्य भावना–सौजन्य में विश्वास का प्रतिपादन–साहचर्य का निर्माण–आत्मविश्वासी बनो, गर्व से सावधान–महापुरुषों के जीवन से शिक्षा–अहंकार का अभाव सफलता है–एक जीवन, एक लक्ष्य–आत्मनिरीक्षण, आत्म–सुधार–आदर्शवाद का आनन्द–कष्ट की महिमा–आगे और अधिक आगे बढ़ना।

३७.मूर्तिमान् आदर्श ४६७–४७९

आजीवन आत्माहुति–स्व–परिवर्तन–प्रत्येक के मित्र, शत्रु किसी के नहीं–अप्रतिहत कार्य–अनुपम ऐक्यकारी–आत्म–विलोपित–परार्थ जीवन–अथक उद्योग की अग्नि में–मृत्यु जिसने लाखों को अनुप्राणित किया–शब्दों में शक्ति कहां से उत्पन्न होती है–महानता की सन्तान।

३८.श्री गुरु पूर्णिमा ४८०–४८२

व्यास पूर्णिमा भी कहा जाता है–यज्ञ का प्रतीक–भगवान का ध्वज–सच्ची पूजा

परिशिष्ट

- अंतिम संदेश ४८५
- आदर्श की पूजा ४९१
- सभी स्वयंसेवकों को अंतिम पत्र ४९२
- प्रार्थना ४९३
- मुस्लिम समस्या ४९३
- गो–हत्या क्यों? ५०३
- राजनैतिक सिद्धान्त एवं प्रणालियां ५०५
- आर्थिक समस्याओं का समाधान ५०९
- आन्दोलनों का कारण ५११
- जनसंख्या–समस्या का समाधान ५१२
- धर्मविषयक ५१४
- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ५२०
- हमारा वोट किसे ५२५
- चुनाव–परिणाम के सन्दर्भ में मार्गदर्शन 529

❑❑❑

प्रथम भाग

जीवन लक्ष्य

१

हमारा जागतिक लक्ष्य

वर्तमान मानसिक ग्रंथि

आज हमारे देश के बहुत से लोगों का यह विचार है कि कोई भी उपक्रम जिसे हम अंगीकार करें, वह देश, जाति अथवा धर्म की सभी सीमाओं से परे एक महत् जागतिक विचार के व्यापक आधार पर अधिष्ठित तथा संपूर्ण मानवता का हित-साधन करने में समर्थ होना चाहिए। इस दृष्टिकोण के समर्थन में कुछ लोग प्रतिपादन करते हैं कि मिसाइल और रॉकेटों के इस युग में दूरी लुप्त हो चुकी है, देशों की सीमा-रेखाएं अर्थहीन हो चुकी हैं तथा संपूर्ण संसार सिकुड़ गया है। इन्हें लगता है कि देश, राष्ट्र आदि की कल्पना ही कालातीत हो गई है। इसलिए एकमात्र विश्व-ऐक्य की भावना ही हमारे कार्यकलापों की प्रेरणा होनी चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि वे आधुनिक 'वाद' ही, जिन्होंने 'अन्तर्राष्ट्रीयतावाद' को अपना दलीय सिद्धान्त स्वीकार कर रखा है, हमें उस प्रिय लक्ष्य तक ले जा सकते हैं।

अब स्वाभाविक ही जो प्रश्न हमारे सामने आता है, वह यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा ग्रहण किया हुआ हिंदुओं के राष्ट्रीय जीवन को पुन: संघठित करने का कार्य संसार के ऐक्य एवं मानव-हित भावना के साथ कहां तक समरूप है?

इस क्षेत्र में प्रथमागत

आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना है कि आधुनिक विचारक संसार के ऐक्य एवं विश्वकल्याण की दृष्टि से चिंतन के क्षेत्र में प्रथम नहीं है। बहुत काल पूर्व, वास्तव में तथाकथित आधुनिक युग के आगमन के बहुत पहले इस देश के ऋषि-मनीषी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गंभीरता से मनन कर चुके थे। अनन्तकाल से मानव की एकता का आदर्श, संघर्ष एवं सब प्रकार के दैन्य से मुक्त एक संसार की कल्पना हमारे हृदयों को उद्दीप्त कर चुकी है। युग-युगान्तर से हमारी निरंतर एक प्रार्थना रही है:-

'सर्वेऽपि सुखिन: सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया:'

(सभी सुखी हों और सबकी सभी अनिष्टों से मुक्ति हो) जबकि वर्तमान काल का पश्चिम 'अधिकतम संख्या का अधिकतम हित' के आदर्श वाक्य से आगे

नहीं बढ़ पाया है। हमने प्रत्येक मानव के ही नहीं, प्रत्येक प्राणी के दु:खी होने का विचार कभी सहन नहीं किया। 'प्राणिमात्र का पूर्णकल्याण' ही सदैव हमारा उदात्त आदर्श रहा है।

दो पक्ष

किन्तु संसार की आज की परिस्थिति का अवलोकन करने पर मानव-समाज को उद्ध्वस्त कर रहे और चारों ओर फैले कलह एवं विध्वंस के कठोर सत्य का सामना हमें करना पड़ता है। आज मानवता, राष्ट्र और राज्य कहलाने वाले कितने ही छोटे-छोटे एकांतिक गुटों में विभक्त एवं अन्तर्विभक्त हैं। उनमें से प्रत्येक अपने ही संकुचित स्वार्थ में डूबा हुआ है। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि जहां केवल अपने ही स्वार्थों से प्रेरित गुट रहते हैं वहां परस्पर संघर्ष होता ही है। स्पष्ट है कि जब इस प्रकार के संघर्ष होते रहेंगे, मानव का ऐक्य एवं कल्याण असंभव है।

कलह एवं युद्धों की वर्तमान दशा ने और परिणामस्वरूप विनाश तथा दैन्य ने अनेक विचारकों को इस निष्कर्ष पर पहुंचाया है कि एकांतिक स्वार्थ का पोषण करने वाली यह राष्ट्रवाद की भावना ही संसार की एकता और कल्याण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। अत: उन्होंने घोषणा की है कि संपूर्ण संसार में मनुष्यों के मस्तिष्क से राष्ट्रवाद का उन्मूलन कर देना चाहिए। कम्युनिस्ट विचारधारा, जो अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को अपना आधार मानती है, प्राय: इसी ढंग से प्रस्तुत की जाती है।

दूसरी ओर एक और भी विचार प्रणाली है, जो इस बात को स्वीकार करती है कि राष्ट्रवाद की जड़ें इतनी गहरी और इतनी प्राचीन हैं कि उन्हें नष्ट करना असंभव है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को स्वीकार करने के लिए राष्ट्रवाद का परित्याग करने वाला सोवियत रूस अनुभव द्वारा शीघ्र ही समझ गया है कि इस भावना का विनाश, जनता को समर्पण-भाव के प्रयास करने की प्रेरणा से वंचित कर देता है। क्रांति के प्रथम संवेग में तो निस्संदेह रूस ने एक सीमा तक भौतिक प्रगति उपलब्ध की थी। उनकी प्रथम कतिपय पंचवर्षीय योजनाएं कुछ परिमाण में सफल रहीं। किंतु धीरे-धीरे जनता का जोश ठंडा होने लगा। कार्य के लिए उनकी प्रेरणा भी निर्जीव सी होने लगी। अंत में बड़े-बड़े कारखानों में श्रमिकों को संगीनों की नोंक पर काम करने के लिए बाध्य किया जाना आवश्यक हुआ। फिर द्वितीय विश्वयुद्ध में जिस समय हिटलर के टैंक सतत रूस की भूमि को रौंदते हुए आगे बढ़ रहे थे, अंतराष्ट्रीयतावाद और कम्युनिज्म का घोष रूसी जनता में जोश उत्पन्न करने में असफल रहा। इससे रूसी नेताओं की आंखें खुलीं। रूसी जनता में प्रसुप्त देशभक्ति की भावना को जगाने

के लिए मातृभूमि एवं अपने वीर पूर्वजों के प्रति अति प्राचीनकाल की भक्ति के जागरण की नितांत आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई। अत: यह स्पष्ट है कि मातृभूमि, समाज एवं परंपराओं के प्रति श्रद्धा, जो कि राष्ट्र की कल्पना के अंतर्गत आती है, व्यक्ति में वास्तविक सेवा और बलिदान की भावना को प्रेरित करती है।

विफल प्रयोग

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रवाद नष्ट नहीं किया जा सकता और न ही उसे नष्ट करना चाहिए। ऐसी दशा में जो समस्या शेष बचती है, वह राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं विश्वहित के समन्वय की है। वास्तव में भूतकाल में समय-समय पर विविध प्रकार के समन्वयों पर प्रयास किए जा चुके हैं। कभी-कभी साम्राज्य-वाद ने भी इस समन्वय के लिए एक महत् प्रयास करने का दावा किया था। छोटे-छोटे राष्ट्रों को एक ही साम्राज्य के अंग बनाकर इनके पारस्परिक संघर्षों को मिटाया जा सकता है-ऐसा यह विचार था, किंतु स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति ही उसका मूल उद्देश्य होने के कारण साम्राज्यवाद राष्ट्रों के संघर्ष मिटाने में असफल रहा। परतंत्र राष्ट्रों द्वारा उनके उत्पीड़न एवं शोषण के विरुद्ध विद्रोह होने लगे।

'लीग ऑफ नेशन्स' का निर्माण प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ था। वह भी युद्धों को टालने और विश्व-एकता की उपलब्धि का एक प्रयोग था, किंतु अपने जन्म के दो दशाब्दियों के भीतर ही वह भी अनियंत्रित राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संघर्षों की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो गई। पिछले सभी युद्धों से अधिक भीषण युद्ध ने मृत्यु और विनाश के द्वारा पृथ्वी के मुख को मलिन कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् निर्मित राष्ट्रसंघ भी कुछ अधिक भली प्रकार से नहीं चल पा रहा है। कश्मीर के मामले में हमारा अनुभव ही हमें बताता है कि वह न्याय करने, गलती करने वाले सदस्यों की कटु आलोचना करने तथा राष्ट्रों के मध्य एक सम्मानपूर्ण सौहार्द्र स्थापित करने में असमर्थ है। वह तो राष्ट्रीय संघर्षों के अखाड़े में बदल चुका है। शक्तिशाली राष्ट्र अपने विस्तारवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसकी महासभा पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। संसार पर तृतीय विश्वयुद्ध के काले बादल मंडरा रहे हैं, जिसके कारण वर्तमान सभ्यता का आकस्मिक एवं संपूर्ण अंत हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवता के कल्याण के लिए सौहार्द्र की भावना से राष्ट्र एक साथ आने के लिए उद्यत नहीं हैं। इसके विपरीत राष्ट्रीय भावनाएं अधिकाधिक एकांतिक होती हुई उनकी आकांक्षाएं तीव्र हो रही हैं। विश्व-मंच पर नए-नए राष्ट्रों का उदय हो रहा है। संपूर्ण विश्व राष्ट्रों के संघर्षों से घिरा हुआ है।

संक्षेप में निष्कर्ष यही निकलता है कि राष्ट्रवाद का विनाश नहीं हो सकता। राष्ट्रों की आकांक्षाओं में मेल बिठाने के अब तक के सभी प्रयत्न बुरी तरह असफल हो गए हैं तथा संसार आणविक महाविध्वंस के तट पर आ खड़ा हुआ है। ऐसी दशा में मानवता के उद्धार का कौन-सा मार्ग शेष रहता है? इस चुनौती का कोई भी उत्तर आता प्रतीत नहीं होता। संपूर्ण संसार के विचारक एक प्रकार की दुविधा से ग्रस्त हैं।

एकता का आंतरिक बंध

तथापि इसका हल हम हिंदुओं के पास है। हमारा हल भौतिकवाद पर आधारित नहीं है। अब तक के किए गए सभी प्रयास एवं प्रयोग भौतिकवाद से प्रसूत सिद्धांतों और वादों पर आधारित थे, पर भौतिकवाद के पास इस अत्यंत प्रमुख तथा मूलभूत प्रश्न का कोई उत्तर नहीं कि विश्व की एकता एवं मानव-कल्याण की थोड़ी भी आकांक्षा लोगों में क्यों होनी चाहिए? मनुष्य के विरोध में मनुष्य के खड़े होने के दृश्य से इन्हें थोड़ी भी दया क्यों होनी चाहिए? हमें एक-दूसरे से थोड़ा भी प्यार क्यों करना चाहिए? भौतिक दृष्टिकोण से हम सबकी समान रूप से स्थूल संज्ञा है, जो प्रत्येक अपने में अलग-अलग और एकांतिक है। जिनमें परस्पर लगाव अथवा प्रेम के कोई बंधन नहीं हो सकते। ऐसे प्राणियों में कोई आंतरिक संयम भी नहीं हो सकता जो संपूर्ण मानवता के हित में उन्हें अपने उन्मादी स्वार्थ को संयमित करने की प्रेरणा दे सके।

अंतत: विश्वकल्याण की उपलब्धि के लिए निर्मित कोई व्यवस्था उसी परिमाण में फलप्रद हो सकती है, जिस परिमाण में उससे संबंधित व्यक्ति मानव के सच्चे प्रेम से उत्स्फूर्त होंगे और जो उन्हें मानवता के कल्याण के साथ अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चारित्र्य के सुर को मिलाने की योग्यता प्रदान करेगी। बिना इस परम श्रेष्ठ प्रेरणा के कोई भी योजना उसका कितना ही उत्तम अभिप्राय क्यों न हो, सत्ता के मद में चूर राष्ट्रों को अपने-अपने स्वार्थ-संवर्धन के लिए एक और मोहक आवरण ही प्रस्तुत करेगी। वर्तमान समय तक इतिहास का यही सतत निर्णय रहा है।

अत: हमारे प्राचीन हिंदू दार्शनिकों ने अपनी दृष्टि को भौतिकवाद से उच्चतर तत्त्व की ओर मोड़ दिया था। उन्होंने भौतिक विज्ञानों की पहुंच के अत्यंत परे मानवात्मा के रहस्यों की गहराई में उतरकर संपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त चरम सत्य का, प्राणिमात्र में वर्तमान एक महान् समान तत्व का जिसे हम आत्मा, ईश्वर, सत्य, वास्तविकता अथवा शून्य कोई भी संज्ञा दे सकते हैं, का आविष्कार किया। समय-समय पर इस समान तत्त्व की होने वाली अनुभूति ही हमें दूसरों के सुख के लिए उद्यम करने की प्रेरणा प्रदान करती है। जो 'अहं' मुझमें है, वही दूसरे प्राणियों में भी होने के

कारण वह मुझसे अपने सहचर जीवित प्राणियों के सुख-दु:ख में उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है, जिस प्रकार मैं अपने निजी सुख-दु:ख में करता हूं। आंतरिक तत्त्व की सजातीयता से प्रसूत तादात्म्य की यह विशुद्ध अनुभूति ही मानव-एकता एवं भ्रातृत्व के लिए हमारी नैसर्गिक आकांक्षा के पीछे की वास्तविक प्रेरक-शक्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व की एकता तथा मानव-कल्याण इसी सीमा तक अस्तित्व में लाया जा सकता है, जहां तक मानव-प्राणी इस समान आंतरिक बंधन की अनुभूति करता है। एकमात्र उसी अनुभूति में यह शक्ति है, जो कि भौतिकवाद से प्रसूत चिंत-क्षोभ और कलह का दमन कर सकती है, मानव मन के क्षितिज को विस्तृत कर सकती है और मानव-कल्याण के साथ व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं का स्वरैक्य संपादित कर सकती है।

सही रास्ता

अब हम दूसरे प्रश्न पर आते हैं। यह समान आधार मानव-समाज की जटिल संघटना में स्वयं को किस प्रकार व्यक्त करेगा? क्या इसका परिणाम राष्ट्रों के सभी विशिष्ट लक्षणों का उच्छेद होने में और इन सबके एक ही सांचे में ढाले जाने में होगा अथवा यह लोगों के विभिन्न समुदायों को उनकी अपनी विशेष राष्ट्रीयता की रक्षा करते हुए मानव-मात्र की एकता की अनुभूति के आधार पर सहचारित्व की भावना से एक साथ लाएगा?

इस विषय में हमारे दार्शनिकों ने निर्भ्रांत रूप से मानव के वास्तविक आनन्द का मार्ग-निर्देश किया है। व्यक्ति के समान ही राष्ट्र (व्यक्तियों का सामूहिक योग) का भी अपना एक पृथक् व्यक्तित्व होता है। भूमंडल के सभी भागों में व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के अलग-अलग विशिष्ट लक्षण तथा स्वरूप हुआ करते हैं, जिनका प्रत्येक का विश्व की योजना में अपना स्थान होता है। विभिन्न मानव-सम्प्रदाय, अपने-अपने मार्ग से अपनी प्रकृति के अनुसार एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। अत: चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समुदाय, उसकी अपनी विशिष्टताओं का विनाश उसके सामंजस्य के नैसर्गिक सौंदर्य को ही नष्ट नहीं करेगा, वरन् उसके आत्माभिव्यक्ति के आनन्द को भी नष्ट कर देगा। मानव-जीवन का विकास जो बहुमुखी होता है, इससे रुद्ध हो जाएगा।

यह एक सामान्य अनुभव का विषय है कि अपनी विशिष्टताओं के विकास द्वारा ही कोई भी व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमता तक विकास कर आनंद एवं सुख का अनुभव कर सकता है। इसलिए विविध विशिष्टताओं के बीच सामंजस्य की खोज

संसार के चिंतन में हमारी विशिष्ट देन है। हमारी जातीय प्रतिभा का जो लक्षण (अर्थात् 'विविधता के बीच एकता की पहचान') प्राय: उद्धृत किया जाता है, वह मानव की एकता, उसके आनन्द एवं विकास की जड़ों को सिंचित करने वाले सिद्धान्तों के गंभीर एवं यथोचित मूल्यांकन से उत्पन्न होता है। इस प्रकार संक्षेप में हम राष्ट्रों के मध्य सामंजस्यपूर्ण संयोग चाहते हैं, उनका विलोप नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भौतिक अस्तित्व के किसी विशिष्ट स्तर पर समस्त मानव प्राणियों को लाकर उनके व्यक्तिगत तथा सामुदायिक वैशिष्ट्यों को मिटाते हुए एक राज्यविहीन अवस्था के निर्माण का विचार हमारे लिए परकीय है। अत: वह विश्व-राज्य, जिसकी हम कल्पना करते हैं, स्वायत्त एवं आत्मनिर्भर उन सभी राष्ट्रों के संघ द्वारा विकसित होगा, जो उनके संबंध सूत्रों को बनाए रखने वाले एक केंद्र के अधीन रहेंगे।

दैवी धरोहर

यह स्पष्ट है कि हिंदू-समाज की अप्रतिम राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुरूप उसे पुन: संगठित करने का पवित्र कर्त्तव्य, जिसे संघ ने ग्रहण किया है, केवल भारत के ही सच्चे राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक कार्यक्रम मात्र नहीं है, अपितु संसार की एकता एवं मानव-कल्याण के स्वप्न को चरितार्थ करने की अनिवार्य पूर्व भूमिका भी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, संसार की एकता का संपादन करने वाला यह केवल हिंदुओं का ही महान् विचार है, जो मानव भ्रातृत्व के लिए स्थायी आधार प्रदान कर सकता है। अंतरात्मा का यह ज्ञान मनुष्य मात्र के सुख के लिए परिश्रम करने की दिव्य प्रेरणा से मानव-मस्तिष्क को प्रेरित करते हुए भूतल की प्रत्येक छोटी से छोटी जीवन-विशिष्टता को अपनी पूर्ण क्षमता-पर्यन्त विकास के लिए पूर्ण एवं स्वतंत्र अवसर प्रदान करेगा।

यह ज्ञान केवल हिंदुओं के ही पास सुरक्षित है। हम कह सकते हैं कि यह एक दैवी धरोहर है, जिसका भार नियति ने हिंदुओं को सौंप रखा है। जब किसी व्यक्ति के पास कोई अमूल्य निधि होती है तो उसकी रक्षा कर दूसरों के कल्याण के लिए उसे उपलब्ध बनाए रखना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि व्यक्ति अपने इस परम कर्त्तव्य के पालन में असफल होता है तो वह अपना ही नहीं, दूसरों का भी विनाश करता है। अतएव हिंदू-समाज को स्वस्थ दशा में सुरक्षित रखने के पवित्र कर्त्तव्य का दायित्व हम पर है।

हम यह कैसे कह सकते हैं कि जागतिक महान् लक्ष्य केवल हिंदू ही पूर्ण कर सकता है, अन्य कोई नहीं? प्रथम दृष्टि में इस प्रकार दावा करना शायद अत्यधिक गर्वोक्ति प्रतीत हो, तथापि यह वस्तुस्थिति का सीधा निरूपण है, जिसका वास्तविक

मूल्यांकन अपने देश तथा अन्यान्य देशों की ऐतिहासिक प्रक्रिया का सम्यक निरीक्षण करके हम कर सकते हैं। इतिहास का यह कथन है कि केवल इसी देश में अति प्राचीनकाल से विचारकों और दार्शनिकों, ऋषियों और मनीषियों की पीढ़ी के पश्चात् पीढ़ी मानव-प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए उठती रही। इन्होंने आत्म-जगत में गहराई तक गोता लगाया तथा इस महान् एकरूपता के सिद्धान्त की अनुभूति के शास्त्र को आविष्कृत किया, इसे परिपूर्ण बनाया। एक संपूर्ण राष्ट्र की तपस्या और त्याग तथा सैकड़ों शताब्दियों का अनुभव संसार की आध्यात्मिक तृषा को शांत करने के लिए इस ज्ञान के अक्षय स्रोत के रूप में यहां वर्तमान है।

दूसरी ओर भारत से बाहर के संसार ने आत्मा के इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। आज तक अपनी इंद्रियों से बाह्य संसार के अध्ययन के अभ्यस्त हो, वे बहिर्मुखी बने हुए हैं। इंद्रियां बहिर्मुखी होने के कारण आंतरिक प्रकृति के दृश्य की ओर जाने में असमर्थ हैं। इसीलिए पाश्चात्य लोग आत्म-जगत् के ज्ञान एवं अनुभव से शून्य बने रहे, चाहे स्थूल जगत् के रहस्यों का कितना ही उद्घाटन उन्होंने क्यों न कर लिया हो। दूसरी ओर हमारे पूर्वज, जिन्होंने इन्द्रियों से परे विश्व में प्रवेश किया, अंदर देख सके और उस भासमान आंतरिक सत्य की झांकी प्राप्त कर सके।

व्यावहारिक सफलता

यह केवल शुष्क ज्ञानमात्र नहीं था, जो अपने वन्य आश्रमों में बैठकर थोड़े से विचारकों के बौद्धिक अनुमानों तक ही सीमित रहा हो। यह था एक सजीव विचार, जो हमारे पूर्वजों को जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार और दार्शनिक भी थे, विश्व भ्रातृत्व का संदेश पहुंचाने के लिए दूर देशों तक ले गया। जहां भी उन्होंने कदम रखा, वहां के लोगों को उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों तथा भौतिक उन्नति के शास्त्रों की शिक्षा दी और अपनी कल्याणकर छाया में राष्ट्रों के सजातीय भ्रातृत्व का निर्माण किया। सशक्त आत्मविश्वासपूर्ण एवं आत्मतेज से उद्भासित हमारे हिंदू-समाज ने दूर-दूर तक फैले इस आध्यात्मिक साम्राज्य को एकरूपता की धुरी प्रदान की।

कोलंबस के अमरीका का पता लगाने के बहुत पहले हमारा विस्तार एक ओर तो अमरीका तक फैल चुका था और दूसरी ओर चीन, जापान, कंबोज, मलय, श्याम, हिंदेशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों तथा उत्तर में साइबेरिया और मंगोलिया तक फैला था। हमारा सशक्त राजनीतिक साम्राज्य इन दक्षिण-पूर्वी क्षेत्रों में 1400 वर्षों तक फैला रहा। शैलेंद्र साम्राज्य 700 वर्षों से

अधिक काल तक चीनी विस्तार के विरुद्ध एक शक्तिशाली रोक के रूप में अत्यंत उत्कर्ष की अवस्था में रहा है।

इन सभी शताब्दियों में वहां के स्थानीय लोगों के द्वारा न तो कभी कोई जन-विप्लव हुआ और न उनका उन्मूलन ही। यदि विदेशी लोगों और विदेशी संस्कृति के द्वारा आधिपत्य अथवा शोषण के कुछ भी लक्षण होते तो उसका उपर्युक्त परिणाम अनिवार्य रूप से हुआ होता। इसके विपरीत वे लोग हमारे प्रति कृतज्ञ थे। वे हमारे राष्ट्र के प्रति श्रद्धा रखते थे और अपने इस नश्वर शरीर को गंगाजी के किनारे छोड़ने की कामना करते थे। यह बात इतिहास के इन रक्तांकित पन्नों के कितनी विपरीत है, जिसमें इस्लाम, ईसाइयत और अब कम्युनिज्म तथा दूसरे देश में उत्पन्न अन्यान्य 'विश्वविजेताओं' के विस्तार वर्णित हैं। आज के दिन भी इनमें से बहुतों की आधारभूत जीवन-रचना हिंदू ही हैं। वे 'हिंदू' नाम धारण करते हैं। हम वहां चारों ओर हिंदू चेहरे देखते हैं, जिनमें से अनेक लोग संप्रदाय के रूप में मुसलमान होते हुए भी अपने हिंदू उत्तराधिकार पर गर्व करते हैं। फिलिपाइन्स में न्यायालय के विशाल कक्ष में मनु की स्फटिक की प्रतिमा स्थापित है, जिस पर अंकित है 'मानव जाति का प्रथम महान् एवं श्रेष्ठ प्रज्ञासंपन्न विधि-निर्माता।'

शताब्दियों से हमारे समाज में ऐसी-ऐसी महान् आत्माओं का उदय हुआ है, जिनमें कि प्रत्येक आत्मा, संसार के विचाराकाश का कांतिमान नक्षत्र है और अब भी वह समाज वर्तमान काल तक श्री रामकृष्ण परमहंस के समान ज्योतिमान अनेक आत्माओं को जन्म दे रहा है। इन्होंने केवल मानव-जाति के सुख-दुःख से ही अपना तादात्म्य अनुभव नहीं किया, वरन् चेतन एवं अचेतन सभी वस्तुओं से अद्वैत रखा। जब इन्होंने एक बार एक गौ को चाबुक से पिटते देखा, तो वे पीड़ा से चीत्कार कर उठे थे। इनकी पीठ पर चाबुक के निशान उभर आए थे। एक अन्य अवसर पर चरागाह में चरते हुए एक बैल के घायल खुर का चिह्न उनकी छाती पर बन गया था। आत्मज्ञान के हमारे महान् शिक्षकों ने इस सीमा तक तादात्म्य प्राप्त किया था। इसके बाद ही उसका उपदेश दिया।

प्रथम पग

फिर भी आज इस प्रकार का महान् पैतृकदाय उसकी अपनी ही संतति के द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और मिटाया जा रहा है। अपने प्राचीन आदर्शों एवं परंपराओं का उपहास करना और अन्य आधुनिक 'वादों' के सांचे में अपने समाज को ढालने की बात करना इन दिनों का फैशन हो गया है, किंतु अपनी जीवन-रचनाओं (प्रतिमानों)

के स्थान पर दूसरों की जीवन-रचना अधिष्ठित करने के प्रयत्न करना तथा अपनी स्वाभाविक प्रकृति के नैसर्गिक विकास की दिशा में ध्यान न देना केवल अधोगति का ही परिणाम दे सकेगा। हम अपने समाज पर इसके भयंकर परिणाम के चिह्न भी देख रहे हैं। अपना असंगठित एवं आत्मविश्वासहीन समाज विविध वादों और पंथों के परिधान में घूमती हुई हिंस्र शक्तियों का सरल शिकार हो गया है। आत्म-भर्त्सना का अभ्यस्त सर्वतोन्मुखी विघटन एवं छिन्न-विच्छिन्नता से दुर्बल, दुनिया में प्रत्येक देश के द्वारा बात-बात में ठुकराया हुआ और अपमानित समाज संसार को कैसे शिक्षा दे सकता है? वह व्यक्ति किस प्रकार दूसरों को महान्‌ता का मार्ग दिखा सकता है, जिसमें अपने निजी जीवन को उन्नत बनाने की लगन अथवा योग्यता का अभाव है?

अतएव यह अनिवार्य है कि मानव जाति को अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करने की योग्यता-संपादन करने के लिए तथा संसार की एकता और कल्याण हेतु जीवित रहने एवं उद्योग करने के लिए हमें संसार के समक्ष आत्मविश्वास, पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा होना पड़ेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इस युग-युगांतर से चले आए राष्ट्रीय लक्ष्य को पूर्ण करने का संकल्प लिया है, जिसके प्रथम पग के रूप में इस समय हिंदू-समाज के बिखरे हुए तत्त्वों को संगठित करके, आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवन के दोनों ही क्षेत्रों में वह एक संगठित और अजेय शक्ति निर्माण करेगा।

❑❑❑

२

मानवता का परम आश्रय

विश्व के कुछ राष्ट्र 'विकासशील व आधुनिक समाज' होने का दंभ भरते हैं। उनके जीवन का मुख्य तत्त्व भौतिक सुख-साधन है।

सुख के इस साधन का प्रथम पहलू है अनंत प्रतिस्पर्धा। सुखोपभोग की सामग्री के संचय के लिए हर कोई दूसरे से स्पर्धा कर रहा है जिसे आजकल 'उन्मुक्त समाज' की संज्ञा दी जाती है, वह इस सुख के साधन का दूसरा पक्ष है।

सामाजिक आत्महनन का मार्ग

अब हम आधुनिक समाज के दूसरे प्रेरणा-सूत्र 'उन्मुक्तता' पर विचार करते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन का आनंद स्वैच्छिक ढंग से प्राप्त करने के लिए सर्वतंत्र-स्वतंत्र है। इस पर किसी प्रकार का बंधन नहीं है। यह वासना, खान-पान, पारिवारिक जीवन, सामाजिक अंत:संबंध इत्यादि सभी विषयों में बेलगाम एवं स्वैराचारी है। यह उसके वार्तालाप, लेखन, आचार-विचार सभी में परिलक्षित होता है। इस प्रकार की 'उन्मुक्तता' मानवता के वास्तविक सुख में साधक नहीं हो सकती। इस प्रवृत्ति का पहला और सबसे जबरदस्त प्रभाव यह होगा कि समाज का ताना-बाना ध्वस्त हो जाएगा। पश्चिमी जगत् का आधारभूत 'सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत' भी इस ज्वार को रोकने में असमर्थ है, क्योंकि यह सिद्धांत मुख्य रूप से व्यक्ति और समाज के बीच पारस्परिक स्वार्थों की सुरक्षा का आपसी समझौता है। परंतु जब व्यक्ति यह मानने लगता है कि यह तो व्यक्तियों के बीच आपसी अनुबंध-मात्र है, इसमें कोई पवित्र बंधन नहीं है। अत: अपने हित में न होने पर वह इसको तोड़ने के लिए स्वतंत्र है। तब समाज के पास इस तर्क का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं होता कि इस प्रकार कोई पक्ष (व्यक्ति) अनुबंध को तोड़ता है, तो सामाजिक संगठन का आधार स्वत: नष्ट हो जाएगा। तब समाज विखंडित होकर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। ऐसे विखंडित समाज में व्यक्ति के सुख की नियति क्या होगी? इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

जब समाज को एक जीवंत समष्टिसत्ता मानकर व्यक्ति को उसके अंग के रूप में देखा जाएगा तभी ऐक्यकारी सामाजिक चेतना का भाव उसके मन पर अंकित किया जा सकेगा। तभी वह अपने मनोविकारों को नियंत्रित कर समाज हित के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेगा। हिंदू-दर्शन ठीक इसी बात का प्रतिपादन करता है।

अस्वस्थ मनोभावों का उदय

आधुनिक समाज का एक तत्त्व है प्रतिस्पर्धा। ऐसा दावा किया जाता है कि प्रगति के लिए स्पर्धा आवश्यक है, परन्तु यह सामान्य अनुभव की बात है कि प्रतिस्पर्धा लंबे समय तक स्वस्थ नहीं रह सकती, क्योंकि स्वस्थ रहना उसकी प्रकृति में नहीं है। स्पर्धा शीघ्र ही विकृत हो जाती है, क्योंकि दूसरे की तुलना में अपना निष्पादन उत्तम करने की इच्छा शीघ्र ही दूसरे को नीचा दिखाकर स्वयं उत्तम दिखने की प्रवृत्ति बन जाती है। यह प्रवृत्ति आज खेलों तक में घर कर चुकी है। खेल विशुद्ध आनंद और अपनी बौद्धिक व शारीरिक क्षमता बढ़ाने के लिए खेले जाते हैं। फिर इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि कौन जीतता है और कौन हारता है परन्तु हम देखते हैं कि वहां भी वातावरण सौहार्द्रपूर्ण नहीं रह पाता। उचित या अनुचित ढंग से जीतने की इच्छा क्रीड़ा-जगत् को विषाक्त करने लगी है। यदि खेल-जगत का यह हाल है, तब सीधे भौतिक स्वार्थ वाले दूसरे क्षेत्रों के विषय में कहना ही व्यर्थ है। पश्चिम के अनुसार यह प्रतिस्पर्धा 'जीवन-स्तर के उन्नयन' का एक ढंग है।

विषाक्त स्पर्धा

पश्चिम के सुख की अवधारणा पूर्णतया इंद्रियजन्य इच्छाओं की संतुष्टि पर ही केंद्रित है, अत: उसके 'जीवन-स्तर को उठाने' का अर्थ भी केवल भौतिक आनंद की वस्तुओं को अधिकाधिक जुटाना है जिससे व्यक्ति अन्य विचारों व एषणाओं को छोड़कर केवल इसी में पूर्णतया संलग्न हो जाता है। भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति की इच्छा धन-संग्रह को जन्म देती है। अधिकाधिक धन-प्राप्ति-हेतु शक्ति आवश्यक हो जाती है, किंतु भौतिक सुख की अतृप्त क्षुधा व्यक्ति को अपनी राष्ट्रीय सीमाओं तक ही नहीं रुकने देती। सबल राष्ट्र राज्य शक्ति के आधार पर दूसरों के दमन व शोषण का भी प्रयास करते हैं, जिससे उनकी तिजोरियां भर सकें। इससे संघर्ष व विनाश का जन्म होता है। एक बार यह प्रक्रिया आरंभ हुई कि समाप्त होने का नाम ही नहीं लेती। सभी नैतिक बंधन विच्छिन्न हो जाते हैं। सामान्य मानवीय संवेदनाएं सूख जाती हैं। मनुष्य और पशु में अंतर स्थापित करने वाले मूल्य एवं गुण समाप्त हो जाते हैं। मानव-पतन की इसी प्रक्रिया को प्रतिस्पर्धा एवं जीवनस्तरोन्नयन जैसे आकर्षक शब्दों का परिधान पहनाया जाता है।

बोलते उदाहरण

अमरीकी राष्ट्र का उद्‌भव इन्हीं अमानवीय क्रिया-कलापों की भयानक याद दिलाता है। यूरोप के अनेक व्यक्ति भौतिक सुख-संपदा की खोज में इस भू-भाग में आकर बसे। इस प्रक्रिया में उन्होंने वहां के मूल निवासियों का समूलोच्छेदन कर दिया। तथाकथित 'श्वेत सभ्यों' द्वारा किए गए बर्बर उत्पीड़न एवं पाशविक नरसंहार पढ़कर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मूल रेड इंडियन कुछ क्षेत्रों में अपने को जीवित बचा सके, वे सिर्फ दिखाने के, नमूने भर के हैं। अमरीका ही इसका एकमात्र उदाहरण नहीं है। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमरीका आदि जहां कहीं भी ये पश्चिमी श्वेत लोग गए, वहीं अपने पीछे हत्या एवं विनाश की शृंखला छोड़ गए। अभी पिछले ही दिनों दक्षिणी अमरीका में श्वेतों द्वारा मूल निवासियों पर किए गए भयंकर अत्याचारों के विषय में सुना है।

साम्यवादी रूस और चीन की साम्राज्यवादी कहानी भी ऐसी ही है। भिन्न-शब्दावली के आवरण में इनकी समस्त योजनाओं का लक्ष्य जीवन-स्तर का उन्नयन है। परिणामस्वरूप वही प्रक्रिया यहां भी चालू है। भौतिक साधनों का एकत्रीकरण और इसकी पूर्ति हेतु अधिकाधिक संपत्ति-संचय, दुर्बल राष्ट्रों पर अतिक्रमण, शोषण व नरसंहार द्वारा अमानवीय भावनाओं के फलक पर शक्ति-संवर्धन का खेल खेला जाता है।

यदि हम आज के तथाकथित सभ्य और आधुनिक समाजों के लक्षणों का निरपेक्ष भाव से अवलोकन करें, तो 'श्रीमद्‌भगवद्गीता' में वर्णित असुरों के लक्षणों से शब्दशः समानता परिलक्षित होगी। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आधुनिक पश्चिमी समाज की दो प्रमुख विशेषताओं उन्मुक्तता व प्रतिस्पर्धा ने मानवता को सुख और शांति से कोसों दूर ढकेल दिया है।

अब हम इस विफलता के कारणों की खोज के लिए मूल समस्या की कुछ अधिक गहन विवेचना करेंगे।

आधुनिकता या दुर्दशा

सर्वविदित है कि सभी प्राणियों का मूल प्रेरक-संवेग सुख की खोज है। मनुष्य की भी यही इच्छा है। वह एक दो दिन के लिए नहीं, जीवन-पर्यन्त सुखी रहना चाहता है। अन्य प्राणियों की भांति वह भी अपनी इंद्रियों के माध्यम से इस सुख को प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्रारम्भ में शारीरिक व मानसिक आवश्यकताओं एवं क्षुधाओं की तृप्ति उसे सुख की अनूभूति प्रदान करती है। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि यह अनुभूति थोड़े समय के लिए सुख देती है। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि

यह अस्थायी और क्षणभंगुर है। मनुष्य अनुभव से इस परिणाम पर पहुंचता है कि वह दैहिक आनंद प्राप्त करने का जितना अधिक प्रयास करता है, उसकी भूख उतनी ही तीव्र होती जाती है। उसे कभी संतुष्टि का अनुभव नहीं होता। इच्छाओं के तुष्टिकरण की चेष्टा जितनी अधिक होगी, उतना ही असंतोष बढ़ेगा। भौतिक सुख-साधनों का संग्रह करने की इच्छा जितनी ही प्रबल होगी, निराशा भी उतनी ही अधिक होगी। आसक्ति जितनी अधिक होगी, मोहभंग भी उतना ही तीव्र होगा। हमारे शास्त्रों ने घोषणा की है 'न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।' (महाभारत, आदिपर्व, 75-50) विषय-भोगों से कामनाओं का शमन नहीं होता। शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी इच्छाएं पूर्ववत् युवा बनी रहती हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है- 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:' (वैराग्य शतक-7) यही वास्तविक दुर्दशा है, जिसमें आधुनिक मानव स्वयं को फंसा हुआ पाता है।

समाधान – अंत:करण में

यह क्षणिक आत्मविश्लेषण से ही सिद्ध हो जाता है। सुख का वास्तविक स्रोत अंत:करण में है, न कि कहीं बाहर। इसके विषय में हिन्दू-दर्शन अकाट्य समाधान प्रस्तुत करता है। संगीत की धुन में खोए व्यक्ति को यदि उसके किसी आत्मीय व्यक्ति की मृत्यु का समाचार मिल जाए, तो संगीत में इसकी सारी रुचि समाप्त हो जाएगी और वह उठकर चला जाएगा। वस्तुत: यदि संगीत में सुख देने की अंतर्निहित क्षमता होती, तो व्यक्ति अपने दु:ख को विस्मृत कर संगीत-सुख का आनंद लेने में ही लीन रहता, किंतु प्रभाव इसके ठीक विपरीत हुआ। यही संगीत, जो एक क्षण पहले तक आनंद का स्रोत था, अब वितृष्णा का विषय बन गया। इसका तात्पर्य यही है कि सुख का स्रोत प्रतीत होने वाली भौतिक वस्तुएं निमित्त या साधन मात्र हैं, वास्तविक स्रोत तो अपने अंत:करण में विद्यमान है। फिर भी हम भ्रम के कारण भौतिक वस्तुओं की ही चाह करते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को काटता एवं चूसता रहता है। हड्डी का टुकड़ा चुभने से अपने ही जबड़े से निकले रक्त के स्वाद से वह आनंदित-उल्लासित होता है। इसी प्रकार भौतिक वस्तुएं हमें सुख देती प्रतीत होती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी सुखानुभूति कुछ ही क्षणों के पश्चात् समाप्त होकर हमें निराशा व विषाद के अंधकार में धकेल देती हैं।

आनंद का रहस्य

अंत:करण से सुख प्राप्ति का मार्ग अंतत: क्या है? थोड़ा विचार करने से ही यह समझा जा सकता है कि किसी भौतिक वस्तु का उपभोग करते हुए भी वह वस्तु

उस क्षण मस्तिष्क से लुप्त हो जाती है। निष्कर्षत: हम अपने अंतर्निहित सुख की ही अनुभूति प्राप्त करते हैं न कि भौतिक वस्तु से उत्पन्न किसी स्पंदन की। इसका स्पष्ट निष्कर्ष हुआ कि शाश्वत एवं घनीभूत सुख की प्राप्ति हेतु हमें वह स्थिति प्राप्त करनी होगी, जहां सुख-संपादन के लिए किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता ही न रहे।

सामान्य अनुभव की बात है कि अशांत मन कभी सुखी नहीं हो सकता। मन के स्थिर एवं शांत होने पर ही सुख की अनुभूति संभव है। निश्चल और प्रशांत मन:स्थिति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मन में विभिन्न प्रकार की इच्छाएं सिर न उठाएं। लहरों से आलोड़ित जल का तल दिखाई नहीं देता और अपना प्रतिबिंब भी ओझल हो जाता है। किंतु तरंगों के ठहरने से शांत जल में सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार जब मन शांत होता है, तब व्यक्ति मानव-मस्तिष्क की गहराइयों की वास्तविकता के प्रति जागरूक होता है। जब तक मन अशांत रहता है, तब तक यह जागरूकता विलुप्त रहती है और इस वास्तविकता की जागरूकता से आनंद प्राप्य हो जाता है। इसका अर्थ इतना ही है कि यदि मन की लहरों को निश्चल किया जा सके, तो मनुष्य किसी बाहरी वस्तु की सहायता के बिना भी आनन्द का आस्वादन कर सकता है।

सर्वोच्च लक्ष्य

जब मनुष्य को इस तथ्य की अनुभूति होती है कि सुख भौतिक वस्तुओं में नहीं, वरन् उसके अंत:करण में है, तब उसकी दृष्टि भीतर की ओर उन्मुख होगी और उन पदार्थों का आकर्षण उसके लिए शनै: शनै: कम होता जाएगा। इस प्रकार वह भौतिक वस्तुओं के आकर्षण से पूर्णतया मुक्त हो जाएगा। वह मुक्ति की परमावस्था को प्राप्त हो जाएगा। ऐसा व्यक्ति भौतिक जगत् में सुख की खोज नहीं करेगा, क्योंकि मन को अशांत करने वाली भौतिक अभिलाषाओं के प्रति उसकी लालसा समाप्त हो चुकी है। वह परम संतुष्ट, शांत एवं आत्मतृप्त हो गया है, क्योंकि उसे अपने अंत:करण में वास्तविक और शाश्वत आनंद का आदि-स्रोत मिल गया है। यह सुख सतत एवं निर्बाध है, जिसकी तुलना में भौतिक पदार्थों से प्राप्त सुख महत्त्वहीन हो जाता है। यही वह सर्वोच्च काम्य स्थिति है जो मनुष्य को अंतत: प्राप्त करनी है अर्थात् परम मुक्ति या मोक्ष की स्थिति।

विफलता के कारण

शाश्वत सुख के इस मूलभूत दर्शन की कसौटी पर कसने पर क्या हिंसा, घृणा, विद्वेष और गलाकाट स्पर्धा से परिपूर्ण तथाकथित प्रतिशील समाज से यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वह मानव सुख में वृद्धि करेगा? क्या यह स्थिति मानव-मन को शांत एवं निश्चल बनाने में सहायक है? वस्तुस्थिति सर्वथा विपरीत है। कामनाओं

को अधिकाधिक उद्दीप्त करने के लिए हर चेष्टा की जा रही है। जब तक इच्छाएं अतृप्त हैं, तब तक मन अशांत रहता है। वासनाओं की लपटें अधिकाधिक प्रचंड की जाती हैं और मनुष्य-मन ऐंद्रिय सुख देने वाले पदार्थों के पीछे दौड़ता है। ऐसा मन शांत एवं निश्चल कैसे हो सकता है?

योगमार्ग

भारत में हमारी साधना का एकमेव लक्ष्य मन:शांति प्राप्त करना है। महर्षि पतंजलि ने 'योग सूत्र' में परामर्श दिया है कि किसी सुखी, वैभवसम्पन्न, सदाचारी एवं पुण्यवान् व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक उसे साधुवाद देना चाहिए। स्वयं प्रेरणा से आत्मोन्नति का प्रयास करना चाहिए। ईर्ष्या या स्पर्धा में लिप्त नहीं होना चाहिए, भौतिक सुख की वस्तुओं के संचय तथा भोग के स्वरूप व परिमाण का निर्धारण करने में मनुष्य को सतर्क एवं विवेकी होना चाहिए, अन्यथा इसकी परिणति दूसरों के सुख के मूल्य पर स्वयं सुखी होने के प्रयास में होती है। इससे अपना मानसिक संतुलन बिगाड़कर मनुष्य अपना ही सुख नष्ट कर बैठता है। पतंजलि कहते हैं कि किसी को पतित एवं दु:खी देखकर हमारी स्वाभाविक प्रतिक्रिया करुणा की होनी चाहिए। हमें अपनी संपूर्ण क्षमता से दूसरे के कष्ट-निवारण का भरपूर प्रयास करना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमारे मन को शांति और नीरवता देकर आंतरिक सुख प्रदान करेगा।

उन्मुक्तता दु:ख भोगने के लिए

आधुनिक सभ्यता का दूसरा लक्षण उन्मुक्तता, प्रशांतता की विरोधी है। हमारे प्राचीन धर्मग्रंथ उस समय का विवरण देते हैं, जब समाज-व्यवहार का कोई नियम या आचार-संहिता नहीं थी। इससे मनुष्य-मनुष्य के बीच शत्रुता व संघर्ष की वृद्धि हुई। इससे हर दिशा में अराजकता को बढ़ावा दिया। परिणामस्वरूप मन की शांति को भंग करने वाली अनिश्चितता, आशंका, भय, विद्वेष, घृणा इत्यादि प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ। इसलिए मानसिक अशांति को दूर करने में सहायक तथा संतुलन का पुन: स्थापन करने वाले व्यवहारगत नियमों की रचना की गई।

ये आधुनिक समाज गत एक या दो शताब्दियों में ही उद्‌भूत हुए हैं। अत: भौतिक संपन्नता और वैज्ञानिक तकनीकी उपलब्धियों की ऊपरी जगमगाहट के आधार पर मानव जीवन के आवश्यक पक्षों के संबंध में इनके अल्पकालीन अनुभवों से निष्कर्ष निकालना निरापद नहीं है। जीवन-संबंधी दृष्टिकोण के विषय में सही धारणा का निर्माण सुदीर्घ व स्थायी अनुभवों की कसौटी पर कसकर ही किया जा सकता है। दोनों का वास्तविक समन्वय ही सच्चे सुख की ओर ले जा सकता है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन का लाखों वर्षों का अनुभव कहता है कि अनंत इंद्रिय सुख की कामना और इसकी तृप्ति हेतु उन्मादी प्रतिस्पर्धा कभी भी सुख-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकती। इसने हमें व्यक्ति-विकास एवं समाज के ताने-बाने की सुरक्षा के लिए आत्मसंयम की साधना का पाठ पढ़ाया है। आत्मसंयम की भावना की जागृति के लिए चतुर्दिक पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की अवधारणा की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यह चतुर्विध लक्ष्य आत्मसंयम, संतुलन और समरसता से पूर्ण जीवन जीने में सहायक होता है। यह व्यवस्था हमें व्यक्ति व समाज के प्रति अपने कर्तव्य एवं दायित्व का निरंतर बोध कराती रहती है। 'धर्म', अर्थात् व्यवहार-संहिता वह प्रेरक तत्त्व है, जो जीवन के सभी उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त करने के लिए हमारा मार्गदर्शन करता है तथा जीवन के सभी भौतिक पक्षों अर्थ (राजनीति एवं अर्थशास्त्र) और काम (भौतिक इच्छाओं की पूर्ति) पर अंकुश रखता है।

जीवन-सरिता के तटबंध

इन आचार-संहिताओं की भाव-भावना का उत्कृष्ट लक्ष्य अर्थात् हमारे अस्तित्व की वस्तुस्थिति अथवा पुरुषार्थ का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने की सर्वोच्च आकांक्षा उत्पन्न करता है। इस प्रकार हमारी सभी प्रवृत्तियां और विषय-भोग एक ओर धर्म तथा दूसरी ओर मोक्ष के बीच सधे हुए हैं। जैसे दोनों तटों के बीच बहती नदी जीवनदायिनी होती है, परंतु उनका उल्लंघन करते ही वह विनाशकारी हो जाती है, ठीक यही स्थिति मानव-जीवन के प्रवाह की है। धर्म और मोक्ष के बीच बहता जीवन-प्रवाह व्यक्ति व समाज दोनों के लिए सुखदायी होता है। दोनों सीमाओं के बीच जो कुछ भी अनुभूति प्राप्त होती है, उसका आनन्द सभी उठा सकते हैं। यही व्यवस्था मन की शांति व जीवनोपभोग के बीच संतुलन स्थापित कर सकती है और अंतत: व्यक्ति को उच्चतम आनंद की भूमिका में आरूढ़ कर सकती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा अंगीकृत हिंदू-संगठन का कार्य संपूर्ण मानव-जाति के लिए परमानंद के द्वार उद्घाटित करने के इसी स्वप्न से प्रेरित है। हमें विश्वास है कि समय की धारा के साथ तथाकथित प्रगतिशील आधुनिक समाज इस पवित्र भूमि के पुरातन तथा जीवंत तत्त्वज्ञान की शरण में आने को बाध्य होंगे। शास्त्र का कथन है-

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महातेजा यावद् वेदान्त केसरी।।

(अन्य मतवादों के शृगाल तभी कोलाहल करते हैं, जब तक वेदांत के महातेजस्वी सिंह की गर्जना सुनाई नहीं देती।)

३

समय की चुनौती

दो प्रतिमान

यहां से अंग्रेजों के चले जाने के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हम अपनी भावी राष्ट्र-पुनर्रचना के लिए कौन-सा प्रतिमान (पैटर्न) चुनें? आज के संसार में समाज-व्यवस्था के दो बड़े प्रतिमान प्रचलित हैं।

प्रथम प्रतिक्रिया की गति

इन दोनों में जो प्राचीनतर है, 'जनतंत्र' कहा जाता है। यूरोप के देशों में निरंकुश राजसत्ता की प्रतिक्रियास्वरूप इसका उद्‌भव हुआ। उस समय वहां व्यक्ति दास मात्र था। स्वप्रेरणा और स्वतंत्रता से विहीन तथा ईश्वर के समान समझे जाने वाले बादशाहों के हाथों का एक खिलौना मात्र था। जनता ने विद्रोह कर 'नृपत्व के दैवी अधिकार' उलट दिए तथा सदा के लिए राजसत्ता की शक्ति को चूर कर दिया। उस समय प्रत्येक की जिह्वा पर थी एक प्रेरणादायी घोषणा-'स्वतंत्रता, समानता और बंधुता।' यह उच्च स्वर से उद्‌घोषित हुआ कि अंत में दासता एवं अत्याचारों की एक अंधेरी रात का अवसान होकर अब 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य', 'व्यक्ति के अधिकारों का पावित्र्य' तथा 'सभी के लिए समान अवसरों' के युग का उदय हो चुका है।

उस समय यंत्र-युग का भी आरंभ हो चुका था। उद्योगों का पनपना आरंभ हो गया। विज्ञान एवं तकनीकी ने उद्योगपतियों को अधिकाधिक बड़े यंत्र लगाने में सहायता करना आरंभ कर दया। बड़े परिमाण में उत्पादन करने वाली इन मशीनों पर लाखों मजदूर नियुक्त हो गए। 'समान अवसर' के घोष के आधार पर अधिक बुद्धि और धन से संपन्न व्यक्तियों ने संपत्ति के उत्पादन के उन सभी नवीन साधनों पर एकाधिकार कर लिया और वही एकमात्र आर्थिक सर्वाधिपति बन गए। अपनी प्रचुर धन की शक्ति से उन्होंने राजनीतिक तंत्र को भी अपने अधिकार में कर लिया। सामान्य व्यक्ति केवल वोट देने के राजनैतिक अधिकार को प्राप्त करके सूखा का सूखा ही बना रहा। असह्य आर्थिक परिस्थितियों में पिसता हुआ वह वोट के अपने अधिकार को भी उपयोग में लाने के लिए स्वाधीन नहीं था।

इस प्रकार 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की ऊंची कल्पना का अर्थ रह गया-कुछ धीमानों की स्वतंत्रता, ताकि वे शेष सामान्य जनता का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करें, उसे दीन-हीन तथा दास बनाए रखें। उन कारखानों में मजदूरी करने वाले स्त्री, पुरुष और बालकों की भयंकर दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे अब पुरानों के स्थान पर नए अत्याचारियों के पैरों के नीचे दबे हुए कराह रहे थे।

दूसरी प्रतिक्रिया की दुर्गति

इस अवस्था में पूंजीवाद की नवीन क्रूरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में 'कम्युनिज्म' आया। कम्युनिज्म यह मानकर चला कि औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप भयंकर आर्थिक असमानता का निर्माण होना अवश्यंभावी है, जिससे दो वर्गों का निर्माण होगा - 'पूंजीपति' और अकिंचन मजदूर 'सर्वहारा'। कम्युनिज्म में आगे की कल्पना यह की गई कि इन दोनों श्रेणियों में वर्ग-संघर्ष प्रारंभ होगा तथा अंत में श्रमिक वर्ग विजयी होगा। इसके पश्चात् जनता के दैन्य का अवसान हो जाएगा, क्योंकि श्रमिक वर्ग द्वारा संचालित शासन संपत्ति के उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों का नियमन करता हुआ जनता की भौतिक आवश्यकताओं की देख-रेख का संपूर्ण भार वहन कर लेगा। इस प्रकार यह भविष्यवाणी की गई कि देश का जितना अधिक औद्योगीकरण होगा, उतनी ही आर्थिक असमानता में वृद्धि होगी और इसलिए तीव्रतर वर्ग-संघर्ष तथा इसके परिणामस्वरूप शीघ्रतर श्रमिक-शासन का उदय होगा।

किंतु भविष्यवाणी, जो इनके इतिहास के भौतिकवादी भाष्य की पराकाष्ठा थी, को इतिहास के भावी क्रम ने पूर्णरूपेण असत्य सिद्ध कर दिया। सब देशों में औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़ा हुआ देश रूस ही था, जहां कम्युनिस्ट क्रांति की सफलता सबसे पहले लिखी गई। अमरीका, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी, जो आज तक औद्योगिक विकास में अग्रणी थे और इसी कारण वास्तव में जहां सबसे पहले औद्योगिक क्रांति की रूपरेखा बनी थी, इन्होंने कम्युनिज्म की ओर बढ़ने के कोई लक्षण प्रकट नहीं किए हैं। इसके विपरीत, जहां वह पुन: प्रकट हुई, वह औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ एक अन्य देश चीन था, जो अभी ही कुछ वर्षों से कम्युनिस्ट हो गया है। इस प्रकार मानव-इतिहास के भौतिकवादी भाष्य के आधार पर कम्युनिज्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता का दावा वास्तविकताओं की कठोर चट्टान पर चूर-चूर हो गया है।

प्रश्न है कि स्वाधीनता, शांति एवं संपन्नता के उस आश्वस्त देश में सामान्य जन की दशा क्या है? इन देशों में श्रमिक के अधिकार, शासन में एकाधिकार रखने वाले दल, अर्थात् कम्युनिस्ट दल के एकाधिपति के हाथों में पहुंच गए हैं। सामूहिक नरसंहार, दास बंदीगृह, कम्यून, बलात् श्रम, मस्तिष्कमार्जन तथा एकाधिपत्य के

सभी अमानवीय यंत्रों ने व्यक्ति को दैन्य एवं दास्य की इतनी निम्न अवस्था तक पहुंचा दिया है, जितना कि अनियंत्रित राजसत्ता अथवा पूंजीवादी के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था। इस प्रकार जनसाधारण के लिए उनके उस आह्वान का कि 'मजदूरों तुम्हें बंधन छोड़कर अन्य कुछ नहीं गंवाना' का वास्तविक व्यवहार में यह परिणाम निकला।

प्रतिज्ञा और कृति

क्या वे जनता से की गई अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार समाज की प्रारंभिक भौतिक आवश्यकताएं पूरी करने के अपने लक्ष्य में सफल हुए? रूस का उदाहरण लीजिए, जो पूर्ण रीति से इस सिद्धांत पर प्रयोग करने वाला प्रथम महान् देश है। उन्होंने सभी व्यक्तिगत संपत्ति और सभी उद्योगपतियों को समाप्त कर दिया तथा सभी उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। कृषि के मार्चे पर भी उन्होंने सभी जमींदारों और किसानों को मिटा दिया तथा उनकी कृषि का कम्यून तथा सामूहिक फार्मों में एकीकरण कर दिया। यह एक पूर्ण प्रयोग था। स्वाभाविकत: गत पचास वर्षों में रूस की समृद्धि में महती उन्नति की आशा करना उचित ही था, किंतु क्या वह पूर्ण हुई?

कुछ लोगों का कथन है कि 'देखो, उनमें चंद्रमा पर राकेट भेजने का सामर्थ्य आ गया है।' किंतु जहां तक सामान्यजन का संबंध है, जिसके नाम पर वे बड़ी-बड़ी भविष्यवाणियां करते हैं, चन्द्रमा पर जाना उनकी मुख्य समस्या नहीं है। पेट उनकी सबसे बड़ी समस्या है। वास्तव में कम्युनिस्ट क्रांति की मुख्य धुरी यही थी। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या रूसी प्रशासन अपने देशवासियों को दोनों समय भरपेट भोजन देने में समर्थ हुआ? वास्तव में किसी भी प्रशासन अथवा किसी प्रशासनिक सिद्धांत की सफलता को इन्हीं मूल्यों पर नापा जाना चाहिए कि उसमें अपने प्रत्येक नागरिक को दोनों समय भरपेट भोजन, आश्रय के स्थान, पर्याप्त वस्त्र, रुग्णावस्था के समय चिकित्सा तथा शिक्षा देने की कितनी क्षमता है? इसी से उसकी अग्निपरीक्षा होती है। क्या रूस इस परीक्षा का उत्तर दे सका?

रूस के पास एक विस्तृत भू-प्रदेश है। एक समय वह संसार में सर्वाधिक गेहूं उत्पन्न करने वाला देश था। इस सबके अनुपात में वहां की जनसंख्या न्यून होने से उसके पास भोजन करने वाले मुख भी कम नहीं थे। उनके पास कृषि के सभी आधुनिक उपकरण हैं। इस सबके साथ उनकी प्रत्येक योजना के पीछे शक्तिसम्पन्न राज्य के विशाल साधन हैं। यह सब होते हुए भी रूसी सरकार को गेहूं तथा अन्य खाद्यों का प्रत्यक्ष आयात कनाडा, अमेरिका तथा अन्य देशों से करना पड़ा। कम्युनिज्म की परिपूर्ण पराजय का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है?

दोनों का अपक्रमण

इस प्रकार के दुष्परिणाम देखकर कम्युनिस्ट देश अपनी पूर्ण सरकारीकरण की पद्धति के विषय में फिर से विचार करने लगे हैं। उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता का विनाश व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति एवं कार्य के लिए उत्साह का हनन कर देता है। अत: वे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दिशा में शनै: -शनै: बढ़ रहे हैं। पूर्वी यूरोप के कुछ कम्युनिस्ट देशों और रूस में भी इन्हें विवश होकर व्यक्ति को उसकी कुछ वस्तुओं पर स्वामित्व रखने और अपनी संपत्ति के उपभोग की आंशिक स्वतंत्रता देनी पड़ी है।

अमेरिका के चेस्टर बॉल्स का कथन है-'रूस में कृषकों को 'किचिनफार्म' (बाड़ी अथवा रसोईघर से लगे जमीन के टुकड़े) को व्यक्तिगत रूप से जोतने की अनुमति दी जा रही है।' यह कृषिक्षेत्र उनकी कुल जोत का लगभग 34 प्रतिशत होता है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस 34 प्रतिशत व्यक्तिगत जोत द्वारा किया गया उत्पादन कुल उत्पादन का 60 प्रतिशत है। जबकि 66 प्रतिशत भूमि के सरकारी कृषिक्षेत्र से केवल 40 प्रतिशत पैदावार ही हुई है। स्मरणीय है कि इस व्यक्तिगत जोत को उन बड़े-बड़े यंत्रों का लाभ भी नहीं मिल सका, जिन पर राज्य का एकाधिकार है। इससे यह बात एक बार पुन: सिद्ध हो गई कि पूर्ण सरकारीकरण अथवा संपूर्ण समूहवाद की भूमिका, जिससे उन्होंने आरंभ किया था, अपने जन्मस्थान में ही शीघ्रता से पीछे हट रही है।

दूसरी ओर वे देश भी, जहां पूर्ण व्यक्तिवाद की भूमिका के साथ जनतंत्र पैदा हुआ था, अपनी मूल धारणा से पूछे हट गए हैं। जब उन्होंने असंयमित 'समान अवसर' और 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' के दुष्परिणामों को देखा तो समाज के समान हित में वे उन सैद्धान्तिक कल्पनाओं को प्रत्यक्ष व्यवहार में सीमित करने के लिए कठोर साधन अपनाने को बाध्य हो गए। वास्तव में इसी प्रकार वे क्रांति से अपने को बचा पाए और अपने जनतांत्रिक ढांचे को बनाए रखने में समर्थ हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के दोनों ही सिद्धान्तों, जनतंत्र और कम्युनिज्म में दो चीजें समान हैं। दोनों ही पूर्व व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए और दोनों ही को अपने-अपने मूल आधार से पूर्व स्थिति की ओर लौटना पड़ा एवं एक-दूसरे की ओर चलने के लिए बाध्य होना पड़ा, जनतंत्र को अपने व्यक्तिवाद से समूहवाद की ओर तथा कम्युनिज्म को अपने समूहवाद से व्यक्तिवाद की ओर। जन्म और विकास की दृष्टि से दोनों ही में एक महत्त्वपूर्ण समानता है, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से उनके प्रारंभ-बिंदु परस्पर विरोधी थे।

एक ही मूल से उत्पन्न

इसमें हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि और भी गहराई में जाने से हम पाते हैं कि दोनों ही की उत्पत्ति मानव-जीवन के लक्ष्य की एक ही कल्पना में से हुई है। पाश्चात्य विचार के अनुसार जनतंत्र और कम्युनिज्म दोनों ही कल्पनाओं ने जिससे जन्म लिया है, उस मानव का जीवन व्यावहारिक विचार से भौतिक स्तर तक ही सीमित है और मानव प्राणी भौतिक तृष्णाओं का एक गट्ठर मात्र है। तदनुसार, मनुष्य की भौतिक तृष्णा का समाधान करने वाले पदार्थों का उत्पादन और वितरण ही उनके सभी सिद्धांतों का सर्वोपरि प्रेरक आवेग हो गया। मानव के साम्य का प्रतिपादन भी भौतिक आधार पर ही किया गया, क्योंकि सभी मनुष्यों को प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता सदैव समान भाव से अनुभव होती रही है।

एक भौतिक सत्ता मात्र होने के कारण तथा उन्हीं भौतिक आकांक्षाओं से प्रेरित होने के फलस्वरूप कोई कारण नहीं था कि व्यक्ति समाज को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त कुछ और माने। किंतु ऐसे व्यक्तियों से बने समाज, जिसमें व्यक्ति संपूर्ण रूप से अपने ही स्वार्थ-साधन में जुटा हो, एक दिन भी टिकने की आशा नहीं की जा सकती। समाज अपने पोषण के लिए अपने घटकों से बलिदान की भावना की अपेक्षा करता है और बिना समाज के व्यक्ति अपने भौतिक अस्तित्व को नहीं टिका सकता। अत: व्यक्ति और समाज के टकराते हुए हितों के बीच एक प्रकार का समझौता, एक प्रसंविदा कर लेना आवश्यक था।

यह समझौता किंवा 'प्रसंविदा-सिद्धांत' (कांट्रैक्ट थ्योरी) व्यक्ति और समाज के बीच अंतर्निहित सहज संघर्ष की धारणा का परिणाम है। इसी मूलभूत संघर्ष ने अपने को एक ओर तो पूंजीवाद के स्वरूप में और दूसरी ओर कम्युनिज्म के स्वरूप में व्यक्त किया। अर्थात् एक में व्यक्ति समाज का शत्रु हो रहा है तो दूसरे में समाज व्यक्ति का। जैसा हम देख चुके हैं, अब दोनों ही पद्धतियां उन बुराइयों को कम करने का प्रयास कर रही हैं, जो उनकी मानव-लक्ष्य की समान भौतिक कल्पना से निकली हैं।

भौतिकवाद असफल

किंतु केवल भौतिक तृष्णाओं के गट्ठर के रूप में मनुष्य का निरूपण करना उसे पशु की समानता देना है। यदि मनुष्य एक पशु ही है तो वह स्नेहशील एवं व्यवस्थित जीवन क्यों व्यतीत करे? इस संबंध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि पशुओं के समान मनुष्य एक-दूसरे का शिकार केवल इसी कारण नहीं करता कि यदि 'क', 'ख' को खा जाना चाहता है तो कोई 'घ', 'क' को खा डालने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार आपस में एक-दूसरे के द्वारा विनष्ट होने से अपने को बचाने के लिए किसी

प्रकार की व्यवस्था या समझौता होना आवश्यक हो जाता है, किंतु इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि मनुष्य के मन में दूसरों के लिए त्याग करने की, बलिदान हो जाने की इच्छा तथा किसी दैन्य में सहभागी होने की भावना क्यों उठनी चाहिए? अवश्य ही मानव-प्राणी के संपूर्ण इतिहास में हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्होंने दूसरों के लिए अपने जीवन का बलिदान स्वेच्छा से, प्रेम से और मुस्कराते हुए कर दिया। हमारे प्राचीन साहित्य में दधीचि की कथा है, जिन्होंने वृत्रासुर के विनाश हेतु अस्त्र बनाने के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी अस्थियों का दान किया था। वह एक वनवासी ऋषि थे। व्यक्ति के रूप में उनकी कोई आकांक्षाएं नहीं थीं। फिर किस चीज ने उनसे यह बलिदान कराया? हम इस बीसवीं शती का ही एक उदाहरण लें। एक बार कोलकाता में दो छोटे बच्चे सड़क के किनारे खेलते हुए भूमिगत नाली के खुले मेनहोल में गिर गए। एक सज्जन जो अपने कार्यालय जा रहे थे, उन बच्चों को 'मेनहोल' में गिरते देखा। कोट उतारने में समय न लगाते हुए वे 'मेनहोल' में कूद पड़े और धारा में बहते हुए उन बच्चों को पकड़कर बाहर निकाला, किंतु स्वयं कीचड़ में फंस जाने के कारण मर गए। वे क्यों मरे? वह क्या था, जिसने उनसे कहा कि 'जाओ, तुम्हारा वह कार्य है।' भौतिकवाद इसको समझा नहीं सकता।

सच्चा आधार

केवल एक ही स्पष्टीकरण है और वह यह कि हम सभी में एक ही समान सजीव सत्य विद्यमान है, जो एक आंतरिक और समान बंध प्रस्तुत करता है। हमारा दर्शन इसे 'आत्मा' कहता है। हम एक-दूसरे का प्यार और सेवा बाह्य संबंधों के कारण नहीं करते, वरन् आत्मा की सजातीयता के कारण करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद (अध्याय 2-ब्राह्मण 4-मंत्र 5) में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं-

न वा अरे मैत्रैयी पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

ओ मैत्रेयी! पत्नी पुरुष को इसलिए प्यार नहीं करती कि वह उसका पति है, वरन् इसलिए करती है कि उसमें आत्मा है। इस अर्थ में कि एक ही आत्मा सब में अंतस्थ होने के कारण सभी मनुष्य समान हैं, परम आत्मा के इस स्तर पर एकता संगत होती है। किंतु भौतिक स्तर पर वही आत्मा अपने को भांति-भांति की आश्चर्यकारक विविधताओं में व्यक्त करती है।

हमारे दर्शन के अनुसार विश्व का यह द्वैतस्वरूप, यह अस्तित्व अपने सत, रज और तम उन तीन गुणों के संतुलन में संक्षोभ होने के कारण है। यदि गुणसाम्य (तीनों गुणों का पूर्ण संतुलन) हो जाए तो यह विश्व अपनी अव्यक्त अवस्था में विलीन हो

जाएगा। इस प्रकार असमानता प्रकृति का एक अविभक्त अंग है और हमें उसके साथ रहना पड़ेगा। उसे केवल सीमाओं में बनाए रखने तथा असमानता से उत्पन्न कटुता को निकाल देने के लिए हमारे प्रयास होने चाहिए।

झूठे भविष्यवक्ता

कोई भी व्यवस्था, जो स्वाभाविक असमानता को ऊपरी समानता के आधार पर पूर्णरूपेण दूर करने का प्रयत्न करती है, निश्चय ही असफल होगी। पाश्चात्य देशों में इतनी प्रगति की अवस्था होते हुए भी जनतंत्र अंत में कुछ ऐसे ही लोगों का शासन है, जो राजनीति की कला के पूर्ण ज्ञाता तथा सामान्यजन को अपने पक्ष में लाने का सामर्थ्य रखते हैं। जनतंत्र की वह कल्पना कि राज्य 'जनता द्वारा' और 'जनता का है', जिसका अर्थ होता है कि राजनीतिक प्रबंध में सभी समान रूप से भागी हैं, व्यवहार में एक कल्पित कथा मात्र है।

कम्युनिज्म भी एकता की अपनी घोषित कल्पनाओं में से किसी एक को भी साकार करने में पूर्ण असफल हो चुका है। उसने कल्पना की थी कि श्रमिक का एकाधिपतित्व स्थापित हो जाने पर सभी के भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताएं पूरी हो जाएंगी। उस स्थिति में परस्पर संघर्षों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा और इसलिए केंद्रीय प्रभुत्व की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। इस प्रकार राज्य लुप्त हो जाएगा और एक शासनरहित समाज का उदय होगा। कम्युनिज्म के अनुसार यही एकता की उच्चतम अवस्था है, जिसकी मनुष्य कल्पना कर सकता है।

किंतु कम्युनिज्म भौतिकवाद पर आधारित है, स्पष्ट नहीं कह सकता कि वह आदर्श अवस्था कैसे अस्तित्व में आ सकती है? यदि मनुष्य केवल एक पशु है, अर्थात् एक भौतिक जीव मात्र है, वह एक-दूसरे का भक्षण केवल इसलिए नहीं करता कि उसे अधिष्ठित सत्ता का भय है। जब वह शक्ति अथवा प्रभुत्व नहीं रहेगा, तब क्या वे बिना कलह के रह सकेंगे ? पशु के रूप में मनुष्य मनोवेगों का शिकार है और मनोवेगों को जब तुष्ट किया जाता है तो वे और भी अधिक तीव्र हो जाते हैं। इस प्रकार का असंतुष्ट मनुष्य दूसरों के साथ प्रेम एवं शांतिपूर्वक कैसे रहेगा? इस बात का भी क्या भरोसा है कि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य, जो पशुओं की अपेक्षा अधिक चतुर है, 'न खाओ, न खाने दो' की नीति का अनुसरण नहीं करेगा? इसलिए यदि हम यह मान भी लें कि समानता स्थापित हो गई, तब भी वह पुन: असमानता की ओर ले जाएगी। इस प्रकार एक अन्य खूनी क्रांति आवश्यक हो जाएगी। इसका अर्थ है कि हिंसात्मक विप्लव तथा कलह कम्युनिज्म के सिद्धान्त की कोण-शिलाएं हैं। सदैव

क्रांति के नारे लगाते रहना, सशस्त्र अराजकता और शांति की हत्या को प्रोत्साहन एवं आमंत्रण है।

इस प्रकार जो चित्र दृष्टिगोचर हुआ, उसमें न तो केंद्रीय सत्ता के लुप्त हो जाने के लक्षण हैं और न केवल संयोगवश प्रभुत्व का लोप हो जाने की दशा में शांति के उदय की ही कोई संभावना है। रूस में कम्युनिस्ट राज्य ने गत पचास वर्षों में भी अपने लुप्त होने के ही कोई चिह्न प्रकट नहीं किए, वरन् वह और भी अधिक शक्तिशाली हो गया है। यह उसके सैद्धान्तिक आधार का पूर्ण असत्यता का जीवंत प्रमाण है।

समानता नहीं, वरन् सामंजस्य

दूसरी ओर हमारे दर्शन ने समाज की उच्चतम अवस्था का चित्रण किया और उसका अकाट्य स्पष्टीकरण भी इस प्रकार दिया है–

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्ड्यो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

(महाभारत–शांतिपर्व 59–14)

(न तो राज्य था, न राजा। न दंडनीय अपराधी और न दंड। धर्म के द्वारा ही सम्पूर्ण प्रजा एक–दूसरे की रक्षा करती थी।) सदाचरण की संहिता है धर्म, जो समान आंतरिक बंधों को जागृत करता है, स्वार्थपरता को संयमित करता है तथा बिना किसी बाह्य प्रभुत्व के जनता को **सामन्जस्य** की स्थिति में एक साथ बनाए रखता है। न तो स्वार्थपरता होगी, न अपसंचय तथा सभी मनुष्य संपूर्ण समाज के लिए जिएंगे और कार्य करेंगे। यह धर्म ही मानव–जीवन का विशिष्ट लक्षण है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

(हितोपदेश, कथामुख 25)

(आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की कामना पशु और मनुष्य में समान है। मनुष्यों में धर्म ही विशेष होता है, अतः धर्महीन मनुष्य पशु के समान होता है।) मानव–जीवन में धर्म के पूर्ण उदय से ही स्वाभाविक असमानताओं के रहते हुए भी, मानव–प्राणी उच्चतम सामंजस्य की अवस्था में रहने की योग्यता प्राप्त करेगा। यह एक अंधे और एक लंगड़े के सहयोग के समान है। लंगड़े आदमी को टांग मिल जाती है और अंधे को आंख। सहयोग की भावना असमानता की कटुता दूर कर देती है। व्यक्ति और समाज के संबंधों का हमारा दृष्टिकोण सदैव ही संघर्ष का न होकर सभी व्यक्तियों में उस एक सत्य के विराजमान होने के बोध से उत्पन्न सामंजस्य और सहयोग का रहा है। व्यक्ति संगठित सामाजिक व्यक्तित्व का एक

सजीव अंग होता है। व्यक्ति एवं समाज दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। परिणामत: दोनों ही एक-दूसरे से शक्ति प्राप्त करते हुए लाभान्वित होते हैं।

साधनों को साध्य मानने की भूल

अत: अनिवार्य विषय है स्वाभाविक एकता एवं सामंजस्य, अर्थात् धर्म के उदात्त सिद्धान्तों से अनुप्राणित मनुष्य की वास्तविक प्रतिमा के अनुसार व्यक्ति का निर्माण। यह सत्य है कि काम करने वाले बुरे अथवा भले मनुष्यों के अनुसार ही कोई पद्धति बुरी अथवा भली प्रकार से कार्य करती है। इसीलिए सही भावना से स्फूर्त मनुष्यों के अभाव में जनतंत्र का ह्रास हो जाता है तथा वह एक हीनतंत्र (मीडियोक्रेसी) बन जाता है और प्राय: उत्तेजना-प्रवण भीड़ (मॉबोक्रेसी) मात्र बनकर रह जाता है। पश्चिम द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों एवं वादों के दु:खांत होने का यह कारण है कि मनुष्य की योग्यता के निर्माण की पूर्ण उपेक्षा करते हुए वे (वाद) स्वयं ही साध्य के रूप में मान लिए गए। उन्होंने इस सरल, फिर भी मूलभूत सत्य की उपेक्षा की कि पद्धति एवं वाद मनुष्य के जीवन की पूर्णता के लिए साधन मात्र होते हैं। साधनों को साध्य मान लेने की भूल से इन प्रयत्नों का परिणाम उनकी भविष्यवाणी अथवा आशा से नितांत विपरीत हुआ।

आज तक जनतांत्रिक देश उन गंभीर सामाजिक समस्याओं से पीड़ित हैं, जो पद्धति को मनुष्य से ऊपर स्थान देने की मूल भ्रांति से उत्पन्न हुई है। जनतंत्र की पद्धति, जिसका उन्होंने विकास किया है, दो बुराइयों को पैदा करती है आत्मप्रशंसा तथा परनिंदा। ये दोनों मनुष्य के मस्तिष्क की शांति एवं निराकुलता को विषाक्त कर देते हैं तथा समाज में व्यक्तियों के पारम्परिक सामंजस्य को नष्ट करते हैं। वर्तमान व्यवस्था में इन दोनों ही का चुनाव-काल में खुलकर प्रयोग होता है।

यही कारण है कि हम अपनी राष्ट्र की परम्पराओं में शासन के बाह्य स्वरूप के विषय में अधिक चिंता नहीं करते थे, वरन् सभी पद्धतियों के मुख्य संचालन तत्त्व के रूप में मनुष्य के निर्माण पर ही बल दिया करते थे। यहां गणतंत्र से लेकर एकस्वामिक राजतंत्र तक अनेक पद्धतियों का परीक्षण हुआ है। हम यह देखते हैं कि वही एकतंत्री राजतंत्र, जिसने पश्चिम में ऐसे प्रजापीड़न को जन्म दिया कि अनेक खूनी क्रांतियां उठ खड़ी हुईं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सजीव स्वातंत्र्य की भावना के साथ सहस्रों वर्षों तक हमारे संपूर्ण समाज पर शांति एवं संपन्नता की वर्षा करता हुआ एक अत्यंत लाभदायक संस्था सिद्ध हुआ है।

❑❑❑

४

सम्यक् राजनैतिक एवं आर्थिक संरचना

हमारे देश ने लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया है, परंतु इस व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक है कि जनसामान्य को पर्याप्त प्रशिक्षित एवं प्रबुद्ध बनाया जाए। केवल अक्षरज्ञान देने से उद्देश्य-प्राप्ति नहीं होगी। हमारे राष्ट्रजीवन के राजनैतिक, आर्थिक आदि विविध पक्षों के विषय में दायित्व एवं भूमिका के प्रति लोगों को जागरूक बनाना होगा।

वर्तमान विकृतियां

ऐसी ही प्रबुद्ध जनता सही प्रकार के प्रतिनिधियों का चयन करने में समर्थ होती है। दूसरी ओर अशिक्षित एवं अबोध सामान्यजनों को स्वार्थपूर्ण, संकीर्ण और अनैतिक प्रलोभनों से आकर्षित करना सरल होता है। ऐसे मतदाताओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि अपेक्षानुरूप अथवा वांछित प्रकार के नहीं हो सकते। सारी जनता को कम-से -कम आगामी चुनावों तक इसके दुष्परिणाम झेलने पड़ेंगे। इस प्रकार की असफलता से लोकतंत्र की क्षमता के प्रति मोहभंग होगा तथा शंकाएं जन्म लेने लगेंगी।

प्रतिनिधियों के निर्वाचन की वर्तमान प्रणाली एक और विचित्र स्थिति सामने लाती है। एक डॉक्टर या वकील अथवा साधारण राजनेता, जिन्हें कृषि का ज्ञान शून्य होता है, ग्रामीण जनता के प्रवक्ता के रूप में चुना जाता है। निर्वाचित होने की योग्यता का मापदंड केवल वोटों की जोड़-तोड़ करके चुनाव जीतने से निर्धारित होता है। पिछले चार दशकों में उभरते ऐसे नए नेता और प्रतिनिधियों का वर्ग इस दोषपूर्ण प्रणाली की उपज है, जिन्हें 'प्रतिनिधि' कम और 'राजनेता' अधिक कहा जा सकता है।

सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय एक आघातकारी उदाहरण देखने को मिला। अपनी सीमाओं की ओर की नहरें सूख गई थीं, क्योंकि बांध से पानी छोड़ने की अनुमति नहीं दी गई थी, जबकि पाकिस्तान की ओर की नहरें पूरी तरह लबालब बह रही थीं। रक्षा मंत्रालय में उपमंत्री के साथ अपनी भेंट में मैंने जानना चाहा कि नहर में पानी न देने का कारण क्या है और क्या इससे फसलें सूखने, खाद्यान्न की कमी और आंतरिक मोर्चों पर ढिलाई जैसे दुष्परिणाम नहीं होंगे? मंत्री ने

उत्तर दिया कि नहर में पानी बहना सुरक्षा की दृष्टि से जोखिम-भरा है, क्योंकि इससे चमक पैदा होगी, जिस पर शत्रु आसानी से निशाना लगा सकेगा। क्या पाकिस्तान की ओर बहती नहरों में यह जोखिम नहीं है? मेरे इस प्रश्न का उनके पास कोई उत्तर नहीं था। इसके कुछ दिन बाद एक वरिष्ठ मंत्री से भेंट हुई। मैंने उनसे उपमंत्री के उत्तर की उपयुक्तता के विषय में पूछा। उन्होंने कहा कि यह पूर्णतया निराधार है, क्योंकि उपमंत्री को इन विषयों का तनिक भी ज्ञान नहीं है।

इस प्रकार अपने दायित्वों से पूर्णतया अनभिज्ञ प्रतिनिधि ऐसे महत्वपूर्ण दायित्वों का प्रभार संभाल रहे हैं। जिन्हें और विषय की जानकारी है, वे तकनीकी विशेषज्ञ ऐसी परिस्थिति में असहाय हो जाते हैं। उन्हें ऊपर के आदेशों का पालन मात्र करना है। सर्वविदित है कि बिहार में प्रतिवर्ष बाढ़ की विनाशलीला का तांडव होता है। मैंने एक सेतु-विशेषज्ञ रेल-अभियंता से पूछा कि क्या पुलों की संख्या व लंबाई का निर्धारण करते समय पहाड़ी जल-प्रवाह के कारण आने वाली बाढ़ को ध्यान में रखा गया था? उसने माना कि ऐसा नहीं किया गया था। उसने कहा कि ऐसे विषयों पर प्राय: विशेषज्ञों के मत को महत्त्व नहीं दिया जाता। इसके बजाय राजनीति या अन्य कारकों को ही ध्यान में रखा जाता है।

क्षेत्रीय एवं क्रियात्मक प्रतिनिधित्व

यह वर्तमान निर्वाचन पद्धति बड़ी बाधाओं में से उपजी एक बाधा है। इसका निवारण कैसे हो? एक मार्ग तो यह हो सकता है कि दोनों प्रकार साथ-साथ चलने दिए जाएं। 1. जनसंख्या के आधार पर वर्तमान क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व और 2. विभिन्न व्यवसायों व योग्यताओं पर आधारित व्यावसायिक प्रतिनिधित्व। द्वितीय में राष्ट्र जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र से चयन किए गए प्रतिनिधियों का समावेश वांछित है। जैसे-कृषि जगत् का प्रतिनिधि कृषि-विशेषज्ञ। इससे निर्वाचित समूहों को समाज की सभी आवश्यकताओं व क्रियाकलापों का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम बनाने तथा कुछ हद तक असंतुलन दूर करने में सहायता मिलेगी।

पंचायत की आधारशिला

प्राचीन काल से प्रचलित ग्राम-पंचायत प्रणाली हमारे देश के आर्थिक-सामाजिक ढांचे की आधारशिला रही है। समाज के विविध वर्धमान दायरों से अष्टप्रधान समिति का गठन ही पंचायत है। यह अष्टसदस्यीय मंत्रिपरिषद राजा की परामर्शदात्री होती है। पंचायत का दायित्व व्यावसायिक होता है। वस्तुत: उन दिनों का जीवन आज जैसा नहीं था। उस समय मुख्यत: चार व्यावसायिक समूह होते थे।

पहला समूह उन लोगों का था जो भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञानों के अध्ययन-अध्यापन के प्रति समर्पित थे। दूसरे में वे लोग थे, जिनको प्रशासन चलाने का दायित्व सौंपा गया था। तीसरा वर्ग व्यापारियों का था और चौथे वर्ग में वे लोग थे, जो कृषि व संबंधित हस्तकलाओं में संलग्न थे। एक पांचवां समूह भी था, जो जंगल में रहकर शिकार व वन्योत्पादों से अपनी जीविका चलाता था। इन्हें 'निषाद' कहा जाता था। संपूर्ण समाज के हित में पंचायत में इन पांचों वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था।

सुधार का मार्ग

आजकल प्राय: पंचायत-राज का उद्घोष सुनाई पड़ता है, परंतु संपूर्ण तंत्र विकृत हो गया है। व्यावसायिक योजना का स्थान जातिवाद व गुटवाद ने ले लिया है। पंचायत में प्राय: कुख्यात गुंडों का चयन हो जाता है। जातिवाद की दुहाई, धन का प्रलोभन, भय तथा शारीरिक आक्रमण निर्णायक तत्त्व बन गए हैं। व्यावसायिक गुणों की धज्जियां उड़ा दी गई हैं। जो भी हो, विकृतियों को ठीक तो करना ही होगा।

हर क्षेत्र के नेकनीयत एवं सामाजिक चेतना सम्पन्न लोगों को एक साथ आने के लिए प्रोत्साहित करके, उन्हें अपने प्रभाव से संपूर्ण राष्ट्रीय परिदृश्य को स्वच्छ एवं क्रियाशील आधार देने हेतु खड़ा करना आवश्यक है। पंचायत के लिए सर्वसम्मत अथवा निर्विरोध चुनाव इस दिशा में महत्त्वपूर्ण पग होगा। स्वस्थ एवं सोद्देश्य संरचना का आधार सुनिश्चित करने के लिए चुनाव-नियमों व मतसूचियों में समुचित सुधारों की आवश्यकता है। इस हेतु आवश्यक होने पर संविधान में भी उचित संशोधन किए जा सकते हैं। इससे विभिन्न वर्गों में आपसी सहयोग की भावना जगाने एवं उनकी आवश्यकताओं व हितों में सामंजस्य बिठाने में सहायता मिलेगी। निस्संदेह यह उपक्रम इतना आसान नहीं है और इसमें अनेक बाधाएं उत्पन्न होंगी, परंतु यह प्रयोग परीक्षण करने योग्य है। इसके लाभकारी परिणाम निकल सकते हैं

शब्दों की दासता क्यों?

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की संरचना के विषय में भी हमारे परम्परागत विचार हैं, जो केवल आर्थिक पक्ष पर बल नहीं देते। हमने अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र की संज्ञा दी है। आज यह नीति केवल राजनीति बनकर रह गई है। परन्तु हमारी पुरातन मान्यता में अर्थ व राजनीति दोनों एक ही शब्द में समाहित हैं।

आजकल दोनों में से अर्थशास्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया है। इस संबंध में समाजवाद को इसका आदर्श माना जाता है। इसीलिए इसके वास्तविक

सारतत्त्व स्वरूप को समझना नितांत असंभव हो गया है। श्रेणी समाजवाद, अराजकतावाद, श्रमिक संघवाद, साम्यवाद आदि समाजवाद के विभिन्न स्वरूप कहे जाते हैं। ये चाहे कुछ भी हों, हम शब्दों के दास क्यों बनें? यह सर्वथा उचित होगा कि हम अपनी इस भूमि की प्रतिमा को प्रतिबिंबित करने वाली मूल विचारधारा के अनुरूप नया चिंतन प्रारंभ करें। हां, अन्य विचारों में यदि कोई सकारात्मक तत्त्व हों और हमारे लिए उपयोगी हों, तो उन्हें अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए।

अतिकेंदीकरण के पीछे हटते कदम

समाज का मूल सिद्धान्त आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीकरण है। समाजवाद इस पर भी बल देता है कि यह विकेंद्रीकरण ठीक और न्यायसंगत होना चाहिए। यहां तक तो कोई मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु जैसे ही विकेंद्रीकरण की न्यायसंगतता और औचित्य के निर्णय के अधिकार का प्रश्न उठता है, मतभेद उभरने लगता है। वह निर्णायक अभिकरण कौन-सा हो? इन दिनों यह प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है कि विकेंद्रीकरण की सफलता के लिए केंद्रीकरण आवश्यक है। अर्थात् आर्थिक शक्ति-केंद्रों के स्थान पर राज्य को ही अपने पास सब अधिकार केंद्रित करने चाहिए। केवल राजनैतिक शक्ति-केंद्र ही प्रभावशाली होना चाहिए, जिसके पास उत्पादन के समस्त साधनों का भी एकाधिकार हो।

ऐसी परिस्थिति में राजनैतिक सत्ता सर्वशक्तिमान हो जाती है और संपूर्ण समाज राजनैतिक प्रभुओं का दास बनकर रह जाता है। राज्य द्वारा खैरात में दी गई शक्ति ही जनसामान्य के भाग्य में आती है, जिसका समय, प्रकार व मात्रा भी शासक ही निर्धारित करते हैं। सर्वशक्तिमान राज्य का पिछलग्गू बनकर संतुष्ट हो जाना ही जनसामान्य की नियति बन जाती है।

अस्तु! इस दिशा में विदेशों में किए गए अनेक प्रयोग जनहित करने में अक्षम रहे हैं। पहले प्रयोगात्मक प्रवाह में उन्होंने व्यक्ति के घर के स्थान पर सामूहिक पकाने-खिलाने की योजना की। उन्होंने यह प्रयोग भी किया कि बच्चे अपने माता-पिता की व्यक्तिगत नहीं, बल्कि समाज की संपत्ति हैं। अत: शिशुओं का पालन-पोषण व दुग्धपान आदि सामूहिक रूप से कराया जाएगा। माताएं निश्चित मध्यावकाश में वहां जाकर अपने शिशुओं को दुग्धपान कराएंगी। इस बात की क्या गारंटी है कि इतने कम समय में मां इस विशाल भीड़ में अपने बच्चों को खोज ही लेती होंगी। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। संयोगवश उसे जो शिशु मिल जाए, उसे ही दुग्धपान करा दे और तुरंत अपने काम पर लौट जाए।

अस्तु । इन प्रयोगों के कटु अनुभवों के बाद उन्होंने अब यह सीखना प्रारम्भ किया कि मनुष्य एक यंत्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट स्वभाव, क्षमता व रुचियां होती हैं। जब मानव-जीवन के इस वैशिष्ट्य की उपेक्षा की गई और सभी को निर्जीव यंत्र का पुर्जा मात्र मानकर व्यवहार किया गया, तब-तब असंतोष पनपा। इससे अनेक संघर्ष उत्पन्न हुए और क्षमता का ह्रास हुआ। परिणामस्वरूप इन्हें ऐसे प्रयोगों को छोड़ना पड़ा। यद्यपि प्रयोगों एवं संभावनाओं की खोज की भावना निस्संदेह प्रशंसनीय है, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें भी इन निस्सार प्रयोगों में उलझना चाहिए।

क्या न्यास-भावना से काम नहीं चलेगा?

अब हम इस समस्या पर स्वतंत्र रीति से विचार करें कि अर्थ शक्ति के न्यायसंगत व समुचित विकेंद्रीकरण के मूलभूत सिद्धांतों को सर्वोत्तम व्यावहारिक रूप देना किस प्रकार सुनिश्चित किया जाए। महात्मा गांधी ने इस भूमि के जीवन-दर्शन एवं परंपराओं के संबंध में अपनी अवधारणा के आधार पर 'न्यास-भावना' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मानव की उत्पादन क्षमता की प्रेरणा पंगु नहीं होती। उससे अधिकाधिक उत्पादन करने का आह्वान किया जाता है, किंतु उसे स्वयं को उस सारी संपत्ति का स्वामी नहीं मानना चाहिए। वह तो अनिवार्यत: समाज की ही होती है। समाजसेवा में इसका उचित उपयोग सुनिश्चित करने हेतु उसे स्वयं को उस संपत्ति का न्यासी (धरोहर-रक्षक) समझना चाहिए।

यद्यपि यह दृष्टिकोण पुरातन हिंदू विचारों से मेल खाता है, तथापि इसमें एक गंभीर दोष विद्यमान है। आधुनिक युग में मानव-मन इतना दुविधाग्रस्त एवं विकृत हो गया है कि जहां उसे अपने लाभ की संभावना नहीं दिखती, वहां वह अपनी क्षमता व इच्छा का आह्वान व केंद्रीकरण नहीं कर पाता। हमें यह कारक भी ध्यान में रखना होगा। आयकर का ही उदाहरण लें। सरकार ने इतना उच्च कराधान किया है कि एक निश्चित सीमा के बाद उत्पादक अपने उत्पाद के 100 रुपये में से केवल 2.50 रुपए ही बचा पाता है। ऐसी परिस्थिति में उत्पादक स्वाभाविक रूप से अनुभव करेगा कि इतना अधिक उत्पादन करने का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि उसे कम उत्पादन से ही अधिक धनार्जन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह या तो कम उत्पादन करेगा अथवा कर-वंचना करेगा। ऐसा अनुभव केवल हमारे देश में ही नहीं, विदेशों में भी हुआ है।

इस संबंध में विलोम-उदाहरण पश्चिमी जर्मनी का दिया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वहां की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गई थी। अत: अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के प्रोत्साहन पर लगे सभी प्रतिबंध व अंकुश हटाने का निश्चय किया। तत्पश्चात् वहां सम्पत्ति के विकेंदीकरण की उत्तम योजना बनाई गई। यह विधि पश्चिमी जर्मनी की अर्थव्यवस्था को स्थिर करने एवं अग्रगामी बनाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। विश्व का औद्योगिक अनुभव भी इससे भिन्न नहीं है। जब श्रमिक को यह अनुभव होता है कि उसे प्रतिफल नहीं मिलेगा, तब उसे अपने कार्य के प्रति कोई मनोयोग और उत्साह नहीं रह जाता।

संतुलन का क्षितिज

अत: हमें ऐसे संतुलन की खोज करनी होगी, जो व्यक्तिगत अभिरुचि को जीवंत बनाए रखे और साथ ही साथ उत्पादित संपत्ति का विकेंद्रीकरण भी किया जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें व्यक्ति पर अंकुश लगाने होंगे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को इतना संकुचित अर्थ नहीं दिया जा सकता कि जिससे आम समाज के हितों की ही हानि हो। संपत्ति के किंचित संचय और उपभोग की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कतिपय सीमाओं में इस ढंग से मर्यादित करना होगा कि समाज के शेष लोगों की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित हो सके तथा संपन्न व सुखी भौतिक जीवन के समान अवसर सभी को उपलब्ध हो सकें।

यही हिंदू दृष्टि की प्रतिभा संपन्न परिलक्षित होती है, जो व्यक्ति के मन को इस सामंजस्य के लिए तैयार करती है। आनन्द के सच्चे स्वरूप के विषय में उसे शिक्षित-संस्कारित किया जाता है और उसके समक्ष भौतिक विलास का ही लक्ष्य नहीं रखा जाता, क्योंकि उससे उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसके लिए उसे भौतिक निर्भरता से ऊपर उठना होगा, अपनी आत्मिक गहराई में निमज्जन करना होगा और निस्सीम तथा शाश्वत आनंद-सिंधु का अन्वेषण करना होगा। तब उसे अनुभूति होगी कि उसके चारों ओर विद्यमान समस्त जन उसी परमात्मा के अभिव्यक्त रूप हैं और उनके द्वारा उसकी श्रम-साधना के फलों का उपभोग उसके निजी आनन्द के समकक्ष ही है।

इस जीवन दृष्टि की पृष्ठभूमि में ही संतुलन बना सकना संभव है। व्यक्ति को अपनी व अपने परिवार की आवश्यकताओं व दायित्वों की पूर्ति हेतु संपत्ति के अधिकार का आश्वासन दिया जा सकता है। संपत्ति का अधिकार भी मर्यादित होना चाहिए, अर्थात् सुखोपभोग को निश्चित सीमा के भीतर पूर्ण करने की स्वतंत्रता के

साथ ही समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के दायित्व का अनुबंध भी आवश्यक है। इस प्रकार अर्थनीति की एक मोटी रूपरेखा खींची जा सकती है, जो वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्ति के प्रोत्साहन को बनाए रखे तथा विकेंद्रीकरण की सम्यक् प्रणाली को भी सुनिश्चित कर सके।

सफलता का आधार

इस सफलता के मानवीय दृष्टिकोण का समुचित गठन परमावश्यक है। समाज को उचित जीवन-दर्शन से अनुप्राणित करना होगा। लोगों में यह क्षमता होनी चाहिए कि आत्मकेंद्रित प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा सकें और स्वबांधवों के सुख-दुःख से एकाकार हो सकें। इसके लिए जागृत करना होगा आत्मानुशासन। केवल उसी से समरसतापूर्ण समायोजन संभव है। राष्ट्र-वैभव के सर्वतोन्मुखी विकास हेतु सहकारी प्रयास की अभिप्रेरणा भी उद्दीप्त करनी होगी। इस प्रकार ऐसी सामाजिक संरचना खड़ी हो जाए, जिसमें व्यक्तियों को जीवन के सर्वोच्च ध्येय के संबंध में सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो, समस्त समाज के प्रति प्रेम और आत्मीयता की भावना छलकती हो तथा आत्मानुरूप होने का भाव विद्यमान हो।

❑❑❑

५

हमारी राष्ट्रीय आत्मा की पुकार

संस्कृति का नवतारुण्य

हिन्दू-राष्ट्र की हमारी कल्पना राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों की एक गट्ठर मात्र की नहीं है। वह तत्त्वत: सांस्कृतिक है। हमारे प्राचीन एवं उदात्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों से उसके प्राणों की रचना हुई है और हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य (रिजुविनेशन) ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है तथा आज राष्ट्र के सम्मुख खड़ी अगणित समस्याओं के समाधान में हमारे सभी प्रयत्नों का सफल दिशा-निर्देश भी कर सकता है।

किन्तु इन दिनों संस्कृति के नवतारुण्य को प्राय: 'पुनरुज्जीवनवाद' और 'प्रतिक्रियात्मक' होने की उपाधि दी जाती है। प्राचीन पूर्वाग्रहों, मूढ़ विश्वासों अथवा समाज-विरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इसका परिणाम समाज का पाषाणीकरण (फॉसिलाइजेशन) हो सकता है, किन्तु शाश्वत एवं उत्कर्षहारी जीवन-मूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता। इससे केवल प्राचीन होने के कारण ही प्रतिक्रियात्मक नाम दे देना बौद्धिक दिवालियापन प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अपनी संस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुन: जीवन में उतारने से है, जिन्होंने इन सहस्रों वर्षों तक हमारे राष्ट्रजीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान की।

परिभाषा के लिए अति सूक्ष्म

लोग कभी-कभी कहते हैं - 'आप हिन्दू-संस्कृति की परिभाषा बताइए'। हां, यद्यपि उसकी परिभाषा नहीं कर सकते, पर हम उसे अनुभव करते हैं। कुछ लोग केवल इसीलिए इसे पूर्ण रूप से अस्वीकार कर देते हैं कि वे इसकी परिभाषा नहीं कर सकते। वे कहते हैं - 'ऐसी वस्तु से क्या लाभ जिसकी परिभाषा ही नहीं कर सकते।' किन्तु यह तर्क क्या युक्तिसंगत है ? उदाहरण के लिए चिकित्साशास्त्र का संपूर्ण पाठ्यक्रम जीवन की रक्षा हेतु ही विकसित हुआ है। लेकिन आधुनिकतम वैज्ञानिक

भी यह बताने में असमर्थ हैं कि 'जीवन' क्या है ? इसके कारण चिकित्साशास्त्र की उपयोगिता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। जीवन का बाह्य प्रकटीकरण एवं मानव पर उसका संघात हमें उसकी सत्यता में विश्वास कराने के लिए पर्याप्त है।

इसी प्रकार हमारी भावनाएं, आदर्श एवं आकांक्षाएं अपनी निजी सत्यता रखती हैं तथा हमारे जीवन में उनका अति महत्वपूर्ण कार्य है, यद्यपि परिभाषा और गणित के नियम-सूत्रों द्वारा वे व्यक्त नहीं की जा सकती। वास्तव में ऐसी स्थूल वस्तुओं की अपेक्षा जो नापी जा सके और जिनकी परिभाषा हो सके, ऐसे सूक्ष्म तत्व ही सच्चे मानव-व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

अस्वीकृतियों के बीच सत्य का प्रकटीकरण

हमारी संस्कृति, जो परिभाषा के क्षेत्र में नहीं आती, ने हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। हम इस प्रकार की सभी अभिव्यक्तियों में संस्कृति के तत्व को पहचान सकते हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू के जीवन का एक उदाहरण है। वे जीवन के प्रश्नों को भौतिक आधार पर ही देखा करते थे। ईश्वर, धर्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का उनके लिए कोई अर्थ नहीं था। दुर्भाग्य से उनकी पत्नी, जो चिकित्सा के लिए विदेश ले जाई गई थीं, का देहान्त हो गया। अपनी रीति के अनुसार उनके शरीर का अग्नि-संस्कार किया गया। उस मुट्ठी-भर राख का क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न था। एक अज्ञेयवादी (एग्नांस्टिक) कहेगा 'यह राख मात्र है, इसका लाभदायक उपयोग केवल इतना ही है कि खाद के समान खेत में डाल दी जाए।' भौतिकवाद के अनुसार उस राख के लिए कोई आदर भाव प्रकट करने का कुछ अर्थ नहीं। उससे अधिक वह और कुछ नहीं कह सकता 'तू मिट्टी है और मिट्टी में लौट गया।'

पं. नेहरू के मस्तिष्क में एक संघर्ष उत्पन्न हो गया। उनके भीतर का अज्ञेयवादी उनसे कहता था 'फेंक दो इस राख को इस विदेशी भूमि में और लौट चलो।' पर उनके पुरातन हिन्दू रक्त की पुकार थी कि अपनी प्यारी पत्नी के अवशेषों का गंगा माता की गोद में समर्पित करो। अंत में पुरातन संस्कारों की विजय हुई। राख अपने देश में लाई गई और प्रयाग में पवित्र गंगा, यमुना तथा अदृश्य सरस्वती के संगम में विसर्जित की गई। बाद में पंडित नेहरू ने स्वयं कहा कि 'उनकी आधुनिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण सभी विद्रोह कर रहे थे, किन्तु उनके भीतर की किसी चीज ने, किसी ऐसी चीज ने, जिसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता, उन्हें राख को त्रिवेणी संगम में विसर्जित करने के लिए बाध्य कर दिया।'

प्राणधारी ईश्वर

प्रथम एवं सर्वाधिक मूलभूत पहलू है उस परम सत्य, जो संपूर्ण विश्व में व्याप्त है, चाहे उसे कुछ भी नाम दिया गया हो, की अनुभूति की आकांक्षा अथवा सरल शब्दों में कहा जाए तो 'ईश्वर का साक्षात्कार करना'। किन्तु ईश्वर है कहां ? हम उसे कैसे जान सकते हैं ? उसका स्वरूप कैसा है ? उसके रूप-गुण क्या है ? जिससे कि हम उसका ध्यान कर सकें, उसको पा सकें। उसका यह वर्णन कि वह निराकार और निर्गुण है, हमारी समस्याओं को सुलझाता नहीं। पूजा के विविध पंथ विकसित हुए। लोग मंदिरों में जाकर सर्वशक्तिमान का प्रतीक मानकर मूर्तियों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु हम, जो कार्यशक्ति से पूर्ण हैं, इन सबसे संतुष्ट नहीं होते। हम एक प्राणधारी ईश्वर चाहते हैं। ऐसे ईश्वर से क्या लाभ जो सुनता है, किन्तु उत्तर नहीं देता ? जब तक असामान्य उच्च योग्यतासम्पन्न भक्त न हों, ये चिह्न न तो रोते हैं, न हँसते हैं और न उमें कोई प्रतिक्रिया ही दृष्टिगोचर होती है। सर्वसाधारण के लिए तो वे परमात्मा के अनुभूतिरहित प्रतीक हैं। अतएव हमें एक प्राणधारी ईश्वर चाहिए जो हमें कर्म में व्यस्त रखकर, हमारे अन्दर निवास करने वाली सभी शक्तियों का आह्वान करे।

अतएव हमारे पूर्वजों ने कहा - 'हमारा समाज ही हमारा ईश्वर है', अथवा 'जनता जनार्दन' आदि। मानव-जाति के एक महानतम शिक्षक श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है - मनुष्य की सेवा करो।'। उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भी अत्यन्त बल देकर यही बात कही है। किन्तु संपूर्ण मानवता के भाव में 'मनुष्य' अत्यन्त व्यापक कल्पना है और ऐसा होने से हमारे देखने और अनुभव करने के लिए वह एक ठोस सत्ता के रूप में सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह देखा जाता है कि जिन्होंने मानवता की सेवा को ग्रहण किया उनमें से अनेकों के जीवन की परिणति जड़ता एवं निष्क्रियता में हुई। इसलिए मानव-मन एवं मेधा की सीमाओं को समझते हुए हमारे पूर्वजों ने कहा कि मानवता इत्यादि की बातें ठीक हैं, किन्तु उस स्तर तक पहुंच पाने से पूर्व उस सर्वशक्तिमान की कल्पना कुछ सीमाओं के साथ ग्रहण करनी चाहिए, जिसको समझा और अनुभव किया जा सके और जिसकी सेवा की जा सके। उन्होंने कहा कि हिन्दू-समाज ही वह विराट् पुरुष है, सर्वशक्तिमान की स्वयं की अभिव्यिक्त है। यद्यपि वे हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं करते, किन्तु 'पुरुषसूक्त' में सर्वशिक्तमान के निम्नांकित वर्णन से यही स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि सूर्य व चन्द्रमा, उसकी आंखें हैं। नक्षत्र और आकाश उसकी नाभि से बने हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

(ऋग्वेद १०.९०.१२)

(ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय भुजाएं, वैश्य उसकी जंघाएं तथा शूद्र पैर हैं।) इसका अर्थ है कि समाज, जिसमें यह चतुर्विध व्यवस्था है, अर्थात् हिन्दू-समाज हमारा ईश्वर है।

सेवा की सही भावना

जनता में जनार्दन को देखने की यह अति श्रेष्ठ दृष्टि ही हमारी राष्ट्र-कल्पना का हृदय है। इसने हमारे चिन्तन को परिव्याप्त कर हमारे सांस्कृतिक दाय की विविध अनुपम कल्पनाओं को जन्म दिया है।

यह दृष्टि हमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उस दिव्य पूर्ण के एक अंश के रूप में देखने की प्रेरणा देती है। अत: सभी व्यक्ति समान भाव से पवित्र एवं हमारी सेवा के योग्य हैं। अतएव उनके बीच भेदभाव का कोई भी विचार निन्दनीय है। इस प्रकार समाजसेवा की भावना को हमारी संस्कृति में ईश्वर की पूजा का पवित्र रूप दे दिया गया है।

हमारे चारों ओर सहस्रों मानव हैं, जो भूखे एवं निराश्रित हैं, जो जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं से भी वंचित हैं और जिनकी कष्ट-कथाएं पाषाण के समान हृदयों को भी पिघला देंगी। निश्चय ही वह ईश्वर है, जिसने गरीब, निराश्रित एवं पीड़ित का रूप धारण किया है। वह हमें अपनी सेवा के लिए अवसर प्रदान करने इन रूपों में आता है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें 'दरिद्रनारायण' कहा है।

यदि एक बार सच्ची सेवा-भावना हमारे जीवन में प्रवेश कर जाती है तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारी व्यक्तिगत और पारिवारिक सम्पत्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो, वास्तव में हमारी नहीं है। ये तो समाज-देवता की पूजा के लिए उपकरण मात्र है। तब हमारा सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा के लिए एक उपहार हो जाएगा। उपनिषद् कहते हैं -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंद्विचत् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्यस्विद् धनम्।।

(यजुर्वेद, ४०-१)

(यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर से व्याप्त है, उसे समर्पण करने के पश्चात् जो शेष बचे उसी का भोग करो। दूसरे के धन के लिए लालच मत करो।)

अतएव हम अधिक से अधिक भौतिक सम्पत्ति का अर्जन करें, जिससे समाजरूपी ईश्वर की सेवा श्रेष्ठ रीति से यथासंभव कर सकें। उस संपूर्ण सम्पत्ति में से हमें अपने लिए केवल उतना ही उपभोग में लाना चाहिए जितने के बिना हमारी सेवा की क्षमता में रुकावट आती हो। उससे अधिक पर अधिकार जताना या अपने

उपयोग में लाना निश्चय ही समाज की चोरी का कार्य है। श्रीमद्भागवत में नारद ने कहा है –

यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

(श्रीमद्भावगत ७.१४.८)

(शरीर की स्थिति के लिए जितना अत्यन्त आवश्यक है, उतने ही पर मनुष्य का अधिकार है। जो अधिक ग्रहण करता है वह चोर है तथा दण्डनीय है।)

इस प्रकार हम समाज की सम्पत्ति के संरक्षक (ट्रस्टी) मात्र हैं। हम उत्तम रीति से समाज–सेवा तभी कर सकते हैं, जब सच्चे रूप में उसकी धरोहर के संरक्षक हो जाते हैं। सेवा का यह शुद्ध भाव उदय हो जाने पर अहं अथवा आत्मप्रशंसा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

अधिकार नहीं कर्तव्य

आज हम सभी जगह अधिकारों के लिए मचा हुआ कोलाहल सुनते हैं। हमारे सभी राजनीतिक दल भी समान अधिकारों की बात बोलते हुए लोगों में अहं भाव जागृत कर रहे हैं। कहीं भी कर्तव्य और नि:स्वार्थ भाव की सेवा पर बल नहीं दिया जाता। स्वकेन्द्रित अधिकार–ज्ञान के वायुमण्डल में सहयोग की भावन, जो समाज की आत्मा होती है, जीवित नहीं रह सकती। इसी कारण आज हम अपने राष्ट्रजीवन में विविध घटकों के बीच संघर्ष देख रहे हैं, चाहे वे अध्यापक हों या छात्र, श्रमिक हों या उद्योगपति। अपनी सांस्कृतिक दृष्टि को आत्मसात् करने से ही हमारे राष्ट्रजीवन में सहयोग की सच्ची भावना एवं कर्तव्य की चेतना पुनर्जीवित हो सकती है।

हमारा सांस्कृतिक इन्द्रधनुष

हमारी संस्कृति हिमालय के समान उन्नत दृष्टि का एक और शिखर है, जिस पर पहुंचने की महत्वाकांक्षा संसार में अभी तक अन्य किसी ने नहीं की है। उस भाव की अभिव्यक्ति –

एकं सत् विप्रा: बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद १–१६४–४६)

वाक्य द्वारा की गई है। अर्थात् सत्य एक है, ऋषि उसका विविध प्रकार से बखान करते हैं। इस सुन्दर भाव को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए 'सहिष्णुता' शब्द को प्राय: प्रयोग में लाया जाता है। यह बहुत हल्का है, यह तो सहन करने मात्र का भाव व्यक्त करने के लिए एक शब्द है। इसमें अहं का भाव है जिसमें दूसरों के दृष्टिकोण को मात्र सहन करना

है, किन्तु इनके लिए कोई प्रेम अथवा सम्मान नहीं रखता। परन्तु हमारी शिक्षा अन्य विश्वासों एवं दृष्टिकोणों को इस रूप में सम्मान करने तथा स्वीकार करने की रही है कि वे सब एक ही सत्य तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं।

यह एक पहाड़ी के उन विविध वर्णनों के समान है, जो भिन्न-भिन्न मार्गों से उसकी चोटी पर पहुंचने वाले व्यक्तियों ने किए है। एक मनुष्य कहता है कि वह एक भीषण चट्टान के समान है, दूसरा कहता है कि यह चट्टान नहीं बिल्कुल जंगल है, तीसरा कहता है कि यह तो झाड़ियों से भरी हुई है, आदि-आदि। उनमें प्रत्येक सही होते हुए भी अपूर्ण है। इस प्रकार के कुल अपूर्ण वर्णनों से हमें उस पहाड़ी का निःशेष एवं निर्दोष निरूपण प्राप्त होता है। एक बटे दो या एक बटे तीन अपूर्णांक हैं। किन्तु इस प्रकार के अपूर्णांकों को जोड़ देने से पूर्णांक प्राप्त करना संभव हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार व्यक्ति, जो यद्यपि अपूर्ण है, परस्पर समष्टिगत रूप में उपस्थित होकर एक सर्वांगपूर्ण समाज का निर्माण कर सकते हैं। अतएव व्यक्ति की अपूर्णताओं से उत्पन्न विषमताएं केवल उस एक महान् एवं निर्दोष तथा शक्तिमान सत्य, अर्थात् समाज की नानाविध अभिव्यक्तयां ही हैं। सत्य के इस अंतर्निहित स्फुर्लिंग, यानी प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान दिव्यता का यह बोध हमारे राष्ट्रीय जीवन के विविध घटक अंशों तथा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हो चुका है तथा उन्हें ऐसे अविरोध प्रतिमान के रूप में घटित कर दिया है, जिसमें एक-दूसरे के प्रति सद्भाव एवं सम्मान बना रहे। आत्मा की यह सार्वलौकिकता विश्व के चिन्तन-क्षेत्र में हमारी संस्कृति की एक नितांत अनोखी देन है।

सामान्यजन का स्तर उन्नत करना

अपनी संस्कृति के इन उदात्त वैशिष्ट्यों के पुनरुज्जीवन से ही हमारे समाज का सर्वसाधारण व्यक्ति अपने राष्ट्रजीवन की दृष्टि से स्फूर्त होगा तथा आज के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं अन्य संकीर्ण विचारों के आवेष्टन से बाहर आकर चारित्र्य, सेवा एवं बलिदान की भावना से उन्नत होगा। ऐसा कोई भी राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता, जिसका औसत व्यक्ति बौना हो और केवल कुछ ही असामान्य व्यक्तित्व हों। असामान्य गुणों से सम्पन्न होना बहुत थोड़े लोगों का सौभाग्य होता है। हम इस प्रकार की आत्माओं के प्रति नमन करते हैं, पर हम सामान्य जन स्वयं से प्रश्न करते हैं कि 'हमारे स्वयं का क्या?' इस प्रकार के अपवादस्वरूप जीवन हमें साहस दे सकते हैं, किन्तु कभी-कभी वे हमें इस प्रकार से खिन्न कर देते हैं कि हम सब जिस भूमि पर हैं उससे इतनी भव्य ऊंचाई तक उठने में हम असमर्थ हैं।

विदेशी इतिहासकार तथा उस समय के यात्रियों के तुलनात्मक अध्ययन हमें बताते हैं कि एक समय इस देश का जनसाधारण अन्य देशों के सामान्यजन से अतुल्य श्रेष्ठ था क्योंकि हमारे नेतओं ने समाज के प्रत्येक स्तर में सांस्कृतिक संस्कारों को निर्विष्ट करने के लए लगातार अथक प्रयत्न किए थे। इसीलिए हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग से विद्वान और ज्ञानियों से लेकर कृषक, कोरी, मोची, डोम तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों तक से संत-महात्मा तथा शूरवीर मिलते हैं, जिनके विचारों एवं कृतियों ने ऊपरी व्यवधानों को पार करते हुए लोगों को प्रेरणा दी।

वर्तमान 'जागृति'

आज इस सही सांस्कृतिक दृष्टिकोण के पूर्ण अभाव के कारण हमारे लोग अनंत समस्याओं की आपदा में फंसे हैं। ये सभी समस्याएं जन-साधारण का स्तर निम्न होने के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। हम प्राय: सुनते हैं कि एक बहुत बड़ी जागृति आई है और हमारे लोगों में राजनीतिक चेतना बढ़ रही है। जागृति ज्ञान है तथा ज्ञान वह योग्यता है, जिससे विविधता में एकता की अनूभूति होती है, कलह के स्थान पर सामंजस्य की प्राप्ति होती है और स्वार्थ के स्थान पर समाज की आराधना होती है। अत: एकता के लिए प्रेरणा उत्पन्न करते हुए विघटन की प्रवृत्तियों का लोप हो जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम अपने लोगों की एकता के लिए कार्य नहीं करते, किन्तु विविध समस्याओं को अधिकाधिक पक्षोप-पक्ष उत्पन्न करने के लिए उपयोग में लाते हैं तो हम अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति नहीं करते, वरन् अज्ञान की गहराई में और भी गहरे डूब रहे हैं।

फिर भी अधिक क्रियाशीलता दिखाई देती है ? हमारे चारों ओर उतने अधिक आंदोलन और संक्षोभ हो रहे हैं, क्योंकि जीवित प्राणी संज्ञाशून्य होने पर भी क्रियाशीलता प्रदर्शित करता है। उदाहरण के लिए हम सूक्ष्मदर्शक यंत्रों द्वारा देख सकते हैं कि मेंढक की बाह्य चेतना के शून्य हो जाने पर भी सूक्ष्मतम शिराओं में रक्तसंचार होता रहता है। तो क्या वह प्रगति कर रहा है ? नहीं । इसके विपरीत वह मृत्यु की ओर जा रहा है। इसी प्रकार जब चारों ओर अज्ञान छाया रहता है, तब भी क्रियाएं होती रहती हैं। हमारी वर्तमान काल की अधिकतर क्रियाओं के प्रेरक उद्देश्यों पर ऊपरी दृष्टिपात भी हमें विश्वास दिला देगा कि वे सच्ची जागृति, अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न नहीं हुई हैं, वरन् उसकी उत्पत्ति अंधकार एवं अज्ञान से है।

वर्तमान विपर्यासों को दूर करो

जब हम अपने उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों की बात करते हैं, तो आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में पले हुए लोग सोचते हैं कि यह कोई रहस्यात्मक चीज है, कुछ पारलौकिक वस्तु है। यह केवल हमारे मानसिक दास्य की वर्तमान गहराई को प्रकट करता है, जिसने हमें उन सिद्धान्तों को समझने के सामर्थ्य से भी वंचित कर दिया है, जो कभी हमारे राष्ट्रजीवन के गौरव थे। एक बार एक मित्र ने मुझसे एक किताब ली। जिस दिन वह मुझे लौटाने वाला था कि पुस्तक बन्द ले गया। वह एक वृक्ष की चोटी पर बैठ गया और उसे उलट-पलटकर देखने लगा। संभवत: वह मेरे मित्र को ऐसा करते दुख चुका था। कई बार उसे खोला और बन्द किया। अंत में वापस आया और मेरे मित्र को चकित करते हुए मेज पर रखकर चला गया। संभव है, उसने यह सोचा हो कि मानव-प्राणी की क्रियाएं रहस्यमयी और गुप्त हैं। हमारी संस्कृति के उपदेशों के संबंध में भी आज कुछ इसी प्रकार की दशा है।

आज हम नाच, गान, चलचित्र तथा नाटकों को संस्कृति मानने लगे हैं। इस प्रकार के 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' अपने देश में सभी जगह चलते हुए दिखते हैं। नि:संशयरूपेण हल्के मनोरंजन का दूसरा नाम 'संस्कृति' हो गया है। यह इतनी हास्यास्पद एवं अपमानकारक सीमा तक पहुंच गया है कि नैतिक दुष्चरित्रता के कीचड़ में फंसे हुए चलचित्र के कुख्यात नट-नटी हमारे सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डलों में सम्मिलित किए जाते हैं। जिस देश में राम और सीता जैसे आदर्श चरित्र हुए, जिसने पूवकाल में श्रेष्ठतम दार्शनिक एवं ऋषियों को तथा वर्तमान काल में विश्व में सहज सम्मान तथा प्रेमादर प्राप्त करने वाले विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे व्यक्तियों को अपने सांस्कृतिक प्रतिनिध के नाते भेजा है। अब वहां से ऐसे व्यक्तियों का देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के नाते जाना हमारे पतन का एक भयावह दृश्य उपस्थित करता है।

हम यह भी देखते हैं कि हमारे प्रमुख 'सांस्कृतिक पुरुष', 'मिस इण्डिया' की सौन्दर्य प्रतियोगिता में निर्णायकों के रूप में भाग लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी संस्कृति के संबंध में उनकी जो कल्पना है, इसमें हमारे नारीत्व के आदर्श, सीता, सावित्री, पद्मिनी अथवा निवेदिता का कोई स्थान नहीं है।

शांत अथवा गुप्त

वर्तमान काल के इन विपर्यासों से हमें अपने को दूर रखना होगा और अपनी संस्कृति के शाश्वत एवं जीवनदायी तत्व को आत्मसात करना होगा। स्पष्टतया यह सांस्कृतिक संस्कार देने का कार्य है, जिसे बिना किसी डिमडिम अथवा प्रचार के

दृढ़तापूर्वक वर्षानुवर्ष शांति से चलना चाहिए, किन्तु आज अपनी संस्कृति के सही दृष्टिकोण के अभाव में इस शांति को भ्रमवश 'गुप्तता' मान लिया जाता है। हमारी संस्कृति प्रदर्शन का समर्थन नहीं करती।

उदाहरणार्थ–हिन्दू पति–पत्नी अपने प्रेम का प्रदर्शन सबके सामने नहीं करते। हिन्दू पत्नी, आंसू, आलिंगन अथवा चीत्कार से अपने प्रेम को व्यक्त नहीं करती। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग अपने प्रेम को नाटकीय आलिंगनों और चुम्बनों से प्रकट करते हैं। यह नितांत बाह्य प्रदर्शन है, क्योंकि दूसरे ही दिन उनके संबंध–विच्छेद होने की संभावना रहती है। हमारे यहां के लोग प्रदर्शन नहीं करेंगे, वरन् उनके मुखमण्डल पर प्रेम की एक आभा प्रकट होती है और वह प्रेम सदैव अखण्डित बना रहता है। हमारी संस्कृति ने सदैव यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रदर्शनों की अपेक्षा संवेगों का संयमन अधिक शक्तिशाली और मोहक होता है। यदि प्रेम को व्यक्त करने का हमारा ढंग श्रेष्ठ माना जाता है, तो कार्य का शांत ढंग भी इतना ही श्रेष्ठ है।

शाश्वत मूल्यों का सिंचन

हमारी संस्कृति के इन प्राचीन एवं जीवनदायी लक्षणों को पुन: तारुण्य प्रदान करने के कार्य की अविलंब आवश्यकता और सर्वोपरि महत्ता हमारे राष्ट्र के वर्तमान संदर्भ में ही नहीं, वरन् अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में भी है। हमारी सांस्कृतिक दृष्टि, जो मनुष्य–मनुष्य के बीच प्रेम एवं सामंजस्य के लिए सच्चा आधार प्रदान करती है और जीवन के संपूर्ण दर्शन को मूर्त करती है, आज के इस युद्ध से ध्वस्त हुए विश्व के सामने प्रभावी ढंग से रखने की आवश्यकता है। यदि महान जागतिक लक्ष्य में हम सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें प्रथम अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। हमें विदेशी विचारों की मानसिक शृंखलाओं और आधुनिक जीवन में विदेशी व्यवहार तथा अस्थिर 'फैशनों' से अपने को मुक्त रखना होगा। परानुकरण से बढ़कर राष्ट्र की अन्य कोई अवमानना नहीं हो सकती। हम स्मरण रखें कि अंधानुकरण, माने प्रगति नहीं; वह तो आत्मिक पराधीनता की ओर ले जाता है।

फिर भी हमें विश्वास है कि वर्तमान विपर्यास एवं मिथ्या कल्पनाएं केवल क्षणिक दृश्य हैं। हमारी संस्कृति की जड़ें अमरता के स्रोतों में अत्यन्त दृढ़ता से गहराई तक जमी हुई हैं, जो सरलता से सूख नहीं सकतीं। वे अपने प्राचीन ओज एवं जीवन–शक्ति को निश्चय के साथ प्रकट करेंगी ही और विगत कुछ शताब्दियों में वृद्धिगत परोपजीवी वृत्ति का परित्याग करते हुए अपनी संपूर्ण पुरातन शुद्धता एवं भव्यता के साथ एक बार पुन: अंकुरित होंगी।

❑❑❑

६

सच्चे राष्ट्रीय वैभव के लिए

पुनरुज्जीवन

अपने हिन्दू-राष्ट्र का पूर्ण वैभव एवं इसकी महानता का पुनरुज्जीवन हमारा एकमात्र परम लक्ष्य है। अपने इस लक्ष्य का आकलन करने के लिए आवश्यक है कि अपने राष्ट्र के उस परम वैभव, जिसे हम प्रार्थना में उच्चारित करते हैं, के अर्थ को भली-भांति समझें। इसके पश्चात् हमें यह भी समझना होगा कि अपने राष्ट्र की वह वैभवशाली अवस्था कैसे प्राप्त की जाए और किस भांति उसे स्थिर रखा जाए। सामान्य रूप से किसी राष्ट्र का वैभव उसकी भौतिक सम्पन्नता के आधार पर नापा जाता है। नि:सन्देह गौरवशाली राष्ट्र को सब भांति सम्पन्न होना आवश्यक है। राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ण रूप से होनी चाहिए। किन्तु क्या जिस राष्ट्रीय वैभव की कल्पना हम अपने राष्ट्र के लिए करते हैं, इसका पूर्ण चित्र यही है? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर हमें गंभीरता से विचार करना है।

वैभव की हमारी कल्पना

प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट जीवन-संगीत रहता है और उसकी लय तरंग में राष्ट्र प्रगति-पथ पर अग्रसर होता है। अपने हिन्दू-राष्ट्र ने भी अनादि काल से एक अनुपम विशिष्टता को सुरक्षित रखा है। हमारे लिए भौतिक सुख के स्वरूप, अर्थात् 'अर्थ' (संपत्ति का संचय) और 'काम' (भौतिक तृष्णाओं का समाधान) मनुष्य जीवन के एक अंश मात्र हैं। हमारे महान् पूर्वजों ने घोषणा की है कि मानव पुरुषार्थ के दो और भी पहलू हैं - 'धर्म' एवं 'मोक्ष'। उन्होंने हमारे समाज की रचना चतुर्विध निर्धारित की है। यह चतुर्विध पुरुषार्थ-रचना, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के आधार पर की गई है। अति प्राचीनकाल से हमारा समाज केवल सम्पत्ति एवं वैभव के लिए ही प्रसिद्ध नहीं रहा, वरन् इससे भी अधिक जीवन के उन दो पहलुओं के लिए रहा है। इसलिए हम एक उच्च नैतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक लोग कहे जाते हैं, जिन्होंने अपना अंतिम लक्ष्य ईश्वर से सीधे सम्पर्क करने, अर्थात् मोक्ष से कम नहीं रखा। यदि मानव-सत्ता का यह अंतिम उद्देश्य त्याग दिया जाए, तो मनुष्य में, जो

पशु है, उसकी इच्छाओं की पूर्ति के अतिरिक्त और क्या बचता है ? यदि यह सत्य है कि मनुष्य और पशु में अंतर होता है तो उन दोनों की सम्पन्नता एवं सुख की कल्पना में भी अंतर होना ही चाहिए। यदि खाना-पीना और खूब आनन्द-भोग ही दोनों की कसौटी है, तो मनुष्य की तुलना पशु के साथ ही करनी होगी। इसीलिए हम कहते हैं कि हमें मनुष्य की आत्मा को भी खाद्य देना है। जब हम यह कार्य करते हैं, तभी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को वास्तव में महान एवं वैभवसम्पन्न मान सकते हैं। इसलिए जब हम अपने राष्ट्र की महानता और वैभव का विचार करते हैं, तो हम उनकी सम्पत्ति और उसकी समृद्धि तथा शरीर की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के सब साधनों का ही विचार नहीं करते, वरन् हम व्यक्ति के मन के विषय में भी विचार करते हैं। उसे शनै: शनै: सभी से ऊपर उठाने का प्रयत्न कर व्यक्ति को उस स्थिति में पहुंचाना चाहिए, जिसका उसे मानव-प्राणी के रूप में अधिकार प्राप्त है, अर्थात् ईश्वरत्व के साथ सीधा संबंध। यह कहा गया है कि 'धर्मादर्थश्च कामश्च', अर्थात् प्रथम धर्म का आचरण करो, धर्म तुम्हें अर्थ और काम की भी प्राप्ति करा देगा।

धर्म का स्थान

जब हम कहते हैं कि धर्म की रक्षा एवं उसका कायाकल्प करना चाहते हैं तो क्या हमारा आशय उसके कर्मकाण्ड के बाह्य स्वरूप एवं औपचारिकताओं से है ? हमारे देश में कुछ लोग पवित्र सूत्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं, जबकि कुछ लोग नहीं करते; कुछ चोटी रखते हैं, कुछ नहीं; कुछ मूर्ति-पूजा करते हैं, कुछ नहीं। ये वस्तुएं उनके लिए अर्थ रखती हैं, जो उन्हें मानते हैं। ये हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षण मात्र हैं। उन्हीं को धर्म मान लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

हमारे धर्म की परिभाषा दुहरी है। प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क का उचित पुनर्वासन था द्वितीय है सामंजस्यपूर्ण सांघिक अस्तित्व के लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों का परस्पर अनुकूल बनना, अर्थात् समाज धारणा के लिए एक उत्तम समाज-व्यवस्था।

हम प्रथम पहलू को लें। हम जानते हैं कि मनुष्य का व्यक्तित्व उसके मन का प्रक्षेपण मात्र होता है। किन्तु मन एक ऐसे पशु के समान है, जो कितनी ही वस्तुओं के पीछे भागता है तथा उसकी रचना कुछ इस प्रकार की है कि सभी वस्तुओं के साथ वह एक हो जाता है। साधारणत: मनुष्य का मन यह विचार करने के लिए नहीं रुकता कि क्या ठीक है और क्या गलत ? वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी स्तर तक नीचे झुक सकता है ? इस प्रकार के मन के साथ मनुष्य का साधारण पशु के स्तर से ऊंचा उठने की संभावना नहीं होती। अतएव मन को आत्मसंयम एवं कुछ

अन्य महान् गुणों से संस्कारित करना है। अच्छे आचरण के वे लक्षण भगवद्गीता एवं हमारे अन्य पवित्र ग्रंथों में विविध संदर्भों में उल्लिखित हैं। उन्होंने शरीर के लिए पांच 'यमों' और मन के लिए पांच 'नियमों' का वर्णन किया है।

दूसरा है सामाजिक पहलू। मनुष्य के जीवन का समाज के व्यापक हितों के साथ तालमेल बैठना चाहिए। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। प्रथम पहलू की परिभाषा इस प्रकार की है -

यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस् सिद्धि: स धर्म:

(वैशेषिक दर्शन १.२)

जिसका अर्थ है कि धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी दैवी तत्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। द्वितीय स्वरूप है -

धारणात् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयति प्रजा:

अर्थात् वह शक्ति, जो व्यक्तियों को एकत्र करती है और उन्हें समाज के रूप में धारण करती है - धर्म है। इन दो परिभाषाओं का मेल प्रकट करता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ एक ऐसे सुसंगठित माज का निर्माण करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने एकत्व का अनुभव करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है, जो उसे चरम सत्य की अनूभति की दिशा में ले जाता है।

समाज की सुस्थिति एवं कल्याण के साथ व्यक्ति के विकास के मेल को देखने की एक और भी दृष्टि है। हमारे महान् विचारदाताओं ने हमसे नित्य और अनित्य का भेद जान लेने को कहा है। शंकराचार्य ने इसे 'नित्यानित्य वस्तु विवेक' कहा है। थोड़ी देर के लिए हम इसके उच्च दार्शनिक अर्थ को एक ओर रख दें और इसे अपने राष्ट्रीय जीवन पर लागू करें। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। अगणित पीढ़ियों का आना-जाना हो चुका है, किन्तु राष्ट्र बना हुआ है। जल के बिन्दु आते हैं, कुछ देर के लिए रुकते है और भाप बनकर उड़ जाते हैं, किन्तु गंगा का प्रवाह अनवरत चलता रहता है। इसी प्रकार हमारे राष्ट्रजीवन का प्रवाह भी शाश्वत है। हम व्यक्ति सतह पर एक बुलबुले अथवा बूंद के समान प्रकट होते हैं और लुप्त हो जाते है। इसलिए राष्ट्रजीवन ही 'नित्य' है। व्यक्ति 'अनित्य' है। अत: आदर्श व्यवस्था होगी 'अनित्य'

व्यक्ति को 'नित्य' की प्राप्ति के साधनों में (सामाजिक हित के रूप में) बदल दिया जाए, जो व्यक्ति को अपनी अंतर्निहित दिव्यता की वृद्धि एवं विकास के लिए सामर्थ्य प्रदान करेगा। यही धर्म अपने दुहरे स्वरूप में मनुष्य को उसके अंतिम लक्ष्य ईश्वरत्व-मोक्षप्राप्ति के अंतिम लक्ष्य की ओर ले जाता है।

वर्तमान चेतावनी

दुर्भाग्य से आज हमारे देश के कर्णधार इस राष्ट्रीय दृष्टि से विहीन हैं और ऐसे विदेशी विचारों से विमोहित हो गए हैं, जो उन्नति एवं वैभव के भौतिक दृष्टिकोण को ऊपर नहीं उठा पाए हैं। उन्होंने जीवन-स्तर को उन्नत करने का घोष प्रचलित किया है, जिसका अर्थ है केवल मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाना और शारीरिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाते हुए उसकी पूर्ति का प्रयत्न करना। आज का विलास-बाहुल्य कल की आवश्यकताएं हो जाता है और इस प्रकार मनुष्य की भौतिक आकांक्षाओं की अधिकाधिक अतितृप्ति के लिए अंतहीन संघर्ष चलता रहता है।

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि भौतिक कामनाओं की शांति कभी नहीं हो सकती। जितना ही अधिक कोई उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करता है, वे उतनी ही अधिक तीव्र होती जाती हैं। जिस प्रकार आग में तेल उड़ेलने से वह बुझने के स्थान पर और भी प्रज्ज्वलित होती है। टालस्टाय ने एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कहानी लिखी है, जिसका शीर्षक है - 'मनुष्य को कितनी भूमि की आवश्यकता होती है।' एक किसान से वादा किया गया कि सूर्योदय से सूर्यास्त-पर्यन्त वह जितनी भूमि की परिक्रमा कर लेगा, उतनी भूमि उसे दे दी जाएगी। अधिक से अधिक भूमि प्राप्त करने के लोभ के कारण वह इतनी दूर तक दौड़ा कि सूर्यास्त के पूर्व वह अपने प्रारंभ स्थान पर नहीं लौट सका और श्रम-क्षीणता के कारण मर गया। उसे गाढ़ने के लिए केवल सात फीट लंबी और ढाई फीट चौड़ी जमीन की आवश्यकता पड़ी।

यह बात भी भली प्रकार जानी हुई है कि जिस व्यक्ति के पास गट्ठर-भर अपूर्ण कामनाएं हैं, उन्हें संतुष्ट करने के लिए कितने ही अधिक साधनों के प्राप्त होने पर भी वह कभी सुखी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए - अमेरिका में असीम सम्पत्ति एवं सम्पन्नता के होते हुए भी विविध प्रकार के भीषण आपराधिक घटनाएं तथा मानस रोगों की वृद्धि भयावह गति से हो रही है। सहस्रों अमरीकावासी नित्य रात्रि में शैया पर जाने से पूर्व निद्रा की गोलियों का सेवन करते हैं। यह उनके जीवन-दर्शन के एक गंभीर छिद्र का ही सूचक है। राजनीतिक तथा आर्थिक तत्वों का ही जीवन में पूर्ण एवं सर्वाधिक विचार रखते हुए उन्होंने आध्यात्मिकता की जड़ों की उपेक्षा की है।

यह आध्यात्मिकता ही वह वस्तु है, जो मानव-मस्तिष्क को संयमित और उदात्त बनाती है तथा शांति एवं सुख में विकसित और स्फुटित होने के लए मानवात्मा का परिपोषण करती है।

व्यवहार में

अतएव हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह चतुर्विध पुरुषार्थ की पूर्ण जीवन-कल्पना ही थी, जिसने हमारे समाज के स्वरूप को विशिष्टता प्रदान की और विश्व के क्षितिज पर हमारे नाम को प्रकाशित किया है। इस तथ्य को प्रकट करने वाले हमारे राष्ट्रीय अतीत के यथेष्ट साक्ष्य हैं कि यह जीवन-कल्पना कोरी काल्पनिक जगत् की बात नहीं थी, वरन् हमारे राष्ट्र के जीवन के सहस्रों वर्ष तक एक सजीव सत्य रही थी। हमारे देश में आने वाले सभी विदेशी यात्रियों ने यहां के मनुष्यों के अति श्रेष्ठ स्तर और असीम सम्पत्ति एवं वैभव को अपने प्रशंसात्मक कथनों द्वारा प्रमाणित किया है। हमारे लोगें का श्रेष्ठ चारित्र्यगठन जीवन की उस पूर्ण कल्पना का परिणाम था, जिसके अंतर्गत अर्थ और काम का समन्वय धर्म और मोक्ष के उच्चतर मूल्यों के साथ किया गया, जिसे हमने व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर क्रियान्वित किया। इतिहास में इस बात के असंख्य उदाहरण मिलते हैं कि दूसरे देशों ने हमारे राष्ट्र के समक्ष अतीव श्रद्धापूर्वक नमन किया, जिसका मुख्य कारण हमारे आध्यात्मिक महत् पुरुषों का विशुद्ध चारित्र्य ही रहा है। इन्होंने संपूर्ण संसार में मनुष्य की दिव्यता का संदेश दिया। बाद में बौद्ध-संन्यासी एवं धर्म-प्रचारक अपने देश की सीमाओं को पार करके दूर-दूर के देशों में गए। उन सभी देशों में उनकी पूजा हुई तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए उदाहरण एवं उपदेशों को आदर्श के रूप में माना गया। बुद्ध का एक शिष्य तिब्बत, चीन और जापान गया था। उन सभी देशों में उसकी मूर्ति की पूजा देवता के समान होती थी। स्वार्थ-त्याग एवं सेवा की तीव्र भावना, सभी को हृदय से लगा लेने वाले प्रेम, और इस प्रकार के धर्म-प्रचारकों के उदात्त चरित्र की विशुद्ध श्रेष्ठता ने उन्हें लोगों का सांस्कृतिक गुरु बना दिया। इन्होंने ही हमारे भारत के लिए 'विश्वगुरु' का नाम अर्जित किया।

आज हम अपने देश के लोगों को अन्य देशों में राजदूत अथवा आचार्य, विद्यार्थी या व्यापारी अथवा यों ही आनंद के लिए यात्रा करने वालों के रूप में जाते देखते हैं और पाते हैं कि वहां जाकर वे शारीरिक भोगों के पंक में धंस जाते हैं तथा वहां के लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठतर व्यवहार न करके बहुत बार अपने आपको उनसे भी तुच्छ व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तब राष्ट्रीय जीवन के इस स्व पर बल देने की अतीव आवश्यकता और भी स्पष्टता से अनुभव होती है।

हमारे राष्ट्र का सच्चा पुनरुद्धार मनुष्य-निर्माण से होना चाहिए। उसमें शक्ति का ऐसा संचार होना चाहिए कि वह मानवीय दुर्बलताओं को पराभूत कर प्रेम, आत्मसंयम, त्याग, सेवा एवं चारित्र्य के हमारे परम्परागत सद्गुणों की मूर्ति बनकर हिन्दू पुरुषार्थ के भासमान प्रतीक के रूप में खड़ा होने में समर्थ हो सके। अपने वैभवशाली राष्ट्रत्व का यह महत्वपूर्ण और वास्तविक सार तत्व अपनी दृष्टि के समक्ष सदैव रखना होगा, जिससे कि हम अपने विश्वगुरु के मूल पद पर पुनः आरूढ़ हो सकें।

अनुशास्ति

अब हम इस प्रश्न के दूसरे पक्ष पर आते हैं। आज के संसार में जीवन की अपनी चतुर्विध उपलब्धि के साथ राष्ट्रीय वैभव के उच्चतम शिखर पर पहुंचने तथा उनको बनाए रखने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? हमें ज्ञात है कि ऐसी वैभवशाली अवस्था के विनाश का भय, आंतरिक अव्यवस्था अथवा बाहर से होने वाले आक्रमणों से उत्पन्न होता है। हमारा अपना ही इतिहास बताता है कि इन्हीं दोनों कारणों ने हमें उस वैभव की दशा, जो किसी समय संसार की ईर्ष्या का विषय थी, से इस वर्तमान हेय दशा में लाकर खड़ा कर दिया है। अतएव आज हमें अपने राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण करना है, ताकि इन दोनों ही प्रकार के संकटों का निराकरण कर सकें।

यह भी भली प्रकार से ज्ञात होता है कि विशेषतया इस युग में बाह्य आक्रमण, आंतरिक विक्षोभ एवं अस्त-व्यस्तता से अपने को सुरक्षित रखने की शक्ति समाज के संगठित जीवन में ही है - 'संघे शक्तिः कलौ युगे'। अतः जब हम यह कहते हैं कि अपने राष्ट्र को वैभव के शिखर पर ले जाना चाहिए तो उसका यह भी अर्थ होता है कि समाज जागरूक, संगठित एवं सामर्थ्यशाली बनना चाहिए। आखिर यह एक सत्य है कि राष्ट्र संगठित शक्ति के ठोस आधार पर ही खड़े हो सकते हैं। जीवन के अन्य विषय, जैसे - भोजन, वस्त्र, घर, औषधि तथा अन्य भौतिक प्रयोजन कितने ही आवश्यक क्यों न हों, गौण हैं। प्रथम एवं सबसे महत्वपूर्ण पूर्वापेक्षा है अजेय संगठित समाज-जीवन की, जिसके अभाव में उच्चतम राष्ट्रीय सम्पन्नता भी अत्यल्प काल में धूल में मिल जाती है।

दुर्बल कड़ियों से सबल शृंखला नहीं बनती

अब हम इस प्रकार की शक्ति के उद्गम की ओर दृष्टिपात करें। हम कहतेहैं कि वह लोगों के संगठित जीवन में निवास करता है। लोग इस प्रकार के होने चाहिए कि जिनके मन एवं विचार ऐक्य से रंजित हों, जिनकी नैतिकता के समान नियम हों,

एक-दूसरे के प्रति प्रामाणिक हों तथा राष्ट्र के प्रति एकांतिक रूप से निष्ठावान हों। जब तक वे इस प्रकार के नहीं होते, केवल संगठन-शक्ति राष्ट्ररक्षा का कार्य नहीं कर सकती। इसके विपरीत वह राष्ट्रजीवन के लिए विभीषिका का स्रोत सिद्ध होगी। क्या हम स्वार्थी और समाज-विरोधी तत्वों अथवा चोर-डाकुओं तक को संगठित होते नहीं देखते ? हम यह भी देखते हैं कि स्वार्थी और चरित्रहीन लोगों को सामाजिक हित में घातक उद्देश्यों के लिए एकत्र कर लेना सरल है। आज इस प्रकार के गुट, जिनके अपने साम्प्रदायिक अथवा कुछ संकुचित हित हैं, संपूर्ण देश में उठ रहे हैं। वे अपने स्वार्थी हितों के पूर्ति के लिए देश की पवित्रता एवं अपने राष्ट्रजीवन की एकता का विनाश करने के लिए भी उद्यत हैं। ऐसे लोग बहुत सरलता से एकत्रित हो जाते हैं। यह संगठित जीवन का निम्नतम स्तर है। निम्न स्तर के जीवन में संगठन में बहुत ही सादा और सरल होता है। मांस का एक टुकड़ा फेंकने पर कौओं का पूरा झुण्ड एकत्रित हो जाता है। यह झुण्ड की सहज प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति उस समय सक्रिय हो जाती है, जब राष्ट्रजीवन की विशाल कल्पना की पकड़ मन से हटकर मत, पन्थ, जाति अथवा इसी प्रकार की अन्य संकुचित कल्पनाएं मन पर सर्वोपरि अधिकार कर लेती हैं। किन्त यह सरल है, इसीलिए इस मार्ग को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

हमारा यह निष्कर्ष है कि योग्य व्यक्तियों के एकत्रीकरण द्वारा संगठित शक्ति का निर्माण करना होगा। इसलिए सोचना होगा कि उन व्यक्तियों के लिए कौन से गुणों की अपेक्षा है, जो इस प्रकार की संगठित शक्ति के सजीव अंग बनेंगे।

शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता मृत्यु

प्रथम वस्तु है अजेय शारीरिक शक्ति। हमें इतना शक्तिशाली होना है कि संपूर्ण संसार में हमें कोई न तो विजित कर सके और न अभिभूत कर सके। इसके लिए हमें सशक्त एवं स्वस्थ शरीर चाहिए। हमारे सभी अवतार जिन्होंने मानव-शरीर धारण किया, इसी प्रकार के थे। हमारे शास्त्रों का सार यही रहा है कि 'शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता मृत्यु है।' स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे- 'मैं लोहे की मांसपेशियां एवं फौलाद की नसों वाले मनुष्य चाहता हूं।' यह स्वयं भी ऐसे ही थे। अपने कुछ साथी शिष्यों को बैठकर और आंसू बहाते हुए देखकर वह गरजकर कहते थे - 'यह भक्ति नहीं है। यह तो नाड़ी संस्थान की दुर्बलता है। लड़कियों के समान बैठकर रोओ मत।'

दर्पण के सामने खड़े होकर अपनी ओर देखने पर क्या हमें पौरुष एवं शक्ति का कोई लक्षण दिखाई देता है ? यह मत कहो कि 'आखिर शरीर में रखा क्या है।' हमारे शास्त्र कहते हैं -

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'

अर्थात् जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिए शरीर ही प्रथम साधन है।

एक सक्षम शरीर के बिना हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। ईश्वर के साक्षात्कार के लिए भी स्वस्थ एवं सशक्त शरीर की आवश्यकता है। ईश्वर दुर्बलों के लिए नहीं है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

जब हम ईश्वर का ध्यान करने बैठते हैं, उस समय यदि हमारे सिर में चक्कर आने लगता है, हमारी रीढ़ दुखने लगती है और हम अपने आसन पर कांपने लगते हैं तथा हृदय धड़कने लगता है, इसका कारण ईश्वर नहीं, वरन् ज्वर होता है। हमारे वर्तमान काल के युवकों में त्वचा के प्रसाधनों की महत्ता और स्नायुओं की अपेक्षा की जो वृत्ति उत्पन्न हुई है, उसे अवश्य त्यागना चाहिए तथा उन्हें योग्य व्यायाम एवं स्वस्थ अभ्यास के द्वारा ऐसे सशक्त शरीर का विकास करना चाहिए जो ताप एवं शीत, भूख एवं श्रम तथा जीवन की सभी कठोरताओं में भी प्रसन्न चित्त रहे।

चरित्र सर्वस्व है

शारीरिक शक्ति आवश्यक है, किन्तु चरित्र उससे भी अधिक महत्व का है। बिना चरित्र के केवल शक्ति मनुष्य को पशु बना देगी। वैयक्तिक तथा इसी प्रकार राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी चरित्र की शुद्धता राष्ट्र के वैभव एवं महानता की जीवन-प्राण होती है।

प्रहलाद की एक कथा चरित्र की महत्ता को अच्छी तरह चित्रित करती है। पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप वह इन्द्र पद प्राप्त कर देवताओं का राजा बना। पूर्ववर्ती इन्द्र देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास गए और कहा – 'श्रीमान् आप मेरी दयनीय दशा से अवगत हैं। मुझे अपने सिंहासन को पुनः प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए, बताइए।' बृहस्पति ने कहा – 'एक साधारण याचक का रूप धारण कर 'इच्छादान' के समय प्रहलाद के दरबार में जाओ और उसका शील (चरित्र) मांग लो।' इन्द्र ने वैसा ही किया। वह प्रहलाद के पास भिक्षुक के रूप में गया और उसका शील मांग लिया।

प्रहलाद ने कहा– 'तुम केवल मेरे शील से ही क्यों संतुष्ट हो।' इस याचक ने उत्तर दिया कि 'मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है।' प्रहलाद के इतने कहते ही कि 'तुमको यह दिया', एक तेजस्वी आकृति उसके शरीर से बाहर आई और याचक के शरीर में प्रवेश कर गई। प्रहलाद ने पूछा – 'तुम कौन हो? तुम मेरे शरीर को छोड़कर याचक के शरीर में क्यों प्रवेश कर रहे हो ?' अशरीरी तेज ने उत्तर दिया– 'मैं तुम्हारा शील

हूं। चूंकि तुमने मुझे दान कर दिया है, अत: अब मुझे उसके शरीर में प्रवेश करना है।' पल भर में ही एक अन्य दैदीप्यमान आकार बाहर आया। प्रहलाद ने उससे पूछा- 'तुम कौन हो, मेरे शरीर को क्यों छोड़ रहे हो ?' उसने कहा, - 'मैं तुम्हारा शौर्य हूं। मैं शील का सेवक मात्र हूँ। जब तक तुम्हारे पास शील था, मैंने तुम्हारी सेवा की। अब शील चला गया है, मैं भी उसका अनुसरण कर रहा हूँ।' ऐसा कहते हुए वह भी याचक के शरीर में प्रवेश कर गया। इसी प्रकार कुछ और शक्तियों ने भी प्रहलाद के शरीर को छोड़ दिया। अंत में एक दैदीप्यमान आभा से युक्त स्त्री-आकार उसके शरीर से निकली। उसने कहा- 'मैं आपकी राजश्री हूं। मैं भी शील की सेविका हूं, इसलिए उसके पास जा रही हूं।' परिणामत: प्रहलाद की संपूर्ण सत्ता एवं वैभव समाप्त हो गया और इन्द्र ने अपना सिंहासन पुन: प्राप्त किया।

संक्षेप में इस कहानी का उपदेश यह है कि चरित्रवान होने से हमें सब कुछ उपलब्ध हो सकता है तथा बिना चरित्र के हम प्रत्येक वस्तु खो देते हैं। यह बात व्यक्तियों के लिए भी उतनी ही सत्य है, जितनी राष्ट्रों के लिए। अतएव वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय चरित्र के ये दोनों ही पक्ष राष्ट्रीय वैभव के दो फैफड़ों के समान हैं।

सफलता के लिए सुदृढ़ सामान्य बुद्धि

अब मान लीजिए कि हमारे पास सशक्त शरीर एवं शुद्ध और निष्ठावान हृदय है, किन्तु शरीर और मन का उपयोग कैसे किया जाए, इसके लिए हमें मेधासम्पन्न निपुणता की आवश्यकता होती है जो परिस्थिति की वास्तविकताओं एवं जटिलताओं को ग्रहण करने और ठीक-ठीक आचरण का निर्णय करने में समर्थ हो। अतएव हमें एकाग्रता की शक्ति का विकास करना चाहिए, अपनी मेधा-शक्ति को तीव्र करना चाहिए और ठीक क्षण पर ठीक कार्य में जुटते आना चाहिए तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने में हमें आशुकारी एवं क्रियाशील होना चाहिए।

इस प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि के बिना हमारी सभी अच्छाई और शक्ति बेकार होगी। हमारे प्राचीन इतिहास में विनाश के अनेक पृष्ठ इसी कारण जुड़े कि हममें इस सुदृढ़ सामान्य बुद्धि का अभाव हो गया था। हम यह न भूलें कि राष्ट्र के पुन: संगठन का मार्ग पुष्प-शैय्या नहीं है और जब धूर्तों तथा कुटिलों से पाला पड़ता है, तब बिना चातुर्य के केवल शुद्ध-हृदयता काम नहीं देगी। व्यवहार जगत् में निपुणता और चातुर्य प्राप्त करने के लिए केवल मेधावी होना ही पर्याप्त नहीं। समाज के सामान्य स्तर के व्यक्ति भी इस प्रकार के चातुर्य को अभ्यास द्वारा विकसित कर सकते हैं। गांव के एक साधारण निरक्षर कृषक कार्यकर्ता का उदाहरण है। संकटापन्न

परिस्थितियों में वह आसपास के दस-पन्द्रह ग्रामों का नियंत्रण एवं मार्गदर्शन कर लिया करता था। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में गांव के वयोवृद्ध लोगों को भी उचित मार्गदर्शन दे पाता था। हममें से प्रत्येक को अपने आप में यह दृढ़ विश्वास जागृत करना होगा कि 'जन्मत: ज्ञान के सजीव बीज मुझे प्राप्त हैं और यदि उनका उचित रीति से पोषण किया जाए तो मुझे सफलता अवश्य मिलेगी' तदनुरूप जीवनयापन का प्रयास करना चाहिए।

निर्भीकता और श्रद्धा

मान लीजिए हमारा शरीर सशक्त है, चरित्र उज्ज्वल एवं मेधाशक्ति तीव्र है, किन्तु विपत्ति में धैर्य का अभाव है, तो क्या लाभ। परिस्थितियां सदैव हमारे पक्ष में ही रहने वाली नहीं हैं। हमें बाधाओं और प्रतिकूलता का सामना करना पड़ेगा। वीर के लिए प्रथम गुण है निर्भीकता। यह सभी गुणों का आरंभ पद है। गीता में भी विविध दैवी गुणों की गणना 'अभयम्' से ही आरंभ होती है। हमारे संघ-संस्थापक डा. हेडगेवार कहा करते थे कि राष्ट्र के दृढ़ीकरण का कार्य इस प्रकार से आरंभ होना चाहिए कि न तो हम किसी को भयभीत करें और न किसी से भयभीत हों।

'ना भय देत काहू को ना भय मानत आप।'

हमारे सभी आदर्श वीर, निर्भीकता एवं धैर्य के मूर्तिमान स्वरूप हुए हैं। खर और दूषण के साथ एक बड़ी सेना राम पर आक्रमण करने आई। शत्रु को आते देख राम ने लक्ष्मण से कहा- 'सीता इन सब चीजों से अभ्यस्त नहीं है। तुम इसकी रक्षा के लिए यहीं रहो। मैं इन्हें समाप्त करके लौटूंगा। यह कह, अपने हाथ में धनुष लेकर वह अकेले ही चले गए। उन्हें अकेले जाते देख सीता भय से कंपित होने लगीं। तब लक्ष्मण ने कहा -'इन चौहद हजार की तो क्या गणना, वे तो रावण की संपूर्ण सेना को अकेले ही संहार करने में समर्थ हैं। चिंता की कोई बात नहीं'। राक्षसों का नाश करके राम सदा ही भांति संक्षोभरहित, अत्यन्त शांतभाव से लौट आए मानो कुछ हुआ ही न हो।

ईश्वर की पूजा के लिए भी वीरता का भाव आवश्यक होता है। कायर यह नहीं कर सकता। ज्ञानेश्वरी में लिखा है कि जब कोई ईश्वर का ध्यान करने बैठता है तो पहले वह भीषण आकृतियां देखेगा। यदि वह दुर्बल हृदय है तो उसका प्रयास निष्फल होगा। कायर को न तो इस लोक में कुछ प्राप्त होता है और न परलोक में। यदि हम सही मार्ग पर हैं तो किसी से भयभीत होने का कोई कारण नहीं।

कुछ वर्षों पूर्व अपने एक कार्यकर्ता का शरीरांत हो गया। उसकी मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व मैं उससे मिला था। उसने कहा 'कोई चिकित्सा मेरे ऊपर परिणाम करती प्रतीत नहीं होती। बचने की कोई आशा नहीं है। लगता है कि मैं मरने वाला हूं।' मैंने कहा –'तुमने एक महान आदर्श की नि:स्वार्थ भाव से अथक सेवा की है। कभी किसी का अनिष्ट नहीं किया। सदैव सबकी भलाई करते रहे। अत: तुम्हें मृत्यु का भय क्यों होना चाहिए ? आनन्द से शांतिपूर्वक मृत्यु से मिलो।' उसने शांत एवं निराकुल भाव से मृत्यु का सामना किया। हम एक अच्छा कार्य कर रहे हैं, हम एक सही मार्ग पर हैं – इस निष्ठा से प्रसूत निर्भीकता की भावना हमारे आदर्श की प्राप्ति में बहुत सहायक होगी ।

अपने में इन सब गुणों को विकसित करने के लिए लगन की आवश्यकता है। जिस आदर्श को हमने अपने सामने रखा है, उसके प्रति उत्कट भक्ति का भाव आवश्यक लगन प्रदान करेगा, जिससे हम अपने को उन सभी गुणों से युक्त कर पाएंगे, जिनकी आवश्यकता हमारे राष्ट्र के वैभव की उपलब्धि के लिए है।

जब हम अपनी समस्त शक्तियों को मनुष्य–निर्माण की मूलभूत महान प्रक्रिया की ओर मोड़ देंगे, तभी हमारा प्राचीन एवं पवित्र राष्ट्र महानता और वैभव का अपना पूर्व पद पुन: प्राप्त कर चारों ओर शांति, सम्पन्नता, संस्कृति एवं चारित्र्य का वर्णन कर सकेगा।

❑❑❑

७

भावात्मक सक्रिय हिन्दुत्व जीवन की आवश्यकता

हिन्दू की परिभाषा

जब हम कहते हैं कि हिन्दू-जीवन पद्धति के नवोन्मेषी तारुण्य स्वरूप को पुन: प्राप्त करने के अनुपम कार्य के लिए संघ ने अपनी समस्त शक्तियां समर्पित की हैं, तो ऐसे बहुत लोग हैं जो प्रश्न करने लगते हैं कि पहले यह तो बताओ कि तुम 'हिन्दू' की क्या परिभाषा करते हो। हां, यह वास्तव में बड़ा कठिन कार्य है। एक बार एक सज्जन बोले - 'मैं मुसलमान अथवा ईसाई की तो परिभाषा कर सकता हूं, किन्तु हिन्दू की परिभाषा नहीं कर सकता।' उनका ऐसा कहना ठीक ही था। हम सूर्य और चन्द्रमा की परिभाषा कर सकते हैं, किन्तु इस 'चरम सत्य' की परिभाषा नहीं कर सकते जिससे इन सभी वस्तुओं का उद्‌गम हुआ है। इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। केवल इसीलिए कि वह प्रतीकों के स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाता और परिभाषा के परे है। इससे क्या उसकी अस्तित्वहीनता सिद्ध हो जाती है ? श्री रामकृष्ण ने कहा है कि केवल ईश्वर ही 'अनुच्छिष्ट', शुद्ध एवं अकलुश है, क्योंकि उसका कभी वर्णन नहीं हो पाया। वह कभी जिह्वा द्वारा अपवित्र नहीं किया गया। हम अन्य सब वस्तुओं की परिभाषा कर सकते हैं, किन्तु वह, जो सर्वव्यापक है, जो 'सत्य' कहा जता है, उसकी परिभाषा नहीं कर सकते।

अपरिभाष्य हिन्दू

हम हिन्दुओं ने परमात्मा को अपने संपूर्ण अस्तित्व का आधार माना है। इसीलिए यह संभव है कि हिन्दू-समाज का विकास एक सर्वसमावेशक ढंग से हुआ है, जिसमें अवस्थाओं एवं आकारों की आश्चर्यजनक विविधता है, किन्तु विपुल भावव्यंजनाओं एवं अभिव्यक्तियों में एक अंतर्जात एकता का सूत्र बना रहता है। हिन्दुओं के अन्तर्गत सभी मतों और विविध जातियों की परिभाषा हो सकती है। किन्तु 'हिन्दू' पद की परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें उन सभी का समावेश है। नि:सन्देह समय-समय पर इसकी परिभाषा के अनेक प्रयास किए जा चुके हैं,

किन्तु ऐसी सभी परिभाषाएं अपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। वे पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करतीं। उन लोगों के संबंध में यह बात स्वाभाविक भी है, जिनकी वृद्धि तथा विकास गत अनेक शताब्दियों से होता आ रहा है।

हमारे समाज का मूल तथा कब से हम यहां सुसभ्य जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं, इसकी तिथि से इतिहास के विद्वान अनभिज्ञ हैं। एक प्रकार से हम 'अनादि' हैं। ऐसे समाज की व्याख्या करना ठीक उसी प्रकार असंभव है, जैसे उस परम सत्य की परिभाषा करना, क्योंकि शब्दों का उद्‌भव तो उसके पश्चात् ही हुआ है। यही बात हिन्दू-समाज के लिए है। हमारा अस्तित्व उस काल से है, जब किसी भी नाम की आवश्यकता ही नहीं थी। हम आर्य प्रबुद्ध लोग थे। हम लोग प्रकृति एवं आत्मा के नियमों के ज्ञाता थे। हमने एक महान् सभ्यता, महान् संस्कृति तथा एक अनुपम समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था। हम ऐसी सभी वस्तुओं का जीवन में समावेश कर चुके थे, जो मानव के लिए हितकर थीं। उस समय शेष मानवता द्विपाद पशु मात्र थी इसलिए हमें कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया गया था। कभी-कभी दूसरे लोगों से अपने को अलग करके पहचानने के प्रयास में हमें प्रबुद्ध 'आर्य' तथा शेष को 'म्लेच्छ' कह दिया जाता था। कुछ समय बीतने पर जब विदेशों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ और विरोधी सम्प्रदाय हमारे सम्पर्क में आए तब नामकरण की आवश्यकता का अनुभव हुआ। भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग नाम रखे गए। यह ठीक ऐसे ही है, जैसे विभिन्न स्थानों पर गंगा को गंगोत्री, भागीरथी, जाह्नवी तथा हुगली नामों से पुकारा जाता है। यह 'हिन्दू' नाम जो 'सिन्धु' नदी से लिया गया है, हमारे इतिहास एवं परम्पराओं में हमसे इतने काल से संबंधित है कि अब वह हमारे लिए संपूर्ण विश्व के द्वारा स्वीकृत एवं आदर का नाम बन गया है।

उद्देश्यपूर्ण जीवन

इस प्रकार इस जगत् में हम हिन्दू यद्यपि परिभाषा से परे हैं, फिर भी वास्तविक सत्य के रूप में विद्यमान हैं। हिन्दू-समाज एक जीवन्त सत्य है, जिसे हम सब अपने रक्त की बूंद-बूंद में अनुभव करते हैं। यद्यपि हम उसकी परिभाषा नहीं कर सकते, फिर भी हमें उसके उन विशिष्ट लक्षणों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए, जो हिन्दुओं को एक विशिष्ट समाज के रूप में व्यक्त करते हैं। हम ऐसा नहीं कह सकते कि काई विशिष्ट व्यक्ति मुसलमान और ईसाई न होने के कारण ही हिन्दू है। हमारे देश में राजनैतिक नेता हिन्दू को प्राय: गैरमुस्लिम कहा करते हैं। हमारी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह कोई स्वस्थ भावनात्मक तरीका नहीं है। हिन्दू कोई नकारात्मक प्राणी नहीं है। तब इस शब्द का भावात्मक तथ्य क्या है ?

हिन्दू के लिए जीवन लक्ष्यहीन नहीं है। उसका लक्ष्य कोई ऐसी महानता नहीं है, जो सत्ता, पद, नाम अथवा ख्याति से नापी जाए। उसके सामने तो एक ही लक्ष्य है, अर्थात् अपनी वास्तविक प्रकृति-अंतर्जात देवत्व के स्फुलिंग, उसमें निवास करने वाले परम सत्य की अनुभूति, जो मनुष्य को स्थायी परम आनन्द की अवस्था तक ले जाती है। किन्तु मनुष्य का जीवनकाल बहुत छोटा है। इतने अल्पकाल में वह इस सर्वश्रेष्ठ अवस्था तक कैसे पहुंच सकेगा। वह तो शरीर के विषय में भी पूर्णतया नहीं जानता। यद्यपि वह अपने जीवन-पर्यन्त इसका उपयोग करता है। ऐसी दशा में वह सर्वव्यापक अविनाशी को कैसे जान सकता है, जो शरीर में अंतर्भूत है। कार्य-कारण का नियम बताता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया, अर्थात् 'कारण' का विशेष परिणाम होता है। यह कार्य-कारण का चक्र वृद्धिगत होना, विकसित होना और परा अवस्था को प्राप्त होना है। इसीलिए मनुष्य की यह वर्तमान सत्ता उसके वास्तविक अस्तित्व की पूरी कहानी नहीं है। मनुष्य में विशिष्ट एवं सहज प्रेरणा इस बात की रहती है कि वह विस्तार करे और अपनी दिव्य प्रकृति को व्यक्त करे। वह तब तक बार-बार जन्म लेता रहेगा, जब तक उसमें अपनी सच्ची दिव्य आत्मा के विषय में अज्ञान का लेश भी रहेगा। यदि वह प्रामाणिकता से प्रयत्न करता रहेगा तो प्रत्येक जन्म में अधिकाधिक प्रगति करता जाएगा।

उस परम सत्य के साथ अपनी एकता की अनुभूति के लिए यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानव-आत्मा के लिए एक बहुत बड़ी आशा है। यह तो हिन्दुत्व काही दीपस्तम्भ है, जो इस अमर आशा के प्रकाश को विकीर्ण करता है कि इस वर्तमान जीवन के साथ ही सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता, अपितु हमारे सामने एक जीवन के पश्चात् दूसरा जीवन, अर्थात् अनंत समय पड़ा हुआ है, कार्य में जुटने और अपने गन्तव्य तक पहुंचने के लिए। इस विशाल मानव-समाज में यह हिन्दू ही है, जो आशा एवं विश्वास की दीपिका को ऊंचा उठाए हुए है। हमारे सभी पवित्र ग्रंथों तथा प्राचीन अथवा अर्वाचीन सभी सम्प्रदायों में यही मूलभूत तत्व अंतर्निहित है।

मानव की सेवा करो

हम इस संसार में रहते हुए अगिणत सांसारिक सम्मोहनों एवं ध्यान हटाने वाली बातों से घिरे हुए हैं। सम्भवत: हम एक बार भी जीवन के वास्तविक लक्ष्य पर विचार नहीं करते। तब हमारा व्यवहार कैसा हो ? जिससे हम जीवन में अपनी वास्तविक प्रकृति को उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करने में समर्थ हो सकें तथा विकास क्रम में अपने को निम्न स्तर में घसीटते हुए उत्तरोत्तर अधिक अज्ञान से पतित न हों। कानून भी इस बात को मान्यता देता है कि यदि कोई व्यक्ति बिना किसी बुरे हेतु के

घातक कार्य कर बैठता है तो उसका अपराध कम होता है। कभी-कभी तो इसे संपूर्ण पाप से मुक्त मान लिया जाता है। अत: यदि हम स्वार्थरहित भाव से केवल कर्तव्य के नाते कार्य करते हैं, अर्थात् यदि कार्यों में आसक्ति नहीं रखते, उनमें से अपने आनंदोपभोग का प्रयोजन अलग कर देते हैं तो हमारे विविध कर्म एवं उनके फल हम पर प्रभाव नहीं डालते। तब हम बाह्य संसार के धक्कों और प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं और अपने सच्चे स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करने की योग्यता प्राप्त करते हैं। इसीलिए हमारा दर्शन कहता है कि अपना कर्म व अपना कर्तव्य निष्काम भाव से करो।

अब हमें जो कार्य करना है, उसका क्या स्वरूप है ? हमारे कर्तव्यों का क्या स्वरूप है ? उस चरम शक्ति की प्राप्ति के लिए हम जीवन कहां से प्रारंभ करें ? और जीवन किस प्रकार से चलाएं ? इतना घोषित कर देने मात्र से ही कि सत्य नाम की कोई वस्तु है, जो समय आने पर स्वत: अपने आपको व्यक्त करेगी, हमारे लिए उस चरम सत्य की उपलब्धि संभव है ? नहीं, हमें इस वास्तविक संसार में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति देखनी चाहिए, कोई ऐसी ठोस और सजीव वस्तु, जिसे इंद्रियगोचर करके हम अनुभव कर सकें और जिसके माध्यम से अनुभूति के क्रम को पूर्ण कर सकें। हमारे दार्शनिकों ने उस सत्य की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में 'मनुष्य' को रखा है और उसे पूजा तथा सेवा की वस्तु माना है। उन्होंने घोषणा की है – 'हमारे समान ही प्रत्येक मनुष्य इस सत्य का एक स्फुलिंग है। हम अपने सुख-दु:खों को अधिकाधिक मनुष्यों के सुख-दु:खों के साथ समरस करने का प्रयत्न करें और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विस्तार करते हुए अंत में उस महान सत्य का साक्षात् करें जो संपूर्ण विश्व में परिव्याप्त है।'

अत: वह कौन सी व्यवस्था है, जो हम सबके लिए अपने-अपने विकास के स्तर के अनुरूप 'मनुष्य' की सेवा संभव बना देती है।

मनुष्य अकेला नहीं रहता, वह अकेलेपन से बचना चाहता है। वह प्रकृति से संघचारी है। इसीलिए मानव-प्राणी एकत्र आते हैं और सामाजिक प्राणी की भांति समाज के स्वरूप में रहते हैं। इसी प्रकार वह भली-भांति जीवनयापन कर सकता है, विकास कर सकता है और उसमें जो कुछ सर्वोत्तम है, उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार वह सामाजिक घेरे में उन्नति करता हुआ जीवन के लक्ष्य की पूर्णता की दिशा में बढ़ सकता है। इसका अर्थ होता है – एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण एवं उसको सुचारु रूप से बनाए रखना, जो प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूर्ण अवसर प्रदान कर सके कि वह व्यापक तौर सामाजिक समुदायों के साथ तादात्म्य का अनुभव करे तथा अपने पास जो कुछ है, उस सबके द्वारा समाज की सेवा करे।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उस चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में मार्ग को प्रकाशित करने के लिए यही एक उपाय है। इसलिए हमने कहा है कि बिना किसी स्वार्थी आकांक्षा अथवा स्वार्थपूर्ण आसक्ति के हम समाज की सेवा करें। मानवता की सेवा निश्चय ही ईश्वर-सेवा है। यह हमारे जीवन-दर्शन का विशिष्ट लक्षण रहा है।

हमारे आदर्श

यह अंतिम लक्ष्य सदैव हमने अपनी दृष्टि के सामने रखा, जिसके कारण यह स्वाभाविक है कि हमारे संपूर्ण इतिहास में अन्य लोगों के समान भौतिक सम्पत्ति को महत्व प्रदान न कर मानवता के कल्याण के लिए मस्तिष्क एवं हृदय के गुणों कोबहुत महत्व दिया है। हृदय की विशालता, मन की शुद्धता एवं चरित्र की उदात्तता सदैव हमारे जीवन-मूल्यों की कसौटी रही है। हमारी महानता की माप सदा ही अपनी आंतरिक सम्पदा रहा है, बाह्य नहीं। बाह्य वस्तुएं आती-जाती रहती हैं। उन अशाश्वत वस्तुओं के पीछे हम क्यों दौड़ें ? हमने उस सम्पत्ति का वरण किया है, जो मानव-जीवन की अनुपम निधि है, जिसे हम अपने में विकसित कर सकते हैं, ऐसे श्रेष्ठ सद्गुणों, पूर्ण ज्ञान तथा आत्मा के उदात्त भाव की सम्पत्ति। वही सत्य है तथा वही शाश्वत है। इसलिए जहां अन्य देशों के सामान्य जनसमुदाय ने किसी महान सेनानायक अथवा किसी पराक्रमी राजा की पूजा की, वहीं हमारे देश में बड़े-बड़े शूरवीर अथवा सम्राट ने भी ऐसे अर्द्धनग्न संन्यासियों के चरणों की पूजा की, जो वनों में निवास करते हैं और जिनके पास अपना कहने के लिए वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता। यही है जीवन को देखने का हमारा ढंग। हमारा अनुभव है कि अंतरात्मा का गुण ही स्थायी होता है, जो जन्म-जन्मांतर पर्यन्त, अर्थात् तब तक चलता है, जब तक वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर लेता।

सजीव चलते-फिरते प्रतीक बनो

ये कुछ थोड़े से ऐसे आधारभूत तत्व हैं, जो हमें वास्तविक एवं असंदिग्ध रूप से हिन्दू बनाते हैं। जब हम इन पर विशेष ध्यान देते हैं, मनसा इन्हें ग्रहण करते हैं, अपने जीवन में इनको प्रकट करते हैं तथा इन उज्ज्वल कल्पनाओं के सजीव चलते-फिरते वास्तविक प्रतीक के रूप में खड़े हो जाते हैं, तभी इस दिव्य हिन्दू परम्परा में हमारा जन्म निरर्थक नहीं होगा।

तब क्या हम विश्वासपूर्वक यह कह सकते हैं कि हम सच्चे और भावात्मक रूप से हिन्दू हैं ? हम अपने से प्रश्न करें। हम कैसे रहते हैं ? हमारे सामने कौन से आदर्श हैं ? हमारी भावनाएं क्या हैं ? क्या हम केवल परिस्थिति-वश अथवा हिन्दू परिवार में 'संयोगवश जन्म' हो जाने से ही हिन्दू हैं ? क्या हम इसलिए हिन्दू हैं कि

इस्लाम तथा ईसाई धर्म के धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न हमें स्पर्श नहीं कर पाए, क्योकि उन धर्म-परिवर्तनकारियों की संख्या हमारी अपेक्षा अति अल्प है ? क्या हमारे हिन्दू होने का इतना ही अर्थ है ? केवल यह कहने मात्र से कोई लाभ नहीं कि 'हमारी एक महान संस्कृति है।' पर हम इसके विषय में कितना जानते हैं ? हम इसके अनुरूप कितना व्यवहार करते हैं ? क्या हम अपने वैयक्तिक जीवन को समाज के लिए समर्पित मानते हैं ? क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हमें केवल सम्पत्ति एवं सत्ता के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए, वरन् जीवन में सद्गुणों को उच्च स्थान देना चाहिए? क्या हमें ऐसा लगता है कि हम सच में ऐसे मनुष्य बनें कि जो कोई हमें देखे, वही कहने लगे कि 'यह है मनुष्य, जो इन सभी बातों में पूर्णत्व प्राप्त करने के प्रयत्न में है, जिनसे सच्चा मनुष्य बनता है।' इस दृष्टि से हम आत्म-निरीक्षण करें और धीरे-धीरे उन सभी विशिष्ट हिन्दू लक्षणों को आत्मसात करें जिससे कि संसार के समक्ष एक भावात्मक क्रियाशील हिन्दू के रूप में खड़े हो सकें। अपने दर्शन, अपने धर्म तथा अपने उन महान गुणों के अनुरूप हम जीवन-यापन करें, जिन्होंने अगिणत पीढ़ियों से हमारे जीवन को आकार देने का कार्य किया है।

यद्यपि हिन्दू-समाज को संगठित करने का विचार साधारण ही क्यों न प्रतीत होता हो, इसका वास्तव में अर्थ है कि हमें अपने दैनन्दिन जीवन में इस बात का विचार बनाए रखना चाहिए कि हम हिन्दू हैं और हम अपने जीवन का प्रत्येक छोटे से छोटा पहलू उन्हीं महान परम्परागत जीवन-मूल्यों के अनुसार ढालेंगे। हम जो कुछ भी करें, हमारा परिधान, हमारा व्यवहार तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारी भावात्मक निष्ठा की छाप स्पष्ट रूप से व्यक्त होनी चाहिए। यही है हमारे ऊपर सबसे बड़ा उत्तरदायित्व।

प्रतिक्रियात्मक हिन्दुत्व

किन्तु, दुर्भाग्यवश आज हम अपने चारों ओर देखते हैं कि कुछ हिन्दू ऐसे हैं, जो निष्ठा के कारण नहीं, वरन् प्रतिक्रिया के कारण अपने को हिन्दू कहते हैं। एक बार हमारे कार्यकर्ता गोवध पर प्रतिबंध की मांग के लिए चलाए गए हस्ताक्षर अभियान में एक अति प्रमुख हिन्दू नेता के पास गए। किन्तु उन्हें यह कहते हुए सुनकर बड़ा धक्का लगा कि 'व्यर्थ के पशुओं का वध रोकने से क्या लाभ है, इन्हें मरने दो। इससे क्या बिगड़ता है ? आखिर पशु तो सब समान ही हैं। लेकिन मुसलमान गोवध की जिद पकड़े हैं, इसलिए हमें इस प्रश्न को उठाना चाहिए और इसीलिए हम अपने हस्ताक्षर तुम्हें देंगे।' इससे यह प्रकट होता है हम इसलिए गाय की रक्षा नहीं चाहते कि वह युगों

से हिन्दू-श्रद्धा की प्रतीक रही है, वरन् इसलिए चाहते हैं कि मुसलमान इसका वध करते हैं। यही वह 'नकारात्मक हिन्दुत्व' है, जिसका जन्म प्रतिक्रिया से हुआ है।

कुछ ऐसे भी हैं, जिनके लिए हिन्दू शब्द केवल उनके राजनीतिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए है। चूंकि कांग्रेसी अथवा समाजवादी अथवा अन्य कोई 'मिली-जुली संस्कृति' की बात करता है, इसलिए वे विशुद्ध हिन्दू संस्कृति चाहते हैं। इससे भी विचित्र है 'हिन्दू-कम्युनिज्म' का घोष। कोई व्यक्ति या तो हिन्दू हो सकता है या कम्युनिस्ट। वह दोनों नहीं हो सकता। इसका यही अर्थ है कि जो हिन्दू-कम्युनिज्म के लिए चिल्लाते हैं, वे न तो कम्युनिज्म को समझते हैं और न हिन्दुत्व को। यह सब प्रतिक्रिया के कारण है। एक बार एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि 'क्या मुसलमानों के विविध कार्यकलापों को विफल करने के लिए हम लोग हिन्दुओं का संगठन कर रहे हैं ?' मैंने उनसे यही कहा कि 'यदि पैगम्बर मुहम्मद का जन्म न भी हुआ होता और इस्लाम का भी अस्तित्व न होता तथा हिन्दू की दशा यदि वर्तमान काल के समान असंगठित और आत्मविस्मृत होती तो भी हम यह कार्य इसी प्रकार करते, जैसे कि आज कर रहे हैं। यह भावात्मक दृढ़ विश्वास चाहिए कि यह मेरा हिन्दू-राष्ट्र है, यह मेरा धर्म है, यह मेरा दर्शन है, जिसके अनुरूप मुझे जीना है और जिसको मुझे अन्य राष्ट्रों द्वारा अनुसरण करने के लिए एक प्रतिमान स्थापित करना है। हिन्दुओं के पुनर्संगठन के लिए यही ठोस आधार होना चाहिए।

यदि हमें केवल राजनीति अथवा प्रतिक्रिया द्वारा बना हुआ हिन्दू नहीं होना है तो निष्ठावान हिन्दू के रूप में जीवन-यापन करना चाहिए, जो दैनन्दिन जीवन के सभी पहलुओं में उस निष्ठा को व्यक्त करने में सक्षम है। साहित्य तथा वृत्त-पत्रों में हिन्दू विचारों के प्रचार मात्र से हमें कोई लाभ नहीं होगा। वीर सावरकर जी ने 'हिन्दुत्व' नाम की एक सुन्दर पुस्तक लिखी है तथा हिन्दू-महासभा ने हिन्दू राष्ट्रीयता के इस शुद्ध तत्वज्ञान को ही अपना आधार बनाया है। किन्तु हिन्दू महासभा ने एक बार इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस को मुस्लिम लीग से वार्ता करके अपना 'राष्ट्रीय' आधार नहीं त्यागना चाहिए, अपितु यह कार्य करने के लिए हिन्दू महासभा से कहना चाहिए। इसका यही अर्थ होता है कि कांग्रेस की संकरित, मिली-जुली, राष्ट्रीयता शुद्ध प्रकार की थी, जबकि हिन्दू महासभा, साम्प्रदायिकता के पागलपन से युक्त राष्ट्रविरोधी मुस्लिम लीग की हिन्दू प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करती थी। यह विचित्र वैपरीत्य कैसे उत्पन्न हो गया ? इसका कारण यह है कि मन में बैठा हुआ वह गहरा निश्चय विद्यमान नहीं था, जिसके आधार पर स्वप्न में अथवा किन्हीं भी परिस्थितियों में एक ही उत्तर निकल पड़े कि 'हां ! यह हिन्दू-राष्ट्र है।'

इसलिए हम कहते हैं कि हमें अपने राष्ट्रत्व के गहरे एवं भावात्मक संस्कारों को मन से ग्रहण करना होगा, जिससे कि राजनीतिक अथवा किन्हीं अन्य विचारों के प्रवाह में हमारे पैर न उखड़ें। हमारे व्यावहारिक दैनन्दिन आचरण में तदनुरूप जीवन प्रतिमान के बिना हिन्दू-राष्ट्रत्व तथा हिन्दू-जीवन रचना की महत्ता की बात करना व्यर्थ है।

हमारे प्राचीन आचारों में प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व उठ जाना भी एक आचार है। एक बार एक साधु ने अपनी बाल्यावस्था का मुझसे वर्णन किया। उसने बताया कि किस प्रकार उसकी माता बहुत सवेरे उठा करती थी और गृहस्थी के साधारण कार्य करते हुए अपने मधुर स्वर में दैवी जगन्माता की महानता का वर्णन करने वाले विविध पदों का पाठ किया करती थी तथा किस प्रकार उस जगत्-जननी के पवित्र आशीर्वचनों का आह्वान करने वाले शब्दों से उसे गाती थी। साधु ने बताया कि 'उन्हीं पवित्र शब्दों, जिन्हें मैं निद्रा का त्याग करते हुए प्रात:काल सुना करता था, ने मुझमें बहुत गहराई तक प्रविष्ट होकर मुझे शुद्ध किया। सभी सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने की श्रद्धा एवं शक्ति दी तथा अपने को उस माता की सेवा में समर्पित करने की प्रेरणा प्रदान की।' यही होते हैं हिन्दू-संस्कार। हम अपने जीवन को दिन-भर (प्रात: से रात्रि तक) अनुशासन के भाव से एक आकार प्रदान करें। अनुशासन एवं आत्मसंयम के संपूर्ण जीवन-क्रम में प्रशिक्षित होने के लिए हिन्दू का जन्म हुआ है, जो उसे जीवन में श्रेष्ठतम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए शुद्ध करता है और शक्ति प्रदान करता है।

हमें यह नहीं कहना चाहिए कि यह तो छोटी बातें हैं, हमें इनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यही छोटी-छोटी चीजें हमारे जीवन को अनुशासित करती हैं और हमारे चरित्र को आकार एवं शक्ति प्रदान करती हैं। किन्तु दुर्भाग्य है कि आजकल इस प्रकार के सभी हितकारी आचार तथा व्यवहार के नियमों का 'मूढ़ विश्वास' कहकर उपहास किया जाता है। अभी हाल में इसे व्यक्त करने वाली एक घटना घटित हुई है। हमारे देश से एक विद्यार्थी अध्ययन के लिए अमेरिका गया। वहां एक साधारण परिवार में वह पेइंग-गेस्ट के रूप में ठहरा। प्रथम दिन उसने सभी परिवार के सदस्यों के साथ भोजन के लिए बैठते ही अपने लिए परोसना प्रारंभ कर दिया। तब उस घर की स्वामिनी ने कहा कि उनके यहां की यह रीति है कि भोजन के पूर्व ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। ध्यान दीजिये कि वह युवक ऐसे देश से गया था, जो आध्यात्मिकता और ईश्वरभक्ति का देश माना जाता है और गया था ऐसे देश में, जो लक्ष्मी का पुजारी और अत्यन्त भौतिकवादी माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं

कि बड़ी सीमा तक इसी ईश्वर-विश्वास एवं इसी धर्म-विश्वास ने पश्चिम को वह शक्ति दी है, जिससे कि वह इस संसार में सफल हुआ है।

आधुनिकतावाद

हम अपनी आध्यात्मिक परम्पराओं पर गर्व करते हैं। किन्तु हम रहते किस प्रकार हैं ? हमारे दैनिक संस्कार क्या हैं ? क्या हमारे नित्य के क्रियाकलापों में ईश्वर का कोई स्थान है ? क्या हमारे घरों में कम से कम एक स्थान ऐसा है, जहां बैठकर हम उसका ध्यान कर सकें ? एक बार मेरे एक परिचित ने अपने नए बने हुए मकान को देखने के लिए मुझे बुलाया। वह भली प्रकार सुसज्जित तथा प्रत्येक अर्थों में एक आधुनिक गृह था। जब उसने मकान की विशेषताएं बताना समाप्त किया, तब मैंने पूछा कि देवगृह कहां है ? क्या तुम्हारे कोई कुल-देवता नहीं हैं, जिसकी पूजा तुम्हारे पूर्वज करते रहे हों और तुम्हें सौंप गए हों ? मेरे प्रश्न से चकित होकर क्षमा मांगते हुए उसने कहा- 'मैं इस विषय में बिल्कुल भूल गया था।' कुछ महीने पश्चात् जब मैं पुन: उस स्थान पर गया तो उन्होंने विशेष रूप से यह कहकर मुझे अपने घर पर आमंत्रित किया कि मेरे कथनानुसार काम कर लिया गया है। मैं उसे देखने गया। जीने के नीचे एक टेढ़े-मेढ़े स्थान में बनी हुई छोटी सी आलमारी मुझे दिखाई। परिवार के सदस्यों के चप्पल, जूते उसी आलमारी के ऊपर बड़ी सफाई से रखे हुए थे और वे पर्याप्त संख्या में थे, क्योंकि उनके जीवन का स्तर काफी ऊंचा था। उन्होंने बड़े संतोष के भाव से कहा - 'मैंने इसे नया बनवाया है और अपने कुलदेवता को यहां रखा है।' मैं तो इसे देखकर संत्रस्त हो गया। मैंने कहा 'देवता को दूषित करने के स्थान पर इन चप्पलों को ही अन्दर क्यों नहीं पूजते।' ऐसा है - 'आधुनिक प्रगतिशील' हिन्दू-जीवन।

हमें यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि श्रीराम, शिवाजी अथवा विवेकानन्द इस प्रकार के आधुनिकतावाद की उत्पत्ति नहीं थे। शिवाजी उन आदर्शों से स्फूर्त थे, जिनकी प्रतिष्ठा रामायण और महाभारत में हुई है। हिन्दू-जीवन के प्रति उनकी महान श्रद्धा ही थी, जिसने उनके संगठन-चातुर्य के साथ मिलकर उन्हें एक ऐसी शक्ति बना दिया, जिससे इतिहास की संपूर्ण गति ही बदल गई। वैदिक काल के संतों से लेकर रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा इसी प्रकार के अन्य आधुनिक युग की महान आत्माओं तक सभी ने अपने युगों पुरातन आदर्शों के प्रति भावात्मक प्रेम तथा उनकी अनुभूति से युक्त अपने जीवन द्वारा हमारे समाज पर अपने प्रेरणादायी व्यक्तित्व की छाप छोड़ी है। चुनौती देती हुई विरोधी शक्तियों के सामने वे तनकर खड़े रह सके

और चुनौती भरे स्वर में विश्व से बात कर सके। हम उन्हीं की सन्तान किस दयनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं ? हम उन आदर्शों का 'क, ख, ग' भी नहीं जानते, जिन्होंने इन पराक्रमी आत्माओं को प्रेरित किया और ढाला था।

मैं एक युवक को जानता हूं जो सरकारी छात्रवृत्ति पर विदेश गया था। वहां उसे मित्रों तथा अपरिचितों के 'आत्मा', 'प्राणायाम', 'गीता' तथा अन्य बहुत से हिन्दू विचारों एवं जीवन-पद्धतियों के संबंध में अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ा। वह युवक इन सब बातों से बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसने मुझे अपनी कठिनाई लिखी। किन्तु मैं क्या कर सकता था ? क्या मैं उसे योगाभ्यास, समाधि, प्राणायाम तथा ऐसी सभी चीजों की पत्रों द्वारा शिक्षा दे सकता था ? यह कितना अपमानजनक है कि इस देश के हमारे तथाकथित शिक्षित युवक को अपने ही दर्शन की मूलभूत बातों का ज्ञान भी नहीं है। इनकी पूर्ण अनुभूति की तो बात ही छोड़िए।

आदर्श के विविध पहलू

अब दूसरे पहलू पर भी हम दृष्टिपात करें। जैसे समाज के साथ सम्पर्क के विविध क्षेत्रों से हमारे संबंध का पहलू। हमारा पड़ोसी, हमारे शिक्षा-केन्द्र, हमारे व्यवसाय का क्षेत्र आदि। क्या जीवन के इन सभी क्षेत्रों में हिन्दू का स्पष्ट योगदान नहीं हुआ है ? इसके विपरीत यह हिन्दू तत्वज्ञान ही है, जो मानव क्रियाकलापों के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े क्षेत्रों को प्रभावित करता है। हमारे लिए परिवार आत्मविस्तार का प्रथम पग है। फिर परिवार के सदस्यों के नाते हमें विविध कर्तव्यों का भार वहन करना पड़ता है, जिससे कि परिवार के सदस्यों के बीच मधुर प्रेम एवं ऐक्य के कोमल बंध बने रहें। पुत्र के रूप में, भाई के रूप में, प्रति के रूप में अथवा किसी भी संबंध में गृहस्थ का उदात्त हिन्दू आदर्श ग्रहण करें। हमारे लिए यह कहना कोई अच्छी बात नहीं है कि 'ओह, मैं तो समाज-कार्य कर रहा हूं, पारिवारिक बंधों की मैं क्यों परवाह करूं ?' पुनः हमारे देश के महान आदर्श चरित्र की ओर दृष्टिपात करो। श्रीराम यद्यपि किशोरावस्था में ही थे कि पिता की आज्ञा से राक्षसों का वध करने के लिए विश्वामित्र के साथ वन को गए। पश्चात् उन्होंने अपने पिता की प्रतिज्ञा के पावित्र्य की रक्षा के लिए चौदह वर्ष का वनवास प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। भाई के रूप में लक्ष्मण आदि पर उनका कितना गहन प्रेम था। वह एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भ्राता, एक आदर्श पति, एक आदर्श मित्र, एक आदर्श शिष्य तथा वैरियों के लिए एक आदर्श शत्रु भी थे। उन एक में आदर्श हिन्दू पुरुषत्व का सब कुछ समाहित था। ऐसे ही श्रीकृष्ण भी थे। यशोदा और नन्द के लिए वह कैसे आनंद और सांत्वना के स्रोत थे। किस प्रकार उन्होंने अपने मधु व्यवहार से सभी पड़ौसियों को मोहित कर लिया था।

विद्यार्थी जीवन में ज्ञान एवं चरित्र का अर्जन ही हमारी सतत प्रेरणा रही है, भिन्न-भिन्न जानकारियों के द्वारा मस्तिष्कों को भर देना मात्र नहीं। हमें किताबी कीड़े ही नहीं बनना है। संपूर्ण ज्ञान के लिए एक कुंजी है और वह है - मन की एकाग्रता। यदि हम शरीर और मन के लिए नियमित स्वस्थ आदतें ग्रहण कर लें तो हमारे लिए मन की एकाग्रता को विकसित करना कठिन नहीं होना चाहिए। और फिर विविध शिक्षण संस्थाओं में हम अध्ययन करते हैं, वहां हम अपने आचार्यों एवं सहपाठी विद्यार्थियों के सम्पर्क में आते हैं। हिन्दू परम्परा में शिक्षक तथा शिक्षार्थी के संबंध किसी संविदा के समान नहीं होते। यह एक उदात्त संबंध है। शिष्य गुरु को ज्ञान एवं दिव्यता की साक्षात् मूर्ति मानता है उसके प्रति नम्रता एवं भकित की भावना से व्यवहार करता है।

यह कहते ही लोग पूछते हैं कि क्या आज का शिक्षक ऐसी भक्ति के योग्य है। किन्तु विद्यार्थियों को इस प्रकार के विकृत दृष्टिकोण का शिकार नहीं बनना चाहिए। हम वैसा ही व्यवहार करें, जैसा हमें करना चाहिए। यह हमारे ही हित में, हमारे ही परिष्कार के लिए है। हम मंदिर में हनुमान जी की मूर्ति का पूजन करते हैं। कुछ समय पश्चात् लगातार सिन्दूर लगते रहने से वह मूर्ति सिन्दूर के मोटे पर्त से ढक जाती है और उसका रूप इतना बदल जाता है कि किसी भी प्रकार पहचाना नहीं जा सकता। किन्तु फिर भी उसी भक्ति भाव से उसका पूजन हनुमान के रूप में होता रहता है। ज्ञान के देवता विनायक हैं, जिनका बड़ा पेट और हाथी का सिर है। किन्तु इस कारण उनके प्रति किसी की भक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता। जन्मजात विश्वगुरु श्रीकृष्ण को संदीपनी ऋषि के आश्रम में एक साधारण शिष्य का सा व्यवहार करते हुए देखकर तुम एक आदर्श हिन्दू विद्यार्थी का सही चित्र पा सकते हो। उन्होंने अन्य शिष्यों के समान ही अपने गुरु की सेवा पूर्ण श्रद्धा एवं प्रेम से की थी। वह वर्षा और तूफान में गुरु के यज्ञ के लिए सूखी समिधाएं लेने वन में गए। जो स्वयं ज्ञानस्वरूप थे, उन्हें वहां पढ़ने के लिए क्या था ? फिर उन्हें अपने साथियों एवं सहपाठियों के बीच घूमते-फिरते देखो। कितना गहरा एवं शुद्ध प्रेम था उनमें, उन सबके लिए। सुदामा नाम का एक गरीब ब्राह्मण का लड़का संदीपनी आश्रम में उनका सहपाठी था। बाद में जब श्रीकृष्ण की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी, तब फटे वस्त्रों में मुट्ठी भर चावल की पोटली लिए हुए उनका सहपाठी सुदामा उनके यहां पहुंचता है। जैसे ही श्रीकृष्ण की दृष्टि अपने पुराने मित्र पर पड़ती है, वह झपटकर उसे सीने से लगा लेते हैं। वह मित्र की लाई हुई उस मूल्यवान भेंट को बड़े स्वाद से खाते हैं। अंत में वे सुदामा को अतुल संम्पत्ति भी प्रदान करते हैं।

यदि संयोगवश अपने बड़ों से विचारधारा का कुछ संघर्ष भी उत्पन्न हो जाए तो भी हमें उनके प्रति सम्मान का व्यवहार बदलने का कारण नहीं। महाभारत के युद्ध में जब भीष्म और अर्जुन एक-दूसरे के सामने आए, तब अर्जुन ने प्रथम पांच बाण उनके पैरों की ओर चलाए। भीष्म के सारथी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अर्जुन के अमोघ बाण भीष्म की छाती में न लगकर पैरों की ओर आए। भीष्म ने कहा- 'मेरा प्यारा अर्जुन मेरा आशीर्वचन प्राप्त करने के लिए पांच बाणों से मुझे प्रणाम कर रहा है।'

स्वधर्मे निधनं श्रेय:

हमें ये उदाहरण 'प्राचीन पौराणिक आख्यायिकाएं' कहकर नहीं त्यागने चाहिए। इनमें हमारी संस्कृति के वे अमूल्य रत्न जड़े हुए हैं, जिन्होंने एक समय में हिन्दू-जीवन को संसार की ईर्ष्या की वस्तु बना दिया था। यह कहकर भी इन्हें छोड़ना ठीक नहीं कि वे उस समय के लिए अव्यावहारिक हैं। इस बीसवीं शताब्दी में भी हमें इस प्रकार के प्रेरणादायी उदाहरण देखने को मिलते हैं। अपने संघ के संस्थापक डाक्टर हेडगेवार का ही एक उदाहरण है। एक बार वे संगठन के कार्य से पूना गए थे। प्रौढ़ लोगों की बैठक में वहां के एक सज्जन जो डाक्टर जी के शिक्षक भी रह चुके थे, आमंत्रित थे। डाक्टरजी को वहां भाषण देना था। नगर के अनेक गणमान्य लोग उस सभा में एकत्रित हुए थे। वह वृद्ध अध्यापक कुछ देर से आए। किन्तु जैसे ही डाक्टर जी ने उन्हें देखा, वे उठ खड़े हुए और उनके चरण छूकर उन्हें अपने आसन पर बैठाया।

अपने स्थायी जीवनमूल्यों की पृष्ठभूमि पर ये हैं हमारे वर्तमान जीवन के कुछ वैशिष्ट्य। एक व्यक्ति के ही समान जब तक कोई राष्ट्र अपने स्वधर्म के मूलाधारों पर जमा रहता है, तब तक वह चतुर्दिक वृद्धि करता है एवं फलता-फूलता है। किसी के स्वधर्म की जड़ों को उखाड़ लेना और उनके स्थान पर कुछ और ही आरोपित करने का परिणाम पूर्ण अस्तव्यस्तता एवं पतन ही होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है - **स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।' (३-३५) अर्थात् अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी श्रेयस्कर है। दूसरे का धर्म ग्रहण करने के परिणाम भयावह होते हैं।**

अतएव, हमारे लिए राष्ट्र के स्वधर्म का यह आह्वान है कि हिन्दू जीवनपद्धति को पुनरुद्दीप्त करके आत्मविस्मृति एवं अनुकरण की इस राख को झाड़ दें, जो हिन्दू हृदयों में युगों पुराने संस्कारों के अमर अंगारों को ढके हुए है, जिससे इस पवित्र देश की राष्ट्रीय आत्मा की ज्वाला अपने संपूर्ण तेज के साथ पुन: प्रज्ज्वलित हो उठे।

❑❑❑

८

कार्य और लक्ष्य का स्वरूप

समर्पित जीवन चाहिए

हमारे कार्य के लक्ष्य का अंतिम स्वरूप हमारे समाज की पूर्ण संगठित अवस्था है। इससे ही प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हिन्दू मनुष्यत्व की मूर्ति बनकर समाज के संगठित व्यक्तित्व का सजीव अंग होगा। यही हमारे संगठन-प्रयासों के लिए जीवंत प्रेरणा रही है।

यह स्पष्ट है कि यह कल्पना ऐसी नहीं है, जो कुछ दिनों अथवा कुछ वर्षों में साकार की जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सैकड़ों और हजारों समर्पित जीवन चाहिए, जो शांति के साथ अथक प्रयास करते रहें। इसके लिए ऐसे सबल एवं धैर्यवान हृदयों की आवश्यकता है, जो विपरीत परिस्थितियों तथा प्रलोभनों के बीच अडिग बने रहें। इस प्रकार के स्फूर्त जीवन निर्माण करने के लिए संघ ही प्रतिदिन के संस्कारों पर अत्यधिक बल देता है तथा व्यक्ति के मन पर मस्तिष्क एवं हृदय के इन सभी गुणों का महत्व प्रतिदिन अंकित करता है, जो उसे संपूर्ण जीवन के समर्पण के मार्ग पर अग्रसर होने की शक्ति और योग्यता प्रदान करते हैं।

सरल उपाय की झलक

कार्य के लिए इस प्रकार स्थिर, शांत एवं आजीवन श्रद्धा आजकल के संसार में विचित्र और असाधारण प्रतीत हो सकती है। इसमें इसकी अपनी स्वयं की एक मौलिकता और नवीनता है। ऐसा होने के कारण हमारे इस दृष्टिकोण को समझने और आत्मसात करने में सामान्य जन को कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ ऐसे अनेक लोग हैं, जो हमारी कार्यपद्धति में यह बात देखकर भय और विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं कि इसमें जीवन-भर वर्षानुवर्ष एक निश्चित समय एवं स्थान पर प्रतिदिन उपस्थित होना आवश्यक रहता है। एक बार एक युवक ने मुझसे प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय बताइए, जिससे वह अपने मन को एकाग्र करने की शक्ति का विकास कर सके। उसके अध्यवसाय की परीक्षा लेने के लिए उसे नियमित रूप से

करने के लिए कुछ विशेष अभ्यास बताए। उसने तुरन्त प्रश्न किया, 'यह कब तक करना होगा ?' मैंने कहा, 'इसे जीवन भर चालू रखिए।' वह साश्चर्य कह उठा 'जीवन-भर ! यह कैसे संभव है ?' मैंने उससे पूछा, 'क्या तुम्हारे लिए कम से कम जीवन-भर जिन्दा रहना संभव है ?'

यह है आज की मनोवृत्ति। लोग शीघ्र फल एवं सफलता का आसान उपाय चाहते हैं। अल्पतम उद्योग एवं अधिकतम लाभ चाहने के इस जीवन-दौर्बल्य ने हमारे राष्ट्रजीवन के सभी क्षेत्रों को ग्रसित कर रखा है। हार्दिक एवं कठोर परिश्रम वाले ईमानदारी के रास्ते का स्थान ऐसे उपायों ने ले लिया है, जिनमें बुरे-भले का कोई विचार नहीं होता और जिनसे फल शीघ्र मिलता है। धन अर्जन करने वाला मनुष्य धनी बनने के लिए इसी प्रकार के आसान उपायों को सोचता रहता है। यदि एक रात में ही धनवान बनने की संभावना हो तो इसके लिए कितना ही नीच कर्म करने के लिए उद्यत हो जाता है। यह काला बाजार करता है, सट्टेबाजी करता है और जुआ खेलता है। वह बड़ी उत्सुकता से यह जानने के लिए ज्योतिषियों को भी पकड़ता है कि क्या कोई ग्रह-नक्षत्र उसके लिए कुछ कर सकता है। चोरी और डकैती तो आसान उपायों के लिए राज मार्ग ही है।

लोगों ने तो ईश्वरानुभूति के लिए भी आसान मार्ग खोजना आरंभ कर दिया है। ईश्वरप्राप्ति के लिए एकाग्र निष्ठा से संपूर्ण जीवन तपस्या करने का कष्ट कौन उठाए? वे किसी संत अथवा संन्यासी को बीच का दलाल बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिसके विषय में उनका यह विश्वास होता है कि वह उनके सब पापों को लेकर अपने पुण्य उन्हें दे देगा तथा उन्हें ईश्वर के समक्ष शुद्ध और पवित्र कर उपस्थित करेगा। हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है, जो इस क्षुद्र एवं हीनता के कलंक से बचा हो।

आत्मघाती प्रलोभन

चारों ओर के इसी वातावरण के कारण लोग संघ के कार्य में भी छोटा एवं सरल मार्ग कौन-सा है, इसका विचार करने लगते हैं। वे पूछते हैं- 'कितने समय तक इस प्रकार इसे चलाते रहोगे ? तुम अपनी कल्पना के अनुसार समाज का पूर्ण रूपांतर करने योग्य कब होंगे ? तुम और कितने वर्षों तक इसी मार्ग पर घिसटते रहोगे ?' तब वे चारों ओर दृष्टि डालते हैं और देखते हैं कि शक्तिशाली प्रशासन ऐसी बड़ी शक्तियों को धारण किए हुए है कि राष्ट्रजीवन का संपूर्ण प्रसार उससे परिवेष्टित है। वे कल्पना करने लगते हैं कि यदि उन्हें प्रशासनिक अधिकारीगण, राजस्व एवं अधिकार के इस प्रकार के साधन उपलब्ध हो जाएं तो अति अल्प काल में ही वे देश का स्वरूप बदल सकते हैं। शिक्षा आदि के द्वारा आने वाली पीढ़ी को अपने इच्छित

प्रतिमाल में ढाल सकते हैं। वे उस सरल छोटे मार्ग पर आसक्त हो जाते हैं, जिसमें कष्ट और त्याग कम तथा फल प्राप्ति शीघ्र होती है। ऊपरी तौर से सोचने पर यह तर्क नि:सन्देह बहुत ही आकर्षक प्रतीत होता है। हमारी वर्तमान सरकार द्वारा हमारे जीवन के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्षों पर जो पूरा-पूरा बल दिया जाता है, वैसे ही पंचवर्षीय योजनाओं के लिए सतत प्रचार तथा देश के युवकों को आकृष्ट करने के लिए नए-नए सरकारी नियंत्रण के क्षेत्र खोले जा रहे हैं। इन सबने भी हमारे लोगों की इस वर्तमान मनोदशा बनाने में अपना योगदान किया है, जिसके प्रभाव से लोग राजसत्ता को ही सब रोगों की औषधि मानने लगे हैं।

किन्तु हमें ऐसे ऊपरी विचार से प्रभावित होकर नहीं बह जाना चाहिए। यद्यपि आजकल किसी भी विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की प्रथा नहीं है, फिर भी हमें लोगों को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिए कि वे विषयों की अधिक गहराई में जाकर समझने की योग्यता प्राप्त करें। एक बार नागपुर में अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन हुआ। उसमें भाग लेने के लिए आने वाले कुछ प्रमुख लब्धप्रतिष्ठ पुरुष मेरे परिचित थे। उन्होंने अपने द्वारा निर्णीत कार्यवाहियों, नियमों तथा पाठ्यक्रम आदि के विषय में विस्तार से मुझे बताया। अंत में मैंने उनसे एक साधारण-सा प्रश्न किया, 'क्या आप उनकी वास्तविक प्रकृति एवं वास्तविक आवश्यकताएं बता सकते हैं, जिन्हें शिक्षित करने की योजना आप बना रहे हैं ? उनमें से एक ने मेरे सामने सीधे शब्दों में यह स्वीकार कर लिया कि यह प्रश्न तो उनके सामने कभी उपस्थित ही नहीं हुआ। किसी अंधे द्वारा अन्य अंधे व्यक्तियों का मार्गदर्शन करने की कहानी है, वैसे ही हमारे देश में सब कार्य चला करते हैं। समस्या की मूल तक पहुंचने का न तो कोई प्रयास करता है और न इच्छा है।

हम जरा विश्व-इतिहास के पृष्ठ पलटें। हम देखने का प्रयत्न करें कि किसी भी देश के अजर-अमर राष्ट्रजीवन का निर्माण करने में क्या वहां की राजसत्ता के प्रयोग के थोथे विचार और तत्क्षण फलेच्छा ने सचमुच सहायता की है ? भूतकाल में ऐसे अनेक साम्राज्य रहे हैं, जो पूर्णरूपेण राजसत्ता पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए, फारस अपनी सभी प्रकार की सुरक्षा एवं प्रगति के लिए पूर्णतया सम्राट पर निर्भर था। सम्राट की सत्ता सर्वोच्च थी। वह जनजीवन के सभी पहलुओं का नियमन करता था। धर्म का निर्णायक भी वही था। कुछ समय के लिए वहां के लोग निश्चिंत और सुखी थे, किन्तु उनके राष्ट्रजीवन का संपूर्ण प्रासाद अरब आक्रमण के एक ही धक्के में धराशायी हो गया। रोम और यूनान की भी यही गति हुई। यह इस कारण नहीं हुआ कि इन साम्राज्यों के पास सम्पत्ति अथवा उत्तम प्रबंध या सेना का अभाव था, वरन् वे सभी चीजें राजा की

राजनीतिक सत्ता की बालू की नींव पर खड़ी थीं। जैसे ही अल्प काल के लिए भी इस राजसत्ता का ध्वंस हुआ, उनकी संपूर्ण सभ्यता, उनका धर्म और उनकी राष्ट्रीयता धमाके के साथ ऐसे धराशायी हो गई कि विश्व-मंच पर पुनः कभी उसका प्रकट होना भी असंभव हो गया। एक के बाद एक कई देशों का आत्मपतन हुआ। वे इस इस्लाम के सामने झुक गए और सदैव के लिए मुस्लिम-राष्ट्र बन गए।

हमारे अमरत्व का रहस्य

किन्तु हमारे देश की कहानी एक अन्य प्रकार का चित्र प्रस्तुत करती है। हमारे समाज को भी अत्यन्त बर्बर जातियों के अगणित आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। हमारे समाज पर इन शत्रु-शक्तियों का कुछ काल के लिए राजनीतिक आधिपत्य भी बना रहा। कभी-कभी तो यह आधिपत्य कतिपय शताब्दियों तक चला। रावण के काल से लेकर अब तक समय-समय पर अधर्म ने अपनी संपूर्ण विनाशकारी नग्न शक्तियों ने यहां शासन किया है। इस अंधकारपूर्ण समय में जब औरंगजेब शासन करता था, समर्थ रामदास के समान एक महान वीर संत तक के सकरुण उद्‌गार थे कि हिन्दू-समाज को पूर्ण विनाश से बचाने का सामर्थ्य केवल परमात्मा के अवतार को ही है। तत्पश्चात् चालाक अंग्रेज ने भी हमारे राष्ट्रजीवन को उच्छिन्न करने के प्रयास किए। आज भी अधार्मिक तत्वों का ही उत्कर्ष है। किन्तु इन भयंकर संकट वेलाओं का सामना कर हमारा समाज आज भी जीवित है। बारंबार यह अपनी भस्म में से उदित हुआ तथा दुष्ट शक्तियों के फांसी के फंदे को नष्ट कर इसने धर्म-राज्य की स्थापना की। वही गौरवशाली परम्परा आज भी सदैव की भांति आदर्शवाद और राष्ट्रीय नवयौवन के सामर्थ्य से युक्त अखण्ड, अजस्र गति से चली आ रही हैं यह चमत्कार किस प्रकार घटित हुआ ? इस अमरता का गूढ़ रहस्य किस बात में है ? भीषण से भीषण विषप्रहार के बाद भी समाज की मृत्यु को चुनौती देने की चिरजीवन क्षमता का रहस्य क्या है ?

यह बात अति स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रहा, अन्यथा हमारा भी भाग्य उन राष्ट्रों से अच्छा नहीं होता, जो आज केवल अजायबघर की दर्शनीय वस्तु मात्र रह गए हैं। राजकीय सत्ताधारी हमारे समाज के आदर्श कभी नहीं थे। वे हमारे राष्ट्रजीवन के आधार के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुए। सम्पत्ति एवं सत्ता के ऐहिक प्रलोभनों से ऊपर उठे हुए और सुखी, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न एवं एकात्मता से युक्त समाज की स्थापना के लिए अपने को समग्र भावेन समर्पित करने वाले संत-महात्मा ही इसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। वे

धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करते थे। राजा तो उस उच्चतर नैतिक सत्ता का एक उत्कृष्ट अनुगामी मात्र था। अनेक बार विपरीत परिस्थितियों में एवं आक्रामक शक्तियों के कारण अनेक राज सत्ताओं ने धूल चाटी, किन्तु धर्मसत्ता समाज को छिन्न-विच्छिन्न होने से सदैव बचाती रही।

रावण एक धूर्त आक्रांता था। वह हमारी सामाजिक एकता के इस रहस्य को जानता था। उसे पता था कि हमारे समाज के जीवन-केन्द्र का स्पन्दन ऋषि-मुनियों के वन्य आश्रमों में है। अतएव उसने इन्हीं वन्य कुटियों तथा वहां होने वाले यज्ञों को ही अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया, किन्तु उन आध्यात्मिक शूरों ने उन आघातों का साहस के साथ सामना किया और जनता को जगाने तथा उसमें एकात्मता स्थापित करने के अपने पवित्र लक्ष्य में संलग्न रहे। यह कहा गया कि संपूर्ण समाज, यहां तक कि देवता भी रावण के पेरों के नीचे कराह रहे थे। ऐसे समय में राष्ट्र ने अपने को राम के व्यक्तित्व में उठाया। उस महान परित्राता को विश्वामित्र, वशिष्ठ तथा अगस्त्य ने ढाला था और उसका मार्गदर्शन किया था। इन ऋषियों ने केवल राम को ही खड़ा नहीं किया, अपितु नियमित प्रवचनों, वाद-विवादों एवं विविध धार्मिक क्रियाओं के द्वारा संपूर्ण समाज की उत्कट राष्ट्रीय चेतना को भी उद्दीप्त रखा। समाजहित की अपनी साधना में वे अर्द्धनग्न फकीर कितने जागरूक एवं उद्यमी थे। राम को वह भीषण शक्ति भी महर्षि अगस्त्य से ही प्राप्त हुई थी, जिससे उन्होंने रावण का वध किया था। यह उनकी प्रेरणा एवं अथक प्रयत्नों का ही परिणाम था कि वे अधर्म की आक्रामक लहरें, जो तीनों लोकों को डुबो चुकी थीं, अंत में पीछे हटीं। उन अधार्मिक शक्तियों के दुर्ग लंका की भस्म में से समाज और भी अधिक तेजस्वी होकर एक बार पुन: उठ खड़ा हुआ।

परम्परा चलती रही

बौद्ध युग का भी हमारे लिए वही संदेश है। बुद्ध के पश्चात् यहां उनके अनुयायी पतित हो गए। उन्होंने इस देश की युगों पुरानी परम्पराओं का उन्मूलन आरंभ कर दिया। हमारे समाज में पोषित महान सांस्कृतिक सद्गुणों का विनाश किया जाने लगा। अतीत के साथ के संबंध-सूत्रों को भंग कर दिया गया। धर्म की दुर्गति हो गई। संपूर्ण समाज-व्यवस्था छिन्न-विच्छिन्न की जाने लगी। राष्ट्र एवं उसके दाय के प्रति श्रद्धा इतने निम्न तल तक पहुंच गई कि धर्मान्ध बौद्धों ने बुद्ध धर्म का चेहरा लगाए हुए विदेशी आक्रांताओं को आमंत्रित किया तथा उनकी सहायता की। बौद्ध पंथ अपने मातृ-समाज तथा मातृ-धर्म के प्रति द्रोही बन गया।

इस प्रकार के भीषण क्षणों में ऋषि-मनीषियों की परम्परा ने अपने सामर्थ्य एवं ओज को शंकराचार्यों के रूप में प्रकट किया। वह थे एक संन्यासी, एक अद्वितीय दार्शनिक एवं अनुपमेय संगठनकर्ता। उनकी महत्ता किसी भौतिक सम्पत्ति अथवा शक्ति के कारण नहीं थी। वे देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक विचरण करते रहे। अगिणत संकटों का उन्हें सामना करना पड़ा, जिनमें उन्हें विष देने का प्रयत्न भी सम्मिलित है, किन्तु वह निर्भीक एवं विजयिष्णु बने एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण ही करते रहे। उन्होंने विश्राम और सुख तो जाना ही नहीं था। उन्होंने हमारी प्राचीन संस्कृति की क्षीण होती हुई लौ को एक बार पुन: उद्दीप्त कर दिया। उनके निष्ठाशील संन्यासी अनुयायियों ने अपने रक्त एवं स्वेद से वैभवशाली भविष्य के निर्माण के लिए अतीत को वर्तमान के साथ अति दृढ़ता से जोड़ा। उनके द्वारा जगाई गई राष्ट्रीय चेतना तथा नि:स्वार्थ सेवा-भाव ने एक बार पुन: समाज को पैर जमाने में तथा राष्ट्रद्रोही तत्वों के उच्छेद में सहायता की। बौद्ध धर्म को एक अलग पंथ के रूप में मातृभूमि से मिटा दिया गया, यद्यपि बुद्ध नि:संशय पूरे अवतार बने रहे। नि:सन्देह हम भगवान शिव की पूजा करते हैं, किन्तु इस कारण इनके चारों ओर एकत्र रहने वाले भूतगणों का स्वागत नहीं करते।

मुसलमानों की राजसत्ता के काल में महान संत और संन्यासी उत्पन्न हुए, जिन्होंने उस परम्परा को चालू रखा। चैतन्य, तुलसीदास, सूरदास, ज्ञानेश्वर, रामानंद, तुकाराम, रामानुज, मध्व, नानक तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक श्रेष्ठ महात्मा हुए, जिन्होंने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक धार्मिक श्रद्धा से आपूर्ण कर दिया। समर्थ रामदास ने उस धार्मिक उत्साह को राष्ट्रभक्ति के 'डाइनेमो' का रूप दे दिया। उन्होंने राम और कृष्ण की कथाओं का बारंबार बखान किया। उनके पराक्रम के दिव्य गीत गाए। लोगों में अपने देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा को जागृत किया तथा सब प्रकार के राजकीय दमन के होते हुए भी उनके नैतिक बल को अक्षुण्ण बनाए रखा। छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में सम्पन्न महान राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का कार्य उन वर्षों में हुए तीव्र आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण का ही सीधा परिणाम था। इससे भी पूर्व स्वामी विद्यारण्य द्वारा प्रारंभ किए गए आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय जागरण द्वारा विजयनगर की वैभवशालिनी हिन्दू शक्ति का उदय हुआ था। महान धार्मिक शिक्षक गुरु नानक तथा उनके उत्तराधिकारियों ने हिन्दू विप्लव की नींव रखी, जिसका प्रकटीकरण गुरु गोविन्द सिंह और बंदा वैरागी के नेतृत्व में योद्धा सिखों के रूप में हुआ। इस प्रकार एक बार पुन: धर्म को केन्द्र मानकर राष्ट्रीय एकीकरण का महान कार्य हुआ तथा

राष्ट्रविरोधी दुष्ट शक्तियों का विनाश होकर राष्ट्र का विजयध्वज अटक से कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक गर्व के साथ फहराया।

अंग्रेजों की दासता के विरुद्ध भी हमें राष्ट्रीय पुनरुत्थान का वही आध्यात्मिक आधार दिखाई दिया और फिर संपूर्ण प्रतिभा के साथ आध्यात्मिक सूर्य प्रकट हुआ – बंगाल में रामकृष्ण व विवेकानन्द, पंजाब में स्वामी दयानन्द और रामतीर्थ, दक्षिण में महर्षि रमण और अरविन्द के रूप में, जिसने जनता के मस्तिष्क में राष्ट्रीयता की आध्यात्मिक भूमिका को स्थापित किया।

हमारे समक्ष इतिहास की यही निर्भ्रांत साक्षी है। हमें उससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और अपने समाज का संगठित जीवन निर्माण करने का निर्णय कर लेना चाहिए, जिसमें शुद्ध चारित्र्य एवं सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के लिए ऐसी अडिग श्रद्धा हो, जो सहस्रों वर्षों तक अटल खड़ी रहे। हमारी प्राचीन परम्पराओं की आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित समाज के संगठित जीवन की शक्ति युग-युगान्तर से हमारे अमरत्व का रहस्य रही है। निस्संशय रूप से हमारा राष्ट्रधर्म यही है और इसकी संपूर्ण शक्ति को जागृत कर इसे नव-तारुण्य प्राप्त करा देने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

यहां हम इस भ्रांत धारणा को स्पष्ट कर देना चाहते हैं, जिसने आज हमारे विचारों को आच्छादित कर रखा है। जब धर्म तथा आध्यात्मिकता जैसे शब्दों का उच्चारण किया जाता है, तो तुरन्त कहा जाता है कि धर्म को राजनीति में क्यों लाते हैं ? धर्म-संबंधी हमारी गलत धारणा और इसे पाश्चात्य लोगों की 'रिलीजन' की कल्पना के साथ एकरूप करने की भूल में से इस प्रश्न का उदय हुआ है। धर्म (रिजीजन) की मतांध कल्पना तथा राज्यसत्ता पादरियों के हाथ में होने के कारण पाश्चात्य देशों ने बहुत सदियों तक कष्ट भोगे हैं। उक्त कल्पना से धर्म की हमारी कल्पना प्रकाश और अंधकार के समान भिन्न है। धर्म अथवा आध्यात्मिकता कोई अंधमत नहीं है, अपितु वह संपूर्ण जीवन का एक दृष्टिकोण है। राजनीतिक अथवा आर्थिक क्षेत्रों के समान धर्म राष्ट्रजीवन का कोई अलग क्षेत्र नहीं है। हमारी दृष्टि में आध्यात्मिकता जीवन की एक व्यापक दृष्टि है, जिसे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को अनुप्राणित और उन्नत कर उनके बीच समन्वय की स्थापना करना चाहिए, जिससे मानव-जीवन अपने सभी पहलुओं में पूर्णत्व को प्राप्त करे। यह हमारे राष्ट्र-तरु का जीवनरस है, हमारी राष्ट्रीय सत्ता का प्राण है।

सत्ता भ्रष्ट करती है

इस सबको समझते हुए भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो हमारी धार्मिक, विचार-प्रणाली के प्रसार के लिए राजनीतिक सत्ता को अत्यावश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि भूतकाल में ईसाई धर्म तथा इस्लाम का प्रसार इनकी राजकीय सत्ता के कारण ही हुआ। किन्तु उनके गंभीर अध्ययन से हमें ज्ञात हो जाएगा कि अंत में राजकीय सत्ता समस्या का समाधान कभी नहीं करेगी। उदाहरण के लिए, संपूर्ण राजसत्ता तथा अधिकतर लोग एकाकी व्यक्ति ईसा मसीह के विरुद्ध खड़े हो गए थे। जब उसे सूली पर चढ़ा दिया गया तो उसके शिष्यों के मार्गदर्शन के लिए कोई नहीं बचा था, किन्तु उनके हृदय आदर्शवाद से प्रेरित थे। ईसा की भावना से उद्दीप्त अपनी नवीन अनुभूति के विश्वास और उत्साह को लेकर वे संसार में दूर-दूर तक फैल गए तथा विश्व उनके चरणों पर विनत हुआ। उस समय उनके पास राजकीय सत्ता नहीं थी। किन्तु जब कालांतर में उनके उत्तराधिकारी राजकीय सत्ता के प्रलोभन के शिकार हो गए, तब उनके अनुयायियों में भ्रष्टता एवं अवनति का प्रवेश हो गया। ईसाई धर्म की वर्तमान दुर्दशा यह है कि अपने ही ईसाई देशों के जीवन को भी ढालने की शक्ति उसमें नहीं रही है। यहां तक कि वह आज साम्राज्यवादी राजनीतिक शक्तियों के हाथ का एक साधन मात्र रह गया है। राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से उसके अनुयायियों के कलुषित होने का यह सीधा परिणाम है। सत्ता के मद से मतवाले अनुयायियों के हाथों इस्लाम का विपर्यास, जिसे भूल से आज इस्लाम का प्रसार कहा जाता है, सर्वविदित है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के जागरण से उसका कोई संबंध नहीं था।

अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। एक समय में कांग्रेस के आज के नेता बड़े ही त्यागी एवं देशभक्त थे। उनके ज्वलंत उदाहरणों से जनता भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करती थी। किन्तु आज उनकी दशा क्या है? उनमें भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद तथा सत्तालोलुपता अनियंत्रित रूप से बढ़ रही है। इसलिए स्वराज्य के आगमन पर गांधी जी ने कांग्रेस को सलाह दी थी कि या तो कांग्रेस अपने को समाप्त करे या राजसत्ता से बिल्कुल बहुत दूर रखे। किन्तु उनके उन अनुयायियों के लिए, जो सत्ता की लूट का स्वाद ले चुके थे, यह हितावह शिक्षा बहुत कड़वी घूंट थी। आज इसके भयंकर परिणाम हम देख रहे हैं। इन परिणामों की भयंकरता केवल कांग्रेस तक ही सीमित नहीं, अपितु संपूर्ण देश को भुगतनी पड़ रही है।

केवल राजसत्ता के माध्यम से समाज हित की उपलब्धि का नवीनतम प्रयोग हम रूस में देखते हैं। यह वचन कि 'सत्ता भ्रष्ट करती है तथा संपूर्ण सत्ता संपूर्णरूपेण

भ्रष्ट करती है' वहां अक्षरश: सत्य सिद्ध हो चुका है। एक बार सत्ता मिलने पर उसे किसी भी मूल्य पर बनाए रखने की आकांक्षा सत्ताधारियों में उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में जनता के प्रति देखने का यह भाव हो ही जाएगा कि 'मैं स्वामी हूं और तुम मेरे दास हो।' संस्कृत का एक वचन है (हितोपदेश, कथामुख-११)

यौवनं धनसम्पत्ति: प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।

(यौवन, धनसम्पत्ति, सत्ता और अविवेक इनमें से एक भी अनर्थ के लिए पर्याप्त है, फिर जहां चारों हों, वहां के लिए क्या कहा जाए ?)

रूस में उसके क्रांतिकारी उत्साह, सम्पत्ति, सत्ता और उसके परिणामस्वरूप मद के कारण यही घटित हुआ। सब एक साथ होने से निर्दय एकाधिपत्य शासन बना, जिसने संपूर्ण राष्ट्र को मनुष्यत्व से पतित किया एवं दास बना डाला।

इस द्वितीय पक्ष से विचार करने पर भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजकीय सत्ता के प्रलोभन एवं पाशों से अपने को विलग रखते हुए, किन्तु साथ ही साथ अपकार करने वाली शक्तियों को रोकने के लिए पर्याप्त सामर्थ्य से युक्त और जागरूक ऐसे संगठन का निर्माण (जो हम कर रहे हैं) ही समाज को ऐसी स्वस्थ और स्थायी व्यवस्था दे सकेगा, जिसमें हमारा समाज समृद्धि का जीवनयापन कर सकेगा। आखिर राजकीय सत्ता तो एक बाह्य उपकरण मात्र है, जो स्वत: मनुष्य के अंतरंग को किसी आदर्श के अनुसार नहीं ढाल सकता। केवल प्रशासकीय विधि-विधान मानव-मन को सद्गुणों की ओर नहीं ढाल सकते। यदि कोई अधिकारप्राप्त व्यक्ति मद्यपान के विरुद्ध कानून बनाता है और उसे स्वयं को पीने की लत है, तो वह उसी कानून की प्रवंचना करने में और भी अधिक चातुर्य का उपयोग करेगा।

जहां तक सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक सुदृढ़ता को पुनरुज्जीवित करने की भूमिका के निर्वाह करने का प्रश्न है, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि राजकीय सत्ता अपने-आप में पंगु सिद्ध होती है और यदि उसे अनियंत्रित छोड़ दिया जाता है तो वह अत्यन्त निकृष्ट रूप लेकर उन उच्च आदर्शों को भ्रष्ट कर देती है। इसलिए किसी राष्ट्र की अमरता का रहस्य, जिसमें उसके समस्त उदात्ततम परम्परागत गुणों की सुरक्षा हो, राजकीय सत्ता से अन्यत्र कहीं खोजना होगा।

सत्ता पर अंकुश

सामाजिक जीवन के विविध तत्वों का इस प्रकार गंभीर विचार कर हमारे प्राचीन विधि-निर्माताओं ने राज्य सत्ता के कार्यों को कोई इतना सीमित कर दिया था कि वह केवल बाहरी आक्रमणों से तथा ईर्ष्या, घृणा एवं उन्नति की प्रतिद्वंद्विता आदि

के कारण उत्पन्न आंतरिक कलह से जनता की रक्षा करे। उन्होंने कहा कि जो राज्य इन सीमाओं को लांघता है, वह लोगों का मित्र नहीं हो सकता।

सच तो यह है कि इस स्थिति में वह लोगों का शत्रु बन जाता है, क्यों तब वह लोगों की चिरंत-नैसर्गिक क्षमताओं के स्वतंत्र विकास में बाधक बनेगा। साथ ही राज्यकर्ताओं की जी-हुजूरी करने की स्थिति में उनको खींचकर श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों से हटाते हुए लोगों को वह पतित करेगा।

आज हमारी सरकार स्वयं को 'कल्याणकारी राज्य' कहती हुई संपूर्ण शक्ति एवं अधिकार को केन्द्रित करने का प्रयत्न कर रही है तथा शिक्षा, चिकित्सा, सामाजिक सुधार, उत्पादन, वितरण और जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों पर एकछत्र अधिकार प्राप्त करना चाहती है। यदि राज्य इस प्रकार से मानव के संपूर्ण क्रियाकलापों पर आधिपत्य कर लेगा, तो मनुष्य कर्म करने की स्वप्रेरणा से रहित होकर एक दास मात्र रह जाएगा। यह भली-भांति जाना हुआ है कि सत्ता राज्यकर्ता को पीड़क और अत्याचारी बना देती है। अत: अधिकार प्राप्त मनुष्य अपने संभाव्य विरोधियों का हिंसा द्वारा दमन करना चाहते हैं और इस प्रकार वे अपने को समाज की शांतिपूर्ण उन्नति तथा कल्याण के लिए अयोग्य बना लेते हैं। इसलिए हमारे विविध-निर्माताओं ने यह आवश्यक समझा कि सत्ताधारियों पर कठोर प्रतिबंध लगाए जाएं। उन्होंने आदेश दिया कि प्रशासनिक शक्ति, जो केवल साधन है, को साध्य नहीं बनना चाहिए। राज्य तभी तक समाज की भलाई कर सकता है, जब तक वह धर्म का, उत्तम जीवन के उच्चतर नियमों का प्रतिष्ठापक रहता है और स्वयं साध्य का रूप नहीं ले लेता। इसलिए उन्होंने वनवासी, आश्रमों में रहने वाले, त्यागी, विरागी, ऋषियों और तत्वदर्शियों के रूप में प्रकट हुई धार्मिक सत्ता के मार्गदर्शन एवं नियंत्रण के आधीन अपने इन राज्यकर्ताओं को रखा।

हमारी प्राचीन राष्ट्र-व्यवथा का एक और अनोखा पक्ष यह था कि उसमें संपत्ति के उत्पादन को राजनीतिक सत्ता से अलग रखने की सावधानी बरती गई थी। धन शक्ति का एक रूप है। इतनी कल्पना कर सकने के लिए अधिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है कि राजसत्ता यदि राजनीतिक और आर्थिक दोनों शक्तियों के योग से मदमस्त हो जाएगी, तब वह कितना विध्वंस कर सकती है। इन दात शक्तियों का एक ही व्यक्ति अथवा एक ही वर्ग के हाथों में केन्द्रित होना समाज का निश्चित पतन करके उसे दास बनाता है अथवा कष्टों के असह्य हो जाने पर लोगों को विद्रोह करने के लिए उद्दीप्त करता है। कुछ भी हो, ऐसी दशा में सामाजिक स्थिरता, प्रगति एवं सम्पन्नता का अभाव हो जाना अपरिहार्य होता है।

यूरोप से शिक्षा

यूरोप के देशों का उदाहरण अत्यन्त बोधप्रद है। फ्रांस की राज्य क्रांति के पूर्व उन देशों में राजनीतिक और आर्थिक शक्तियां राजा में समाहित हुआ करती थीं। अनियंत्रित शासन के अंतर्गत जनता कराहती रहती थी, उसकी संपूर्ण स्वतंत्रता, कार्य करने की स्व-प्रेरणा तथा आनंद निचोड़ लिए गए थे। उस जुल्म के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह के रूप में 'स्वाधीनता, समानता एवं बंधुता' का नारा लगाते हुए फ्रांस की राज्य क्रांति का विस्फोट हुआ। लगभग उसी समय औद्योगिक क्रांति का भी सूत्रपात हुआ। 'अवसर की समानता' का घोष करते हुए बुद्धि, योग्यता और धन में बढ़े-चढ़े लोगों ने उद्योगों पर एकाधिपत्य कर लिया, अपरिमित सम्पत्ति को एकत्र किया तथा उसकी शक्ति से राजकीय सत्ता के भी नियंत्रक बन गए। वे पुरानों के स्थान पर नवीन अत्याचारी हुए। राजनीति और आर्थिक शक्तियों के योग से एक बार पुन: अनियंत्रित शासन उत्पन्न हो गया और सामान्य जन एक अनिर्वचनीय दैन्य एवं दास्य की दशा तक पहुंच गया। यद्यपि उस नई व्यवस्था का जनतंत्र का नया और मोहक नामाभिधान प्राप्त था। जैसा बर्नाड शा ने कहा है कि उदारवृत्तिसम्पन्न सम्राट के अभाव के परिणामस्वरूप ही जनतंत्र का जन्म हुआ था।

इस असंतुलित सामाजिक व्यवस्था तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न जन-अशांति से कम्युनिस्ट क्रांति के रूप में एक दूसरा विस्फोट हुआ। रूस और चीन में जो खूनी क्रांतियां हुईं तथा वहां जिस भयंकर परिमाण में संहार, शोषण, निर्वासन, दास शिविर एवं इसी प्रकार के अन्य अमानवीय कृत्य हुए, ये शायद संसार के इतिहास में बेजोड़ हैं। पुन: कम्युनिस्ट देश भी राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के संयोग के इसी दु:खद प्रसंग से आक्रांत हो गए, जिससे सामान्य जनसमुदाय अमानवीय दास्य को भोग रहा है। वे देश, जिन्होंने कम्युनिस्ट क्रांति के परिणामों का पूर्व आकलन कर लिया था और जनतांत्रिक बने रहे थे, चाहे एक सीमा तक ही क्यों न हो, राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति के पंजों से दूर रखकर ही ऐसा कर सके थे। इतने पर भी इन जनतांत्रिक देशों में इन दोनों के मध्य अब तक लाभकारी संतुलन उपलब्ध नहीं हुआ है।

इसीलिए दास्य और खूनी क्रांति से बचाने के लिए तथा समाज की स्थायी शांति एवं स्वतंत्रता के लिए हमारे प्राचीन हिन्दू विचार, व्यवहार ने आर्थिक शक्ति को राज्य की अधीनता से दूर रखा था। उसने संपत्ति के उत्पादन करने वाले लोगों को सभी प्रकार की राजकीय सत्ता से वंचित रखा। इस प्रकार दोनों शक्तियां एक-दूसरे पर निर्भर तथा एक-दूसरे की पूरक के रूप में रखी गई थीं। सबसे महत्व की बात यह थी कि इन दोनों शक्तियों की देखरेख इस प्रकार के नि:स्वार्थी मनुष्य करते थे,

जिनका तनिक भी निजी स्वार्थ नहीं होता था। ऐसे लोगों की एक सतत परम्परा, जो सत्ता एवं धन के सभी प्रलोभनों से ऊपर रहकर आध्यात्मिक अधिकारों का राजदण्ड लिए हुए सदैव सतर्क रहते थे और इन दोनों शक्तियों में से किसी के भी द्वारा किए गए अन्याय को व्यर्थ कर देते थे, हमारे प्राचीन राष्ट्र के वैभव और अमरता का वास्तविक प्राण रही है।

सामाजिक सर्वशक्तिमत्ता का निर्माण

अपने राष्ट्रजीवन की परम्परा के इस मुख्य आधार को भलीं-भांति समझकर ही हमने व्यक्ति-निर्माण के इस कार्य को, जो सरल नहीं है, अपने कंधों पर उठा लिया है। ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है, जो राष्ट्र के प्रति तथा उसके आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अविचल निष्ठा से ओतप्रोत हों और जो अपने अतिशुद्ध चारित्र्य तथा सबके प्रति समान प्रेम की भावना के आधार पर समाज की संगठित शक्ति का संचालन इस तेजस्वी कोटि तक करें कि जो भी राज्यसत्ता हो, वह अपनी मर्यादाओं को न लांघ सके और समाजहित के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात के लिए सत्ता का लाभ-प्रयोग न कर सके।

इस प्रकार के व्यक्तियों का संगठन ही समाज की शाश्वत शक्ति का आधार बन सकता है। वह ऐसा संगठन होगा, जो परिस्थितियों के प्रवाह के ऊपर उठ सके, जो क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति की भावना से अथवा राजनीतिक सत्ता को अधिकृत कर लेने की लालसा से स्फूर्त न हो, जिसका संपूर्ण समाज के साथ तादात्म्य हो तथा जो अपने अस्तित्व मात्र से संपूर्ण समाज के प्रासाद को सुस्थिति में बनाए रखकर उसके पूर्ण विकास के लिए स्वयंस्फूर्त आवेग एवं शक्ति प्रदान करे।

इस उदात्त दृष्टि को अपने हृदय में सहेजे हुए हम राजनीतिक सत्ता की मृग-मरीचिका के पीछे क्यों दौड़ें ? एक बार दक्षिणेश्वर मंदिर में राधाकांत की मूर्ति के कुछ आभूषण चोरी हो गए। किसी ने कहा यह देवता भी क्या है, जो अपने आभूषणों की भी रक्षा नहीं कर सका। श्री रामकृष्ण ने उसे डांटकर कहा कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचार रखना लज्जास्पद है। लक्ष्मी जिसकी दासी हो, वह भला इस प्रकार के व्यर्थ पत्थर और धातु के टुकड़ों को क्या महत्व देगा ? इसी प्रकार हमें भी, जिनके सामने राष्ट्रजीवन की एकात्मदृष्टि हे, राजनीतिक सत्ता के समान अस्थिर वस्तुओं के पीछे क्यों दौड़ना चाहिए ?

राजनीतिक सत्ता उस संगठित समाज, जिसका हम निर्माण करना चाहते हैं, की संस्कृति, एकात्मता और सामर्थ्य की आभा को केवल परावर्तित करेगी, ठीक

वैसे जैसे चन्द्रमा सूर्य की आभा को परावर्तित करता है। हम अपने समाज के चिरकालीन पालित समस्त आदर्शों के उसी प्रकार विकीर्ण केन्द्र बनने के अभिलाषी हैं, जैसे कि वह अनिर्वचनीय शक्ति सूर्य से विकीर्ण होती है। तब राजकीय सत्ता, जो अपने जीवन को समाज से ग्रहण करती है, के लिए उसी आभा को परावर्तित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न होगा।

उपनिषदों में एक कथा है, जो इस विचार को सुन्दरता से व्यक्त करती है। एक बार दैत्यों पर विजय प्राप्त कर लेने से देवताओं को अहंकार हो गया। उस सर्वशक्तिमान ने सोचा कि इनका यह बढ़ा हुआ अहंकार दूर करना चाहिए। एक वृहद् रूप धारण कर वह देवताओं के सम्मुख अचानक प्रकट हो गया। उस विचित्र अलौकिक आकृति को देखकर देवता चकित रह गए। वायु देवता को इस आकृति का परिचय प्राप्त करने को भेजा गया। उस आकृति ने अपने को यक्ष बताया और वायु के सामने एक घास का तिनका रखकर उसे हटाने की चुनौती दी। संसार को हिला देने वाली अपनी शक्ति के साथ वायु उस तिनके को एक बाल बराबर भी नहीं खिसका सका। वह क्षुब्ध होकर वापस आया। तब अग्नि देवता को भेजा गया। वह भी इस छोटे से घास के तिनके को भस्म न कर सकने के कारण अपमानित होकर लौट आया। अंत में देवताओं के राजा इन्द्र स्वयं उसे देखने गए। किन्तु वह विचित्र आकृति अचानक लुप्त हो गई। उस रहस्य को न सुलझा सकने के कारण इन्द्र भी लज्जा का अनुभव करता हुआ लौट आया। तब उसके मस्तिष्क में आया कि यक्ष के रूप में साक्षात् सर्वशक्तिमान ही था, जिसकी दया से उनमें से प्रत्येक को उसकी शक्ति की एक-एक चिंगारी प्राप्त हुई है।

राष्ट्रीय प्रतिभा से संलग्न रहो

समाज की उस सर्वशक्तिमान सत्ता का निर्माण करना, जो सदा-सर्वदा के लिए बाह्य कारणों से उत्पन्न संकटों के बीच समाज को सुरक्षित रखे और राष्ट्रीय जीवन के समस्त क्षेत्रों को अनुप्राणित एवं उद्भासित करे, यही मानव लक्ष्य हमारे सामने है।

याद रखो कि प्राचीन भावना मरी नहीं है। वह राष्ट्रीय भावना, जो शताब्दियों तक होने वाले आक्रमणों के धक्कों में जीवित रही और समय-समय पर जिसने आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय वीरों को बार-बार उत्पन्न किया, निश्चय ही पुनः सक्रिय होगी। उन्हीं प्राचीन आदर्श पुरुषों के, उन्हीं सांस्कृतिक दिव्यात्माओं के अनुरूप हम अपने जीवन का निर्माण करें। हम उसी गौरवशाली परम्परा को पुनरुज्जीवित करें,

जिसने वशिष्ठ, विश्वामित्र, चाणक्य, विद्यारण्य और समर्थ को उत्पन्न किया और जो श्रीराम, चन्द्रगुप्त, कृष्णदेव राय तथा शिवाजी के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सरल एवं लघु मार्ग तथा राजनीतिक प्रलोभनों के सम्मोहनों के बाह्य प्रचार के संपूर्ण प्रवेश में हम इसी दृढ़ विश्वास पर अडिग चट्टान के समान खड़े रहें। अपने समाज को एक बार पुनः उसकी राष्ट्रीय प्रतिभा के पथ पर ले जाकर भारत माता को विश्व की सांस्कृतिक मार्गदर्शिका के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने के अपने स्वप्न के प्रति हम सच्चे बने रहें। जब हम इस दृढ़ विश्वास पर हिमालय के समान अविचल भाव से खड़े रहेंगे, तभी गंगा और यमुना के समान राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन एवं सांस्कृतिक मूल्यों की पावन धाराएं प्रवाहित होंगी। यह उदात्त कल्पना हमारे हृदयों को सदैव प्रेरित करती रहे तथा हम अपने को उस ऐतिहासिक जीवन-लक्ष्य के लिए तैयार करें, फिर चाहे कितना ही समय और शक्ति उसके लिए क्यों न समर्पित करनी पड़े।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ग्रामों में रहने वाला सामान्य जन ही है, जो हमारे राष्ट्र का वास्तविक आधार है। भूतकाल में भी जब कभी हमारे समाज पर विदेशी आक्रमणों की विभीषिका आई तो यह 'असभ्य ग्रामीण', यह 'निरक्षर जनसमुदाय' ही था, जो अनेक कष्टों और बलिदानों को सहन करते हुए स्वदेश एवं स्वधर्म के उद्धार हेतु उठ खड़ा हुआ।

❑❑❑

द्वितीय भाग

राष्ट्र और इसकी समस्याएं

९

हमारी मातृभूमि

१. एक महान् कल्पना

(एक पूर्वार्द्ध)

यह है हमारी पवित्र भूमि भारत माता, जिसकी महत्ता के गीत देवताओं ने इन शब्दों में गाए हैं –

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

(विष्णु पुराण २-३-२४, ब्रह्म पुराण १९-२५)

(देवगण इस प्रकार गीत गाते हैं कि हम देवताओं से भी वे लोग धन्य हैं, जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिए साधनभूत भारतभूमि में उत्पन्न हुए हैं।)

- यह भूमि, जिसे महायोगी अरविन्द ने विश्व की दिव्य जननी के रूप में जीवन्त आविष्कीकरण कर प्रत्यक्ष किया – जगन्माता ! आदिशक्ति ! महामाया ! महादुर्गा ! और जिसने मूर्तरूप साकार होकर उसके दर्शन-पूजन का हमें अवसर प्रदान किया है।
- यह भूमि, जिसकी स्तुति हमारे दार्शनिक कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'देवि भुवन मनमोहिनी', 'नीलसिंधु जल धौत चरण तल' कह कर की है।
- यह भूमि, जिसका वन्दन स्वतंत्रता के उद्घोषक कवि बंकिमचन्द्र ने अपने अमर गीत 'वन्देमातरम्' में किया है जिसने सहस्रों युवा हृदयों को स्फूर्त कर स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु आनंदपूर्वक फांसी के तख्ते पर चढ़ने की प्रेरणा दी –

  दीव्त्वं हि दुर्गा दश प्रहरण धारिणी।

- यह भूमि, जिसकी पूजा हमारे सभी संत-महात्ओं ने मातृभूमि, धर्मभूमि, कर्मभूमि एवं पुण्यभूमि के रूप में की। यह वास्तव में देव-भूमि और मोक्षभूमि है।

– यह भूमि, जो अनंत काल से हमारी प्यारी पावन भारत माता है, जिसका नाम मात्र ही हमारे हृदयों को शुद्ध, सात्विक भक्ति की लहरों से आपूर्ण कर देता है।

अहो ! यही तो हमारी सबकी माँ है, हमारी तेजस्विनी मातृभूमि !

मातृभूमि–पुरातन भावना

वास्तव में 'भारत' नाम ही निर्देश करता है कि यह हमारी मां है। हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार किसी महिला को पुकारते की सम्मानूपर्ण रीति यह है कि इसे इसके पुत्र के नाम से पुकारा जाए। किसी महिला को अमुक की पत्नी अथवा अमुक की 'मिसेज' कहकर पुकारना पाश्चात्य रीति है। हम कहते हैं 'वह रामू की मां है।' यही बात हमारी मातृ–भूमि भारत के नाम के विषय में भी लागू होती है। 'भरत' हमारे ज्येष्ठ भ्राता हैं, जिनका जन्म बहुत काल पूर्व हुआ था। वह उदार, श्रेष्ठगुण सम्पन्न और विजयिष्णु राजा थे एवं हिन्दू पुरुषार्थ के भासमान आदर्श थे। जब किसी स्त्री के एक से अधिक पुत्र होते हैं, तब हम उसे इसकी ज्येष्ठ संतान के नाम से अथवा सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त संतान के नाम से पुकारते हैं। भरत ख्यातिप्राप्त थे, इसलिए यह भूमि इनकी माता कही गई। भारत, अर्थात् सभी हिन्दुओं की माता।

किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुओं को मातृभूमि की कल्पना का ज्ञान नहीं था। वे परस्पर युद्धरत विभिन्न कुलों में विभाजित थे। देशप्रेम जो कि एक मातृभूमि के लिए भक्ति की भावना होती है, से वे अपरिचित थे। उनमें कुछ सीमा तक यह भावना थी भी तो एक विशिष्ट भू–खण्ड मात्र के लिए थी। वह हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, संपूर्ण देश के लिए, जैसा वह आज हमें प्राप्त है, नहीं थी। आज के प्रमुख व्यक्ति भी समय–समय पर घोषणा करते रहे हैं कि यह हमारा एक महाद्वीप अथवा उपमहाद्वीप है, जिसमें विभिन्न प्रकार की जलवायु और विभिन्न प्रकार की भूमि है। यह राष्ट्रों का झुण्ड है, और एक देश कहलाने योग्य नहीं है। वे विचित्र विश्वास हमारे राष्ट्र के मस्तिष्क में किस प्रकार फैले ?

कुटिल, विदेशी अंग्रेज ने अपने अंतस्थ साम्राज्यवादी प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हमारी जनता में इस प्रकार के सभी दुष्ट विश्वास प्रचारित किए, जिससे देशभक्ति की भावना एवं अपनी मातृ–भूमि के समग्र व्यक्तित्व के प्रति कर्तव्य की भावना का ह्रास हुआ। उसने यह प्रच्छन्न रूप से कुटिलतापूर्वक प्रचार किया कि हम कभी एक राष्ट्र नहीं थे या हम कभी इस भूमि की संतान नहीं थे, अपितु हम नवोदित हैं, जिनका इस देश पर आक्रांताओं के झुण्डों में आने वाले मुसलमान और अंग्रेजों से अधिक अधिकार नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि इस देश का तथाकथित शिक्षित जन इस चला में फंस गया।

किन्तु वास्तविकता तो यह है कि पश्चिम ने जब कच्चे मांस के स्थान पर भुना मांस खाना सीखा था, उससे बहुत पूर्व हम राष्ट्र थे और थी हमारी एक मातृभूमि तथा समुद्रपर्यंतभूमि में परिव्याप्त था एक राष्ट्र।

'पृथिव्यायै समुद्रपर्यंताया एकराष्ट्र' –

हमारे वेदों का यह एक प्रिय उद्घोष है, युगों से हमारे सामने इसका स्पष्ट स्वरूप रहा है 'आसेतुहिमालय'। हमारे पूर्वजों ने बहुत काल पूर्व कहा है –

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेष्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

(विष्णु पुराण २-३-१, ब्रह्म पुराण १९-१)

(पृथ्वी का वह भू-भाग, जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है, महान भारत कहलाता है तथा इसकी संतानों को भारतीय कहते हैं।)

हिमालय उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम में फैली अपनी शाखा-प्रशाखाओं के साथ तथा इन महती शाखाओं के अंतर्गत प्रदेशों के साथ हमारा रहा है। धार्मिक एवं अन्य भावुकताओं को छोड़कर यह एक शुद्ध व्यावहारिक व सामान्य बुद्धि की बात है कि कोई भी शक्तिशाली और बुद्धिमान राष्ट्र पर्वतों की चोटियों को अपनी सीमा नहीं बनाएगा। यह तो उसके लिए आत्मघाती होगा। हमारे पूर्वजों ने हिमालय के उत्तरांचल में हमारी तीर्थयात्राओं के लिए अनेक स्थानों की स्थापना कर उन भू-भागों को जागृत सीमा का स्वरूप प्रदान किया था। तिब्बत या त्रिविष्टप, जिसे आज हमारे नेता चीन का तिब्बतीय प्रदेश कहते हैं, देवताओं का स्थान था। कैलाश पर तो परमेश्वर का निवास है। मानसरोवर तीर्थयात्रा के लिए एक अन्य पवित्र स्थान था, जो हमारी गंगा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र जैसी पवित्र नदियों का उद्गम माना जाता है।

हमारे महान राष्ट्रकवि कालिदास ने हिमालय का वर्णन इस प्रकार किया है:

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयों नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।

(कुमारसंभव, प्रथम सर्ग-१)

उत्तर दिशा में देवतात्मा हिमालय नाम का पर्वतराज है, जिसकी भुजाएं पूर्व और पश्चिम में समुद्रपर्यन्त फैली हुई हैं और जो पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित हैं। हमारे राजनीति शास्त्र में जिनका वचन आप्त प्रमाण है, उन चाणक्य का वक्तव्य है –

हिमवत्सुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमणाम्
(उत्तर में समुद्र से हिमालयपर्यन्त इस देश की लम्बाई एक सहस्र योजन है)।

इसका अर्थ यही है कि कवि कालिदास का वर्णन राजनीति-विषारद चाणक्य के वक्तव्य के अनुरूप है और हमारे लिए हमारी मातृभूमि की विशालता का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है।

महान् चित्र

हमारे महाकाव्य तथा पुराण भी हमारी मातृ-भूमि की वैसी ही विशाल मूर्ति उपस्थित करते हैं। अफगानिस्तान हमारा प्राचीन उपगणस्थान था। महाभारत का शल्य वहीं का था। वर्तमान काबुल और कन्दहार, गंधार थे। कौरवों की माता गांधारी वहीं की थी। ईरान तक मूलत: आर्यभूमि ही है। इसका अंतिम राजा रजा शाह पहलवी इस्लाम से अधिक आर्य सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाला था। पारसियों का पवित्र ग्रंथ 'जेंदा वेस्ता' बहुत कुछ ऋग्वेद है। पूर्व दिशा में बर्मा हमारा ब्रह्मदेश है। महाभारत में इरावत का उल्लेख आया है, वर्तमान इरावदी घाटी का इस महायुद्ध से संबंध था। महाभारत में असम का उल्लेख 'प्राग्ज्योतिश' के नाम से हुआ है, क्योंकि सूर्य का प्रथमोदय वहीं होता है। दक्षिण में लंका भी निकटतम सूत्र में आबद्ध है और इसे कभी भी मुख्य भूमि से भिन्न नहीं माना गया।

यह था हमारी मातृभूमि का चित्र, जिसमें हिमालय के पश्चिम में आर्यान (ईरान) तथा पूर्व में शृंगपुर (सिंगापुर) की ओर दो समुद्रों में अपनी दोनों भुजाओं को अवगाहित कर रहा है। साथ ही दक्षिण महासागर में उसके पवित्र चरणों पर चढ़ाई गई कमल की पंखुड़ी के समान विद्यमान है लंका (सीलोन)। मातृभूमि का यह चित्र सहस्रों वर्ष से सतत हमारे जनमानस में दैदीप्यमान है। आज भी हिन्दू, प्रतिदिन स्नान करते हुए गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी जैसी पवित्र नदियों का आह्वान करता है-

गंगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

(हे गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु तथा कावेरी ! तुम्हारा जल हमारे इस स्नान के जल में सम्मिलित हो।)

यह भी भक्ति का एक पाठ है, क्योंकि इसके द्वारा हमें यह अनुभूति कराई जाती है कि इन पवित्र नदियों के एक बूंद जल में भी हमारे समस्त पापों को धो डालने की शक्ति है।

हमारी जाति के एक महानतम व्यक्ति रामचन्द्र जी थे, जिन्होंने इस जाति के चरित्र एवं संस्कृति पर एक अमिट छाप छोड़ी है। उनके महान् गुण, यथा निराकुलता, उदारचित्तता, ज्ञानगांभार्य एवं अनुभूतियों की तुलना समुद्र की अप्रमेय गहराई तथा

शांतता से की गई है और उनकी अदम्य शक्ति एवं धैर्य की तुलना महान् और अजेय हिमालय से की गई है–

'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान इव'

(वाल्मीकि रामायण, बालकांड, प्रथम सर्ग, श्लोक १७)।

क्या हमें ज्ञात नहीं कि हमारी मातृभूमि एक ओर हिमालय से और शेष तीन ओर समुद्र से परिवेष्टित है? इस प्रकार राम के आदर्श व्यक्तित्व में हमारी मातृभूमि को उसकी संपूर्णता में दृष्टिगत कराया गया है। अनेक प्रकार से हमारी इस समग्र अखंड मातृभूमि को पूजनीय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसके खंडित होने का कोई भी विचार हमारे लिए असह्य है।

इष्ट भूमि

हमारे लिए यह संपूर्ण भूमि तपोभूमि है। प्राचीन साहित्य में एक प्रेरक प्रसंग आया है। एक बार एक प्रश्न किया गया कि योग्य फल की प्राप्ति हेतु तप और यज्ञ करने के लिए कौन–सा देश शुद्ध एवं पवित्र है। चरम सत्य की अनुभूति के लिए आदर्श स्थान कौन–सा है? उत्तर दिया गया कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वही स्थान उपयुक्त है, जहां कृष्णसार हिरन मिलते हैं। पशु–विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी आपको बता सकता है कि इस विशिष्ट प्रकार का हिरन केवल हमारे ही देश में मिलता है, संसार में और कहीं भी नहीं। इससे क्या प्रगट होता है। हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि संपूर्ण संसार में यही एक ऐसा पवित्रतम देश है, जहां छोटा–सा सत्कर्म भी सैकड़ों, हजारों गुना अधिक लाभदायी होता है। स्वामी विवेकानंद ने कहा कि 'यदि पृथ्वी पर कोई ऐसी भूमि है, जिसे मंगलदायिनी पुण्यभूमि कहा जा सकता है, जहां ईश्वर की ओर अग्रसर होने वाली प्रत्येक आत्मा को अपना अंतिम आश्रयस्थल प्राप्त करने के लिए आना ही पड़ता है, तो वह भारत है।'

निस्संशय रूप से ईश्वरानुभूति हेतु निर्धारित यही देश है। यह भावनाओं का उद्रेक मात्र नहीं, वरन् हमारा अटल विश्वास है। कुछ वर्षों पूर्व हमारे वृत्त–पत्रों ने एक जर्मन की गाथा प्रकाशित की थी, जो आध्यात्मिक अभिलाषी के रूप में हमारे देश में आया था। उसने संन्यास ग्रहण किया और एक परिव्राजक की भांति उग्र तपस्या की, किंतु दीर्घ काल की तपस्या के पश्चात् भी वह ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सका। आत्मनिरीक्षण के द्वारा उसे विश्वास हुआ कि उसका शरीर जो पश्चिम की तमोगुणी जलवायु में उत्पन्न और पोषित हुआ है, ईश्वरानुभूति के लिए अनुपयुक्त है। अत: वह हरिद्वार गया और अपना शरीर पवित्र गंगा को अर्पण कर

इसका अर्थ यही है कि कवि कालिदास का वर्णन राजनीति-विषारद चाणक्य के वक्तव्य के अनुरूप है और हमारे लिए हमारी मातृभूमि की विशालता का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है।

महान् चित्र

हमारे महाकाव्य तथा पुराण भी हमारी मातृ-भूमि की वैसी ही विशाल मूर्ति उपस्थित करते हैं। अफगानिस्तान हमारा प्राचीन उपगणस्थान था। महाभारत का शल्य वहीं का था। वर्तमान काबुल और कन्दहार, गंधार थे। कौरवों की माता गांधारी वहीं की थी। ईरान तक मूलत: आर्यभूमि ही है। इसका अंतिम राजा रजा शाह पहलवी इस्लाम से अधिक आर्य सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाला था। पारसियों का पवित्र ग्रंथ 'जेंदा वेस्ता' बहुत कुछ ऋग्वेद है। पूर्व दिशा में बर्मा हमारा ब्रह्मदेश है। महाभारत में इरावत का उल्लेख आया है, वर्तमान इरावदी घाटी का इस महायुद्ध से संबंध था। महाभारत में असम का उल्लेख 'प्राग्ज्योतिश' के नाम से हुआ है, क्योंकि सूर्य का प्रथमोदय वहीं होता है। दक्षिण में लंका भी निकटतम सूत्र में आबद्ध है और इसे कभी भी मुख्य भूमि से भिन्न नहीं माना गया।

यह था हमारी मातृभूमि का चित्र, जिसमें हिमालय के पश्चिम में आर्यान (ईरान) तथा पूर्व में शृंगपुर (सिंगापुर) की ओर दो समुद्रों में अपनी दोनों भुजाओं को अवगाहित कर रहा है। साथ ही दक्षिण महासागर में उसके पवित्र चरणों पर चढ़ाई गई कमल की पंखुड़ी के समान विद्यमान है लंका (सीलोन)। मातृभूमि का यह चित्र सहस्रों वर्ष से सतत हमारे जनमानस में दैदीप्यमान है। आज भी हिन्दू, प्रतिदिन स्नान करते हुए गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी जैसी पवित्र नदियों का आह्वान करता है-

गंगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

(हे गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु तथा कावेरी ! तुम्हारा जल हमारे इस स्नान के जल में सम्मिलित हो।)

यह भी भक्ति का एक पाठ है, क्योंकि इसके द्वारा हमें यह अनुभूति कराई जाती है कि इन पवित्र नदियों के एक बूंद जल में भी हमारे समस्त पापों को धो डालने की शक्ति है।

हमारी जाति के एक महानतम व्यक्ति रामचन्द्र जी थे, जिन्होंने इस जाति के चरित्र एवं संस्कृति पर एक अमिट छाप छोड़ी है। उनके महान् गुण, यथा निराकुलता, उदारचित्तता, ज्ञानगांभार्य एवं अनुभूतियों की तुलना समुद्र की अप्रमेय गहराई तथा

शांतता से की गई है और उनकी अदम्य शक्ति एवं धैर्य की तुलना महान् और अजेय हिमालय से की गई है-

'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान इव'

(वाल्मीकि रामायण, बालकांड, प्रथम सर्ग, श्लोक १७)।

क्या हमें ज्ञात नहीं कि हमारी मातृभूमि एक ओर हिमालय से और शेष तीन ओर समुद्र से परिवेष्टित है? इस प्रकार राम के आदर्श व्यक्तित्व में हमारी मातृभूमि को उसकी संपूर्णता में दृष्टिगत कराया गया है। अनेक प्रकार से हमारी इस समग्र अखंड मातृभूमि को पूजनीय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसके खंडित होने का कोई भी विचार हमारे लिए असह्य है।

इष्ट भूमि

हमारे लिए यह संपूर्ण भूमि तपोभूमि है। प्राचीन साहित्य में एक प्रेरक प्रसंग आया है। एक बार एक प्रश्न किया गया कि योग्य फल की प्राप्ति हेतु तप और यज्ञ करने के लिए कौन-सा देश शुद्ध एवं पवित्र है। चरम सत्य की अनुभूति के लिए आदर्श स्थान कौन-सा है? उत्तर दिया गया कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वही स्थान उपयुक्त है, जहां कृष्णसार हिरन मिलते हैं। पशु-विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी आपको बता सकता है कि इस विशिष्ट प्रकार का हिरन केवल हमारे ही देश में मिलता है, संसार में और कहीं भी नहीं। इससे क्या प्रगट होता है। हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि संपूर्ण संसार में यही एक ऐसा पवित्रतम देश है, जहां छोटा-सा सत्कर्म भी सैकड़ों, हजारों गुना अधिक लाभदायी होता है। स्वामी विवेकानंद ने कहा कि 'यदि पृथ्वी पर कोई ऐसी भूमि है, जिसे मंगलदायिनी पुण्यभूमि कहा जा सकता है, जहां ईश्वर की ओर अग्रसर होने वाली प्रत्येक आत्मा को अपना अंतिम आश्रयस्थल प्राप्त करने के लिए आना ही पड़ता है, तो वह भारत है।'

निस्संशय रूप से ईश्वरानुभूति हेतु निर्धारित यही देश है। यह भावनाओं का उद्रेक मात्र नहीं, वरन् हमारा अटल विश्वास है। कुछ वर्षों पूर्व हमारे वृत्त-पत्रों ने एक जर्मन की गाथा प्रकाशित की थी, जो आध्यात्मिक अभिलाषी के रूप में हमारे देश में आया था। उसने संन्यास ग्रहण किया और एक परिव्राजक की भांति उग्र तपस्या की, किंतु दीर्घ काल की तपस्या के पश्चात् भी वह ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सका। आत्मनिरीक्षण के द्वारा उसे विश्वास हुआ कि उसका शरीर जो पश्चिम की तमोगुणी जलवायु में उत्पन्न और पोषित हुआ है, ईश्वरानुभूति के लिए अनुपयुक्त है। अत: वह हरिद्वार गया और अपना शरीर पवित्र गंगा को अर्पण कर

दिया। वह एक छोटा-सा पत्र छोड़ गया, जिसमें लिखा था- 'मैं स्वयं अपने शरीर को त्याग रहा हूँ। इस मंगलमय की कृपा से गंगा के पावन जल में अपने शरीर को अर्पित करने से मुझे भारत में पुनर्जन्म का सौभाग्य प्राप्त हो और इस नवीन निर्मल शरीर से मैं ईश्वर का साक्षात्कार करने योग्य हो जाऊँ।'

यदि हम संसार के अन्य विविध पंथों और संप्रदायों के संस्थापकों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करते हैं, तो हम अपनी मातृभूमि के इस विशिष्ट स्वरूप के विषय में इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। महान् संत ईसा के संबंध में भी ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं है कि उन्होंने वास्तविक रूप से ईश्वर के दर्शन किए। उन्हें केवल देवदूत ही मिले तथा एक बार शैतान मिला। जब इन्हें क्रॉस पर टांगा गया, तब तो उन्हें कुछ काल के लिए ईश्वर की दया के संबंध में भी संदेह उत्पन्न हो गया था, जिसके कारण उन्हें अतीव वेदना हुई। उनका यह उद्‌गार निकल पड़ा 'हे मेरे ईश्वर, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?'

इस्लाम का संस्थापक भी शक्तिसंपन्न व्यक्ति था। वह उन लोगों को संगठित कर सका जो भेद, विरोध एवं पक्ष-प्रतिपक्ष की कलह के कारण छिन्न-विच्छिन्न थे। उसने उनमें प्रगति की आकांक्षा को जागृत किया तथा साम्राज्य निर्माण करने की शक्ति का उनमें संगठन किया। किंतु वह भी केवल जेब्राइन से मिला और उसने अनुभव किया तथा कुछ दिव्य ध्वनियों का श्रवण किया। उन्होंने ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किए।

यह वरदान तो केवल इसी भूमि के पुत्रों के लिए है कि वे ईश्वर को उसकी संपूर्ण आभा के साथ साक्षात् करें तथा अनुभव करें। एक समय था जब अन्य जातियां पर्वत, कंदराओं और वनों के बाहर नहीं निकल पाई थीं तब वैदिक ऋषियों ने मानव को 'अमृत-पुत्र' के नाम से संबोधित किया-

'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तत्स्थु:।

(ऋग्वेद १०-१३-१) और धीर-गंभीर वाणी ने उद्‌घोष किया-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(यजुर्वेद, वाजसनेयी संहिता ३१-१८)

(मैं उस महिमावान पुरुष को जानता हूँ जो सूर्य के वर्ण का है और अंधकार से परे है। उसको जानने के बाद जन्म-मृत्यु का बंधन नहीं रह जाता। मोक्ष की प्राप्ति का अन्य रास्ता नहीं है।)

कितना स्पष्ट और संशय से रहित भाव है इन शब्दों में।

परम आत्मविश्वास एवं आत्मानुभूति की उपर्युक्त अभिव्यक्तियों के समकक्ष विश्व-वाङ्मय में अन्य कोई अभिव्यक्ति ऐसी नहीं है। फिर आपको उस श्रीकृष्ण के

समकक्ष दूसरा विश्व में कहां मिलेगा, जो मानवता के लिए आत्म-जागरण के अमर संदेश श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं को उत्तम पुरुष 'मैं' में ही परमेश्वर घोषित करते हैं।

अविच्छिन्न परंपरा

हमारे देश का यह अनोखा स्वरूप प्राचीन परंपरा तक ही सीमित नहीं है। आधुनातन काल में भी नरेंद्र (स्वामी विवेकानंद) का श्रीरामकृष्ण से ऐतिहासिक मिलन का उदाहरण है। उन्होंने युवावस्था में ही, जब वे कालेज के विद्यार्थी थे, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दर्शनों में अवगाहन किया था, किंतु उनकी जिज्ञासु आत्मा संतुष्ट नहीं हुई। वे अपने समय के अनेकों विद्वानों और पुण्य पुरुषों से मिले। वे भी उनकी आत्मा की पिपासा को शांत नहीं कर सके। उन्हें ज्ञात हुआ कि दक्षिणेश्वर मंदिर में एक परमहंस रहते हैं। वे उनके पास गए और जो प्रश्न वर्षों से उनके मस्तिष्क में मंडरा रहा था, उसे सीधे शब्दों में इनके समक्ष रख दिया-

'महाशय, आपने ईश्वर को देखा है?' एक क्षण के भी संकोच किए बिना श्री रामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया, 'हां, मैं उसे ऐसे ही देखता हूँ, जैसे यहां तुम्हें देख रहा हूँ। मैं उसे तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।' श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र के प्रति अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण भी की।

जैसा कि हमें ज्ञात है, नरेंद्र एक अति उच्च मेधा एवं प्रचंड इच्छाशक्तिसंपन्न युवक थे। वे ऐसे नहीं थे, जिन्हें सम्मोहन द्वारा किन्हीं बातों पर अंधविश्वास करा दिया जाए, किंतु उन्हें जब साक्षात् परमात्मा के सम्मुख खड़ा कर दिया गया, तब ईश्वर की सत्यता में विश्वास किए बिना वह नहीं रह सके। इस प्रकार की है ईश्वरभक्तों की हमारी जीवंत परंपरा, जिसने हमारे देश का नाम ईश्वरानुभूति की भूमि, धर्मभूमि एवं मोक्षभूमि के रूप में सतत उन्नत रखा है।

कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसा देश, जिसकी धूलि का एक-एक कण दिव्यता से ओतप्रोत है, हमारे लिए पावनतम है, हमारी पूर्ण श्रद्धा का केंद्र है और यह श्रद्धा की अनुभूति संपूर्ण देश के लिए है। उसके किसी एक भाग मात्र के लिए नहीं। शिव का भक्त काशी से रामेश्वरम् जाता है और विष्णु के विभिन्न आकारों एवं अवतारों का भक्त उस संपूर्ण देश की चतुर्दिक यात्रा करता है। यदि वह अद्वैतवादी है तो जगद्गुरु शंकराचार्य के चारों आश्रम, जो प्रहरी के समान देश की चारों सीमाओं पर खड़े हैं, उसे चारों दिशाओं में ले जाते हैं। यदि वह शाक्त है, उस शक्ति का पुजारी जो विश्व की दिव्य माँ है, तो उसकी तीर्थयात्रा के लिए बावन स्थान हैं, जो बलूचिस्तान में हिंगुलाज से असम में कामाक्षीपर्यंत और हिमाचल प्रदेश में ज्वालामुखी से लेकर

दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। इसका यही अर्थ है कि यह देश विश्व की जननी का दिव्य एवं व्यक्त स्वरूप है।

दिव्य माता

हमारे लिए इस भूमि से पवित्र और कुछ नहीं हो सकता। इस भूमि की धूलि का एक-एक कण, जड़ और चेतन प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक काष्ठ और प्रस्तर, प्रत्येक वृक्ष एवं नदी हमारे लिए पवित्र है। इस भूमि के बच्चे के हृदय में यह प्रगाढ़ भक्ति सदैव जीवित रखने हेतु ही पूर्व काल में यहां इतने विधि-विधानों एवं लोकाचारों की स्थापना हुई थी। नित्य होने वाली विविध धार्मिक क्रियाओं में विशिष्ट स्थान के उल्लेख के साथ भारतवर्ष की समग्र विशालता का संबंध स्थापित किया जाता है।

'भारतवर्षे भरतखंडे जम्बू द्वीपे ....'

हमारे सभी महत्व के धार्मिक संस्कार भूमि-पूजन से आरंभ होते हैं। यह एक प्रथा है कि प्रात:काल में जैसे ही हिंदू निद्रा को त्यागता है, सर्वप्रथम वह पृथ्वी माता से इस बात के लिए क्षमायाचना करता है कि दिन-भर वह इसे अपने पैरों से स्पर्श करने के लिए विवश है।

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमंडले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।

(देवि ! समुद्र तुम्हारा परिधान है, पर्वत स्तनमंडल हैं, जिनका वात्सल्य रस नदियों में प्रवाहित हो रहा है। हे विष्णु-पत्नी ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरे पैरों के स्पर्श होने की धृष्टता क्षमा करना।)

यह एक साधारण कार्य है, किंतु उसके द्वारा प्रत्येक प्रात:काल हमारे मस्तिष्क में इस माता की भक्ति का विचार आता है, जो दिव्य माँ आदिशक्ति की अति उदात्त भक्ति का ही भाव है। यह प्रशिक्षण इतनी गहराई तक पहुंचा हुआ है कि सामान्य दैनिक कार्यों में भी हमें इस अनुभूति की झलक मिल जाती है। जब कोई बच्चा खेल-खेल में भूमि को रौंदता है तो माता कहती है- 'पुत्र, धरती माता को ठोकर मत मारो।' अथवा यदि स्वभावानुसार वह पृथ्वी को नाखून से कुरेदता है तो वह कहती है- 'प्यारे बच्चे, यह मत करो। पृथ्वी माँ को कष्ट होगा।' एक साधारण किसान भी जब खेत में हल जोतता है, तो पहले क्षमा याचना करता है। ऐसी है हमारी जीवंत-परंपरा।

यह देश हमारे लिए कभी निर्जीव, अचेतन पदार्थ नहीं रहा। सदैव समान भाव से अपने बच्चों के लिए सजीव दिव्य माँ के रूप में रहा है, चाहे वे बच्चे निम्नतम वर्ग के हों अथवा उच्चतम वर्ग के।

स्वामी विवेकानंद जी जब इंग्लैंड से भारत के लिए चलने लगे तो उनसे पूछा गया कि इंग्लैंड और अमरीका के समान समृद्ध देशों की यात्रा करने के पश्चात् अब अपनी मातृभूमि के संबंध में उनके क्या विचार हैं। उन्होंने कहा 'भारत से मैं पहले प्यार करता था, किंतु अब तो उसकी धूलि का एक-एक कण मेरे लिए अत्यंत पवित्र है, मेरे लिए वह तीर्थस्थल हो गया है।'

उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस ने तो एक व्यक्ति की एक बार इसलिए कठोरतापूर्वक भर्त्सना की थी कि वह शौच के पश्चात् गंगा जी में प्रक्षालनार्थ जा रहा था। उन्होंने उससे कहा- 'दिव्य जल को अपने मल से अपवित्र करना तुम्हारे लिए कितना अनुचित है। 'गंगा-वारि ब्रह्म-वारि है।'

इस प्रकार की रही है हमारी भूमि के दिव्य मातृत्व की सजीव अनुभूति, जो इसके महान् पुत्रों के स्वभाव का एक अंग बन गई है, जो हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग में परिव्याप्त है।

वास्तव में वह सदैव हमारे राष्ट्रजीवन की मध्यवर्ती कल्पना रही है। उसने अपनी मिट्टी, हवा, जल तथा अन्यान्य विविध पदार्थों, जो सुख और पोषण के लिए है, से माँ जैसा हमारा पोषण किया है। उत्तर में अलंघ्य हिमालय के रूप में उसने पिता के समान हमें संरक्षित किया है और देश के विभिन्न हिस्सों में फैली अरावली, विंध्य, सह्याद्रि आदि गिरि शृंखलाओं ने भूतकाल में स्वतंत्रता के शूर-सेनानियों को रहने के लिए जगह और बचने के लिए व्यवस्था दी है तथा धर्म-भूमि के रूप में उसने हमारे आध्यात्मिक गुरु का स्थान लिया है।

अस्तु, हमारी मातृभूमि ने, एक रूप में ही माता, पिता एवं गुरु तीनों का कर्त्तव्य हमारे प्रति पूर्ण किया है।

❑❑❑

२

हमारी मातृभूमि

२. वीरव्रती निष्ठा की आवश्यकता

(उत्तरार्द्ध)

हमारे देश में कुछ अति श्रेष्ठ ख्यातिप्राप्त महानुभाव हैं, जो बनावटी सर्वज्ञता के साथ कहा करते हैं कि यह तथाकथित मातृभूमि पत्थर और मिट्टी के अतिरिक्त और है ही क्या ? ऐसे व्यक्ति अनुभव करते हैं कि बुद्धि ही सब कुछ है। उनके बौद्धिक तर्क के अनुसार अंतत: यह देश एक अचेतन, फैला हुआ जड़ भूखंड मात्र है। किंतु बौद्धिक तर्क की भी अपनी सीमाएं होती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य-शरीर भी भौतिक ही तो है। अपनी माता का शरीर भी उतना ही भौतिक है, जितना अन्य किसी स्त्री का। तब क्यों किसी व्यक्ति को अपनी माँ को अन्य स्त्रियों से भिन्न समझना चाहिए? इसके लिए भक्ति क्यों होनी चाहिए ? बुद्धिवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। मनुष्य-शरीर को अपने पोषण के लिए मांड (स्टार्च), प्रत्थामिन (प्रोटीन), चिकनाई और जल की आवश्यकता होती है और यह खाद्य तत्त्व मनुष्य के मांस में आवश्यक मात्रा में प्राप्त होते हैं। अंतत: जीवशास्त्र के अनुसार मनुष्य भी मांस, रक्त और अस्थियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अत: अपने पड़ोसी को क्यों न खाया जाए ? यदि कोई व्यक्ति यह कहता है तो इसको कोई तर्कशास्त्री भले कह ले, परंतु इसे सभ्य तो निश्चय ही नहीं कहा जाएगा, चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो। इस प्रकार की बुद्धिमत्ता नर-मांसभक्षण की ओर ही ले जाएगी। रावण एक विद्वान था, किंतु था तो बर्बर ही। अत: केवल बुद्धि ही पर्याप्त नहीं होती। मनुष्य में यह भी योग्यता होनी चाहिए कि वह हृदय की उदात्ततर भावनाओं की भी अनुभूति कर सके।

मातृ-भावना का विकास

पत्थर और मिट्टी में मातृ-भावना का विकास किस प्रकार हुआ? हम जानते हैं कि विभिन्न प्रकार की सजीव सृष्टि में जैसे-जैसे विकास और उन्नतावस्था आती -जाती

है, वैसे-वैसे इन वस्तुओं में, जो उनका पोषण करती हैं वे मातृत्व की भावना का आह्वान करना आरंभ कर देते हैं, चाहे वे वस्तुएं चेतन हों अथवा जड़। उदाहरण के लिए, मेढक या सर्प को लीजिए, इन्हें माँ का कोई विचार नहीं होता। वे यह भी नहीं जानते कि इनकी संतति के साथ क्या घटित होता है। इनमें संतान और माता एक-दूसरे को इस संबंध के आधार पर नहीं देखते। क्रमानुसार ज्यों-ज्यों जीवन विकसित होता है, हम स्तनपायी प्राणियों तक आते हैं, जहां माता अपने बच्चों को बचपन में दूध पिलाकर पालती है। चिड़िया अपने अंडों को सेती है तथा जब तक उसके बच्चे उड़ने नहीं लगते, तब तक उनकी देख-रेख करती है। जब माँ की उपयोगिता का अधिक अनुभव नहीं होता, तब वे बच्चे अपनी माँ को भूल जाते हैं और एक-दूसरे से नितांत अनजाने से हो जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि इस विकासक्रम में मनुष्य चरम अवस्था पर है। यदि वह सुसंस्कृत है तो माता के प्रति उसका प्रेम एवं सम्मान सतत बना रहता है, चाहे वह उसके लिए अनुपयोगी ही क्यों न हो जाए, वास्तव में तो उसके अति वृद्ध, अंधी तथा शारीरिक दृष्टि से नितांत अनुपयोगी हो जाने पर वह उसका और अधिक सेवा-सम्मान करेगा।

ज्यों-ज्यों मनुष्य-जीवन विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों यह मातृ-भावना भी अधिकाधिक व्यापक और उदात्तस्वरूप धारण करती जाती है। जब मनुष्य विवेक-बुद्धि से अपने चारों ओर देखता है, तो उसे कितनी ही अन्य चीजें दिखाई देती हैं, जिनका ऋण उस पर है। वह उन्हें भी माँ के रूप में देखना आरंभ कर देता है। वह नदियों को देखता है, जो उसे जल तथा भोजन देती है। वह इन्हें 'माँ' कहकर पुकारने लगता है। जब वह अपनी माता के दुग्ध पर निर्भरता की अवस्था से बाहर हो जाता है, तब गौ की ओर देखता है, जो जीवन-भर अपने दूध से उसका पोषण करती है। वह उसे 'गौ-माता' कहने लगता है। बाद में वह ज्ञान की इस अवस्था तक पहुंच जाता है, जब वह देखता है कि यह पृथ्वी माता है, जो उसका पोषण और संरक्षण करती है और अंत समय भी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने हृदय में स्थान देती है। उसे यह ज्ञात होता है कि यह इसकी सबसे श्रेष्ठ माता है। इस प्रकार अपनी जन्मभूमि को माता के रूप में देखना विकास की एक अति उच्च अवस्था का लक्षण है। वेदों ने घोषणा की है-

'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः । (अथर्ववेद, १२-१-१२)

सक्रिय भक्ति चाहिए

अतएव यह हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अपने देश के प्रति अति उच्च विकसित दिव्य मातृभावना को जागृत बनाए रखें। अब हम विचार करें कि हमें इसके

प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति किस प्रकार करनी है? इसके दो मार्ग हैं। एक तो औपचारिक है, जिसमें पुष्प, आरती, स्तुति, प्रार्थना आदि से पूजन होता है। लोग धार्मिक भक्ति भावना से आज भी ऐसा करते हैं। वे संपूर्ण देश में तीर्थयात्रा करने जाते हैं, धार्मिक विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं, स्तुति, अर्चना करते हैं, फूल चढ़ाते हैं तथा विभिन्न पवित्र नदियों में स्नान करते हैं, किंतु वे यह सब कुछ व्यक्तिगत धार्मिक-पुण्य प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करते हैं। यह एक प्रकार से भक्ति का निष्क्रिय स्वरूप है।

भक्ति का सक्रिय स्वरूप है, व्यावहारिक राष्ट्रजीवन में इस मातृभूमि के प्रत्येक कण के स्वातंत्र्य और सम्मान की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने की भावना की अभिव्यक्ति। इस ठोस वास्तविक संसार में इस सक्रिय अभिव्यक्ति का महत्त्व है। इस प्रकार की भक्ति से दैदीप्यमान हृदय अपने भक्तिभाजन मातृदेश के प्रति छोटी से छोटी अवज्ञा भी सहन नहीं कर सकता। वह भीम रूप धारण कर तब तक चैन नहीं लेता, जब तक उस अपमान के लिए उत्तरदायी आक्रामक तत्त्वों का ऐसा उच्छेद नहीं कर देता कि वे पुन: दूसरी बार इस प्रकार का पाप न कर सकें। भूतकाल में किए हुए सभी अपमानों एवं अवमाननाओं को मिटाने के लिए एक दैवी असंतोष की अग्नि उसके हृदय में सतत जलती रहती है।

इस सक्रिय विजयिष्णु भावना के अभाव में किसी श्रेष्ठ कार्य के लिए किया जाने वाला समर्पण भी कोई विशेष उपयोग का नहीं होगा। इस कठोर समरांगण में, जहां नित्य प्रति दुष्ट शक्तियों से सामना होता रहता है, भोली सज्जनता और निरीह सच्चरित्रता को, जिसे सत्वभाव का निष्क्रिय रूप कहना चाहिए, एक क्षण भी संघर्ष में टिक पाना कठिन है। इसलिए हम देखते हैं कि संपूर्ण धार्मिक निष्ठा, भलाई और ईश्वरभक्ति होते हुए भी पिछले सहस्र वर्षों से हम इन विदेशी आक्रांताओं के पैरों तले कुचले जा रहे हैं, जो भलाई तथा उत्तम गुणों से नितांत अपरिचित हैं, परंतु जिनमें पराक्रमी कार्यों के लिए जोश तथा संगठित प्रयत्न हैं, अर्थात् जो रजोगुण से पूर्ण हैं। हमारा इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जब भी हमारे समाज में विजयिष्णु भावना का समावेश हुआ और वह सत्वगुण के सक्रिय स्वरूप से निविष्ट हुआ तो राक्षसी शत्रुओं के सभी साम्राज्य चकनाचूर होते दिखाई दिए।

हमारे पुराणों की भी यही शिक्षा है, जिनमें देव और असुरों के युद्धों की कहानियां वर्णित हैं। वहां प्राय: देखने के लिए मिलता है कि देवता लोग अपने दैवी शक्तियों के होते हुए भी संगठित तथा आक्रामक राक्षसों द्वारा परास्त होते हैं। वे तभी राक्षसों पर

विजय कर पाते हैं, जब वे वीरतापूर्ण सक्रियता से अपने जीवन को परिपूर्ण बनाते हैं। निश्चय ही स्फूर्ति, क्रियाशीलता एवं पराक्रम ही संसार पर शासन करता है। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' इस कथन में संसार के सफल जीवन का संपूर्ण तत्वज्ञान निहित है।

क्या हम जीवित हैं?

क्या आज हमारे हृदयों में अपनी मातृभूमि की भक्ति का यह पराक्रमी एवं ओजस्वी भाव जीवित है? यदि यह भाव हमारे नेताओं और सामान्य जनता में होता तो क्या देश का विभाजन घटित हो सकता था। क्या वे अंग्रेज तथा मुसलमानों के सभी षड्यंत्रों के विरोध में पराक्रम के साथ सभी समझौतों को ठुकराते हुए एक पुरुष के समान खड़े नहीं हो जाते? और क्या अपनी मातृभूमि की पवित्र अखंडता की सुरक्षा हेतु अपने रक्त की एक-एक बूंद देने के लिए उद्यत न हो जाते? खेद है कि यह घटित नहीं हुआ। उल्टे नेताओं की प्रेरणा से जनता तथाकथित स्वतंत्रता के आगमन पर उत्सव मनाने में व्यस्त हो गई।

कुछ ऐसे भी महानुभाव हैं, जो कहते हैं कि 'बीती ताहि बिसारि दे'। अब पुराने निर्जीव विवादास्पद प्रश्नों को उठाने से क्या लाभ? अंततोगत्वा विभाजन तो अब एक निर्णीत सत्य है। यह कैसे संभव हो सकता है? क्या कोई पुत्र, जब उसकी विकलांगी माता उसकी ओर प्रतिदिन दैन्यपूर्ण दृष्टि से ताक रही हो, उसे भूलकर शांत होकर बैठ सकता है? भूल सकता है? भला भूलना कैसे संभव है? सच्चा पुत्र तो कभी भी नहीं भूल सकता और तब तक शांत भी नहीं बैठ सकता जब तक उसकी माँ की अखंड प्रतिमा पुन: स्थापित न हो जाए। यदि विभाजन निर्णीत सत्य है, तो हम उसे अनिर्णीत करने के लिए उपस्थित हैं। वास्तव में इस संसार में कोई भी वस्तु निर्णीत सत्य नहीं होती। वस्तुएं मनुष्य की इच्छानुसार निर्णीत या अनिर्णीत हुआ करती हैं और मनुष्य की इच्छा अपने इस कार्य के प्रति समर्पण के साथ, जिसे उसने पवित्र और श्रेष्ठ माना है, फौलाद जैसी दृढ़ बन जाती है।

कुछ अन्य लोग भी हैं, जो विभाजन को यह कहकर न्यायिक सिद्ध करते हैं कि आखिर हिंदू और मुसलमान 'भाई' ही तो हैं। विभाजन उनकी संपत्ति का आपसी बंटवारा मात्र है। किंतु क्या हमने ऐसे बच्चे कहीं सुने हैं, जिन्होंने अपनी माता को 'संयुक्त संपत्ति' कहकर काट डाला हो? यह कितना घोर पतन है कि मातृभूमि एक सौदे की वस्तु मात्र बन गई है, आनंद-भोग के लिए एक स्थान मात्र किंवा केवल एक होटल के समान भोग-भूमि। इसमें धर्मभूमि, कर्मभूमि और पुण्यभूमि का कोई भाव नहीं रहा है। इस जघन्य वृत्ति के कारण ही हमने माता के अंग काटकर फेंक दिए

और अपने लाखों भाइयों के रक्तप्रवाह के रूप में इसका मूल्य चुकाया। आज भी विभाजन की दु:खद बात का अंत नहीं हो रहा है। कश्मीर का विभाजन हो गया और अब यह प्रतीत होता है कि नागालैंड भी उसी रास्ते पर है।

भाव के अभाव का परिणाम

हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो हमारी मातृभूमि पर आक्रमण होने या आक्रमण का संकट उपस्थित होने पर उपेक्षापूर्वक कह देते हैं- 'अच्छा, उसे दे डालो।' यदि चीनी लद्दाख के कुछ भाग पर अधिकार कर लेते हैं तो वे कहते हैं- 'उसे जाने दो, वहां तो घास का तिनका भी नहीं उगता।' कुछ दिनों पूर्व नेफा के संबंध में एक प्रच्छन्न स्वरूप का प्रचार हुआ था, जिसमें यह ध्वनित किया गया था कि वह तो एक परित्यक्त स्थान है, जो मनुष्य के निवास के अयोग्य है तथा जिसमें विषधर सर्प व जोंक भरी हुई हैं, जो हमारी सेना के अधिकारियों के कंठ में घुसकर उनका रक्त चूस लेंगी। हमारे वृत्त-पत्रों, जिनका यह उत्तरदायित्व होता है कि समाज को शिक्षित कर प्रखर देशभक्ति की भावना लोगों के मस्तिष्क में जागृत करें, द्वारा उस असत्य का प्रचार किया गया, जिसका परिणाम जनता के मस्तिष्क में अपने ही एक भूभाग के लिए घृणा उत्पन्न होने में ही हो सकता है। वही कहानी कच्छ के रन के विषय में भी दुहराई गई। उस क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर पाकिस्तान के आक्रमण एवं अधिकार के क्षुब्ध करने वाले वृत्त के साथ ही हमारे समाचार-पत्रों में उस क्षेत्र के तुच्छतासूचक वर्णन प्रकाशित होने आरंभ हो गए। केंद्रीय सरकार की ओर से कुछ भी कुछ छोटी-छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित हुईं, जिनमें उसे मरुस्थल लिखा गया और कहा गया कि वहां घास का तिनका भी नहीं उगता, वर्ष में अधिक समय यह समुद्र से डूबा रहता है तथा मक्खियों से इतना अधिक आक्रांत है कि एक प्याला जल भी बिना मक्खी को निगले कोई पी नहीं सकता।

शत्रुओं के आक्रमण के समय नेफा तथा कच्छ के रन के इन वर्णनों में निकट साम्य किसी के भी मन में संदेह निर्माण कर सकता है कि यह संभवत: इस प्रकार का वातावरण निर्माण करने का प्रयास है, जिससे जनता में रोष पैदा न होते हुए शत्रु को इन स्थानों को हजम करने दिया जा सके। यह भी संभव है कि जनता में इस प्रकार के समाचारों का प्रसार अदूरदृष्टि के कारण हो गया हो, यह तो इससे भी बुरा है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति विचारपूर्वक ऐसा करता है तो हम इतना ही कह सकते हैं वह सही नहीं है, किंतु यदि कोई स्वभावत: ऐसा कहता है तो इसका अर्थ यही है कि उसके हृदय में मातृभूमि के प्रति स्नेह का सर्वथा अभाव है। यह अवस्था बहुत संकटापन्न होती है।

हमारे अपने नेता चीन के खुले आक्रमण और उसके द्वारा हमारी हजारों वर्गमील भूमि पर अनाधिकार कब्जा कर लेने के कृत्य को मात्र 'सीमा-विवाद' या 'सीमा-संघर्ष' के नाम से पुकारना पसंद करते हैं। हमारे नेताओं का कहना है कि उन हिमाच्छादित भू-प्रदेशों में सीमा-रेखा का कुछ मील अपनी ओर अथवा कुछ मील उनकी ओर खिंच जाना कोई चिंता की बात नहीं है। उनके ऐसे कथन का सदैव ही अर्थ निकला है- 'हजारों मील हमारी ओर, किंतु एक मील भी उनकी ओर नहीं'। हमने प्राय: उन्हें यह कहते हुए सुना है कि वे सीमाएं अनिश्चित और विवादास्पद हैं। एक समय, जब चीन द्वारा अधिकृत भू-भाग का उल्लेख पंडित नेहरू कर रहे थे, उन्होंने उसे 'हमारी मानी जाने वाली भूमि' तक कहा था।

दृष्टिकोण ज्वलंत बनाए रखो

खेद का विषय है कि हमें अपनी मातृभूमि की ओर देखने का वह चैतन्यमय और परिपूर्ण दृष्टिकोण कहीं नहीं मिलता, जो हमारे समाज के अध्यवसाय के लिए प्रेरक बनकर उसकी अखंडता की रक्षा हेतु बलिदान की प्रेरणा दे सके। हमारे समाज पर आज समझौते की भावना ने अधिकार कर रखा है जो भी हमारी मातृभूमि पर कुठाराघात करे, उसे कुछ भू-खंड देकर शांति मोल ले ली जाए। ऐसी वृत्ति बन गई है। हमारे जो भू-भाग शत्रु के अधिकार में हैं, उनकी स्मृति भी समाप्त होती जा रही है। हममें से कितने लोग इस बात से स्वयं को एवं देश को अपमानित अनुभव करते हैं कि हमारे लिए पवित्र कैलाश और मानसरोवर प्रवेश वर्जित हैं? हमें उस पवित्र सिंधु में स्नान का कोई अवसर नहीं, जिसने हमें 'हिंदू' और हमारे देश को 'हिंदुस्थान' नाम दिया है? हिंदू विचारधारा को विकीर्ण करने वाला विश्वकेंद्र तक्षशिला अब हमारा नहीं है। मूल स्थान (मुल्तान), जिसने दैत्य हिरण्यकशिपु से प्रहलाद की रक्षा करने वाले भीषण नरसिंह अवतार के दर्शन किए थे, पुन: एक बार दानवी प्रभाव से कुचला जा रहा है। क्या ये सब स्मृतियां हमारी धमनियों में ज्वलंत हैं?

इस संबंध में विशेष रूप से हमें स्वयं को तथा आने वाली पीढ़ियों को बताना है, अन्यथा बाह्य परिस्थितियों का भारी दबाव हमारी कल्पना को मलिन कर देगा और हमारी आत्मा को कुचल देगा। बार-बार यह कहकर कि हमारी वर्तमान राजनीतिक सीमाएं हमारी मातृभूमि का पूर्ण स्वरूप उपस्थित करती हैं, हम अपनी अंतरात्मा को जड़ बना लेंगे। यह स्थिति हमारे पौरुष और बुद्धि के लिए कितनी अपमानास्पद है। कभी-कभी राजनीतिक समाघातों एवं युद्ध की दैवाधीन विचित्र गति से राजनीतिक सीमाओं में परिवर्तन हो जाते हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि जो खंड राजनीतिक दृष्टि से हमने खो दिए हैं, वे हमारी मातृभूमि के भाग ही नहीं हैं।

अभी हाल ही तक क्या हमारा संपूर्ण देश अंग्रेजों के विदेशी शासन में नहीं था? और उसके पूर्व क्या अपने देश का एक भाग मुसलमानों के अधिकार में नहीं था? तब क्या हमें यह कहना चाहिए कि उन कालखंडों में यह संपूर्ण देश हमारा नहीं था? इसके विपरीत क्या हमने अपनी मातृभूमि के उन भागों को विदेशियों से मुक्त कराने के लिए संघर्ष और बलिदान नहीं किए? और क्या हमारी भूमि का प्रत्येक कण हमारे अगणित वीरों एवं हुतात्माओं के पवित्र रक्त से सुरक्षित और पावन नहीं है? यदिहम आज कहते हैं कि चीनी और मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा जो भू-भाग ले लिया गया है, वह हमारा नहीं और उसके अधिकृत स्वामी वही हैं, तो इसका यही अर्थ है कि हमारे नेताओं में लड़ने की इच्छा समाप्त हो गई है और हमने अपने पौरुष को इस सीमा तक तिलांजलि दे दी है कि अपनी पराजयों एवं अवमाननाओं में भी हम गौरव का अनुभव करने लगे हैं।

हमें अन्य सब बातों से अधिक अपनी इस राष्ट्रीय आकांक्षा के मृतप्राय होने से सावधान रहना है। यदि हममें अपने देश की स्वतंत्रता एवं अखंडता हेतु युद्ध करने, कष्ट सहने तथा बलिदान करने की इच्छा शून्य हो गई तो वह हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता तथा सम्मान के लिए मृत्यु का कारण बनेगी।

संसार में स्वतंत्र, संपन्न और गौरवशाली राष्ट्र की सत्ता का जीवनप्राण तो मातृभूमि की ऐसी भक्ति है, तो तीव्र, क्रियाशील, दृढ़निष्ठ तथा ज्वलंत हो। हम हिंदुओं को तो मातृभूमि की अति दिव्य भक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। भक्ति के वे अंगारे, जो प्रत्येक हिंदू के हृदय में सुप्त पड़े हुए हैं, इन्हें प्रज्जवलित करो ताकि वे मिलकर और पवित्र ज्वालाओं में परिणत होकर हमारी मातृभूमि पर भूतकाल के समस्त अतिक्रमणों को भस्म करें एवं भारत माता के अतीत की अखंडित प्रतिमा की पुनर्स्थापना का स्वप्न साकार करें।

❑❑❑

१०

मातृभूमि के पुत्र

हिंदू क्यों?

अनादि काल से एक महान एवं सुसंस्कृत समाज, जिसे 'हिंदू कहते हैं, यहां उस भूमि के पुत्र के रूप में निवास कर रहा है। किंतु कुछ लोग हैं, जो 'हिंदू' नाम पर आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से इसका मूल तो सांप्रदायिक है तथा यह नाम हमें विदेशियों द्वारा दिया गया है। वे हिंदू के स्थान पर 'आर्य' अथवा 'भारतीय' नाम का सुझाव देते हैं।

निस्संदेह आर्य एक स्वाभिमानपूर्ण प्राचीन नाम है, किंतु इसका प्रयोग विशेषतया गत सहस्र वर्षों से अप्रचलित हो गया है। गत शताब्दी में ऐतिहासिक शोध के नाम पर अंग्रेजों द्वारा किए हुए अप-प्रचार ने हमारे मस्तिष्क में धूर्ततापूर्वक बनाए गए आर्य-द्रविड़ विवाद की विषैली जड़ें गहराई तक पैठा दी हैं। अत: 'आर्य' नाम का प्रयोग हमारे उद्देश्य की सिद्धि में स्वत: निष्फलता का कारण बनेगा, क्योंकि हमारा उद्देश्य तो अपने उस संपूर्ण समाज का साक्षात् करना है, जो अतीत और वर्तमान की समस्त संज्ञाओं से निरपेक्ष हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ है।

'भारतीय' भी प्राचीन नाम है, जो अति प्राचीनकाल से हमसे संबंधित है। भारत नाम वेदों तक में मिलता है। हमारे पुराणों ने भी हमारी मातृभूमि को 'भारत' कहा है और यहां के निवासियों को 'भारती'। वास्तव में 'भारती' संबोधन 'हिंदू' का पर्यायवाची है, किंतु आज 'भारतीय' शब्द के संबंध में भी भ्रांत धारणा उत्पन्न हो गई है। सामान्यतया यह 'इंडियन' शब्द के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें इस देश में रहने वाली मुसलमान, ईसाई तथा पारसी आदि सभी जातियों का समावेश होता है। इस प्रकार 'भारतीय' शब्द-प्रयोग, जब हम इस विशिष्ट समाज को लक्ष्य कर करना चाहते हैं, हमें भ्रमित कर सकता है। केवल 'हिंदू' शब्द ही इस भाव को पूर्ण एवं शुद्ध रीति से व्यक्त करता है, जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं।

यह कहना भी ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है कि 'हिंदू' नाम नूतन है अथवा विदेशियों द्वारा हमें दिया गया है। विश्व के प्राचीनतम अभिलेख 'ऋग्वेद' में हमें 'सप्त सिंधु' नाम मिलता है जो हमारे देश एवं हमारे जन के लिए उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह भी भली प्रकार से ज्ञात है कि संस्कृत का 'स' वर्ण कभी-कभी हमारी कुछ प्राकृत भाषाओं में तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं में 'ह' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार प्रथम 'हप्त हिंदू' तत्पश्चात् 'हिंदू' नाम प्रचलित हो गया। इसलिए 'हिंदू' हमारा अपना गौरवशाली नाम है, जिसके द्वारा बाद में अन्य लोग भी हमें पुकारने लगे।

हिंदू और हिंदुस्थान

बृहस्पति आगम के अनुसार 'हिंदू' शब्द का 'हि' 'हिमालय' से तथा 'न्दु', 'इन्दु' 'इन्दु सरोवर' (दक्षिण सागर) से लिया गया है। इस प्रकार यह (शब्द) हमारी मातृभूमि के संपूर्ण विस्तार को संप्रेषित करता है।

बृहस्पति आगम का कथन है-

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दु सरोवरम्।
तं देव निर्मितं देशं हिंदुस्थानं प्रचक्ष्यते।।

(देवताओं द्वारा निर्मित वह देश जो हिमालय से प्रारंभ होकर इंदु सरोवर (अर्थात् दक्षिणी सागर) तक फैला हुआ है, हिंदुस्थान कहलाता है।)

'हिंदू' शब्द का इतिहास

'हिंदू' शब्द हमारे इतिहास के गत एक सहस्र वर्षों के संकटपूर्ण काल से जुड़ा रहा है। पृथ्वीराज के दिनों से लेकर हमारे समस्त राष्ट्र-निर्माताओं, राज्यवेत्ताओं, कवियों और इतिहासकारों ने 'हिंदू' शब्द का प्रयोग हमारे जन-समाज और धर्म को अभिहित करने के लिए किया है। गुरु गोविंदसिंह, विद्यारण्य और शिवाजी जैसे समस्त पराक्रमी स्वतंत्रता-सेनानियों का स्वप्न 'हिंदू-स्वराज्य' की स्थापना करना ही था। 'हिंदू' शब्द अपने साथ उन समस्त महान् जीवनों, उनके कार्यों और आकांक्षाओं की मधुर गंध समेटे हुए है। इस प्रकार यह एक ऐसा शब्द बन जाता है, जो संघ-रूप से हमारी एकात्मता, औदात्य और विशेष रूप से हमारे जन-समाज को व्यंजित करता है।

पं. नेहरू के साथ वार्त्ता

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो हमारे द्वारा निरंतर 'हिंदू' शब्द पर बल देने के कारण हमारे दृष्टिकोण पर संकीर्ण और सांप्रदायिक होने का आरोप लगाते हैं। जब मैं एक बार पंडित नेहरू से मिला तो उन्होंने भी यही आरोप लगाया। उन्होंने कहा, 'आप

लोग बार-बार हिंदू-हिंदू का राग क्यों अलापते रहते हो? ऐसा करके आप स्वयं को केवल अपनी ही चारदीवारी में बंद कर लेते हो और बाह्य विश्व की ताजा हवा के झकोरों को अंदर आने से रोक देते हो। बाह्य विश्व से हमें अलग कर देने वाली कोई भी दीवार अभीष्ट नहीं है। हमें इस प्रकार के सभी समयबाह्य व्यवधानों को ध्वस्त कर देना चाहिए।'

पंडित नेहरू एक महान पुरुष थे और महान भावनाओं से आविष्ट होकर बोला करते थे। मैंने शांति के साथ उत्तर दिया, 'मैं आपकी इस बात से पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूँ कि हमें सभी दिशाओं से आने वाली ताजा वायु का स्वागत करना चाहिए। हमें अनेक देशों में चल रही विभिन्न विचारधाराओं के संपर्क में आना चाहिए और उनको समझना चाहिए, उनका सूक्ष्म परीक्षण करके उसमें से जो कुछ हमारे लिए लाभदायक है, इसे आत्मसात करना चाहिए। परंतु ऐसा करने के लिए क्या यह आवश्यक है कि हम अपने घर की दीवारों को ध्वस्त कर लें और अपनी छत को अपने सिर पर गिरा लें? इसके विपरीत क्या ऐसा करना बुद्धिमत्ता न होगी कि हम अपने भवन को अक्षुण्ण रखें और बाहर की वायु आने के लिए अपने द्वार और खिड़कियां खोल दें? मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि उदार-हृदयता को यदि व्यावहारिक सीमा से अधिक तूल दिया जाएगा, तो वह हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को समाप्त कर देगी। मेरा निवेदन यह है कि हमारा यह तथाकथित संकीर्ण दृष्टिकोण हमारे राष्ट्र को वह सामर्थ्य प्रदान करेगा, जिससे हम बाह्य विश्व के दृष्टिकोण में, जो कुछ हमारे लिए अभीष्ट है, उसे पचा सकें।'

इस पर पंडित नेहरू ने कहा 'ठीक है, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संकल्पित प्रयत्नों को करने के लिए इसी प्रकार का दृढ़ निश्चय आवश्यक है।' मैंने उनका इस बात के लिए धन्यवाद किया कि उन्होंने कम से कम इतना तो स्वीकार किया।

विकास के लक्षण

अब हम अपने हिंदू-जीवन पर एक दृष्टिपात करें। जब लोग, विशेष रूप से बाहरी लोग, हमारे विश्वासों, संप्रदायों, जातियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों एवं स्वभावगत विविधताओं के बाहुल्य को देखते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं और कह उठते हैं कि 'इन सब भांति-भांति के तत्त्वों तथा असंगत स्वरों से युक्त समूह को किस प्रकार एक समाज कहा जा सकता है? कहां है एक जीवनपद्धति जिसे तुम 'हिंदू' कहते हो।'

यह प्रश्न हिंदू-जीवन के बाह्य दृश्य स्वरूप से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, एक वृक्ष को लीजिए, जिसमें शाखाएं, पत्तियां, फूल और फल के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं। तने में शाखाओं से अंतर होता है और शाखाओं में पत्तियों से। सभी कुछ एक-दूसरे से नितांत विभिन्न। किंतु हम जानते हैं कि ये सब दिखने वाली विविधताएं केवल मात्र उस वृक्ष की भांति-भांति की अभिव्यक्तियां हैं, जबकि उसके सभी अंगों को पोषित करता हुआ एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के संबंध में भी है, जो उन सहस्रों वर्षों में विकसित हुई है। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसका विभेद नहीं, उसी प्रकार हिंदू-समाज की विविधताएं भी आपसी विघटन नहीं हैं। इस प्रकार का नैसर्गिक विकास हमारे समाज-जीवन का अद्वितीय स्वरूप है।

वास्तव में प्रकृति की योजना में जीवन के विकास के उसी प्रतिमान का अनुसरण किया गया है। प्राणी अपनी आदिम अवस्था में आकारहीन दशा में रहता है, जिसे 'अमीबा' कहा जाता है। यह 'सेल' का एक-कोशीय सावयव शरीर होता है, जो अपने में पूर्ण होता है। यह दो समान रूपों में विभक्त किया जा सकता है। जीवन पदार्थ की यह प्राथमिक अवस्था होती है, जो विकास के निम्नतम सोपान पर स्थित होता है। जैसे-जैसे विकास में प्रगति होती है, भांति-भांति के जीवों की जातियां बनने लगती हैं। बढ़ती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिए उनके विविध अंग होते हैं। अंत में मनुष्य शरीर बनता है, जो अनेक अंगों से संगठित एक अत्यंत संश्लिस्ट यंत्र है, जिसका प्रत्येक अंग अपनी विशिष्ट क्रिया से युक्त है। फिर भी वे सभी एक सामान्य जीवनधारा के द्वारा एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं। पृथ्वी पर जीवन का उच्चतम विकसित आकार यही है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विभिन्न अंग अथवा विविधताएं अपरिपक्वता अथवा विभेद के लक्षण नहीं हैं, वरन् अति विकसित अवस्था के कारण हैं। सभी अंग, यद्यपि प्रत्यक्षरूपेण विविध आकारों के होते हैं, किंतु सभी शरीर के कल्याण हेतु कार्य करते हैं और इस प्रकार इसकी वृद्धि तथा शक्ति में योगदान करते हैं।

अनुपम चित्र

समाज के संबंध में भी इसी प्रकार की बात होती है। एक विकसित समाज विविध कर्तव्यों के समुचित व्यापार के लिए अनेक विभिन्न कार्यकारी वर्गों में बंट जाता है। हमारी प्राचीन समाज-व्यवस्था ने प्रत्येक वर्ग के लिए विशिष्ट कर्तव्य निर्दिष्ट किए तथा प्रत्येक व्यक्ति एवं वर्ग का उसकी नैसर्गिक विकास की दिशा में

उसी प्रकार मागदर्शन किया, जैसे बुद्धि शरीर के प्रत्येक अंग की क्रियाओं का निर्देश करती है। समष्टि, अर्थात् विराट पुरुष के प्रति श्रेष्ठतम सेवा अर्पण करने की पद्धति में व्यक्ति के विकास के लिए पूर्ण अवसर सुरक्षित था। इस प्रकार की यह अत्यंत संश्लिष्ट एवं संगठित समाज-रचना है, जिसे हमने व्यावहारिक आदर्श के रूप में अपने समक्ष रखा था और जीवन में ही उसे उपलब्ध करने का उद्योग किया था। दूर से देखने पर यह अवस्था संभ्रमकारी असाम्य की अवस्था प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में यह है समाज की अत्युच्च विकसित अवस्था, जिसका अस्तित्व संपूर्ण संसार में शायद ही अन्यत्र कहीं रहा हो।

किंतु आज का मस्तिष्क विदेशी वादों और उसकी समानता की बड़ी-बड़ी घोषणाओं के आडंबर के माध्यम से ही देखने का अभ्यस्त बनकर, उस अनुपम तथ्य को पहचानने में असमर्थ हो चुका है। इसलिए चिल्लाहट मची है कि हमारे जीवन की विविधताएं ही हमारी फूट का कारण हैं, इन्हें नष्ट करना चाहिए और एक वर्गहीन समाज की रचना करनी चाहिए। किंतु क्या शरीर के अंग समान दिखते हैं? ये अंग अपना अलग-अलग विशिष्ट कार्य करते हैं, इसी कारण हम इन्हें अलग वर्ग के नाम से पुकारें तथा उन्हें दूर करके शरीर को वर्गविहीन वस्तु बना डालें? यदि यह किया जाए तो उसे विकास कहेंगे अथवा हत्या?

'अनेकता में एकता' का हमारा वैशिष्ट्य हमारे सामाजिक जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ है। यह उस एक दिव्य दीपक के समान है, जो चारों ओर विविध रंगों के शीशों से ढका हुआ हो। उसके भीतर का प्रकाश दर्शक के दृष्टिकोण के अनुसार भांति-भांति के वर्णों एवं छायाओं में प्रकट होता है। यही उस अभिव्यक्ति की विचित्र विविधता है, जिससे कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है, वरन् यह बहुराष्ट्रीय देश है।

यदि हम अपने समाज-जीवन के इस सही मूल्यांकन को ग्रहण करें तो इसकी वर्तमान व्याधियों का भी विश्लेषण कर सकेंगे तथा इनके उपचार के लिए उपायों की भी योजना करने में समर्थ होंगे।

एकम् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति

हमारे लचीले धर्म के स्वरूप की जो प्रथम नैसर्गिक विशेषता बाहरी व्यक्ति की दृष्टि में आती है, वह है पंथ एवं उपपंथों की आश्चर्यजनक विविधता। यथा-शैव, वैष्णव, शाक्त, वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत, आर्यसमाज आदि। इन सभी उपासनाओं के महान आचार्यों एवं प्रवर्तकों ने उपासना के विचित्र रूपों की स्थापना

हमारे लोक-मस्तिष्क की विविध योग्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रखकर ही की है। किंतु अंतिम निष्कर्ष के रूप में सभी ने इस चरम सत्य को लक्ष्य के रूप में प्राप्त करने के लिए कहा है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, ईश्वर अथवा शून्य या महाशून्य तक के विविध नामों से पुकारा जाता है।

देखिए, यह श्लोक किस सुंदरता से हिंदू-दर्शन के विविध पंथों में स्वरैक्य एवं एकत्व का समावेश करता है-

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछतफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।

(रामभक्त हनुमान, हनुमन्नाटकम् अंक १ : ३)

(वह, जिसकी उपासना शैव 'शिव' मानकर करते हैं, वेदांती जिसे 'ब्रह्म' मानकर उपासते हैं, बौद्ध जिसे 'बुद्ध', और तर्क-पटु नैयायिक 'कर्त्ता' मानकर आराधना करते हैं, एवं जैन लोग, जिसे 'अर्हत्' मानकर, तथा मीमांसक, जिसे 'कर्म' बताकर उपासना करते हैं, वही 'त्रिलोकीनाथ हरि' हमारी इच्छाओं को पूरा करें।)

व्यक्ति को उपासना स्वातंत्र्य का यह अधिकार इसलिए प्राप्त था कि प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल आध्यात्मिक भोजन चुनने का स्वातंत्र्य हो।

किंतु उपासना-मार्ग की विविधताओं का अर्थ समाज का विभाजन नहीं था। एक ही धर्म के ये सभी अविभाज्य अंग समाज की धारणा करते थे। हमारे समाज के इन सभी अंगों में वही जीवन-दर्शन, वही लक्ष्य, वही बाह्य स्थूल पर आंतरिक आत्मा का प्रभुत्व, वही पुनर्जन्म में विश्वास, वही ब्रह्मचर्य, सत्य आदि कतिपय गुणों की पूजा, वही पवित्र संस्कार। संक्षेप में वही जीवन-रक्त हमारे समाज के इन अंगों में प्रवाहित होता रहा। वे शुद्ध अद्वैत के संस्थापक श्री शंकराचार्य ही थे, जिन्होंने पंचायतन पूजा का निर्देश किया। ईश्वर के साक्षात्कार हेतु विभिन्न पंथों के स्वरैक्य का यह कितना भव्य उदाहरण है। पंथ-विभेद के कारण हमारे देश में भूतकाल में कभी रक्तपात अथवा अपवित्र प्रतिस्पर्धा नहीं हुई। यहां तक कि जब किसी ने अपने मत का मंडन अथवा दूसरों के मतों के खंडन का प्रयास किया, तब भी सिर-फुटव्वल नहीं हुई। इस आंतरिक एकत्व की गंभीर धारा का शिवमहिम्न स्तोत्र में अत्यंत सुंदर चित्रण हुआ है-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

(शिवमहिम्न स्तोत्रम्, ७)

(जिस प्रकार सभी जलों का गन्तव्य समुद्र होता है, वैसे ही हे ब्रह्मा ! सभी मनुष्यों के तुम एकमात्र लक्ष्य हो। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार तुम्हारी पूजा के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। चाहे वह रास्ता सीधा हो या टेढ़ा। यह विचार करते हुए कि जिन विभिन्न मार्गों, जैसे वेद, सांख्य, योग, शैव और वैष्णव के विश्वासों में वही मार्ग श्रेष्ठ या पूर्ण है।)

प्राचीन वैदिक काल से लेकर आज तक हमारी यही परंपरा रही है। हमारे सभी आध्यात्मिक आचार्यों ने धर्म के इसी सर्वव्यापी अद्वितीय स्वरूप को ग्रहण किया है। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है 'जितने दृष्टिकोण, उतने मार्ग' व्यक्तियों की विविध वृत्तियों एवं रुचि के अनुसार अनेक पंथ और मत हो सकते हैं।

इनमें से अनेक पंथों एवं दर्शनों के निर्माण से एक अन्य लाभदायक उद्देश्य की भी सिद्धि हुई है। वे हमारे समाज की अखंडता को बनाए रखने के लिए तथा इसकी रक्षा के लिए भी सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए, सिख पंथ का उदय पंजाब में इस्लाम के प्रसार को रोकने के लिए हुआ। आगे चलकर समय की आवश्यकता को समझते हुए दशम गुरु गोविंदसिंह ने अपने शिष्यों को सशस्त्र किया तथा इन्हें राष्ट्रीय योद्धाओं के एक सैन्यदल में परिवर्तित कर दिया। जब ईसाई धर्म-प्रचारक हमारे पश्चिमी समुद्र तट पर लोगों को अपने संप्रदाय में सम्मिलित करने के लिए निज के दयामय ईश्वर के नाम पर लोगों की अनुनय कर रहे थे, उस समय इस विदेशी विष को विफल करने के लिए हमारे धर्म की भक्ति के एक स्वरूप को लेकर भी माधवाचार्य का उदय हुआ। रामानुजाचार्य एवं बसवेश्वर के प्रयत्न भी समाज में प्रवेश कर रहे ऊंच-नीच के भेद को मिटाकर ईश्वर-भक्ति के सामान्य बंध में सभी लोगों को बांधने के लक्ष्य से प्रेरित थे।

सेमेटिक (सामी) जातियों के प्रभाव

यह हमारा दुर्भाग्य है कि अपने धर्म का यह सर्वव्यापी स्वरूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इस दुःखपूर्ण अवस्था के कई कारण हैं। प्रतीत होता है कि पश्चिम द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले धर्म के संकुचित दृष्टिकोण ने हमारे ऊपर

अपना प्रभाव दिखाया है। इन सभी सेमेटिक यहूदी, मुसलमान और ईसाई धर्मों में पूजा की एक ही पद्धति के लिए निर्दिष्ट है। इन पंथों में एक पैगंबर, एक धर्म-पुस्तक तथा एक ईश्वर होता है। इनकी दृष्टि में मनुष्यात्मा के मोक्ष के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं होता। इस प्रकार की मान्यता कितनी मूर्खतापूर्ण है, यह जानने के लिए बहुत बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविक रूप से धर्म के इस सेमेटिक रूप ने असहिष्णुता को जन्म दिया तथा धर्म के नाम पर लोगों को विभक्त किया। अतएव कुछ पाश्चात्य देशों, जिन्हें इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता से उत्पन्न हुए विद्वेष से घृणा हो गई थी, ने धर्म को ही निकाल बाहर करने का अंतिम कदम उठाया। रूस के द्वारा ग्रहण किए गए साम्यवादी और समाजवादी दर्शन इसी विद्रोह के चरम उदाहरण हैं।

इसका प्रभाव हमारे देश पर भी हुआ। लोग भूल गए कि पंथगत विरोध की संकुचित भावनाएं यहां कभी नहीं रहीं। सभी पाश्चात्य विकास की उपलब्धियों का अंधानुकरण करते हुए वे भी धर्म का उपहास करने लगे और ऐसा मानने लगे कि अपने जीवन में इसका कोई स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे श्रेष्ठ एवं कल्याणकारक बंध भंग होने लगे, जो लोगों को एक सूत्र में बांधे रहते थे तथा उन्हें उच्चतर जीवन के लिए प्रेरणा देते थे।

वर्तमान विपर्यय

इसके विनाशकारी परिणाम आज हमारे सामने हैं। पारस्परिक उपहास की कहानियां संपूर्ण देश में चारों ओर यहां तक प्रचलित हो गई हैं कि इन्होंने घरेलू विनोद का रूप धारण कर लिया है। एक संप्रदाय द्वारा दूसरे संप्रदाय पर प्रभुत्व और साम्राज्यवाद लादने की चर्चा होती है। यदि हम प्रभुत्व की भाषा में बोलें तो हमें कहना चाहिए कि दक्षिण के दार्शनिक सिद्धांतों के साम्राज्यवाद से उत्तर कुचला जा रहा है, क्योंकि सभी दार्शनिक सिद्धांत जो हमारे संपूर्ण देश में तथा जो उत्तर के कोने-कोने में परिव्याप्त हैं, उन्हीं महान आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित हुए हैं, जिनका जन्म दक्षिण में हुआ। अनुपम अद्वैत दर्शन के प्रवर्तक शंकर, विशिष्टाद्वैत की भक्ति के आलोक के साथ रामानुज, ईश्वर और जीव की अति उच्च द्वैत भावना के साथ मध्व तथा वल्लाभाचार्य , जिन्होंने विश्व को ईश्वर के ही परमानंदमय स्वरूप में देखा, वे सभी प्रभृति आचार्यगण दक्षिण के थे। तो क्या हमें कहना चाहिए कि दक्षिण दार्शनिक रूप से समस्त देश पर अधिकार किए हुए है? यह कथन कितना असंगत है? अरे, क्या मेरा शीश मेरी टाँगों पर अधिकार किए हुए है? क्या दोनों ही एक शरीर के समान भाव से अंग नहीं हैं?

भौगोलिक दृष्टि से 'उत्तर' कहा जाने वाला भाग हमें उतना ही प्रिय है, जितना कि 'दक्षिण' कहा जाने वाला भाग। गंगा हमारे लिए उतनी ही पावन है, जितनी कावेरी। हिमालय की अमरनाथ गुफा में हिम-निर्मित भव्य शिवलिंग हम सभी की भक्ति का उतना ही अधिकारी है, जितना रामेश्वरम् का शिवलिंग। दूरी एवं मत-मतांतरों के समस्त बाह्य अवरोधों को अतिक्रांत कर हम निसर्गत: एक हैं। आज एकता का यह जीवन-रस शुष्क हो गया है। इसीलिए हमारे धर्म के महान् वृक्ष के पत्ते व शाखाएं सूख रहे हैं, पृथक् हो रहे हैं।

दूसरे, 'हिंदू' नाम, जो हमारे सर्वव्यापक धर्म का बोध कराता था, आज अप्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। लोग अपने को हिंदू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। इस प्रकार वह स्वर्णिम सूत्र, जिसमें ये सभी विविध आभायुक्त आध्यात्मिक मोती पिरोए हुए थे, छिन्न हो गया है तथा विविध पंथ एवं मत केवल अपने ही नाम पर गर्व करने लगे हैं और अपने को हिंदू कहलाने से इनकार करने लगे हैं।

कुछ सिख, जैन, लिंगायत तथा आर्यसमाजी अपने को हिंदुओं से पृथक् घोषित करते हैं। कुछ प्रमुख सिख नेता भाषायी प्रांत (पंजाबी सूबे) के बहाने सिखों के एक अलग सांप्रदायिक राज्य की मांग के लिए आंदोलन कर रहे हैं। अपनी मांग को पुष्ट करने के लिए इनमें से कुछ तो इतने निम्न स्तर पर आ गए हैं कि अलग मुस्लिम राज्य, अर्थात् पाकिस्तान का औचित्य सिद्ध करने लगे हैं। वे इस सीमा तक जा चुके हैं कि पाकिस्तान की सहानुभूति एवं सहायता भी चाहने लगे हैं और विभाजन के दिनों में पाकिस्तानियों द्वारा हुए बर्बर अत्याचारों तथा अपमानों को विस्मृत कर बैठे हैं।

इससे अधिक दुर्भाग्य की बात भला और क्या होगी कि वर्तमान सिख-नेता अपने पवित्र पंथ को देश और धर्म के कट्टर विनाशकों के समकक्ष ला खड़ा करने में कमर कसते हैं? इतना ही नहीं, वे उन्हीं शत्रुओं से मदद पाने के इच्छुक हैं, जिनके आक्रमणों से मुकाबला कर हमारी रक्षा करने के लिए उसका जन्म हुआ था। सिखों के नामधारी पंथ के प्रधान ने कहा था, 'जो व्यक्ति निष्ठावान हिंदू नहीं है, सिख भी नहीं हो सकता। वह उन महान् पुरुषों का शिष्य नहीं हो सकता, जिन्होंने इस मातृसमाज एवं मातृ-धर्म, अर्थात् हिंदू के लिए अपना रक्त बहाया था।' श्री गुरु गोविंदसिंह ने कहा था- 'सच्चा सिख वही है, जो वेदों और भगवद्गीता में विश्वास रखता है तथा राम और कृष्ण को पूजता है।' गुरु के इन शब्दों के प्रति विशुद्ध निष्ठावान ही सच्चा सिख है। उन गुरुओं ने हिंदू-समाज की रक्षा के लिए वीरों का यह दल गठित किया और उन्हें 'सिख' की संज्ञा दी, क्योंकि वे निष्ठावान शिष्य थे,

शीलवान और पराक्रमी थे। इसीलिए इन्हें 'खालसा' कहा अथवा अकाल-काल से परे जो सत्य है, इसका पुजारी होने के नाते उन्हें 'अकाली' कहा।

वास्तव में आज भी इनका संपूर्ण जीवन इन्हीं विचारों एवं अनुभूतियों से परिव्याप्त है, जिनसे कि शेष हिंदुओं का। अभी वर्तमान काल में दो शताब्दी पूर्व प्रत्येक हिंदू परिवार से एक पुत्र 'सिख' नाम धारण करने वाला हुआ करता था। हमारे परस्पर रक्त-संबंध आज तक चले आ रहे हैं। यह तो केवल राजनैतिक आकांक्षाओं का विष है जिसने इस विघटन के दैत्य को खड़ा किया है अन्यथा वह तो हिंदुत्व की निष्ठासंपन्न एवं पराक्रमी, सशस्त्र भुजा थी।

हिंदू-विरोधी प्रशासन

यहां तक कि हमारे कर्णधार और प्रमुख व्यक्ति भी सिखों की इस पृथकता की घातक भावना के अनजाने शिकार हो गए। इन्हें हम प्राय: यह कहते हुए सुनते हैं कि हिंदुओं और सिखों को मित्रता एवं एकता से रहना चाहिए। वे यह विचार नहीं करते कि इतने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों के शब्दों का प्रयोग शेष हिंदुओं से सिखों के पृथकत्व पर स्वीकृति की मुद्रा अंकित कर देता है, जिससे उनके संबंधों में और भी कटुता आ जाती है। स्पष्ट रूप से हमारे विधान में अंकित है कि हिंदू के अंतर्गत ही सिख, जैन और बौद्ध संप्रदाय हैं। इसका अर्थ है कि 'हिंदू और सिख' शब्द का उच्चारण करना विधान के विरुद्ध है। कितना दुर्भाग्य है कि बड़े लोग भी अनजाने में ही इस प्रकार के विधान का अपमान करें।

इसी प्रकार हरिजन सेवक संघ के एक पाक्षिक पत्र में 'हिंदू और हरिजन' शब्दों का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक किया गया था।

वर्तमान सरकार की नीति ने आग में घी डालने का काम किया है। हमारे वर्तमान शासकों के लिए तो 'हिंदू' शब्द ही अभिशप्त हो गया है। जो भी हिंदू-समाज को छोड़कर अहिंदू अल्पसंख्यक के रूप में अपने को प्रदर्शित करता है, वह हमारी सरकार का विशेष अनुग्रह-पात्र बन जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे अनेकों संप्रदाय स्वयं हो अहिंदू कहलाने का अधिकार प्रतिपादित करने की एक-दूसरे से होड़ लगाए हुए हैं तथा धन, सत्ता एवं विशेष अधिकार प्राप्त करने के लिए अपने हाथ फैलाए हैं। विशेष रूप से जब वे देखते हैं कि हमारे नेता अहिंदुओं तथा हिंदू-विरोधी जातियों को विशेष राजनीतिक प्रतिष्ठा देने के लिए उद्यत हैं, तो उनकी विघटनकारी वृत्ति तथा हिंदू-विरोधी भावना और अधिक जागृत हो जाती है। वे देखते हैं कि अहिंदू होने के कारण ही मुसलमानों ने अपना एक स्वतंत्र राज्य प्राप्त कर लिया

है। ईसाई भी अपना स्वतंत्र 'नागालैंड' प्राप्त करने वाले हैं। इन ईसाई संस्थाओं को, जो आज भी १५ अगस्त के दिन यूनियन जैक फहराती हैं तथा धर्मोन्मादी प्रचार करती हैं, सरकारी सहायता बंद हो जाने का भय नहीं है। इसके विपरीत, यदि कोई हिंदू शिक्षा संस्था हिंदू-प्रार्थनाएं तथा गीता के श्लोकों का पाठ आरंभ करती है, तो सरकार तुरंत हस्तक्षेप कर वित्तीय सहायता बंद करने की धमकी देती है।

यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे ही नेता, हमारे ही लोग, हमारे समाज की एकता की जड़ें खोदते हैं और इस अभेद की भावना को नष्ट करते हैं, जिसने भूतकाल में सभी विविध संप्रदायों को भेदरहित, पूर्ण इकाई के रूप में संगठित रखा था।

पूर्वकालीन गौरव

हमारे समाज की एक अन्य विशेषता थी इसकी वर्ण-व्यवस्था। इसे 'जातिवाद' कहकर इसकी भर्त्सना की जाती है। हमारे लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि वर्ण-व्यवस्था की चर्चा मात्र अप्रतिष्ठाकारक है। इसमें निहित समाज-व्यवस्था को वे सामाजिक विभेद के रूप में ग्रहण करने की भूल करते हैं। वर्ण-व्यवस्था में ऊंच-नीच की भावना का प्रवेश तुलनात्मक दृष्टि से सांप्रदायिक ही है। अंग्रेजों ने अपनी 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के द्वारा इस विरोध को और भी प्रोत्साहन दिया। किंतु अपने मूल रूप में इस समाज-व्यवस्था में घटकों के मध्य बड़े-छोटे अथवा ऊंच-नीच की भावना को कोई स्थान नहीं है। इतना ही नहीं, गीता हमें बताती है कि जो व्यक्ति अपने नियत कर्तव्यों का पालन नि:स्वार्थ भाव से करता है, वह अपने कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:। (गीता १८/४६)

(अपने कर्मों के द्वारा उसकी अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करते हैं।)

समाज के संबंध में यह भावना रखी गई है कि वह उस सर्वशक्तिमान का चतुर्दिक अभिव्यक्त स्वरूप है, जो सभी के लिए अपनी-अपनी क्षमता एवं पद्धतियों से पूजनीय है। यदि ब्राह्मण विद्या दान के द्वारा बड़ा हो जाता है, तो शत्रुओं का नाश करने से क्षत्रिय समान प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। वैश्य भी कम महत्त्व का नहीं, जो कृषि और व्यापार के द्वारा समाज को सुस्थिर रखता है अथवा शुद्र भी कम नहीं है, जो अपने कला-कौशल से समाज की सेवा करता है। इन सबके परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर रहने तथा साथ-साथ परस्पर के तादात्म्य भाव से इस समाज-व्यवस्था का निर्माण हुआ था।

गलत दिशा

वर्तमान काल में इसका अधोमुखी विपर्यस्त स्वरूप देखकर तथा गलती से इसे ही हमारे समाज का मूल स्वरूप समझते हुए कुछ लोग यह प्रचार करते कभी थकते नहीं कि इतनी शताब्दियों से हमारे पतन के मूल में हमारी यह वर्ण-व्यवस्था ही है। किंतु क्या यह व्याख्या इतिहास सिद्ध हो सकती है? जातियां तो उस प्राचीन काल में भी थीं और हमारे वैभवशाली राष्ट्रजीवन के सहस्र वर्ष में बराबर रही हैं। कहीं एक भी उदाहरण नहीं हैं कि इन्होंने हमारे समाज की एकता और प्रगति में बाधा डाली हो। प्रत्युत इन्होंने हमारे सामाजिक ऐक्य के संपादन में महान् योगदान ही किया है।

गत एक सहस्र वर्षों में जब हमारा राष्ट्र विदेशियों के आक्रमण का शिकार बना, एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो सके कि हमारे राष्ट्र की जिस फूट ने विदेशी आक्रांताओं को सहायता दी, उसके मूल में ये जाति-भेद थे। मुहम्मद गोरी के द्वारा दिल्ली के हिंदू राजा पृथ्वीराज की पराजय का कारण जयचंद था जो कि उसका जातिबंधु था। जिस व्यक्ति ने जंगलों में राणाप्रताप का पीछा किया, वह मानसिंह भी उनकी जाति का ही व्यक्ति था। शिवाजी का विरोध उनकी जाति के ही लोगों द्वारा हुआ। सन् १८१८ में पुणे में हिंदू और अंग्रेजों के अंतिम मोर्चे पर पेशवा का सजातीय 'नातु' नाम का ही एक व्यक्ति था, जिसने हिंदू ध्वजा को गिराकर अंग्रेजी झंडे को फहराया था। यथार्थ में इस प्रकार के देशद्रोहियों की एक जमात रही है, जो विभिन्न कारणों से प्रलोभनों की शिकार हो जाती थी। जाति-भेद कभी भी इसका कारण नहीं रहा।

यदि जाति-व्यवस्था ही हमारे दौर्बल्य का मूल कारण होती तो हमारा समाज इन समाजों, जिनमें जातियां नहीं थीं, की तुलना में अति सरलता से विदेशी आक्रमणों के समक्ष पराभूत हो गया होता। किंतु इतिहास कहता है कि पैगंबर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् अरब से उनके अनुयायी एक के पश्चात् दूसरी लहर के समान निकल पड़े और अपनी रक्तस्नात तलवारों के साथ भू-मंडल के एक बहुत बड़े भाग को पादाक्रांत कर डाला। अनेकों साम्राज्यों-ईरान, मिस्र, रोम, यूरोप तथा चीन तक सभी-जो भी उनके मार्ग में आए, उनके पैरों के नीचे कुचले गए। उन देशों के लोगों में जातियों और उपजातियों के भेद नहीं थे। मुसलमानों के विनाशकारी आक्रामण की आंधी ने उन सभी शक्तिशाली साम्राज्यों का वैभव, संपत्ति एवं यशस्विता धूल में मिला दी और उन्हें ऐसा नष्ट कर दिया कि उनमें से अनेक तो पुनः विश्व मंच पर कभी प्रकट ही नहीं हो सके।

इसी उन्माद और आवेश की लहरें हिंदुस्थान के तटों पर भी टकराईं, किंतु यहां का दृश्य कुछ दूसरा ही रहा। हमारे लोगों ने इस भीषण आक्रमणों का दृढ़ता एवं

वीरता से सतत एक हजार वर्ष तक सामना किया और उसके द्वारा विनष्ट होने के स्थान पर अंत में हम शत्रु की समस्त शक्तियों को कुचलकर उसे पूर्ण रूप से नष्ट करने में सफल हुए। हमारे समाज की विजयिष्णु भावना के प्रतीकस्वरूप मुसलमानों की शक्ति का सिंहासन दिल्ली में टुकड़े-टुकड़े का ध्वस्त कर दिया गया। अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु अंतिम विजय तक सतत भीषण संघर्ष चालू रखने के इन शताब्दियों के लंबे काल में यह स्मरण रहे कि जातियों का अस्तित्व बना हुआ था।

इतिहास हमें बताता है कि हमारे देश के पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भाग, जहां बौद्ध प्रभाव के कारण जाति-व्यवस्था भंग हो गई थी, मुसलमानों के भीषण आक्रमण के सरलता से शिकार हो गए। गांधार, जिसे अब 'कंदहार' कहते हैं, पूर्ण रूप से मुसलमान हो गया। पूर्वी बंगाल में भी बहुत अधिक धर्म-परिवर्तन हुआ। किंतु दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश के भू-भाग, जो जाति-पांति की मर्यादाओं के पालन में अत्यंत कठोर एवं पुरातनवादी माने जाते थे, मुस्लिम शक्ति एवं धर्मांधता के कई शताब्दियों तक गढ़ रहते हुए भी हिंदू-बहुल बने रहे। हम जानते हैं कि शिवाजी के समय तक तथाकथित निम्न जाति के लोगों ने भी स्वराज्य को पुनर्जीवन प्रदान करने के कार्य में एक महान् चिरस्मरणीय पराक्रम का अध्याय प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार इतिहास में हमें चित्र के दोनों पक्ष स्पष्ट देखने को मिलते हैं। एक ओर तो अनेकानेक जातियों से संकुचित हिंदू-समाज दो सहस्र वर्षों से भी अधिक काल से यूनानियों, शकों, हूणों, मुसलमानों तथा यूरोपवासियों के विध्वंस का सामना करता हुआ अमर और अजेय बना हुआ है एवं आज भी रामकृष्ण, विवेकानंद, तिलक और गांधी उत्पन्न करने की शक्ति से संपन्न है। जबकि दूसरी ओर तथाकथित बिना जातियों वाले समाज उनके एक ही झटके से चूर-चूर होकर पुन: कभी न उठने के लिए धूल में मिल गए।

आग में घृत

निस्संदेह आज जाति-व्यवस्था सभी प्रकार से भ्रष्ट हो गई है। शताब्दियों की इस विकृति के साथ-साथ हमारी राजनीति में एक नई वस्तु और प्रवेश कर गई है, जिसने जातियों की इस विकृति एवं कठोरता को और भी अधिक गंभीर बना दिया है, यह वस्तु हमारी राजनीति में उन्हीं व्यक्तियों द्वारा लाई गई है, जो इस जाति- व्यवस्था की सदैव आक्रोशपूर्ण भर्त्सना करते रहे हैं। चुनाव के अवसर पर प्रत्याशियों के चुनाव में उनका मुख्य ध्यान जाति पर रहता है और उसी के आधार पर मतदाताओं से मतदान की प्रार्थना की जाती है। जाति-वैमनस्य और विरोध के बढ़ते हुए इस आवेग

के मूल में है जाति के नाम पर किया जाने वाला यह नग्न स्वार्थ और सत्ता-पिपासा का आह्वान। इन भेदभावों को और अधिक चौड़ा करने के लिए राज्य-यंत्र का पापपूर्ण प्रयोग किया जाता है। हमारे लोगों के कुछ वर्गों को हरिजन, परिगणित जाति, परिगणित वर्ग आदि नाम देकर उनके लिए कुछ विशेष सुविधाओं का प्रदर्शन कर धन के लोभ द्वारा उन्हें अपना दास बनाने के लिए उनमें विघटनकारी चेतना, ईर्ष्या एवं विरोध उत्पन्न किए जाते हैं।

इन जाति-व्यवस्था विरोधी उत्साही वीरों में ऐसे नगण्य ही होंगे, जो अंतरतम में इस एकता के भाव की अनुभूति करते हों, जो आज की इन सभी विकृतियों को अतिक्रांत कर सकती है। जाति विरोधी निंदोक्तियां उनके लिए एक आवरण बन गई हैं, जिनकी आड़ में वे अपने जाति-जनों के बीच अपनी स्थिति को सशक्त बनाते हैं। यह विष हमारी राजनीति में कहां तक फैल गया है, इसका पता कुछ वर्षों पूर्व घटित हुई एक घटना से लग सकता है। पुणे के निकट एक विजय-स्तंभ है, जिसे सन् १८१८ में अंग्रेजों ने पेशवाओं पर अपनी विजय की स्मृतिस्वरूप बनवाया था। एक प्रमुख हरिजन नेता ने एक बार इसी स्तंभ के नीचे अपने जाति-बंधुओं को संबोधित किया। उसने घोषणा की कि यह स्तंभ ब्राह्मणों पर उनकी विजय का प्रतीक है, क्योंकि उन्होंने ही अंग्रेज की अधीनता में लड़कर ब्राह्मण पेशवाओं को परास्त किया था। एक प्रमुख नेता के मुख से गुलामी के इस चिह्न को विजय का प्रतीक कहा जाना एवं अपने ही बंधुओं से विदेशियों के दास के रूप में युद्ध को एक महान कर्तृव्य के रूप में वर्णन करना कितना हृदयद्रावी है। घृणा के वशीभूत होकर वह कितना अंधा हो गया होगा? वह एक सामान्य सत्य भी नहीं देख पाया कि कौन विजयी हुए और कौन पराजित। यह कैसी विकृति है?

अनेक तार, एक स्वर

हमारे राष्ट्रीय उत्तराधिकार की विविधता भाषाओं के क्षेत्र में भी व्यक्त होती है। अपने देश तथा समाज की विशालता को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि हमारे देश में कोई व्यक्ति अपने स्थान से पैदल यात्रा आरंभ करे और एक प्रांत से दूसरे प्रांत के लिए चले तो भाषा में प्रत्येक दस-पंद्रह मील पर क्रमिक परिवर्तन, एक भाषा से दूसरी भाषा में एक स्वाभाविक रूपांतर वह अनुभव करेगा तथा सीमा पर उन भाषाओं को एकीभूत होते देखेगा। एक ही भाषा में स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं की निकटता के कारण शब्दों के प्रयोग एवं अभिव्यक्ति में असामान्य अंतर हो जाता है। इससे यही प्रकट होता है कि ये सभी भाषाएं आंतरिक रूप से एक ही हैं। यह इंद्रधनुष में

क्रमशः प्रकट होने वाले रंग के समान हैं। यद्यपि वह अति दैदीप्यमान विविध रंगों में उदित होता है, किंतु वह होती तो सूर्य की किरण ही हैं, जो इन मोहक परिधानों को धारण करती है। हमारी भाषाओं की यही विशिष्ट महत्ता है।

देश की कोई भाषा लें, इसमें हमें वही उदात्त भावनाएं मिलेंगी। समान प्रेरणादायी विचार एवं आदर्श हमारे सभी भाषाओं के वाङ्मय में प्रतिफलित होते हैं। श्री रामचंद्र का जो श्लाघ्य व्यक्तित्व हमें वाल्मीकि के द्वारा संस्कृत में मिलता है, वही हिंदी में तुलसी तथा तमिल में कंबन के द्वारा प्राप्त होता है। यदि सबमें से एक ही प्रकाश निकलता है तो माध्यम के परिवर्तन से क्या होता है? यह तो ठीक उसी प्रकार है, जैसे कोई व्यक्ति भांति-भांति के सुंदर परिधान, जो उसके चरित्र एवं संस्कृति के अनुकूल हों, धारण करें। उपर्युक्त कारण से मनुष्य नहीं बदलता।

आजकल हम तमिल भाषा के विषय में बहुत अधिक सुन रहे हैं। तमिल का पक्ष ग्रहण करने वाले कुछ लोग कहते हैं कि यह तो नितांत भिन्न भाषा है, जिसकी अपनी पृथक् संस्कृति है। वे वेदों में विश्वास नहीं करते और कहते हैं कि तिरुक्कुरल हमारा पृथक दिव्य ग्रंथ है। तिरुक्कुरल निस्संदेह एक महान स्तुत ग्रंथ है, जो हजार वर्ष प्राचीन है। इसके महान रचयिता संत तिरुवल्लुवर थे। हम उनका स्मरण अपने प्रातःस्मरण में करते हैं। इस पुस्तक का विश्वसनीय अनुवाद प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री वी.पी.एस. अय्यर द्वारा किया गया है। लेकिन इसमें कौन सा विषय प्रतिपादित हुआ है? वही प्राचीन चतुर्विध पुरुषार्थ इसमें आदर्श के रूप में वर्णित है। केवल मोक्ष का अध्याय आरंभ में आता है। वह पूजा के किसी विशेष प्रकार का प्रतिपादन नहीं करता और न ईश्वर के किसी विशिष्ट नाम का, वरन् मोक्ष के शुद्ध आदर्श का निरूपण करता है। इस प्रकार यह कोई सांप्रदायिक पुस्तक नहीं है। महाभारत भी सामाजिक जीवन के इसी चित्र को श्लाघनीय कहता है, जिसे तिरुक्कुरल उपस्थित करता है। हिंदू के अतिरिक्त यह सामाजिक जीवन की अनुपम दृष्टि और कहीं प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार यह विशुद्ध हिंदू ग्रंथ है, जिसमें महान् हिंदू विचारों का एक विशुद्ध हिंदू भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

वस्तुतः हमारी सभी भाषाएं, चाहे वह तमिल हो या बंगला, मराठी हो या पंजाबी, हमारी राष्ट्रभाषाएं हैं। वे सभी भाषाएं और उपभाषाएं खिले हुए पुष्पों के समान हैं, जिनसे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की वही सुरभि प्रसारित होती है। इन सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत भाषाओं की रानी देववाणी संस्कृत रही है। अपने वैभव एवं पावन साहचर्य के कारण केवल वही हमारे राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के लिए एक सर्वमान्य माध्यम के रूप में कार्य कर सकती है। संस्कृत का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त

करना कुछ कठिन भी नहीं है। अभी भी संस्कृत हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक महान् संयोजक सूत्र है। किंतु दुर्भाग्य से आज उसका व्यवहार सामान्य रूप से नहीं होता और न हमारे वर्तमान शासकों में वह नैतिक गर्व एवं चरित्र-बल ही है, जो उसे प्रचलित भाषा बना दे।

अंग्रेजी अथवा हिंदी ?

कुछ लोग हैं, जो चाहते हैं कि अंग्रेजी सदैव के लिए हमारी देश-भाषा बनी रहे। मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषा एक सजीव माध्यम होती है। विदेशी भाषा अंग्रेजी अपने साथ-साथ अंग्रेजी संस्कृति एवं जीवन के अंग्रेजी प्रतिमान भी अवश्य लाएगी। विदेशी जीवन-प्रतिमानों की जड़ यहां जमने देना अपने निज की संस्कृति एवं धर्म की जड़ें खोदना होगा। शताब्दियों का विदेशी शासन हमारे महान् राष्ट्र को नष्ट करने में इसी कारण असफल रहा क्योंकि हमने अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार को अपनी भाषाओं को माध्यम से सुरक्षित रखा। अंग्रेजी को स्वीकार करने का अर्थ अपनी जीवनी-शक्ति के मुख्य स्रोतों को क्षीण करना होगा। अंग्रेजों के राज्य के साथ आई अंग्रेजी हमारे ऊपर कृत्रिम रूप से लादी गई है। अब हम स्वतंत्र हो चुके हैं, हमें इसे उतार फेंकना चाहिए। अंग्रेजी को वही स्थान देते रहना, जो इसे विदेशी शासनकाल में प्राप्त था, मानसिक दासता का लक्षण है और संसार की दृष्टि में हमारे राष्ट्रीय सम्मान के लिए कलंक है।

इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं कि दो ठोस कारणों से अंग्रेजी यहां से जाएगी ही। प्रथम कारण यह है कि अंग्रेजी शासन-काल में हमारे लोगों में अंग्रेजी पढ़ने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति इसलिए हो गई थी कि वह शासकों की भाषा है। इसमें निपुण हो जाओ और अंग्रेज का भी सामना उसकी अपनी ही भाषा में करो। अब अंग्रेजों के चले जाने के साथ-साथ वह प्रेरक कारण भी चला गया। द्वितीय कारण यह कि अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी का ज्ञान न होना सरकारी नौकरी में किसी आर्थिक लाभप्रद पद पर प्रवेश के लिए निषेध ही था। बिना अंग्रेजी के ज्ञान के सर्वोत्तम मेधासंपन्न व्यक्ति का जीवन भी वीरान ही बना रहता था। आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु सामाजिक जीवन में भी इसकी यही दशा रहती थी। अब यह भय भी धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी शासन का एक अंग थी। अब कितनी ही कृत्रिम प्राणवायु उसे दी जाए, अधिक दिनों तक वह जीवित नहीं रह सकती, क्योंकि उसका मुख्य आधार टूट चुका है।

संपूर्ण देश की एक भाषा की समस्या के निराकरण के लिए जब तक संस्कृत स्थान नहीं ले लेती, सुविधा हेतु हमें हिंदी को प्रधानता देनी पड़ेगी। स्वाभाविक रूप

से हम हिंदी के इस स्वरूप को प्राधान्य देंगे, जिसका उद्गम संस्कृत से है एवं जो विज्ञान तथा शिल्प-विषयक परिभाषाओं के ज्ञान के क्षेत्रों में अपने भावी विकास के लिए संस्कृत से ही पोषण प्राप्त करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल हिंदी ही राष्ट्रभाषा अथवा प्राचीनतम भाषा है अथवा अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध है। वास्तव में तमिल अत्यंत समृद्ध एवं प्राचीनतम भाषा है। किंतु हिंदी हमारे बहुत बड़े जनसमुदाय की बोलने की भाषा बन चुकी है तथा सीखने एवं बोलने में हमारी अन्य सभी भाषाओं की अपेक्षा सरल है। यदि हम काशी अथवा प्रयाग कुंभ या अन्य किसी मेले के अवसर पर जाते हैं, जहां लोग सुदूर उत्तर, दक्षिण, पूर्व एवं पश्चिम से पवित्र गंगा जी में स्नान के लिए एकत्र होते हैं, वहां यह विशाल जनसमुदाय केवल हिंदी में ही अपने भाव प्रकट कर लेता है, चाहे इनकी वह हिंदी कितनी ही अपरिष्कृत क्यों न हो।

सभी भाषाएं चिरंजीवी हों

अतएव राष्ट्रीय एकता एवं आत्मसम्मान के लिए हमें हिंदी को स्वीकार करना चाहिए तथा 'हिंदी साम्राज्यवाद' या उत्तर का शासन आदि उद्घोषों में नहीं बहना चाहिए। वास्तव में बंगला, मराठी तथा गुजराती ने अंग्रेजी शासन के होते हुए भी महान प्रगति की है। उनमें ऐसी उत्तम रचनाएं हुई हैं कि संसार के महानतम विद्वानों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की। कोई भी इस विचार को सहन नहीं करेगा कि केवल एक भाषा रखने के लिए हमारे राष्ट्र की अनेकों सुंदर भाषाएं नष्ट कर दी जाएं, जो विगत अनेक शताब्दियों से हमारे राष्ट्र की आत्मा की इतनी योग्यतापूर्वक अभिव्यक्ति करती आ रही हैं। अतएव अन्य भाषाओं के क्षेत्र में हिंदी द्वारा अतिक्रमण तथा आधिपत्य जमाने की आशंका स्वार्थी राजनीतिज्ञों के द्वारा रचित एक कल्पना मात्र ही है।

वस्तुत: हिंदी की उन्नति के साथ हमारी सभी भारतीय भाषाएं फलें-फूलेंगी। हमारी भाषाओं की शत्रु तो अंग्रेजी है। एक बार तमिलनाडु के एक प्रमुख नगर में एक वकील ने कहा 'हिंदी हमारी तमिल को नष्ट कर देगी।' तमिल क्यों नहीं बोलते जब कि इसका बोलना अनुमत है?' इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। यह बात केवल तमिल के ही संबंध में नहीं, वरन् हमारी अन्य सभी भाषाओं के संबंध में भी है।

इस प्रकार स्वराज के आगमन के पश्चात् भाषा भी विघटन का एक विषय हो गई है। भाषावार राज्यों के निर्माण ने राजनीतिज्ञ लोगों के मस्तिष्कों को भाषा-भक्ति के नाम पर संघर्षरत रखने का एक और साधन दे दिया है। यह अत्यंत विचित्र है कि अग्रगण्य लोग भी अन्य भाषाओं पर कीचड़ उछालते रहते हैं। दक्षिण के एक

अत्यंत श्रेष्ठ व्यक्ति ने एक बार सार्वजनिक सभा में कहा था कि हिंदी में केवल दो ही महान रचनाएं हैं। एक तो तुलसी की रामायण और दूसरा रेलवे टाइम टेबल। इसी प्रकार एक प्रसिद्ध मराठी नाटककार ने अपने एक पात्र से कहलवाया कि 'दक्षिणी भाषाएं? कुछ कंकड़ एक मिट्टी के पात्र में रखो, जोर से हिलाओ और वे भाषाएं सुनो।' निस्संदेह यह विनोद में ही कहा गया, किंतु इस प्रकार का विघटनकारी भोलाभाला विनोद स्थिति को अधिक बिगाड़ेगा ही।

एक बड़ी काल्पनिक कहानी

आज विरोध एवं विघटन की अनेक नवीन बातें उत्पन्न हो रही हैं। उदाहरण के लिए, आर्य-द्रविड़ विवाद अत्यंत नया और कृत्रिम है। यह इन मूढ़ विश्वासों में से एक है, जिसे अज्ञानी, सत्तालोलुप व्यक्तियों ने बड़े प्रयास से निर्माण किया है। आरंभ में इस देश में कोई भी जातिगत विभेद क्यों न रहे हों, किंतु वह समय एवं इतिहास में घटित घटनाक्रम के प्रभाव से बहुत समय पूर्व लुप्त हो चुके हैं। दो सहस्र वर्ष पूर्व देश दो हिस्सों में विभाजित माना गया था 'पंचगौड़' और 'पंचद्रविड़'। इस बात की संज्ञा में दक्षिण का समावेश होता है। यह जातीय अभिधान नहीं, वरन् प्रादेशिक है। दक्षिण के भी लोग उतने ही आर्य माने जाते थे, जितने कि उत्तर के। हमारे देश में 'आर्य' शब्द सदैव संस्कृति का बोधक रहा है, जाति का नहीं। संपूर्ण पौराणिक साहित्य में पत्नी अपने पति को 'आर्य' शब्द द्वारा संबोधित करती है। निश्चय ही वे पत्नियां अनार्य नहीं होती थीं। 'आर्य' शब्द केवल अभिजात व्यक्तित्व का भाव व्यक्त करता था। हम श्रीकृष्ण को भी भगवद्गीता में इसी अर्थ में 'आर्य' शब्द का प्रयोग करते पाते हैं। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध के प्रथम दिन अर्जुन का हृदय दुर्बल हो गया था, तब श्रीकृष्ण ने 'अनार्यजुष्टम' कहकर उसकी भर्त्सना की है, अर्थात् उसे इस भाव को अधम बताया है।

आज तो यह भी कल्पित किया जाता है कि राम और रावण का युद्ध आर्य और द्रविड़ों में युद्ध था। यह कथन हास्यास्पद है। रावण तो स्वयं संस्कृत का महान पंडित और शैव था। उसके विषय में तो यह भी कहा जाता है कि उसने सामवेद को संगीत के स्वरों में बांधा था। उसके पिता वैश्रवा एवं पितामह पुलस्त्य ब्राह्मण थे। यदि इसमें कुछ सत्य है, तो यही कि रावण दक्षिण को सता रहा था और राम ने दक्षिण के लोगों को उसके दमन से मुक्ति दिलाई।

फिर हर्ष तथा पुलकेशी के संघर्ष को भी 'उत्तर द्वारा दक्षिण पर आधिपत्यस्थापन करने का प्रयास तथा दक्षिण द्वारा उसका सफल प्रतिकार' कहा गया। किंतु पुलकेशी

कोई द्रविड़ नहीं था और तमिल तो था ही नही। उसका राज्य गोदावरी के तट पर महाराष्ट्र में प्रतिष्ठनपुर में स्थापित हुआ था, जिसे आज 'पैठण' कहते हैं। कुछ भी हो, इन दोनों राजाओं में समझौता हो गया और वे मित्र बनकर रहे। उत्तर और दक्षिण का विवाद शुद्ध सत्ताप्राप्ति की राजनीति मात्र है, जिसे वर्तमान राजनीतिज्ञों ने उठा रखा है और जिन्हें सब प्रकार के विघटन के बीज बोने के लिए वर्तमान वातावरण अत्यंत अनुकूल मिल गया है।

नवीन आविष्कार

हम यह भी देखते हैं कि ऐसे नितांत नवीन अभिधान सामान्य प्रयोग में आने लगे हैं, जो समाज के एक भाग से दूसरे भाग की असमानता को व्यंजित करते हैं। हमारे राष्ट्रजीवन के स्वाभाविक क्रम के अनुसार कुछ लोग नगरों में निवास करते हैं जो मुख्य रूप से शिक्षित, नौकरी पेशा, उद्योगों में लगे हुए श्रमिक और व्यापारी हैं। कुछ अन्य जो मुख्य रूप से कृषक हैं, ग्रामों में रहते हैं। जो कुछ शेष बच जाते हैं वे जंगलों और पहाड़ों में रहते हैं। किंतु वे वनों में रहने वाले वनवासी अब 'आदिवासी' कहे जाने लगे हैं। इसका अर्थ यह है कि अन्य लोग अनभिजात एवं कहीं बाहर से आकर यहां बस जाने वाले हैं।

नगर निवासियों एवं ग्रामवासियों के बीच भी एक कृत्रिम बाधा पैदा कर दी गई है। तथाकथित शिक्षित मनुष्य अपने को विशिष्ट वर्ग का अनुभव करता है और गांव के लोगों को असंस्कृत के रूप में नीची दृष्टि से देखता है। अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने अंग्रेज स्वामी के समान वेष-भूषा धारण कर उसी के समान व्यवहार करता था और साधारण लोगों को घृणा की भावना से देखता था। अंग्रेजी शासनकाल की यह कुत्सित परंपरा आज भी चालू है। आज भी अंग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने को कुछ भिन्न तथा दूसरे लोगों से कुछ उच्च अनुभव करता है। आज तो शिक्षितों के लिए आह्वान है कि वे ग्रामों को लौटें तथा ग्रामवासियों के जीवन-स्तर को उन्नत करें। किंतु वास्तव में वहां कितने जाते हैं? ग्राम्यजीवन का विचार ही उनके हृदय को भयाकुल कर देता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ग्रामों में रहने वाला सामान्य जन ही है, जो हमारे राष्ट्र का वास्तविक आधार है। भूतकाल में भी जब कभी हमारे समाज पर विदेशी आक्रमणों की विभीषिका आई तब 'असभ्य ग्रामीण' और 'निरक्षर जनसमुदाय' कहे जाने वाले ही अनेक कष्टों और बलिदानों को सहन करते हुए स्वदेश एवं स्वधर्म के उद्धार हेतु उठ खड़े हुए।

इस समय स्त्रियों के समानाधिकारों और उन्हें पुरुष की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए भी एक कोलाहल है। भिन्न लिंग होने के आधार पर विभिन्न सत्ता-केंद्रों में इनके लिए पृथक् स्थानों के संरक्षण की मांग कर एक नए वाद, अर्थात् 'लिंगवाद' को जन्म दिया जा रहा है। वह जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद, समाजवाद आदि के समान ही है।

महान् एकता की अनुभूति चाहिए

यह हमारे भूत और वर्तमान काल का चित्र है। यह दृश्य देखकर स्वाभाविक ही इस भूमि के प्रत्येक पुत्र को उमंग आना चाहिए कि अति प्राचीन सामाजिक एकात्मकता को अतीव शुद्धावस्था में पुनरुज्जीवित किया जाए। हमारा संपूर्ण समाज साक्षात् ईश्वर के रूप में हमारे हृदयों में पुन: प्रतिष्ठित होना चाहिए। वास्तव में यही एकत्व की भावना हमारी प्राचीन संस्कृति का अमर संदेश रही है। संसार के अन्य लोग ईश्वर के पितृत्व एवं मनुष्य के भ्रातृत्व तक पहुंचकर रुक गए, किंतु हम बहुत आगे तक बढ़ चुके हैं। हमने तो ब्रह्म से लेकर जड़ पदार्थपर्यंत एकत्व का अनुभव किया है।

अत: हम वह शुद्ध एकत्व की भावना पुनरुज्जीवित करें, जिसका प्रादुर्भाव इस अनुभूति के द्वारा होता है कि हम सभी इस महान पवित्र जन्मभूमि भारतमाता के पुत्र हैं। हम उन विविध असंगत स्वरों को रोक दें, जो जाने या अनजाने में उठ रहे हैं और जिनके द्वारा हममें विच्छेद एवं भ्रांति उत्पन्न होती है। हमें कहानी के उन अंधों के समान नहीं होना चाहिए जिन्होंने हाथी के विभिन्न अंगों को छूकर अपना-अपना निजी वर्णन इस पशु के स्वरूप के संबंध में प्रस्तुत किया था। एक ने इसकी टांगों को पकड़ा और खम्भे से उसकी तुलना की, दूसरे ने सूंड को स्पर्श करके सर्प के समान बतलाया तथा एक अन्य ने उसके पेट का आलिंगन कर इसे ढोल के समान बताया। इसी प्रकार औरों ने भी उस हाथी के स्वरूप का वर्णन किया। इनमें से प्रत्येक आंशिक रूप से सही था, किंतु संपूर्ण रूप से इस पशु के आकार के विषय में सभी गलत थे।

हमारे समाज-पुरुष की सभी धमनियों में एक बार यह एकता का जीवन-स्रोत प्रवाहित होना आरंभ हो जाए, तो हमारे राष्ट्रजीवन के सभी अंग स्वत: क्रियाशील हो जाएंगे तथा संपूर्ण राष्ट्र के कल्याण के हेतु मिलकर कार्य करने लगेंगे। इस प्रकार का जीवित और वर्धमान समाज अपनी प्राचीन

पद्धतियों एवं प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है और जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाला है, इसे सुरक्षित रखेगा तथा शेष को, जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसी को भी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आंसू बहाने की आवश्यकता नहीं है। यही सजीव एवं वर्धमान शरीरधारियों की प्रकृति होती है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पकी पत्तियां और सूखी टहनियां झड़ जाती हैं और इस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। ध्यान में रखने की मुख्य बात यही है कि एकता का जीवन-रस हमारे समाज के ढांचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहे। प्रत्येक पद्धति अथवा प्रतिमान उस जीवन-रस के पोषण में जितना उपयोगी है, उसी के अनुसार यह जीवित रहेगा, परिवर्तित होगा और यदि अनुपयोगी हो गया है, तो लुप्त भी हो जाएगा। अतएव वर्तमान सामाजिक संदर्भ में सब पद्धतियों के भविष्य के विषय में वाद-विवाद करना बेकार है। इस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुकार यही है कि अंतर्निहित एकता की भावना को पुनर्जीवित किया जाए और हमारे समाज में जीवन हेतु इसकी उपयोगिता की चेतना जागृत हो। अन्य सब बातें स्वत: ठीक हो जाएंगी।

जन्म से कर्तव्य

हम सब ध्यान में रखें कि यह एकता हमारे रक्त में जन्मजात एवं दृढ़निविष्ट है, क्योंकि हम सभी ने हिंदू के रूप में जन्म लिया है। आज के कुछ बुद्धिमान हमसे कहते हैं कि कोई व्यक्ति हिंदू, मुसलमान अथवा ईसाई के रूप में पैदा नहीं होता, वरन् केवल मानव के रूप में पैदा होता है। यह दूसरों के लिए चाहे सत्य हो, पर हिंदू के लिए नहीं है, क्योंकि उसका प्रथम संस्कार तभी हो जाता है, जब वह अपनी माता के गर्भ में होता है और अंतिम संस्कार तब होता है, जब उसका शरीर अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। हिंदू के लिए जो कुछ हिंदुत्व है, उसका निर्माण करने के लिए सोलह संस्कार होते हैं। वास्तव में अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न होने से भी पूर्व हम हिंदू हैं। अत: हम हिंदू के रूप में ही जन्म लेते हैं। दूसरों के विषय में यह है कि वे इस संसार में बिना नाम के मानव के रूप में जन्म लेते हैं, तत्पश्चात् सुन्नत अथवा बपतिस्मा द्वारा मुसलमान अथवा ईसाई हो जाते हैं।

अतएव अपने समाज में ऐक्य एवं एकात्मकता को पुष्ट करना जन्म से ही हमारा कर्तव्य है। वह तो हमारा सहज कर्म है। जो हमारा सहज कर्म है वह यदि दोषपूर्ण प्रतीत हो तो भी त्यागना नहीं चाहिए। गीता कहती है :

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् (१८/४८)

(अत: यह देखना हमारा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है कि वर्तमान भेदभाव एवं विरोध, जो हमारे समाज की जीवनीशक्ति को क्षीण कर रहे हैं, दूर हों और हमारा संपूर्ण समाज एक बार पुन: संगठित एवं सामंजस्य से पूर्ण हो।)

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि अन्य सभी प्रलोभन, जैसे राजनीति आदि हमारे जीवन में ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, आते-जाते हैं। राजनीति एवं अन्य तत्त्व अस्थायी तथा ऊपरी मात्र हैं। राजनीतिक दल निर्माण होते हैं और विलीन हो जाते हैं। आज भी कतिपय दल एक-दूसरे के विरुद्ध व्यूह-रचना किए खड़े हैं और कौन जानता है कि जो दल आज जनप्रियता के चरम बिंदु को प्राप्त किए हुए हैं, वे कल गिर जाएं और दूसरा दल इसका स्थान ग्रहण कर ले। राजनीतिक दल निसर्गत: अस्थायी होते हैं, किंतु समाज तो शाश्वत एवं अमर है। कितने ही राजा और राजवंश, कितनी ही शासन-पद्धतियां एवं कितने ही राजनीतिक तथा आर्थिक रचनाक्रम गत सहस्रों वर्षों में आए और चले गए, किंतु रक्त और इतिहास के बंधनों में आबद्ध समाज के रूप में हम एक एवं पूर्ण बने रहे। अतएव हमें विवेचन करना चाहिए कि क्या स्थायी है और क्या अस्थायी? जो स्थायी है, उसे ग्रहण करना चाहिए। यदि अस्थायी स्थायी के मार्ग में आता है, तो इसे त्यागना चाहिए :

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिशेवते।
ध्रुवाणि तस्य नष्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।

(पंचतंत्र, मित्रसम्प्राप्ति, १४२)

(जो मनुष्य स्थायी को छोड़कर अस्थायी के पीछे दौड़ता है, इसके पास जो भी स्थायी वस्तु है, वह भी नष्ट हो जाती है और अस्थायी का तो नाश हो जाना निश्चित ही है।)

समाज स्थायी है और राजनीति अध्रवम् (अस्थायी) है। यदि राजनीति की दौड़ में हम समाज को त्याग देंगे और उसकी आंतरिक एकता नष्ट कर देंगे, तो हम अपने भौतिक कर्तव्य के विरुद्ध कार्य करेंगे।

शुद्ध भक्ति के लिए आह्वान

अतएव एकात्म एवं संपूर्ण हिंदू-समाज हम सबके लिए भक्ति का एक केंद्रबिंदु होना चाहिए। इस समाज की भक्ति के मार्ग में अन्य कोई भी विचार चाहे वह जाति, पंथ, भाषा अथवा दल का हो, नहीं आने देना चाहिए। यही सच्ची भक्ति की कसौटी है। मीरा के जीवन की एक अति प्रसिद्ध आख्यायिका है। जब उसके अपने ही संबंधियों द्वारा उसकी कृष्णभक्ति में बाधा उपस्थित की गई, तब उसने गोस्वामी तुलसीदास को एक पत्र लिखा और इस विषय में उनका उपदेश मांगा। उन्होंने उसका उत्तर एक सुंदर कविता में दिया, जो विनयपत्रिका में है :

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

इसका अर्थ यही है कि जो राम को, अर्थात् जो भक्त का इष्ट है, उसे प्यार नहीं करते और बाधा के रूप में आ जाते हैं, उन्हें कोटि शत्रु के समान त्याग देना चाहिए, चाहे वे अत्यंत निकट संबंधी एवं प्रिय ही क्यों न रहे हों। पश्चात् उन्होंने उदाहरण दिए हैं जिनमें अपने इष्ट की भक्ति के लिए माता, पिता तथा अन्य संबंधियों को त्याग दिया गया है। अतएव आज अपने इस प्रत्यक्ष देवता हिंदू-समाज की भक्ति में विघ्न उपस्थित करने वाले अपने मन के सभी अंतर्वेगों को त्यागना होगा, क्योंकि वे अपने समाज की आंतरिक एकता को खड़ी करने और सशक्त बनाने के अत्यावश्यक एवं प्रमुख कर्तव्य के मार्ग में बाधा-रूप में आते हैं।

अस्तु, हम समस्त विघ्नों एवं बाधाओं को डुबाते, हटाते हुए अपनी अंतर्जात एकात्मता को प्रत्येक हिंदू के घर-द्वार तक पहुंचाने के लिए उठें और प्रत्येक हिंदू के हृदय में एक सजीव समाज-देवता की दीप्तिमान ज्योति की अनुभूति उसकी विविध अभिव्यक्तियों के साथ प्रज्ज्वलित करें।

❑❑❑

११

पौरुषयुक्त राष्ट्रजीवन के हेतु

राष्ट्र : एक भावात्मक बोध

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डाक्टर केशव बलिराम हेडगेवार अपने बाल्यकाल से ही राष्ट्रभक्त थे और उस समय मातृभूमि की भक्ति हेतु चलने वाले विविध आंदोलनों में उन्होंने भाग लिया था। बहुत वर्षों तक वे क्रांतिकारी आंदोलनों में भी रहे। बाद में वे भारतीय महासभा (कांग्रेस) के आंदोलनों तथा संगठनात्मक कार्यों में जुट गए।

किंतु शीघ्र ही उन्होंने यह स्पष्ट ज्ञात कर लिया कि इन सभी आंदोलनों के अंतर्गत केवल अंग्रेजों को निकाल बाहर करने की ही भावना है और यही भावना राष्ट्रीयता के समानार्थी समझी जाती है। उस समय के अधिकतर प्रमुख व्यक्तियों के लिए 'अंग्रेज-विरोध' तथा 'राष्ट्रीयता' पर्यायवाची शब्द थे। हमारे संघ के संस्थापक ऐसे छिछले विचारों से संतुष्ट नहीं हुए। वे अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रों के इतिहास के गंभीर अध्ययन के द्वारा यह जानते थे कि राष्ट्र की कल्पना तो भावात्मक है। वह किसी अन्य के विरोध पर निर्भर नहीं होती। वे यह भी जानते थे कि राष्ट्र के लक्ष्य की प्रारंभिक कल्पना की स्वल्प-सी विकृति हमारे उद्देश्य के श्रेष्ठतम होते हुए भी ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों की दिशा में ले जाएगी, जहां से हम लौट नहीं सकेंगे। हमारा भाग्य उस व्यक्ति के समान होगा, जिसने विनायक की प्रतिमा बनाना आरंभ किया, किंतु समाप्ति पर बंदर की प्रतिमा बनी।

विनायकं प्रकुर्वाणोरचयामास वारनम्।

इन विषयों पर गंभीर मनन के पश्चात् डाक्टर हेडगेवार ने अपने राष्ट्रत्व की वास्तविक, भावात्मक एवं चिरकालिक कल्पना के आधार पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को आरंभ करने का निर्णय किया।

हमारी राष्ट्रीयता की वह वास्तविक कल्पना क्या है? पहले हम, जिस प्रकार इसकी कल्पना आधुनिक संसार में समझी और व्यवहार में लाई जाती है, इसे निर्देशित करें और उसका विश्लेषण करें। यह वर्तमान संदर्भ में विषय के विवेचन में सहायक होगी।

आधुनिक विद्वानों के कथन

पश्चिम में 'राष्ट्र' की कल्पना का प्रारंभ में आविर्भाव इस प्रकार हुआ। सर्वप्रथम विविध जनसमुदायों ने अपने-आपको किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं के अंतर्गत मर्यादित कर लिया। किसी विशिष्ट प्रदेश में रहने वाले जनों में यह भावना उदय हुई कि वे इस भूमि के पुत्र हैं, उनकी अपनी एक जीवन-पद्धति है, जिसको उन्हें सुरक्षित रखना है तथा उनके स्वार्थ इसी प्रकार के अन्य जनसमुदायों से भिन्न हैं। संक्षेप में, उनका एक अलग एवं विशिष्ट अस्तित्व है। इस प्रकार वे एक सुगठित एवं अविभाज्य समुदाय बन गए। समय-समय पर और विभिन्न देशों में विचारवान अग्रणी पुरुषों ने उन समुदायों का परिचय देने के लिए 'राष्ट्र' की भावना को अभिव्यक्त किया है। यदि हम उनके द्वारा की गई अनेकों अभिव्यक्तियां एवं परिभाषाएं संकलित करके उनका सार निकालें तो हमें कुछ निश्चित एवं सरल निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

किसी राष्ट्र के लिए प्रथम अपरिहार्य वस्तु एक भूखंड है, जो यथासंभव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि एवं समृद्धि के लिए आधार रूप में काम दे। द्वितीय आवश्यकता है इस विशिष्ट भू-प्रदेश में रहने वाला समाज, जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। संक्षेप में, वह समाज उस भूमि के पुत्र-रूप में स्वयं को अनुभव करे।

वह समाज केवल मनुष्यों का एक समुच्चय ही नहीं होना चाहिए, विजातीय व्यक्तियों का किसी स्थान पर एकत्रीकरण मात्र नहीं चाहिए, उनके जीवन की एक विशिष्ट पद्धति बनी होनी चाहिए, जिसको जीवन के आदर्श, संस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वास एवं परंपराओं के सम्मिलन के द्वारा एक स्वरूप दिया गया हो। इस प्रकार जब समाज समान परंपराओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं से युक्त, अतीत के जीवन की सुख-दुख की समान स्मृतियों और शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियों वाला तथा जिनके सभी हित संगृहीत होकर एकरूप हो गए हैं, इस सुव्यवस्थित रूप में संगठित हो जाता है, तब इस प्रकार के लोग इस विशिष्ट प्रदेश में पुत्र के रूप में निवास करते हुए एक राष्ट्र कहे जाते हैं।

हिंदू-भारत का पुत्र

यदि हम अपने देश पर संसार के सभी विद्वानों द्वारा मानी हुई यह परिभाषा लागू करें तो हम देखेंगे कि हमारा महान् देश उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में महासागर तक तथा उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में फैली हुई हिमालय की शाखाओं एवं इनके अंतर्गत भू-प्रदेशों से युक्त तथा अपने दक्षिण महासागर स्थित द्वीपसमूह के साथ एक महान नैसर्गिक इकाई है। हमारा सुविकसित समाज यहां इस भूमि की संतान के रूप में सहस्रों वर्षों से निवास कर रहा है। यह समाज विशेषतया आधुनिक काल में हिंदू-समाज के नाम से जाना गया है, क्योंकि वे हिंदू-समाज के ही पूर्वज थे, जिन्होंने मातृ-भू के लिए प्रेम तथा भक्ति के आदर्श एवं परंपराएं निश्चित कीं। जिन्होंने मातृ-भू की सजीव एवं अखंड प्रतिमा को समाज के मस्तिष्क में सदैव उज्ज्वल बनाए रखने हेतु तथा उसकी दिव्य सत्ता के प्रति भक्ति जागृत रखने हेतु विविध कर्तव्यों और कृत्यों को भी निर्दिष्ट किया। वे ही थे, जिन्होंने इस मातृ-भू की अखंडता एवं पावित्र्य की रक्षा के लिए अपने रक्त को बहाया। यह सब कुछ केवल हिंदू-समाज द्वारा ही किया गया। इस तथ्य का साक्षी हमारा सहस्रों वर्षों का इतिहास है। इसका अर्थ है कि केवल हिंदू ही इस भूमि की संतान के रूप में यहां रहता आया है। अति प्राचीनकाल से आज तक के हमारे सभी महान् पुरुषों ने अपने-अपने जीवन एवं उदाहरणों द्वारा इस पावन संबंध-सूत्र के सातत्य को पुष्ट किया है।

मातृ-भू की इस संयुक्त उपासना ने हमारे संपूर्ण समाज में कश्मीर से कन्याकुमारी तक एवं वनवासी से नगरवासी तक एक-दूसरे के प्रति एक रक्त-संबंध स्थापित किया। ये सभी जातियां, ईश्वर की उपासना के विविध मार्ग तथा विविध भाषाएं एक महान सजातीय ठोस हिंदू-समाज की अभिव्यक्तियां हैं, जो इस मातृभूमि की संतान हैं।

सांस्कृतिक सहचारिता

हमारे हिंदू-समाज का एक आदर्श रहा है और वह है चरम सत्य की अनुभूति। इसी आदर्श के अनुरूप हमारा एक धर्म है, जो अपने दृष्टिकोण की व्यापकता में अतुलनीय है तथा मानव-जीवन के सभी स्तरों एवं पहलुओं को आवेष्ठित करता है। हमारी एक जीवनधारा है, जिसे हम 'संस्कृति' कहते हैं। जो अति उदात्त गुण पवित्रता, चारित्र्य, धैर्य एवं आत्मबलिदान की भावना को व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में निविष्ट कराती हुई उसे मानव सत्ता के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करती

है। ऐहिक को एक अलौकिकता प्रदान करती हुई इस संस्कृति की छाप हमारे दैनिक जीवन में व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए हमारा यह सामान्य नियम है कि प्रत्येक स्त्री को चाहे वह छोटी बालिका ही क्यों न हो, हम 'माँ' कहकर पुकारते हैं। हम अपनी अनेक बोलियों में भी जो शब्द प्रयोग करते हैं, वह भी इस अर्थ को व्यक्त करते हैं। इसका यह आशय है कि पत्नी को छोड़कर अन्य प्रत्येक स्त्री, वह चाहे जिस अवस्था एवं प्रतिष्ठा की हो, पुरुष के लिए माता का व्यक्त रूप है। यह हमारी संस्कृति का विशिष्ट स्वरूप है।

शिवाजी का प्रसिद्ध उदाहरण है कि उन्होंने कल्याण के मुसलमान सूबेदार की सुंदर पुत्र-वधू को नाना प्रकार के उपहारों के साथ अत्यंत सम्मानपूर्वक लौटा दिया था। यद्यपि यह बात विदेशी, विशेषतया मुसलमान इतिहासकारों को अपवादस्वरूप प्रतीत होती है, परंतु इस देश की उदात्त संस्कृति के प्रतीकस्वरूप एक अति साधारण उदाहरण है। यहां का सामान्य जन तक इसका भागीदार है।

इसी तथ्य को प्रकट करने वाला उस समय का एक और उदाहरण है। जब गांधीजी की हत्या के पश्चात् उपद्रव हो रहे थे, अराष्ट्रीय एवं विध्वंसक तत्वों द्वारा जब निर्दोष जनता की हत्या, लूट तथा अग्निकांडों का प्रचंड तांडव हो रहा था। उस समय एक इसी प्रकार की घातक भीड़ ने एक मकान पर आक्रमण किया। इस घर में केवल एक महिला थी। भय के कारण उसने द्वार खोल दिए। उसे अकेला देखकर वह भीड़ कुछ देर के लिए रुक गई। कुख्यात आततायी लोग उस भीड़ का नेतृत्व कर रहे थे। फिर भी हमारी संस्कृति के 'मातृवत् परदारेषु' आह्वान, जो उन लोगों के रक्त में था, ने उस महिला के साथ अत्यंत सम्मान का व्यवहार करवाया। उन्होंने उससे कहा कि वे आग लगाने तथा लूटने आए हैं, किंतु उसे सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का प्रबंध कर देंगे। अस्तु, उन्हीं में से दो रक्षक के रूप में उस महिला को साथ ले जाने के लिए नियुक्त कर दिया गया। सहस्रों वर्षों का विदेशियों का विनाशकारी प्रभाव तथा हमारे वर्तमान तथाकथित उच्च वर्ग में सर्वतोमुखी भयंकर अनैतिकता के होते हुए भी हमारे सामान्य जन में आज भी इस प्रकार के चरित्र के श्रेष्ठ उदाहरण मिलते हैं। हमारे हृदय में पोषित हुई इस प्रकार की घटनाएं अन्य लोगों से भिन्न विशुद्ध एवं उदात्त संस्कृति की कल्पना देती हैं। इसने हमें एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया है, जो पूर्ण रूप से हमारा है।

इन सहस्रों वर्षों में हमने असंख्य संत-महात्माओं, शूरवीरों एवं ऐसे उद्धारकों की एक दीप्तिमयी परंपरा को उत्पन्न किया है, जिन्होंने परमात्मा की खोज के निर्माण पर हमारा नेतृत्व किया है और भौतिक संपत्ति तथा सम्मान के अर्जन में हमारा

मार्गदर्शन किया है। विविध प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने एक समाज-व्यवस्था को जन्म दिया, संपत्ति के योग्य उत्पादन एवं वितरण के लिए आर्थिक पद्धतियों का विकास किया तथा व्यवस्थित सामाजिक विकास की धारणा एवं रक्षा हेतु राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण किया। यहां इन अनेक शताब्दियों के हमारे अस्तित्व के परिणामस्वरूप हमें वैभव एवं विपत्ति तथा मित्र एवं शत्रु की अनुभूतियां समान भाव से हुई हैं, जिनके कारण हमारे सभी हित अपृथक रूप से एक साथ मिल गए हैं।

जब कभी गलती से हम परस्पर लड़े और यह विचार किया कि एक विशेष वर्ग के हित, दूसरे वर्ग के हितों के विरुद्ध हैं तथा परस्पर विरोधी राज्यों का विकास किया, तब-तब हम विदेशियों के विरुद्ध युद्ध में पराजित हुए और हीन दासता एवं दैन्य को प्राप्त हुए। यही परिणाम उस समय भी रहा, जब हमारे समाज का एक भाग किसी विदेशी शक्ति के विरोध में रहा तथा दूसरे भाग ने उसी विदेशी शक्ति को भूल से मित्र समझा। पृथ्वीराज चौहान का उदाहरण इसी प्रकार का है। उसका शत्रु मुहम्मद गोरी था। जयचंद ने मुहम्मद गोरी से मित्रता स्थापित की। यहां पर हमारे देश के दो प्रमुख व्यक्तियों में से एक उसी आक्रांता का शत्रु तथा दूसरा मित्र बना। परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज पराजित हुआ और मारा गया। पर जयंचद भी नष्ट हुआ और मुहम्मद गोरी राजा हुआ। फलत: एक के पश्चात् दूसरी विपत्तियां, जिन्हें हम आठ सौ वर्षों से भोग रहे हैं एवं वर्तमान काल में हमारे देश के विभाजन के रूप में पराकाष्ठा पर पहुंच गई है, हमारे ऊपर छाने लगीं। इसके विपरीत चाहे अल्पकाल के लिए ही क्यों न हो, जब कभी हमने यह अनुभव किया कि हमारे हित अविभक्त हैं, हमारे मित्र एवं शत्रु सभी के लिए समान हैं, तब-तब हमारे राष्ट्रजीवन में ऐसी महती शक्ति का उद्भव हुआ कि विदेशी शक्ति चूर-चूर होकर हमारे पैरों पर लोटने लगी। अस्तु, एक पूर्ण राष्ट्र के निर्माण के लिए सभी आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति इस प्रकार इस महान हिंदू-समाज के जीवन में हो जाती है। इसलिए हम कहते हैं कि हमारे इस भारत देश में हिंदू-समाज का जीवन ही राष्ट्रजीवन है। संक्षेप में यह कि यह 'हिंदू-राष्ट्र' है।

दो विरोधों का संगम

किंतु जब हम राष्ट्र की कल्पना की व्याख्या करते हुए धर्म एवं संस्कृति का उल्लेख करते हैं, तब हमारे देश के कुछ तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी बेचैन हो जाते हैं। वे इन शब्दों को सुनकर पूछने लगते हैं कि राजनीति में धर्म को क्यों लाते हो? हम उस स्टालिन का उदाहरण लें, जिसने ईश्वर एवं धर्म पर सब प्रकार से आक्षेप किए और कहा कि यह तो लोगों को ठगने के लिए अफीम मात्र है। राष्ट्र-कल्पना की

व्याख्या करते हुए एक बार उसने कहा कि एक भू-प्रदेश में रहने वाले जनों का केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक सामान्य हितों के आधार पर ही राष्ट्र नहीं बन जाता, वरन् वह तो एक अभौतिक भावनाओं की सजातीयता है।

आधुनिक काल में हमारे राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के महान् अग्रदूत स्वामी विवेकानंद ने भी बार-बार असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित किया कि यह हिंदू-राष्ट्र है और हमारे सामने महान् हिंदू आदर्शों के रूप में गुरु गोविंदसिंह एवं छत्रपति शिवाजी को रखा। वास्तव में उन्होंने हमारे राष्ट्र के घटक उन लोगों को बताया, जिनके हृदयों का स्पंदन एक आध्यात्मिक लय के अनुसार होता हो।

अस्तु, हम कहते हैं कि हमारा हिंदू-राष्ट्र एक सत्य है, जो तर्कशुद्ध, अनुभवशुद्ध एवं इतिहासशुद्ध है। यह हमारे राष्ट्रजीवन का सबसे महान् और ठोस तथ्य है। यह कोई चलतू सामयिक 'वाद' नहीं है, जो किन्हीं राजनीतिक और आर्थिक सिद्धांतों अथवा सामयिक आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ हो।

राष्ट्रीयता की कसौटी

जब हम कहते हैं कि यह 'हिंदू-राष्ट्र' है, तब कुछ लोग तुरंत प्रश्न करते हैं कि जो मुसलमान और ईसाई यहां रहते हैं, उनके विषय में आप क्या कहते हैं? क्या वे यहां उत्पन्न नहीं हुए तथा यहां उनका पालन-पोषण नहीं हुआ? वे धर्म के परिवर्तन से ही परकीय कैसे हो गए? किंतु निर्णायक बात तो यह है कि क्या उन्हें यह स्मरण है कि वे इस भूमि की संतान हैं? केवल हमारे ही स्मरण रखने से क्या लाभ? यह अनुभूति एवं स्मृति उन्हें पोषित करनी चाहिए। हम उतने क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति इस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिंदू हैं, इसीलिए हममें प्रत्येक पंथ और सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो अन्य पंथों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिंदू नहीं हो सकता। किंतु अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो मुसलमान और ईसाई हो गए हैं, उनका भाव क्या है? निस्संदेह वे इसी देश में पैदा हुए हैं, किंतु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं? इस मिट्टी के ऋणी हैं? क्या वे इस देश, जहां उनका पालन-पोषण हुआ है, के प्रति कृतज्ञ हैं? क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और उसकी परंपराओं की संतति हैं और उसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है? क्या उसकी सेवा वे अपना कर्तव्य मानते हैं? परंतु हम देखते हैं कि धर्म-परिवर्तन के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं भक्ति की भावना समाप्त हो गई है।

यहीं तक नहीं, वरन् उनमें तो इस देश के शत्रुओं के साथ अभिन्नता की अनुभूति भी विकसित हो गई है। वे अपनी पवित्र भूमि के रूप में किन्हीं अन्य देशों की ओर देखते हैं। वे अपने को शेख और सैयद कहते हैं। शेख और सैयद तो अरब की जातियां हैं। ये लोग कैसे इस प्रकार का अनुभव करने लगे कि ये उनके वंशज हैं? इसका कारण है कि उन्होंने अपने इस देश से आबद्ध करने वाले सभी पूर्व पारंपरिक राष्ट्रीय संबंध-सूत्र काटकर अलग कर दिए हैं और मानसिक रूप से अपने को आक्रांताओं से एक कर लिया है। वे आज भी यही सोचते हैं कि वे केवल इस देश को विजय करके यहां राज्य स्थापित करने आए हैं। हम कहते हैं कि यह बात धर्म-परिवर्तन की ही नहीं है, इनके राष्ट्रीय तादात्म्य में भी परिवर्तन आ गया है। अपने मातृ-राष्ट्र को संकट में छोड़कर शत्रु से मिल जाना राजद्रोह नहीं तो और क्या है?

एक बार एक वरिष्ठ अमरीकी प्रोफेसर ने मुझसे प्रश्न किया, 'मुसलमान और ईसाई भी इसी देश में हैं। आप उन्हें अपने ही में से क्यों नहीं समझते?' उत्तर में मैंने उन्हीं से एक प्रश्न किया, 'मान लीजिए कि हमारे देश का ही कोई अमरीका जाता है और वहां का नागरिक बनना चाहता है, किंतु आपके लिंकन, वाशिंगटन, जेफरसन तथा अन्य राष्ट्रीय महापुरुषों को स्वीकार करने से इनकार करता है। स्पष्ट उत्तर दीजिए कि क्या आप उसे अमरीका का राष्ट्रीय कहेंगे?' उन्होंने कहा, 'नहीं।'

तब मैंने उनसे कहा कि हमारे देश के लिए भी उसी कसौटी का प्रयोग क्यों नहीं किया जाना चाहिए? आप कैसे कह सकते हैं कि जो यहां रहते हुए हमारे देश के सम्मान एवं परम्पराओं के विरोध में कार्य करते हैं तथा हमारे राष्ट्रीय महापुरुषों एवं राष्ट्रीय श्रद्धा की वस्तुओं का अपमान करते हैं, उन्हें 'राष्ट्रीय' कहना चाहिए ?

पोषण नहीं, वरन् संस्कृति का महत्त्व है

किसी व्यक्ति को किसी देश में जन्म तथा पालन-पोषण होने मात्र से ही उस भू-भाग के राष्ट्रीय होने का अधिकार नहीं मिल जाता। इसके लिए इसमें तदनुरूप मानसिक प्रतिमान की आवश्यकता होती है। राष्ट्रीयता के लिए मानसिक निष्ठा एक ऐसा तत्त्व है, जिसे संपूर्ण संसार स्वीकार करता है।

हमारे लिए यह प्राचीन कथा उपदेशप्रद हो सकती है। एक बार एक सिंहनी को वन में घूमते हुए एक नवजात सियार का बच्चा मिला। वह उसे अपनी गुफा में ले आई। सिंहनी के अपने बच्चे भी थे। उसने अपने बच्चों के साथ इस सियार शिशु को भी अपने दूध से पालना आरंभ कर दिया। वे सब बड़े होने लगे और भाई-भाई की भांति खेलने लगे। एक बार जब वे एक घने वन में थे कि उसी मार्ग से एक हाथी आया। सियार का बच्चा उस विशालकाय पशु को देखकर भय से चिल्लाने लगा और

अपने भाइयों को भाग चलने के लिए कहने लगा। सिंह के शावक ने कहा कि तुम कैसे मूर्ख हो? कितने दिनों बाद तो हमें इतना अच्छा शिकार मिला है। यदि तुम्हें भय है तो तुम घर जाओ, हम तो लड़ेंगे। वह सियार का बच्चा दौड़ता हुआ गुफा में आया और सिंहनी से कहा कि मुझ ज्येष्ठ के उपदेश पर ध्यान न देने से वे छोटे भाई कैसे महान संकट में फंस गए हैं? सिंहनी ने मुस्कराकर उस बच्चे से कहा, 'निस्संदेह तुम मेरा दूध पीकर बड़े हुए हो, किंतु तब भी तुम अपनी प्रकृति से भिन्न कैसे हो सकते हो?'

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते।।

(पंचतंत्र, लब्धप्रणाशम् ३९)

(हे पुत्र ! इसमें कोई संदेह नहीं कि तुम वीर हो, चतुर, विद्वान और दर्शनीय हो, परंतु जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, उस कुल के लोग हाथी नहीं मार सकते।)

यही बात राष्ट्रों के संबंध में भी लागू होती है। किसी विशिष्ट प्रदेश में साधारण रूप से निवास-मात्र समान चारित्र्य एवं गुणों से संपन्न एकात्म राष्ट्रीय समाज का निर्माण नहीं कर सकता। नवागतों को अपने जीवन के दृष्टिकोण में ऐसा आमूल परिवर्तन लाना चाहिए कि मानो प्राचीन राष्ट्रीय कुल-परंपरा में ही उनका पुनर्जन्म हुआ हो।

आदर्श जनतंत्रात्मक देश इंग्लैंड का एक उदाहरण अत्यंत शिक्षाप्रद है। सौ वर्ष से अधिक समय पूर्व कुछ जर्मन लोग वहां बस गए थे और उन्हें वहां की नागरिकता के अधिकार भी दे दिए गए थे। वे परकीय नहीं समझे जाते थे। उनमें से एक आई.सी.एस. होकर हमारे देश में इंग्लैंड के सेवक के रूप में आया और मध्यप्रदेश में किसी पद पर नियुक्त किया गया, किंतु जब सन् १९१४ में युद्ध आरंभ हुआ, तब उसे तुरंत बंदी बनाकर जेल भेज दिया गया। जर्मन देश के प्रति उसकी आसक्ति कहीं उभर न जाए, इस संदेह मात्र से ही वह प्रतिबंधित रहा। यह उनकी राष्ट्रीयता की परिपक्व और सही धारणा है।

यही बात हमारे देश के लिए भी है। हमारे देश में समान रूप से निवास, जन्म और वृद्धि मात्र यह सूचित नहीं करता कि उसके सभी निवासियों में एकसमान निष्ठाओं, गुणों एवं प्रतिमानों का अस्तित्व है।

दासता को उतार फेंकने का आह्वान

हम यही कहते हैं कि मुसलमान और ईसाइयों को चाहिए कि वे अपने वर्तमान विदेशी मानसिक भाव को त्यागें और हमारे राष्ट्रजीवन की सामान्य धारा में अपने को मिला दें।

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि केवल मुट्ठी भर मुसलमान यहां शत्रु एवं आक्रांता के रूप में आए थे। अब मुसलमान और ईयाइयों की संख्या बढ़ गई है। वे मछलियों के समान प्रजनन की रीति से नहीं बढ़े हैं। उन्होंने स्थानीय जनों का धर्म-परिवर्तन किया है। हम अपनी वंश-परंपरा के समान उद्गम तक पहुंच सकते हैं, जहां से एक भाग हिंदुओं से लिया जाकर मुसलमान हो गया और दूसरा ईसाई हो गया। शेष धर्मांतरित नहीं किए जा सके और वह हिंदू बने रहे। अब यह भी विचार करें कि उन्होंने अपना परंपरागत गृह किस प्रकार छोड़ा? क्या स्वेच्छा से और इन संप्रदायों की श्रेष्ठता के कारण छोड़ा ? नहीं ! इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण का एक भी उल्लेखनीय अभिलेख नहीं है।

इसके विपरीत इतिहास हमें बताता है कि धर्मांतरण का कारण जीवन का भय अथवा बलात्कार या सत्ता और प्रतिष्ठा आदि के भांति-भांति के प्रलोभन थे। इसलिए उन शक्तियों की रीति-नीतियां तथा अंत में धर्म भी ग्रहण करके इन्हें प्रसन्न करने की लोगों की इच्छा होती थी। उसमें बहुत कुछ कपट भी था। गो-मांस अथवा रोटी का टुकड़ा जलाशय में फेंक दिया जाता था। इस बात को न जानते हुए ग्रामवासी यथावत् वहां से जल लेते रहते थे। दूसरे दिन प्रात:काल ईसाई धर्म-प्रचारक या मौलवी आता और घोषणा कर देता कि उन्होंने अपवित्र जल का प्रयोग किया है, अत: वे धर्मभ्रष्ट हो गए हैं। अब उनके लिए एक ही मार्ग है कि हमारे संप्रदाय में मिल जाएं। इस प्रकार उत्तर में गांव के गांव मुसलमान बना लिए गए तथा अपने सागर के पश्चिमी तट पर ईसाई बना लिए गए। यह तो शुद्ध प्रवंचना ही है। इस प्रकार राजनीतिक आधिपत्य के लिए संख्या-वृद्धि का यह उन्मत्त उत्साह था। यह धर्म-प्रचार नहीं था, वरन् धर्म की आड़ में एक राजनीतिक चाल थी। विदेशी आक्रांता ने उन्हें राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रूप से ही वशीभूत नहीं किया, वरन् अंततोगत्वा उन्हें धर्मांतरित करके अपने धर्म में भी मिला लिया। यह भी विदेशी आधिपत्य ही है। जिस तरह राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आधिपत्य होते हैं, यह उसी तरह का धार्मिक आधिपत्य है।

हमारा कर्तव्य है कि अपने इन परित्यक्त भाइयों, जो शताब्दियों से धार्मिक दास्य के क्लेश को भोग रहे हैं, को पुन: अपने पूर्वजों के घर बुलाएं। ईमानदार, स्वतंत्रताप्रिय मनुष्यों की भांति वे भी दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नों को उतार फेंकें और वंश-परंपरानुगत भक्ति एवं राष्ट्रीय जीवन की रीतियों का अनुकरण करें। सभी प्रकार की दासता हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है, अत: उसे त्याग देना चाहिए। यह उन सभी भाइयों के लिए आह्वान है कि वे हमारे राष्ट्रजीवन में अपना मूल स्थान ग्रहण करें। हमारे समाज के इन लौटे हुए, भटके हुए पुत्रों के पुन: आगमन पर हम

दीपावली का पर्व मनाएं। यहां किसी बात की भी अनिवार्यता नहीं है। यह तो उनके लिए एक आह्वान और प्रार्थना है कि वे परिस्थितियों को उचित प्रकार से समझें तथा लौट आएं एवं परिधान, रीतियां, भवन-निर्माण, विवाहोत्सव एवं मृत्यु संस्कारादि सभी बातों में हिंदू जीवन-पद्धति के साथ अपना दातात्म्य अनुभव करें।

कुछ लोग घोषणा करते हैं कि उन्होंने हिंदू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्य सभी में राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर एकता स्थापित कर ली है। किंतु इस एकता को केवल वहीं तक सीमित क्यों करें? इसे क्यों न अधिक विस्तृत एवं व्यापक बनाएं, जिससे उन सभी को हिंदू-जीवन पद्धति में, अपने धर्म में मिला लें तथा खोए हुए भाइयों के समान उन्हें पुन: स्वीकार करें? जो राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर एकता की बात करते हैं, हम उनसे कहते हैं कि हमारा लक्ष्य केवल राजनीतिक एवं आर्थिक एकता प्राप्त करना ही नहीं है, हम तो सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता भी चाहते हैं। हमने अपने घरों के पवित्र स्थानों और देवालयों के, अपनी युगों प्राचीन संस्कृति एवं पैतृक-निधियों के द्वार खोल दिए हैं। निस्संशय यही अधिक व्यापक दृष्टिकोण है।

पराक्रमवाद को पुनर्जीवित करो

अनेकों लोग ऐसे हैं, जो अपने अंतरतम में यही अनुभव करते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक भी भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने हिंदू-संस्कृति के प्रति, जिसे वे 'भारतीय संस्कृति' के नाम से पुकारते हैं, अपने अंतरतम की गंभीर भावनाओं और आत्यंतिक प्रेम को व्यक्त किया है। अपनी उस तीव्र आकांक्षा को व्यक्त किया है कि उसे एक बार पुन: उसकी आत्मसात करने की प्राचीन शक्तियों से युक्त देखने का प्रसंग प्राप्त हो। उन्होंने कहा है कि हमारे सांस्कृतिक इतिहास की दो अवस्थाएं रही थीं। प्रथम अवस्था में हूण तथा शकों जैसी जातियां, जो आक्रांताओं के रूप में यहां आईं, ने अपनी मूल रीतियों तथा धर्मों को छोड़ दिया और अपने को राजपूत कहना आरंभ कर दिया। वे सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छया हममें विलीन हो गए। उस समय हममें आत्मसात करने का साहस और शक्ति थी और हमने उन्हें अपने राष्ट्रजीवन की सांस्कृतिक धारा में पूर्ण रूप से विलीन कर लिया। हमने उनकी अच्छी बातें ग्रहण कीं। फिर वे कहते हैं कि द्वितीय अवस्था तब आई, जब हमारे देश पर अत्यंत उग्र चरित्रवाले आक्रांताओं ने आक्रमण किया तथा हमारे लोगों ने अपनी सामाजिक रचना में सुरक्षा प्राप्त करने के लिए विधि-निषेध के नियमों में अपने को बंद कर लिया। इस प्रकार अपने आपको सबसे पृथक् रखते हुए हम संकुचित हो गए।

दुर्भाग्यवश उन्होंने केवल दो ही अवस्थाओं का उल्लेख किया है। एक और भी दु:खद अवस्था है। उनमें से कुछ लोगों, जो हिंदू-संस्कृति के प्रेम की दुहाई देते थे, ने विदेशियों के आक्रमण का सामना करना कठिन समझकर यह सोचा कि आक्रांताओं के चरणों पर आत्मसमर्पण करके और उनके रीति-रिवाजों को अपनाकर अपनी रक्षा कर सकेंगे। यह भूतकाल में घटित हुआ। पचास-साठ वर्ष पूर्व हैदराबाद का एक वजीर, जो हिंदू था, अत्यंत निष्ठावान मुसलमानों की भांति पांच समय की नमाज पढ़ा करता था, वह शरणागति है। यदि प्रथम अवस्था को 'पराक्रमवाद' कहें और दूसरी को 'संकुचितवाद' तो इस तीसरी अवस्था को 'शरणागतिवाद' कह सकते हैं। आज भी यह अवस्था चली आ रही है। हमारी सेना की आज्ञाओं में तैंतीस प्रतिशत अंग्रेजी तथा तैंतीस प्रतिशत फारसी के शब्द हैं। क्या इस प्रकार का मिश्रण, गणना और गणित एकीकरण ला सकेगा और हमारे समाज की एकात्मता को निश्चित रूप से दृढ़ करेगा ? यह तो उन आक्रांताओं को प्रसन्न करने के प्रयत्न, आत्मसमर्पण और उनके सामने झुक जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि वे अविनेय रहे। अत: हमारे लोगों की कल्पना में संकट से बचने का उपाय यह शरणागतिवाद ही आया।

हमें एक बार पुन: पराक्रमवाद को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इसके लिए हमें यह स्पष्ट करना होगा कि यहां निवास करने वाले अहिंदू का एक राष्ट्र-धर्म, अर्थात् राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है, एक समाज-धर्म, अर्थात् समाज के प्रति कर्तव्यभाव है, एक कुल-धर्म, अर्थात् अपने पूर्वजों के प्रति कर्तव्यभाव है। वह केवल व्यक्तिगत धर्म, व्यक्तिगत निष्ठा का पंथ अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप चुनने में स्वतंत्र है। वह किसी भी पंथ को, जो उसकी आध्यात्मिक भूख को शांत करे, स्वीकार कर सकता है। सामाजिक जीवन में उन सभी विविध कर्तव्यों का पालन करने के पश्चात् भी यदि कोई कहता है कि उसने कुरान शरीफ या बाइबिल का अध्ययन किया है और पूजा का अमुक प्रकार उसके हृदय को अधिक स्पर्श करता है तथा वह भक्ति के इस मार्ग द्वारा ईश्वर की आराधना अधिक भली-भांति कर सकता है, तो हमें इसमें बिल्कुल आपत्ति नहीं होगी। शेष के लिए इसे राष्ट्रीय धारा के साथ एक होकर रहना ही चाहिए। यही वास्तविक एकीकरण है।

हमने इसी प्रकार भूतकाल में व्यवहार किया है। हम सदा आतिथ्यशील रहे हैं। किंतु उन सभी को हमारे राष्ट्रीय नियमों एवं लोकाचारों के अनुसार व्यवहार करना पड़ा। कई शताब्दियों पूर्व जब बर्बर अरब और तुर्कों ने फारस पर आक्रमण किया,

उस समय कुछ पारसी अपनी मातृभूमि को छोड़कर तथा अपनी पवित्र अग्नि एवं धर्मपुस्तक को लेकर जल-थल से चल पड़े और सूरत में आकर उतरे। राजा यादव राणा ने उनका खुले हृदय से स्वागत किया और द्वारिकापीठ के शंकराचार्य से पूछा कि उन्हें किस भांति ग्रहण किया जाए? उनसे कह दिया गया कि वे हमारी राष्ट्रीय निष्ठा की वस्तु गोमाता का सम्मान करते हुए गोमांस भक्षण त्याग दें और यहां शांतिपूर्वक रहें। उन जरथुस्त्र के अनुयायियों ने आज तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है। वे अपने धर्म की पूर्ण सुरक्षा के साथ यहां निवास कर रहे हैं। उन्होंने अपने को यहां के राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में पूर्ण रूप से विलीन कर दिया है।

एक बार पं. नेहरू ने जबलपुर में कहा था कि कोई कारण नहीं कि हम मुसलमानों को अपने में न मिला सकें, जबकि पूर्वकाल में हम हूण और शकों को आत्मसात कर चुके हैं। निर्विवाद रूप से हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकात्मता के लिए यही और केवल यही शुद्ध मार्ग है।

हिंदू-राष्ट्र की हमारी यही कल्पना है और यही है हमारा भाव इन अहिंदुओं के प्रति, जो यहां निवास करते हैं। इससे अधिक तर्कसंगत, व्यावहारिक एवं उचित समाधान अन्य कुछ नहीं हो सकता। इस तर्कशुद्ध एवं भावात्मक दृष्टिकोण के होते हुए भी कुछ लोगों का अनुमान है कि हिंदू-राष्ट्र की कल्पना मुसलमान तथा ईसाई नागरिकों के अस्तित्व के लिए चुनौती है, वे निकाल बाहर किए जाएंगे तथा उनका उन्मूलन हो जाएगा। हमारी राष्ट्रीय भावना के लिए इससे अधिक मूर्खतापूर्ण अथवा घातक और कुछ नहीं हो सकता। यह तो हमारे महान एवं सर्वग्राही सांस्कृतिक दाय का अपमान है। उदाहरण के लिए, क्या हम शिवाजी के नेतृत्व में हुए सबसे अंतिम शक्तिशाली हिंदू पुनरुत्थान के विषय में नहीं जानते कि उनकी सेना के अधिकारियों में एक रणादुल्ला खां था ? उसके भी बाद के समय में सन् १७६१ के पानीपत युद्ध में, जो हिंदू-स्वराज्य के उत्थान के लिए एक जीवन-मरण का संघर्ष था, तोपखाने का प्रमुख इब्राहिम गार्दी था। हमारे सामने इस प्रकार की अति स्पष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य तथा सहस्रों वर्षों की राष्ट्रीय परंपराएं होते हुए भी यह कहना कितना विचित्र है कि यदि हिंदू-राष्ट्र अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया तो अहिंदुओं के लिए संकट उत्पन्न हो जाएगा।

राष्ट्रीय एकता की आधारशिला

आज हम अपने राजनीतिक नेताओं के मुख से प्रायः 'राष्ट्रीय एकता', 'भावात्मक एकता' आदि शब्द सुनते हैं, किंतु वह कौन-सी समान भावना है, वह

कौन-सा समान आधार है, जिस पर सब एक साथ आ सकते हैं? हमारे राष्ट्रजीवन के वे कौन से शाश्वत स्रोत हैं जो उसके एकीकरण, उत्थान एवं गौरव संपादन में समर्थ हैं?

सबसे पहला है, जिस देश को अनंतकाल से हमने अपनी पवित्र मातृभूमि माना है, इसके लिए ज्वलंत शक्ति-भावना का आविर्भाव।

द्वितीय है, साहचर्य एवं भ्रातृत्व भावना, जिनका जन्म इस अनुभूति के साथ होता है कि हम एक ही महान् माता के पुत्र हैं।

तृतीय है, राष्ट्रजीवन की समान धारा की उत्कट चेतना, जो समान संस्कृति एवं समान पैतृक दाय, समान इतिहास, समान परंपराओं, समान आदर्शों एवं आकांक्षाओं से उत्पन्न होती है।

जीवन के मूल्यों की यह त्रिगुणात्मक मूर्ति एक शब्द में हिंदू राष्ट्रीयता है, जो राष्ट्र-मंदिर के निर्माण के लिए आधार बनती है।

❑❑❑

१२

प्रादेशिक राष्ट्रवाद

१. उसके मूल

राष्ट्रीय क्यों?

अपने इस संगठन का नाम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ रखने के पूर्व इस विषय पर बहुत विचार-विनिमय हुआ था। संघ से संपर्क रखने वाले अनेक व्यक्तियों की भी सम्मति ली गई थी। स्वाभाविक रूप से ही बहुत से नाम सामने आए और प्रत्येक नाम के लिए कुछ न कुछ आपत्ति उठाई गई। इस वर्तमान नाम पर भी यह आपत्ति हुई कि यदि 'राष्ट्रीय' शब्द रखा गया तो इसके द्वार देश में रहने वाले सभी लोगों के लिए, अर्थात् मुसलमान, ईसाई आदि के लिए भी खुले रखने पड़ेंगे। अत: केवल हिंदुओं के लिए ही सीमित होने के कारण इसका नाम 'हिंदू स्वयंसेवक संघ' रखा जाए।

फिर 'हिंदू' के स्थान पर 'राष्ट्रीय' शब्द को वरीयता क्यों प्रदान की गई?

एक उदाहरण है, जो इसमें निहित दृष्टिकोण को शुद्ध रूप में व्यक्त करता है। मुंबई में 'हिंदू-कॉलोनी' के नाम से एक स्थान है। उस स्थान के कुछ व्यक्तियों ने विचार किया कि इसका विदेशी शब्द 'कॉलोनी' बदल देना चाहिए। वे नाम बदलने के लिए एकत्र हुए। हमारे संघ के पूज्य संस्थापक उस समय मुंबई में ही थे। वे भी बुलाए गए थे। जब उनकी राय पूछी गई, तब उन्होंने कहा कि 'कॉलोनी' शब्द की अपेक्षा 'हिंदू' शब्द में पहले परिवर्तन करना चाहिए। वहां उपस्थित सभी लोगों को कट्टर हिंदू होने के कारण, इस बात से आघात पहुंचा। उन्होंने कहा कि एक दृढ़निष्ठ हिंदू होते हुए आप 'हिंदू' शब्द का विरोध क्यों करते हैं? डाक्टर जी ने उत्तर दिया कि वे इस अर्थ में 'हिंदू' शब्द के विरोधी नहीं हैं। उनका विरोध तो इस प्रसंग में 'हिंदू' शब्द के प्रयोग करने पर है, जो यह लक्षित करता है कि हिंदुओं ने अपने ही देश में अपने लिए एक कॉलोनी बना रखी है। हिंदुस्थान में हिंदुओं के लिए 'कॉलोनी' का क्या अर्थ होता है? यदि कुछ अंग्रेज हिंदुस्थान में आएं, किसी विशिष्ट स्थान पर रहें और इसे 'ब्रिटिश कॉलोनी' नाम से पुकारें तो यह समझ में आने वाली बात हो

सकती है। इसी प्रकार यदि आप भी इंग्लैंड जाकर किसी विशिष्ट स्थान पर बसें तो उसे 'हिंदू कॉलोनी' कह सकते हैं। किंतु इंग्लैंड में ब्रिटिश-कॉलोनी, अमरीका में अमरीकी-कॉलोनी और हमारे देश हिंदुस्थान में 'हिंदू-कॉलोनी' सरीखे नाम बेतुकापन दर्शाते हैं। या तो आप यह स्वीकार करें कि यह आपकी मातृभूमि नहीं है और आप कहीं बाहर से आए हैं तथा यहाँ अपनी कॉलोनी बनाई है अथवा इसमें प्रयुक्त हिंदू नाम बदल दें। किंतु वे लोग अपने देश में हिंदू-कॉलोनी के अनौचित्य एवं असंगति को अनुभव नहीं कर सके। अत: अब भी वही नाम चला आ रहा है।

इस बात से हम अनुभव कर सकते हैं कि अपने इस संगठन के नाम में 'हिंदू' शब्द न रखकर 'राष्ट्रीय' शब्द क्यों रखा गया। डाक्टर जी कहा करते थे कि हमारे देश में 'राष्ट्रीय' शब्द का अर्थ स्वाभाविक रूप से हिंदू ही है। अत: 'राष्ट्रीय' के स्थान पर 'हिंदू शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम भी अपने को इस देश की अनेक जातियों में से एक मान लेते हैं तथा इस देश के राष्ट्रीय के रूप में हमारी जो पद-प्रतिष्ठा है, उसे अनुभव नहीं करते। किंतु यह एक वास्तविकता है कि हमारे देश में राष्ट्र के संबंध में पर्याप्त भ्रांति है। मुंबई की यह घटना इस भ्रांति का एक उदाहरण है।

अंग्रेज की चाल

विगत सहस्र वर्ष में हमारे देश पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए। पूर्वकाल में हमारे देश पर आक्रमण करने वाले यूनानी, हूण और शक आक्रांता या तो परास्त करके निकाल दिए या उनमें से जो शेष रह गए, उन्हें हिंदू-समाज में आत्मसात कर लिया गया, किंतु जो आक्रांता पिछले दस-बारह शताब्दियों में आए वे न तो निकाले जा सके और न आत्मसात ही किए जा सके। उनका अलग अस्तित्व बना रहा और विदेशी के रूप में वे इस देश पर शासन करते रहे। अंतिम शासक अंग्रेज कई हजार मील दूर से शासन करता रहा। चतुर होने के कारण वे जानते थे कि इस दूरस्थ साम्राज्य को सदा के लिए बनाए रखना तभी संभव है, जबकि हमारे समाज के मस्तिष्क से उस आस्था को निकाल बाहर किया जाए, जो स्वतंत्रता के लिए युद्ध करने की प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करती है।

अंग्रेज ने यह ज्ञात किया कि यहां का सामान्य मनुष्य मातृभूमि पर श्रद्धा रखता है। यहां समाज सावयव पूर्णता के रूप में संगठित था, यद्यपि कुछ काल के लिए उनकी एकता विच्छिन्न हो गई थी। आत्मसम्मान, स्वातंत्र्य-प्रेम एवं अपने संस्कृति और परंपराओं के लिए भक्ति उनके रक्त में दृढ़-निविष्ट थी। यह जानकर कि इस प्रकार अदम्य राष्ट्रीयता की भावना उनके साम्राज्य के लिए विनाशकारी होगी, उन्होंने मातृभूमि, धर्म तथा परंपरागत स्वत्व के प्रति समाज की आस्था की जड़ें खोदने की योजना बनाई।

हमारे एक बड़े क्रांतिकारी लाला हरदयाल द्वारा बताई हुई एक घटना है। 'दक्षिण में कहीं एक अंग्रेज अधिकारी था। उसका सहायक अधिकारी एक स्थानीय व्यक्ति कोई नायडू था। उस अंग्रेज का अर्दली एक ब्राह्मण था। एक दिन जब वह अंग्रेज सड़क पर अपने अर्दली के साथ जा रहा था, तभी सामने से उसका वह सहायक अधिकारी आ गया। दोनों ही अधिकारियों ने एक-दूसरे को अभिवादन करते हुए हाथ मिलाया, किंतु जब उस सहायक अधिकारी ने अर्दली को देखा तो अपनी पगड़ी उतारकर उसके चरण स्पर्श किए। अंग्रेज यह देखकर चकित रह गया। उसने पूछा 'यह क्या बात है कि मैं तुम्हारा उच्च अधिकारी हूँ, पर तुम मुझसे सीधे खड़े रहकर हाथ मिलाकर अभिवादन करते हो और यह मेरा चपरासी है, इसे इतनी व्यस्त सड़क पर भी तुम साष्टांग प्रणाम करते हो।' सहायक अधिकारी ने उत्तर दिया- 'आप मेरे उच्चाधिकारी हुआ करें, किंतु आप म्लेच्छ हैं। वह चपरासी है, किंतु वह हमारे समाज के उस वर्ग का है, जिसका शताब्दियों से अत्यंत सम्मान होता चला आ रहा है। उसे झुककर प्रणाम करना मेरा कर्तव्य है।' उसका उल्लेख करते हुए उस अंग्रेज ने इंग्लैंड के इंडिया आफिस को जो पत्र लिखे थे, वे मौजूद हैं। उसने लिखा था- 'जब तक ब्राह्मण को उसके प्रतिष्ठित पद से बहिष्कृत कर अंग्रेज स्वयं उसे अधिकृत नहीं कर लेता, अर्थात् उतना ही या उससे भी अधिक सम्मानित नहीं हो जाता, उसका साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता।'

इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए अंग्रेजों ने तदनुरूप शिक्षा देना आरंभ किया। पहली बात जो उसने हमें सिखलाई, वह यह थी कि भारत एक देश नहीं, वरन् एक बड़ा महाद्वीप है। हम एक समाज या एक राष्ट्र नहीं हैं। यहां कुछ आदिवासी थे जो बहुत काल से यहां बस रहे थे, जिन्हें वनों और पहाड़ों में खदेड़ दिया गया। एक-दूसरे प्रकार के आदिवासी थे, जो 'द्रविड़' कहे जाते हैं। उत्तर दिशा से आर्य आए और अपनी उत्कृष्ट अस्त्र-शक्ति के द्वारा इस देश को जीता और शेष लोगों पर अपनी सत्ता स्थापित की, अर्थात् हमारे पास मातृभूमि है ही नहीं। हममें से अधिकतर कहीं बाहर से आए हैं, अत: इस देश के लिए सभी समान रूप से अपरिचित और विदेशी हैं। यह भी कहा गया कि हमारा कोई धर्म नहीं है और न कोई उल्लेखनीय दर्शन व नैतिक आचार ही है। हमारा संपूर्ण अतीत जीवन अंधकारमय था। यहां पर अंग्रेज का आगमन दैवी-व्यवस्था थी, जिनके चरणों में बैठकर हम सभ्यता, धर्म एवं व्यवस्थित सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का प्रथम पाठ पढ़ सकते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के पीछे जिसका मस्तिष्क था, उस मेकाले के साम्राज्यवादी उद्देश्यों का उच्च स्वर से उद्घोष किया गया कि 'हमें एक इस प्रकार का वर्ग निर्माण

करने में पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए, जो हमारे और इन शासितों के बीच, जिन पर हमें शासन करना है, दुभाषिये का काम करें। वह वर्ग ऐसे व्यक्तियों का हो, जो रक्त तथा रंग में तो भारतीय हों, किंतु रुचि, विचार, आचार एवं बुद्धि में अंग्रेज हों।' मेकाले ने सन् १८२६ में अपने पिता को लिखा था कि 'कोई भी हिंदू, जिसे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हो जाती है, फिर कभी अपने धर्म के प्रति ईमानदारी से संबद्ध नहीं रहता ....। यदि शिक्षा-संबंधी मेरी योजनाओं का पालन हुआ तो अब से ३० वर्ष बाद बंगाल में सम्मानित वर्ग में से एक भी मूर्तिपूजक नहीं रह जाएगा।' यहां के ईसाई कॉन्वेंटों में आज भी वही धूर्तता और कपटपूर्ण शिक्षा चालू है कि ईसा के अतिरिक्त अन्य कोई सच्चा उद्धारक नहीं है और हिंदू धर्म मूढ़ विश्वासों का गट्ठर मात्र है। हिंदू को ईसाई बने बिना अनंत नरक यातना का भागी बनना पड़ेगा आदि-आदि।

इतिहास विकृत किया गया

विद्यालयों में बालकों के लिए इतिहास की एक पुस्तक हुआ करती थी, जिसमें 'टेंगलवुड टेल्स' शीर्षक से हमारे सभी प्राचीन सम्राटों और राजाओं का इतिहास चित्रित किया गया था, जिसका आशय था कि वह काल हमारे इतिहास का भ्रांति एवं अंधकार का युग था। वह 'इतिहासकार' कहता है कि उस भ्रांति और अंधकार की परिस्थितियों में यहां आर्यों का आगमन हुआ। ये आर्य प्रथम पंजाब में बसे, जहां महाभारत का युद्ध हुआ था। फिर वे गंगा और यमुना की ओर चलकर अयोध्या में बसे। इस प्रकार उस इतिहासकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि रामायण की कथा महाभारत की कथा के कई शताब्दी पश्चात् की है। उस 'इतिहासकार' की विलक्षणता की प्रशंसा ही करनी चाहिए। वास्तव में इस प्रकार का आविष्कार करने के लिए कि पिता का जन्म पुत्र के पश्चात हुआ, क्या असामान्य प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है? इस प्रकार हमार संपूर्ण प्रारंभिक इतिहास 'अंधकार युग' में समाविष्ट हुआ तथा बाद का इतिहास मुस्लिम काल और अंग्रेज काल में विभाजित किया गया। ये सभी चीजें बचपन से ही हमें पढ़ाई जाती रहीं। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे बहुत से लोग यह विश्वास करने लगे कि हमारा कोई राष्ट्रजीवन नहीं था और न हममें कोई महत्त्व की बात है।

अंग्रेजों के चले जाने पर भी हमारे विद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों में वही इतिहास पढ़ाया जाता है, जो हिंदू-काल, मुस्लिम-काल और ब्रिटिश-काल तीन भागों में विभाजित है तथा जिसमें अंग्रेजों का वही विषाक्त सिद्धांत है, जिसके द्वारा इस देश में हिंदू को भी वही स्तर प्रदान किया गया है, जो मुसलमान और अंग्रेज को

है। इस वास्तविकता को आज भी मान्यता नहीं दी जाती कि भारत का इतिहास एक लंबा हिंदू-काल ही है, जिसमें कभी उसकी स्थिति स्वतंत्र, यशस्वी और कभी अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य एवं सम्मान की रक्षा हेतु विदेशी आक्रांताओं से युद्ध करने की रही है। इतिहास के काल तो राष्ट्रपुरुषों के नाम से ही जाने जाते हैं, राजाओं के वेष में बैठे हुए अपरहरणकर्ताओं और तानाशाहों के नाम से नहीं।

राष्ट्र गढ़ने के मार्ग पर

कोई आश्चर्य नहीं कि तथाकथित शिक्षित हिंदू अंग्रेज की चालाकी का शिकार बन गया। वह उनके ही समान वेषभूषा धारण करने और बोलने लगा। वह अपने पूर्वजों और अतीत के दाय पर लज्जा का अनुभव करने लगा। कुछ समय पूर्व एक प्रमुख हिंदू साप्ताहिक 'धर्मयुग' में उस समय का एक अत्यंत अद्‌भुत समाचार प्रकाशित हुआ था। एक बार यूरोप में किसी होटल में तीन सज्जन ठहरे थे, जिनमें एक आयरलैंड निवासी, एक स्काटलैंड निवासी तथा एक बड़े हिंदू पं. मोतीलाल नेहरू थे। आगंतुक-पुस्तिका में अपनी-अपनी राष्ट्रीयता का उल्लेख करते हुए प्रथम ने लिखा कि मुझे गर्व है कि मेरा जन्म आयरलैंड में हुआ है। दूसरे ने भी इसी प्रकार स्काटलैंड में जन्म लेना अपना सौभाग्य बताया था। परंतु तीसरा यात्री, जो हिंदू था, ने लिखा, 'मैं इसे अपने पूर्व जन्म के पापों का परिणाम समझता हूँ कि हिंदू ब्राह्मण परिवार में मेरा जन्म हुआ है।'

ऐसे वातावरण में स्वाभाविक ही अंग्रेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति यह विश्वास करने लगा कि हमारे अतीत जीवन की सभी शताब्दियां अज्ञान, परस्पर मार-काट और कलह की रही हैं तथा उन्हें एक राष्ट्र के रूप में नए सिरे से जीवन का आरंभ करना होगा। अंग्रेजों के विरुद्ध चलाए गए अतीव प्रारंभिक दिनों के उस तथाकथित संघर्ष काल में हम अपने कई बड़े-बड़े नेताओं को इस प्रकार के उद्‌गार व्यक्त करते हुए पाते हैं कि 'हम राष्ट्र गढ़ने जा रहे हैं।' उनके इस कथन का अर्थ यही है कि हम अभी तक एक राष्ट्र के नाते स्वरूपबद्ध नहीं हुए थे। आज भी कई नेता कहते हैं कि हम पिघली हुई धातु के समान निर्माण की संक्रमण अवस्था में हैं। हमें अभी नया आकार, राष्ट्रजीवन के लिए नए अर्थ देना है।

उनकी कल्पना पर हावी होने वाला एक अन्य सिद्धांत भी था कि इस देश के सभी निवासियों पर विदेशी शासन का संकट समान रूप से है और सामान्य संकट के परिणामस्वरूप वे एक नवीन राष्ट्रीयता में ढल जाएंगे। यह एक जानी हुई बात है कि सामान्य संकट तभी राष्ट्रीयता का निर्माण करता है, जब बीज रूप में उसका अस्तित्व पहले से वर्तमान हो। किंतु जहां बीज-रूप में भी राष्ट्रीयता न हो, वहां नव आविर्भाव

संभव नहीं। वह संकट किसी राष्ट्र को उद्‌बद्ध एवं शक्तिसंपन्न बना सकता है, किंतु नितांत नवीन राष्ट्र को निर्मित करने की शक्ति उसमें नहीं होती। वह किसी राष्ट्र में विदेशी आक्रांताओं का प्रतिरोध एवं चुनौती देने की आकांक्षा से उत्पन्न एकत्व एवं बलिदान की भावना का निवेश कर सकता है। सामान्य संकट के सिद्धान्त के अंतर्गत केवल इतना ही आता है। परंतु यहां अपने देश में एक नितांत नवीन जीवन का प्रयोग राष्ट्रीयता की प्राप्ति के दृष्टिकोण से सोचा गया।

प्रादेशिक कल्पना का बेतुकापन

वे यह भूल गए कि यहां पर पहले से हिंदुओं का एक विकसित राष्ट्र था तथा इस देश में रहने वाली अन्य विविध जातियां या तो अभ्यागत के रूप में हैं (यथा यहूदी और पारसी) अथवा आक्रांताओं के रूप में (मुसलमान और ईसाई)। उन्होंने इस प्रश्न पर कभी विचार ही नहीं किया कि किस प्रकार विभिन्न विसंगत वर्ग, जो केवल संयोगवश एक भू-प्रदेश में समान शत्रु के शासन में रहने लगे हैं, उस भूमि के पुत्र कहे जा सकेंगे?

एक बार अपनी एक बैठक में एक सज्जन ने अत्यंत बल देकर कहा कि 'जो भी इस देश में रहता है, उसे इस देश का राष्ट्रीय समझना चाहिए।' मैंने उनसे प्रश्न किया, 'कितने समय तक रहने से?' उन्होंने कहा, 'इसके लिए समय की कोई सीमा नहीं।' मैंने प्रश्न किया, 'एक दिन भी?' उन्होंने कहा, 'हां'। इस पर मैंने कहा कि 'तब तो आनंद मनाओ। समझ लो कि स्वराज्य जीत लिया। हमने एक साम्राज्य भी जीत लिया। अब स्वतंत्रता-संग्राम की अग्नि-परीक्षाओं और क्लेशों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आपकी परिभाषा के अनुसार इंग्लैंड का वर्तमान प्रधानमंत्री रेमसे मेकेडॉनल्ड हमारे देश का राष्ट्रीय है क्योंकि उसने पर्याप्त समय तक यहां निवास किया है। उसका यह अर्थ है कि हम इंग्लैंड पर शासन कर रहे हैं, इंग्लैंड हम पर नहीं।' प्रादेशिक राष्ट्रीयता का यह 'सराय सिद्धांत' हमें उस सीमा तक बेतुके और विकृत निष्कर्षों पर पहुंचा देता है।

प्रादेशिक स्वतंत्रता और समान संकट के सिद्धांतों, जो हमारी राष्ट्रकल्पना के आधार बने थे, ने हमें अपने भावात्मक एवं प्रेरणादायी सच्चे हिंदू-राष्ट्र के भाव से वंचित कर दिया और अनेकों स्वातंत्र्य आंदोलनों को वस्तुत: अंग्रेज-विरोधी आंदोलन बना दिया। अंग्रेजों का विरोध ही देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता का समानार्थी माना गया। हमारे स्वतंत्रता-आंदोलन की संपूर्ण गतिविधि पर उसके नेताओं एवं सामान्य समाज पर इस प्रतिगामी दृष्टिकोण के विनाशकारी प्रभाव हुए।

❑❑❑

१२

प्रादेशिक राष्ट्रवाद के फल

२. उसके फल

दिशाभ्रष्ट देशभक्ति

हमारे देश में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध मुख्य रूप से दो प्रकार के आंदोलन उठे। एक था क्रांतिकारियों द्वारा संचालित सशस्त्र क्रांति के रूप में तथा द्वितीय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संचालित निष्क्रिय प्रतिरोध। इन दोनों पर अंग्रेज-विरोध के जो प्रभाव हुए इन पर हम अलग-अलग विचार करें।

क्रांतिकारी नेताओं ने गुप्त केंद्रों, शस्त्र-शालाओं और अपने जीवन को बलिदान करने के लिए उद्यत रहने वाले तेजस्वी देशभक्त वीरों की टोली का एक जाल फैला दिया था। किंतु यहां-वहां के कुछ देशद्रोही विश्वासघात करके उनके गुप्त कार्यों का भेद शत्रु पर प्रकट कर देते थे। फलत: उनकी अत्यंत सावधानी से बनाई गई सुचिंतित योजनाओं का अंत खेदजनक होता था। जब कोई व्यक्ति बार-बार उद्यम करने पर भी सफल नहीं होता, तब वह अपने चारों ओर किसी ऐसे व्यक्ति को खोजता है, जो उसी पद्धति का अनुसरण करते हुए सफल हुआ हो। यह मानव प्रकृति होने के कारण क्रांतिकारियों ने भी किसी सफल क्रांति का अनुकरण करना चाहा।

इनमें से उन लोगों ने जिनकी राष्ट्रजीवन की पकड़ भावात्मक थी, इस प्रकार की क्रांतिकारी प्रेरणा के लिए अपने देश और अपने इतिहास की ओर देखा। जैसे सावरकर और सुभाषचंद्र बोस, शिवाजी के आदर्श से स्फूर्त थे। अपने देश से अदृश्य होने के पूर्व सुभाषचंद्र बोस ने अपनी अंतिम भेंट में शिवाजी की महत्ता के विषय में अति उच्च भावना प्रकट की थी और यहां तक घोषणा की थी कि केवल शिवाजी के आदर्श तथा पद्धतियों का अनुसरण करके ही हम स्वराज-लाभ कर सकेंगे।

किंतु जिन्हें अपने राष्ट्र की भावात्मक चिरंतन निष्ठा की पकड़ नहीं थी और जिन्हें केवल अंग्रेजी शासन का तीव्र विरोध ही कुछ कर डालने को कोचता रहता था,

उन्होंने अपने अतीत के अतीत और सभी जगह देखा। उन्होंने देखा कि सन् १९१७ में रूस में सफल क्रांति हुई, जिसने जारशाही तथा सामंतशाही का तख्ता उलट दिया और जैसा कहा जाता था, 'जनता का शासन' स्थापित कर दिया। हमारे बहुत से क्रांतिकारी इस पर इतने आसक्त हो गए कि उन्होंने पूर्णतया साम्यवादी विचारधारा तथा साम्यवादी पद्धति पर क्रांति करना अपना उद्देश्य बना लिया। परिणाम यह हुआ कि जो आरंभ में अपने देश की स्वतंत्रता के भक्त थे, अब साम्यवाद, अर्थात् रूस व चीन नेतृत्व के भक्त बन गए। वे अब अपने देश को अपने ही से मुक्त कराने तथा रूसी और चीनी का दास बनाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि जो अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता हेतु अपना जीवन अर्पण करने की इच्छा करते थे, वे आज अपनी उसी मातृभूमि को रूस और चीन का अनुषंगी बनाने के लिए उसी प्रकार जीवन अर्पण करने की इच्छा करने लगे हैं। जो किसी समय ज्वलंत देशभक्ति से पूर्ण देशभक्त थे, वे आज उसी प्रकार उत्कट परदेश-भक्त हो गए हैं। यह कितना घोर पतन है !

कांग्रेसी विध्वंस

दूसरा आंदोलन, जिसका नेतृत्व कांग्रेस ने किया, देश के लिए और भी अधिक विघातक एवं पतनकारी सिद्ध हुआ। विगत कुछ दशाब्दियों में जिन दुःखद प्रसंगों एवं अनिष्टों ने हमारे राष्ट्रजीवन को ग्रसित कर रखा है और अब भी जो उसकी जड़ें खोद रहे हैं, स्पष्टरूपेण उसी के परिणाम हैं।

जब कांग्रेस के नेताओं का सामना ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति से हुआ, तो उन्हें अपनी शक्ति बहुत कम प्रतीत हुई। अपनी दुर्बलता के कारण उसकी पूर्ति के लिए, अपने चारों ओर वे अन्य देशों की ओर सहायतार्थ देखने लगे। क्रांतिकारी भी इस प्रकार का प्रयास कर चुके थे। किंतु विदेशी शक्तियां दुर्बल समाजों की सहायता के लिए तब तक नहीं आतीं, जब तक वे अपने निजी स्वार्थ-पूर्ति के कुछ अवसर नहीं देखतीं। कुछ चोटी के कांग्रेसी नेता अफगानिस्तान के अमीर अमानुल्ला से सहायता के लिए मिले। योजना यह थी कि हमारे आंतरिक विद्रोह के साथ-साथ अमीर हमारे देश पर आक्रमण करें और अंग्रेजों को निकाल बाहर करने में हमारी सहायता करें। हमारी ओर से यह प्रतिज्ञा की गई थी कि इस सहायता के प्रतिदानस्वरूप हम उसे अंग्रेज के स्थान पर बादशाह स्वीकार कर लेंगे, किंतु अंग्रेज विचक्षण होने के कारण इस कूट योजना से अवगत हो गया। उसने इन नेताओं को प्रतिबंधित कर दिया और अपनी विदग्ध कूटनीति के द्वारा अफगानिस्तान में अमानुल्ला के आधिपत्य को ही योजनापूर्वक उलट दिया।

जब यह उपाय असफल हो गया, तब कांग्रेस के नेताओं ने सोचा कि कम से कम यहां के सभी रहने वालों का एक सम्मिलित मोर्चा अंग्रेजों के विरुद्ध बनाया जाए और वह उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना के अनुकूल भी था। हिंदुओं के अतिरिक्त यहां चार संप्रदाय और निवास कर रहे थे- यहूदी , पारसी, ईसाई और मुसलमान।

हिंदुओं के संबंध में कोई कठिनाई न थी, क्योंकि वे स्वभाव से ही अपनी पवित्र मातृभूमि के रूप में इस देश को प्यार करते हैं। अति प्राचीनकाल से उन्होंने यहां एक महान् संस्कृति एवं परंपरागत स्वत्व निर्माण किया है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और देश के सभी भागों में महान मनीषियों एवं कर्मयोगियों को जन्म दिया था। अतएव हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक संपूर्ण देश उनके लिए पवित्र है। वे देश को विदेशी सत्ता से स्वाधीन करना चाहते थे। उनके शास्त्र उन्हें स्वतंत्रता की स्पृहा करने का आदेश देते हैं **'नत्वेवार्यस्य दास्य भाव: ।'** स्वातंत्र्य भावना तो उनके रक्त में ही समाविष्ट है। उन्होंने भूतकाल में भी कभी विदेशी सत्ता को स्वीकार नहीं किया तथा सफलता की विविध अवस्थाओं के साथ उस सत्ता की शृंखलाओं पर आघात करते रहे।

यहूदी, पारसी व ईसाई

अब रहे यहूदी और पारसी समाज, जो यहां शरणार्थी के रूप में आए थे। यहूदियों की संख्या अत्यल्प होने के कारण उनकी उपेक्षा की गई। पारसी संख्या में अल्प होते हुए भी एक मेधावी, उद्यमी एवं उन्नतिशील जाति थी। बहुत परिमाण में वे यहां के हिंदू-जीवन की मुख्यधारा में विलीन हो चुके थे। उन्होंने हमारी मातृभूमि के लिए उत्कट प्रेम विकसित कर लिया था और हमारे स्वातंत्र्य संग्राम की अग्रिम पंक्ति में थे। दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता और मैडम कामा स्वातंत्र्य सैनिकों के लिए प्रेरणा के प्रतीक थे।

अब ईसाई सज्जनों का प्रश्न उठता है। सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में यहां पर कुछ पादरियों ने इस विप्लव को दबाने में अंग्रेज सरकार की सहायता के लिए पलटनें बनाई थीं। तब से वे सदैव अंग्रेजों के पक्ष में रहे थे। वे थे तो इनके संप्रदाय के ही। अंग्रेज भी ईसाई धर्मप्रचारकों के कार्यों में भली-भांति सहायता करते थे। छोटा नागपुर और नागा प्रदेश जैसे विस्तृत वन्य एवं पर्वतीय क्षेत्र केवल ईसाई धर्मप्रचारकों के प्रवेश के लिए चुन लिए गए और इनके सीमांचल अन्य धर्मों के उपदेशकों के लिए पूर्ण रूप से बंद कर दिए गए। स्थानीय ईसाईयों, ईसाई धर्मप्रचार संस्थाओं और अंग्रेज सरकार के बीच एक स्वाभाविक समन्वय का भाव था। इसलिए सामान्यत: ईसाइयों ने अपने को स्वतंत्रता-संग्राम से पृथक् रखा था।

नेतृत्व की परीक्षा

फिर आया मुसलमानों का प्रश्न। वे यहां आक्रांताओं के रूप में आए थे। वे अपने को गत बारह सौ वर्षों से इस देश का विजेता और शासक समझ रहे थे। यह भाव इनके मन में अब भी था। इतिहास साक्षी है कि उनका विरोध केवल राजनीतिक ही नहीं था। यदि ऐसा रहा होता तो उन्हें अत्यल्प काल में ही अपना लिया जा सकता था, किंतु यह विरोध इतना दुराग्रही और गहरा था कि हम जिस वस्तु में भी विश्वास रखते थे, मुसलमान पूर्णरूप से उसके प्रति प्रतिकूल होता था। यदि हम मंदिर में पूजा करते हैं, तो वह उसे अपवित्र करेगा। यदि हम भजन करते हैं और भगवान की रथयात्रा निकालते हैं, तो उससे वह रुष्ट होगा। यदि हम गौ को पूजते हैं, तो वह उसे खाना पसंद करेगा। यदि हम स्त्री को पवित्र मातृत्व के प्रतीक के रूप में सम्मानित करते हैं, तो वह उस पर बलात्कार करेगा। वह हमारी जीवन-पद्धति के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि सभी पक्षों का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ विरोधी था। उसने इस प्रतिकूलता को चरम सीमा तक ग्रहण किया था। उनकी संख्या भी अल्प न थी। हिंदू के पश्चात् इन्हीं की संख्या सर्वाधिक थी।

हमारे नेताओं के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि किस प्रकार उन लोगों की इस प्रतिकूल मनोवृत्ति को दूर कर उन्हें देशभक्तों की श्रेणी में लाया जाए? इसके लिए एक अत्यंत युक्तियुक्त और देशभक्तिपूर्ण उपाय था। वह यह था कि उनसे स्पष्ट कह दिया जाए 'दोस्तो, पुरानी मुगल बादशाहत के दिन बीत चुके हैं। अंत में हम दोनों को यहां भाई-भाई की भांति इस राष्ट्रजीवन में भागीदार के रूप में रहना है। आखिर आप भी उस जाति के हैं, जिसके हम हैं। हमारा आपका रक्त एक ही है, किंतु मुगल, तुर्क तथा अन्य विदेशी जातियों ने आपको तलवार की नोंक से इस्लाम में धर्मांतरित कर लिया है। अब मन से उन विदेशी आक्रांताओं से अपने को संबंधित रखने और उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने के प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार की सभी अलगाव की स्मृतियों को भूल जाओ। इस भूमि के जीवन में अपने को विलीन करो। अब से इस देश के महान् पुत्रों का सम्मान करने और इनके उदाहरणों का अनुसरण करने का प्रयत्न करो, जो हमारी मातृभूमि एवं संस्कृति की स्वतंत्रता और सम्मान के लिए लड़े हैं, तो कार्य बहुत सरल हो गया होता। उदाहरणार्थ, नार्मन लोग इंग्लैंड में आक्रांता बनकर आए थे, किंतु बाद में दोनों एक-दूसरे में विलीन हो गए और भावी आक्रमणों का एक संगठित समाज की भांति सामना किया तथा आज भी वे एकात्म जीवनयापन कर रहे हैं।

आत्मघात के बीज बोना

किंतु युद्धप्रिय, उपद्रवी मुसलमान से यह कहने के लिए कि उनके पूर्वज हिंदू थे, उसे एक स्वाभिमानी पुरुष के समान हिंदू-समाज में लौट आना चाहिए, उसे मुगलों के समय की अपनी आक्रामक वृत्ति त्याग देना चाहिए तथा वर्तमान की वास्तविकताओं के प्रति सचेत होकर जीवन की राष्ट्रीय धारा में अपने को विलीन कर लेना चाहिए। सत्य की परम महत्ता में अविचल निष्ठा एवं परिस्थिति के कठोर सत्य का सामना करने का अदम्य साहस चाहिए था, किंतु दुर्भाग्यवश इस समय के अनेक अग्रणी व्यक्तियों में सत्य के प्रति दृढ़ आग्रह, प्रेम तथा निर्भीकता का अभाव था।

हमारे सामने मौलाना मुहम्मद अली का उदाहरण है। वे महात्माजी के दाहिने हाथ माने जाते थे और एक निष्ठावान मुसलमान थे। वे सन् १९२३ में कांग्रेस के काकिनाडा अधिवेशन के सभापति चुने गए थे। उस अधिवेशन में राष्ट्रीय गीत 'वंदेमातरम्' के गान के लिए प्रख्यात देशभक्त संगीतज्ञ पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर आए थे। जैसे ही अधिवेशन प्रारंभ होने को हुआ और वंदेमातरम् का गान करने के लिए वे आगे बढ़े, मौलाना साहब ने उन्हें यह कहते हुए रोक दिया, 'नहीं, आप यह राष्ट्रीय गीत नहीं गा सकते। यह हमारी धार्मिक भावना पर आघात करता है।' किंतु दृढ़निश्चयी पलुस्कर ने यह कहकर दब जाने से इनकार कर दिया कि वह विशेष रूप से इसीलिए आए हैं और अपने कर्तव्य को पूरा करेंगे। क्रोध में आकर मौलाना साहब उस स्थान से चले गए और जब तक राष्ट्रीय गीत चलता रहा, दूर खड़े रहे। वहां एकत्रित नेताओं की संपूर्ण भीड़ में एक भी ऐसी साहसी आत्मा नहीं थी, जिसमें उनसे यह कहने का साहस होता कि 'जनाब, यह हमारा राष्ट्रीय गीत है। राष्ट्रीय महासभा के सभापति के नाते आपको इसके गायन पर ऐतराज नहीं होना चाहिए। देशभक्ति के मार्ग में अन्य विचारों को नहीं आने देना चाहिए।' किंतु इसके विपरीत इस सांप्रदायिक धर्मांधता को तुष्ट करने के लिए वंदेमातरम् के कुछ अंश ही निकाल दिए गए।

इस प्रकार हमारे नेताओं में विशुद्ध राष्ट्रीयता के स्पष्ट आधार पर मुस्लिम दुराग्रह का सामना करने की इच्छा एवं निष्ठा के नितांत अभाव के कारण ही मुस्लिम तुष्टिकरण के बीज बोए गए। नई एकता और नई राष्ट्रीयता को प्राप्त करने के पीछे दौड़ते हुए हमारे नेताओं ने 'हिंदू-मुस्लिम' एकता का नारा लगाया और घोषणा की कि इसके मार्ग में जो भी वस्तु बाधा के रूप में आए, उसे भूल जाना चाहिए। वे मुसलमान से यह कहने का साहस नहीं कर सके कि वह अपनी विघटनकारी वृत्ति को भूल जाए। वे अपने सभी उपदेशों की बौछार विनम्र हिंदू पर ही करने लगे। उनका

प्रथम उपदेश था कि हमारी राष्ट्रीयता हिंदू नहीं कही जा सकती और न हमारा देश ही अपने परंपरागत 'हिंदुस्थान' नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि यह मुसलमान को बुरा लगेगा। अंग्रेजों द्वारा दिया हुआ 'इंडिया' नाम स्वीकृत हुआ। इस नाम को लेते हुए भारत को नवीन राष्ट्र 'इंडियन राष्ट्र' कहा गया और हिंदू से कहा गया कि वह अपना नाम 'इंडियन' रख ले।

हिंदू बलि का बकरा

नेताओं के उपदेश यहीं तक समाप्त नहीं हुए। हिंदू से कहा गया कि वह मुसलमानों द्वारा हुए ध्वंस और अत्याचारों की उपेक्षा करें। उनके समक्ष नम्रता से झुक जाएं। उनसे कहा गया, 'मुसलमानों ने तुम्हारे प्रति भूतकाल में जो कुछ किया है और अब जो कुछ कर रहे हैं, उसे भूल जाओ। यदि मंदिर में तुम्हारा पूजा करना और सड़कों पर देवताओं की शोभा-यात्राएं मुसलमानों को कुपित करती हैं, तो यह काम मत करो। यदि वे तुम्हारी पत्नियों और पुत्रियों को ले जाते हैं, तो ले जाने दो। उन्हें बाधा मत दो। यह हिंसा होगी।' उन दिनों उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत में एक मुसलमान ने एक हिंदू लड़की का अपहरण किया। केंद्रीय धारा-सभा (सेंट्रल असेंबली) में यह प्रश्न रखा गया, जहां हमारे प्रमुख नेतागण भी उपस्थित थे। एक मुसलमान कांग्रेसी नेता ने बड़े सरल भाव से यह कहकर उस बात को उड़ा दिया कि 'अंतत: लड़के, लड़के हैं और लड़कियां, लड़कियां हैं।' इस अपमानकारक वाक्य पर वहां उपस्थित एक भी हिंदू नेता का विरोध-स्वर नहीं उठा। किसी ने भी यह पूछने का साहस नहीं किया कि यदि यह केवल लड़के और लड़कियों का ही मामला है तो मुसलमान लड़के सदैव हिंदू लड़कियों का ही अपहरण क्यों करते हैं, मुसलमान लड़कियों का क्यों नहीं करते? उन्होंने तो उसमें एक विनोद का आनंद लिया।

जब हिंदू भावनाओं का अपमान करने के लिए मुसलमानों ने गाय काटी, तब हिंदुओं से कहा गया कि वह मुसलमानों का धार्मिक अधिकार है। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु होने के कारण तुम्हें इस पर आपत्ति नहीं करनी चाहिए। पं. जवाहरलाल ने मुसलमानों को लिखित आश्वासन दिया कि उनकी धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखते हुए स्वराज मिलने पर गोवध पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाएगा, यद्यपि कुरान में गोवध के लिए स्वीकृतिसूचक एक भी शब्द नहीं है।

उन दिनों एक विशिष्ट हिंदू व्यक्ति द्वारा बड़ी सार्वजनिक सभा में यह घोषणा की गई कि 'बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज्य नहीं हो सकता और इस एकता को प्राप्त करने का सरलतम मार्ग है कि सभी हिंदू मुसलमान हो जाएं।' उन्होंने इतना

भी नहीं समझा कि वह 'हिंदू-मुस्लिम एकता' न होकर केवल 'मुस्लिम एकता' होगी, क्योंकि हिंदू तो रहेंगे ही नहीं।

इस सीमा तक हिंदुओं को आत्मविस्मरण सिखाया गया। अपना वैभवशाली इतिहास भूल जाने की शिक्षा उन्हें दी गई। उन्हें सिखाया गया कि राणाप्रताप, शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह तथा इस प्रकार के सभी प्रेरणादायी नामों को भूल जाओ और जिन लोगों को उनका स्मरण फिर भी होता रहे तो उन्हें 'पथभ्रष्ट देशभक्त' कहो। वास्तव में उनके द्वारा 'हिंदू-मुस्लिम एकता' के घोष के अनुरूप इतिहास की 'नई खोज' की गई। इस प्रकार के आविष्कार के उदाहरणस्वरूप हमारे देश के एक प्रख्यात विद्वान का लेख है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाए जाने की बात को सिद्ध करने वाला कोई भी लिखित प्रमाण नहीं है। क्या यह आविष्कार मौलिकता में आइन्स्टीन के आविष्कारों से भी ऊंचा नहीं है? यह सब हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए, अर्थात् स्वराज्य प्राप्ति के लिए है, ऐसा समझा जाता था। श्रद्धालु एवं स्वतंत्रता-प्रिय हिंदू ने इन सब पर विश्वास किया और अपने हिंदुत्व, अपने युगों प्राचीन सभी आदर्शों, परंपरागत स्वत्व तथा आकांक्षाओं को बलिदान करने के लिए उद्यत हो गया, क्योंकि उससे उसके नेताओं ने कहा कि बिना यह किए हिंदू-मुस्लिम एकता संभव नहीं है और हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक प्रख्यात नेता ने तो यहां तक कहा कि हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना वह स्वराज्य स्वीकार नहीं करेगा।

दूसरे शब्दों में, हिंदू से कहा गया कि वह अशक्त है, वह निर्जीव है। उसमें अपने पैरों पर खड़े होने तथा मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए लड़ने का दम नहीं है। यह सब उसमें मुस्लिम रक्त के रूप में प्रविष्ट करवाना होगा। कितनी निर्लज्जता और दुर्भाग्य की बात है कि हमारे अपने ही नेता हममें से प्राचीन अदम्य विश्वास का उच्छेद करें तथा हमारे आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना, जो किसी भी समाज का जीवनप्राण होती है, को नष्ट करें। 'हिंदू-मुस्लिम एकता' के बिना स्वराज नहीं, की घोषणा करने वालों ने इस प्रकार हमारे समाज के प्रति सबसे बड़े द्रोह का अपराध किया है। उन्होंने एक महान प्राचीन समाज के जीवन को हतोत्साहित करने का जघन्य पाप किया है। महान इतिहासकार यदुनाथ सरकार जिन्होंने, समस्त विश्व के समक्ष यह सिद्ध किया कि हिंदू अमृत रसपान किए हुए हैं, जिस समाज में शिवाजी का जन्म हुआ, उस समाज को नपुंसकता का उपदेश देने तथा ऐसे महावीर्य-संपन्न समाज के आत्मविश्वास एवं चैतन्य को भंग करने के समान बड़ा विश्वासघात संसार के इतिहास में नहीं है।

कड़ुवे फल

इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि सन् १९४६ में हिंदू-मुसलमानों के हाथ परास्त हो गए। उन मुसलमानों के सामने, जिनमें अधिकांश वे थे, जो प्राणों के भय से अथवा धन एवं शक्ति के प्रलोभनों द्वारा इस्लाम में धर्मांतरित किए गए थे, अर्थात् वे हमारे समाज के उस वर्ग की संतान थे, जिसमें अपने स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए अविचलित भाव से खड़े रहने का मानसिक सत्व और स्वाभिमान नहीं था। जिन्हें अपनी रक्षा के लिए शत्रु-पक्ष में मिल जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ था। और हम, जो ऐसे अद्वितीय शौर्यसंपन्न पराक्रमी पूर्वजों की संतान हैं, जो शताब्दियों तक आक्रांता मुसलमानों के झंझावत की एक के बाद दूसरी लहरों को चुनौती देते हुए ठोकर मारते रहने से इस प्रकार के लोगों के हाथों पराजय स्वीकार की।

यह पराजय कितनी अपमानास्पद थी। उन आक्रांताओं के साथ गत एक हजार वर्षों के अपने संघर्ष में हमने कभी इनका सार्वभौम अधिकार अपने इस देश के किसी भी भाग पर स्वीकार नहीं किया था। उस समय भी, जब अकबर तथा औरंगजेब के काल में हमारे देश का एक बहुत बड़ा भाग उनके शासन में था, तब एक दिन भी ऐसा नहीं गया, जब कोई राणाप्रताप, गुरु गोविंदसिंह, छत्रसाल अथवा शिवाजी उन्हें चुनौती देने एवं अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के अधिकार को जताने के लिए खड़े न रहे हों। अंग्रेजों के राज्यकाल में भी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की प्रेरणादायी परंपरा निरंतर चलती रही। तथापि प्रथम बार सन् १९४७ में हमने लड़ना छोड़ दिया और राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए एक हजार वर्ष के यशस्वी संघर्ष का निंदनीय अंत कर दिया। अपने देश के बहुत बड़े भाग पर आक्रांता के निर्द्वंद्व आधिपत्य को मानकर हमने अपने सभी अधिकारों को उन्हें समर्पित कर दिया।

यह था कटु परिणाम हिंदुओं में निर्माण किए गए आत्मविश्वास की भावना के निरंतर ह्रास का, जिसका कारण था हमारे नेताओं द्वारा आग्रहपूर्वक किया गया वह आत्मघाती घोष कि 'बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता।'

बुरे कर्मों का फल

संसार में अन्य कोई भी समाज इस विषय में अब तक हम हिंदुओं के समान असामान्य रूप से अभागा नहीं रहा। भिन्न-भिन्न समाजों के नेताओं ने सदैव अपने समाजों में आत्मविश्वास निर्विष्ट करने, उनकी शिथिल होती हुई चेतना को जागृत करने तथा शत्रुओं के सामने उन्हें वर्यवान एवं विजयी बनाने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति से प्रयत्न किया। किंतु यहां हमारे ही नेता थे, जो मानो अपने समाज से समस्त

पौरुष को क्षय करने की प्रतिज्ञा लिए हुए थे। यह कोई इतिहास की संयोगवश घटित हुई घटना मात्र नहीं है। यह नेतृत्व हमें उस धिक्कारने योग्य हमारे पूर्वजों की लंबी जमात की तीव्रतम कड़वाहट के रूप में प्राप्त हुआ, जिन्होंने गत बारह सौ वर्षों में सम्मान तथा स्वतंत्रता को विदेशियों के हाथों बेचा और अपना व्यक्तिगत बड़प्पन चमकाने हेतु अपने ही जाति-बंधुओं के गले काटने के लिए अपने देश तथा धर्म के चिरकालिक शत्रुओं से हाथ मिलाया। आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसे लोगों को अपने बुरे कर्मों के फल के रूप में आज इस प्रकार का आत्मघाती नेतृत्व प्राप्त हुआ।

तुष्टिकरण से क्षुधा तीव्र होती है

ये नेता इतना भयंकर मूल्य चुकाने पर भी हिंदू-मुस्लिम एकता के अपने स्वप्न को साकार नहीं कर सके। हमारे नेताओं ने उन्हें संतुष्ट करने का जितना अधिक प्रयत्न किया, उनकी विघटनात्मक एवं आक्रामक भूख उतनी ही तीव्र हुई। अंग्रेज राष्ट्रीयतावादी शक्तियों के विरुद्ध उन्हें खड़ा करने के लिए उनके विघटन के दांत-पंजे पैने करता रहा। इस प्रकार मुसलमानों की स्थिति यह हुई कि अंग्रेज और राष्ट्रवादी दोनों ही उन्हें अपने-अपने पक्ष में चाहने लगे और उनका मूल्य ऊंचा, और ऊंचा चढ़ता गया।

सन् १८८७ में सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है कि मुसलमानों को कांग्रेस अधिवेशनों में ले जाने के लिए वे लोग भरसक प्रयत्न करते थे। उन्हें रेल-किराया तथा अन्य सुविधाएं दिया करते थे, जिससे कांग्रेस केवल हिंदुओं की संस्था न दिखे। इन सब प्रयत्नों के होते हुए भी अत्यल्प मुसलमान आते थे।

स्वतंत्रता-संग्राम में एक बार पंडित नेहरू ने अपने निज के प्रांत में मुस्लिम जनसंपर्क इसलिए आरंभ किया था, ताकि मुसलमानों को अपने पक्ष में लाया जा सके, किंतु परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम लीग बड़े जोरों से बढ़ने लगी और वही प्रांत, याने उत्तरप्रदेश विघटनकारी मुस्लिम आंदोलन का प्रमुख अड्डा हो गया।

इससे पूर्व सन् १९१६ में ही लखनऊ-समझौते के अनुसार कांग्रेस ने मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन की मांग को स्वीकार कर लिया था। उसके पश्चात् सन् १९३१ के सांप्रदायिक निर्णय में उन्हें केंद्रीय धारा-सभा में सवा तैंतीस प्रतिशत स्थान दे दिए गए, यद्यपि उनकी कुल जनसंख्या २४ प्रतिशत ही थी। इसके सिवाय बंगाल और पंजाब में, जहां जनगणना के समय हिंदुओं की अपेक्षा अधिक जनसंख्या दिखाने के लिए मुस्लिम जनसंख्या के आंकड़े बढ़वाए गए थे, उन्हें वैध रूप से बहुसंख्यक मान लिया गया। इस प्रकार मुसलमानों के लिए सुरक्षित स्थानों की संख्या इस बढ़ाई हुई

जनसंख्या से भी अनुपाततः बहुत अधिक थी। अन्य प्रांतों में, जहां मुसलमान अल्पसंख्या में थे, उन्हें अधिप्रतिनिधित्व (वेटेज) दिया गया। इससे जनसंख्या के अनुपात की अपेक्षा उन्हें अत्यधिक प्रतिनिधित्व मिला। फिर भी उनकी मांगें बढ़ती ही गईं। सन् १९४६ में जब केंद्रीय अंतरिम सरकार बनी, तब मुसलमानों को सवर्ण हिंदुओं से समानता दी गई और इस प्रकार हिंदुओं में विभेद निर्माण किया गया। अंत में उनका मूल्य इतना बढ़ गया कि उन्होंने इस देश के दो बड़े भाग ही नहीं ले लिए, जहां कि आज वे इनके पूर्ण स्वामी के रूप में निवास करते हुए हमारे देश के अवशिष्ट को विजय करने की योजनाएं बनाते हैं, वरन् यहां भी पर्याप्त संख्या में, संभाव्य पंचगामी के रूप में रह रहे हैं।

ध्वस्त घोष

अंग्रेजों के भारत छोड़ने तथा हमारे नेताओं के साधिकार कथन के अनुसार स्वराज के आगमन के साथ ही घटित हुए विभाजन ने इस घोष 'कि बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता' की असत्यता का भंडाफोड़ किया। वास्तव में हिंदू और मुसलमानों के संबंध इतने कटु तथा विलग और कभी नहीं हुए थे, जितने सन् १९४६ और १९४७ के वर्षों में हुए। लाखों परिवार अपने पैतृक गृहों से उन्मूलित हो गए। प्रांत के प्रांत रक्त की नदियों के बहने से लाल हो गए तथा मृत्यु-विनाश एवं अपकीर्ति ने कोटि-कोटि निरपराध मानवों के मुख क्षतांगित कर दिए। उन दोनों के बीच युगों का सामान्य सामाजिक संसर्ग इस काल में विच्छिन्न हो गया। यह ठीक वही समय था, जब अंग्रेजों ने यह देश छोड़ा। किन शब्दों में हम नेताओं की दूरदर्शिता एवं राजनीतिज्ञता का वर्णन करें, जिन्होंने यह उद्घोष किया था कि 'बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता।'

शोधक

अंग्रेज के इस देश से चले जाने के पश्चात् आज भी हम राष्ट्रीयता की उस प्रतिगामी एवं विकृत कल्पना के विघातक परिणाम देख रहे हैं। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि किसी विशेष मार्ग को ग्रहण करने में आरंभ का अल्प पथ-भ्रंश भी कुछ समय पश्चात् मनुष्य को नितांत भिन्न लक्ष्य पर पहुंचा देता है। यदि एक बार मनुष्य कोई भूल कर बैठता है, तो वह इसे आग्रहपूर्वक पकड़े रहता है। इस भ्रांत-पथ को छोड़ देने का दूसरों का उपदेश उसे केवल कुपित करता है तथा और भी दुराग्रह से उसी से संलग्न रखता है। भूल करना मानवीयता है, किंतु प्रमाणित

और निर्णीत भूल को हठपूर्वक पकड़े रहना अमानवीयता है। यह तो एक पशु की विशेषता है, मानव-प्राणी की नहीं। बुद्धिमान मानव-प्राणी का तो यह गुण होता है कि अपनी भूल को स्वीकार करे और अत्यंत नम्रतापूर्वक उस भूल को पुनः कभी न दुहराने के निश्चय के साथ शोधन करे। किंतु दुर्भाग्य से हमारे नेता अपनी राष्ट्रीयता की प्रादेशिक कल्पना, जिससे अपनी मातृभूमि के विभाजन का अभूतपूर्व दुःखद प्रसंग उसके नित्य एवं बढ़ते हुए संकटों के साथ उपस्थित हुआ और अपने दो करोड़ से अधिक बंधुओं का उन्मूलन घटित हुआ तथा जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अकथनीय क्लेश, उच्छेदन, दुर्गति एवं अपमान सहना पड़ा, का पुनर्निरीक्षण एवं शोधन करने के लिए उद्यत नहीं हैं।

यह है राष्ट्र की गलत और अस्वाभाविक कल्पना का मूल्य, जिसे हमने ग्रहण किया था। इसे हमने चुकाया और चुकाते आ रहे हैं। उसमें से इससे अच्छा कहलाने योग्य कुछ भी निकलने की आशा नहीं की जा सकती। निश्चय ही प्रादेशिक राष्ट्रीयता की कल्पना ने हमारे राष्ट्र को वीर्यहीन कर दिया है। जीवन-शक्ति से रहित इस शरीर से हम और अधिक क्या आशा कर सकते हैं?

एक बार किसी विद्यालय के प्राणिशास्त्र विभाग के छात्रों ने अपने वृद्ध आचार्य से विनोद करने की योजना बनाई। उन्होंने एक जल-कीट (वॉटरबग) की टांगें अलग करके एक अन्य जाति के कीट में इसे जोड़ दिया। वे इसे अपने आचार्य के पास लाए और संभ्रम के स्वर में पूछा, 'महाशय हम लोग नहीं जान सके कि यह क्या है? यह नए प्रकार का कैसा कीट (बग) है?' वृद्ध आचार्य ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उसका परीक्षण किया और गंभीरता से बोले, 'बच्चों, यह क्या बात है कि तुम इसके समान सरल साधारण बग भी नहीं जानते ? इस बग का नाम हमबग (वंचना) है।'

यह थी 'हमबग' की तरह की राष्ट्रीयता, जिसमें प्राण डालने का प्रयास किया गया। यह एक ऐसा अनोखा प्राणी निर्माण करने के प्रयास के समान था, जैसे हाथी के धड़ में बंदर का सिर तथा बैल की टांगें जोड़कर बनाए जाए, इसका परिणाम तो बस एक वीभत्स शव ही होगा। यह सजीव शरीर नहीं हो सकता। यदि उस शरीर में कुछ संचलन दिखेगा भी तो वह उस शव के सड़ने से उत्पन्न हुए कीटाणुओं एवं रोग-जंतुओं के कारण ही होगा। वही आज हम देख रहे हैं कि अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक तथा निर्जीव प्रादेशिक राष्ट्रीयता को त्यागने से भ्रष्टाचार, विच्छिन्नता एवं विघटन हमारे राष्ट्र की जीवनी-शक्तियों को खा रहे हैं।

अत: यदि हमें पुन: एक राष्ट्र के रूप में खड़े होना है, तो अपनी इस प्रारंभिक महती भूल का शोधन करना चाहिए, जिसे हमने इस नई फैशन के राष्ट्रीयता की कल्पना का स्वीकार करके किया है तथा जो अनुभव द्वारा नितांत मिथ्या एवं घातक सिद्ध हो चुकी है। स्वार्थी लोगों के धूर्ततापूर्ण प्रचार से हमें गलत मार्ग पर भ्रमित नहीं होना चाहिए। हम अब तक उनके उत्साही उपदेशों 'हम हिंदुओं को, जिनका मानव-भ्रातृत्व का इतना महान दर्शन, भाव की विशालता आदि है, उन्हें अपने को हिंदू राष्ट्रीयता तथा इस प्रकार के सभी सांप्रदायिक, मध्ययुगीन एवं प्रतिगामी विचारों के कथन द्वारा संकुचित नहीं कर लेना चाहिए' से पर्याप्त मूर्ख बन चुके हैं। हमें इस कपट को समझ लेना चाहिए तथा अपनी इस राष्ट्रीयता, जो एक सनातन सत्य है, की ओर पुन: लौटना चाहिए। हिंदू ही भारत के राष्ट्रीय होने के कारण हमारे संगठन के लिए 'राष्ट्रीय' शब्द जब निर्णीत किया गया था, तब स्पष्ट रूप से हमारे पूज्य संस्थापक ने इसी तथ्य का पुन: निरूपण किया था। हमें एक बार पुन: अपने वास्तविक एवं पूर्ण आकार तक उठ कर खड़ा होना चाहिए और साहस के साथ दृढ़तापूर्वक कहना चाहिए कि हम भारत में हिंदू राष्ट्रीय जीवन का उत्कर्ष करते हुए उसे वैभव और सम्मान के उस उच्चतम शिखर पर पहुंचाएंगे, जो अति प्राचीनकाल से इसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

❑❑❑

१३

दृढ़ धारणा के लिए साहस का आह्वान

हृदय से सब स्वीकार करते हैं, किंतु .....

आज हम अपने देश में विचित्र घटनाएं घटित होते देख रहे हैं। हिंदू राष्ट्रीयता की वास्तविक एवं भावात्मक कल्पना को तो सांप्रदायिक, प्रतिगामी, संकुचित आदि उपाधियां दी जा रही हैं, पर प्रादेशिक राष्ट्रीयता के अवैज्ञानिक प्रतिगामी एवं विघातक सिद्धांत को हमारे आज के नेतागण धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील तथा व्यापक दृष्टिकोणवाला प्रदर्शित कर रहे हैं। किंतु इस उठाए हुए राजनैतिक धूल के बादल के होते हुए भी क्या तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी अपने हृदय के अंतरतम में मूलत: हमसे भिन्न हैं?

आज अपने देश के अत्यंत प्रमुख व्यक्ति इस दर्शन एवं कला की महानता की अति उत्साहपूर्वक प्रशंसा करते हैं, जिसे वे 'इंडियन फिलासफी' और 'इंडियन आर्ट' कहते हैं। वे कहते हैं- भारतीय दर्शन की उच्चतम उड़ानें उपनिषदों में प्राप्त होती हैं, कालिदास भारतीय साहित्य के सर्वोत्तम रत्न हैं, आदि। वे घोषणा करते हैं कि इंडियन थॉट मानवता के लिए अनोखी देन है, जिसमें विविधता में एकता को देखना तथा पृथ्वी के सभी संप्रदायों तथा पंथों के प्रति सम्मान का भाव है। पर क्या इन सबमें जो कुछ हिंदू हैं, उससे भिन्न कोई वस्तु 'इंडियन' है?

एक बार एक प्रमुख नेता ने मुझसे कहा, 'निस्संदेह हिंदू-राष्ट्र के संबंध में आप जो कुछ प्रतिपादित करते हैं, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किंतु कूटनीतिज्ञता से उसी को 'हिंदू' के स्थान पर 'भारतीय' कहकर क्यों न रखा जाए? क्योंकि आजकल 'हिंदू' शब्द आक्रामक प्रतीत होता है।' उन्होंने संस्कृत का प्रसिद्ध वचन उद्धृत किया, **'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'**। सत्य को छलने का कितना सुंदर ढंग है। यथार्थ में इस उक्ति का सही अर्थ दूसरा ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अप्रिय सत्य को दबाना चाहिए। इसका अर्थ तो असत्य को प्रश्रय देना होगा। सत्य अवश्य कहना चाहिए, किंतु मीठे ढंग से। सत्य तो यह है कि जिस विचार का हम प्रतिनिधित्व करते हैं, उसका शुद्ध एवं स्पष्ट वर्णन 'हिंदू' शब्द द्वारा ही हो सकता है। यद्यपि

'भारतीय' शब्द से भी वही अर्थ व्यक्त होना चाहिए, किंतु आज जिस ढंग से उसका प्रयोग हमारे नेताओं ने किया है, वह भ्रमोत्पादक तथा सत्य से परे ले जाने वाला है। अत: हमने निश्चय किया है कि किसी को प्रसन्न करने अथवा किसी की तुष्टि के लिए सत्य को मिश्रण द्वारा क्षीण नहीं करेंगे। हम इस सत्य को प्रचलित करते हुए इतने निम्न स्तर पर भी नहीं आएंगे कि कटु भाषा का प्रयोग करने लगें। हमारा आधार हमारे राष्ट्रीय जीवन का शुद्ध एवं भावात्मक विषय ही है। हम राष्ट्र की सभी समस्याओं को उसी के स्पष्ट प्रकाश में देखते हैं।

हिंदू राष्ट्रीयता के इस सत्य की छाप सभी मस्तिष्कों पर है, भले ही कुछ लोग इसे शब्दों में व्यक्त न करें। सोमनाथ का ही उदाहरण लें। जब सोमनाथ के मंदिर का नवनिर्माण होकर स्थापना-संस्कार हुआ, तब हमारे देश के अनेक महान् नेता तथा विद्वान वहां गए, जिनमें हमारे राष्ट्रपति स्मरणीय डा. राजेंद्रप्रसाद भी थे। इस अवसर पर उनके भाषण का प्रमुख भाव क्या था? उन्होंने कहा कि 'सोमनाथ के पुनर्निर्माण द्वारा हम बारह सौ वर्षों की दासता का कलंक धो रहे हैं।' यह सत्य प्रकट करने वाला वाक्य है। जब उन्होंने बारह सौ वर्षों की दासता की बात कही तो हमें दास बनाने वाले कौन लोग उनके मस्तिष्क में थे? सोमनाथ का मंदिर किसने तोड़ा? स्पष्ट है कि वे मुसलमान थे। किन लोगों के लिए यह सम्मान तथा भक्ति का विषय था? इसका भी उत्तर बहुत स्पष्ट है। यह सब हिंदुओं के लिए सम्मान का विषय है। उन्हीं का यह एक ज्योतिर्लिंग है। इस मंदिर का ध्वंस हिंदू-समाज के गौरव के लिए अपमानकारक था, उसके पुनर्निर्माण द्वारा इस गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा की गई। विदेशी आक्रमण, अर्थात् मुसलमानों के आक्रमण के कलंक को धो डाला गया। इस एक ही वाक्य में उन्होंने असंदिग्ध रूप से यह कह दिया है कि हिंदू इस देश का अज्ञात काल से निवासी है, यहां उसी की राष्ट्रीय सत्ता है और उसके उपासना के स्थानों की पुनर्स्थापना के द्वारा ही देश पर हुए विदेशी आक्रमण का कलंक मिटाया जा सकता है।

इसलिए हम देखते हैं कि वे लोग भी, जो अपने व्यापक दृष्टिकोण की तुलना में हमें सांप्रदायिक कहते हैं, हमारे समान ही विश्वास रखते हैं। यद्यपि वे उसे सीधे रूप में कहते नहीं हैं। वे एक घुमावदार मार्ग ग्रहण करते हैं और अंत में हिंदू-राष्ट्र के ठोस सत्य के विषय में इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। इतना ही नहीं, वे इस देश में निवास करने वाली अहिंदू जातियों, विशेष रूप से मुसलमानों, जिनका विचार उनके मस्तिष्क में सर्वोच्च है, की वास्तविक प्रकृति के संबंध में भी उसी परिणाम पर पहुंचते हैं।

एक बार एक प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्ता ने मुझसे कहा, 'देखो, मैं साफ-साफ नहीं कह सकता कि यह हिंदू-राष्ट्र है, क्योंकि इस देश में चार करोड़ मुसलमान रहते हैं। यदि पाकिस्तान ने हमारे विरुद्ध कुछ किया तो ये चार करोड़ मुसलमान उसके पक्ष में जा सकते हैं।' उत्तर में मैंने पूछा 'तो फिर हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई आदि के नारे का क्या हुआ ? क्या आपके इस कथन से यह अति स्पष्ट नहीं है कि वे सब वचन किसी श्रेष्ठ विचार के कारण नहीं, वरन् मुसलमानों के भय से उत्पन्न हुए थे।' उनके पास कोई उत्तर न था, क्योंकि यह सत्य है। अपने आपको धर्मनिरपेक्ष, विशालहृदयी आदि नामों से संबोधित करने वाले लोगों के मन में समाया हुआ यह भयपूरित न्यूनगंड ही है, तो उंनसे कहलाता है कि 'हम स्वयं को हिंदू न कहें, अन्यथा मुसलमान नाराज होकर हमसे लड़ने के लिए खड़े हो जाएंगे।' मुसलमानों का विरोधी स्वभाव तो उन्हें भी स्वीकार है ही। वे उन्हें केवल इसीलिए संतुष्ट करना चाहते हैं कि कहीं से विरोधी के समान व्यवहार न करें।

एक शिक्षाप्रद कथा

महाभारत में एक रोचक कथा है। जिन दिनों पांडव अपनी माता कुंती के साथ प्रच्छन्न रूप से भ्रमण कर रहे थे, वे एक स्थान पर पहुंचे। उस स्थान को एकचक्रापुरी कहा जाता था। वहां उन्हें ज्ञात हुआ कि वह नगर इस समय एक भयानक दैत्य के अधीन था, जिसका नाम 'बक' था। जब वह इस नगर को नष्ट करना चाहता था, तब लोगों ने उससे प्रार्थना की कि, 'हमारा सबका अभी वध न करो। आपकी इस दया के बदले में हम प्रतिदिन आपके भोजन के लिए एक गाड़ी भर भात तथा अन्य खाद्य सामग्री, गाड़ी में जुते हुए दो भैंसे और गाड़ीवान भेज दिया करेंगे।' यह समझौते की शर्तें थीं।

कथा का आगे का भाग बहुत ही रोचक तथा प्रेरणादायी है। कुंती ने लोगों से कहा कि वे चिंता न करें, वह अपने पांच पुत्रों में से एक को भेजेगी, जिसमें उस राक्षस को नष्ट करने की क्षमता है। तदनुसार भीम को भेजा गया। वह गाड़ी-भर भोजन के साथ बक के स्थान पर गए और उच्चस्वर से पुकारा, 'अरे बक, तुम कहां हो। आओ, मैं तुम्हारा भोजन लाया हूँ।' उन्होंने भैंसों को खोल दिया और स्वयं बड़े स्वाद के साथ भोजन करने लगे। बकासुर इस दृश्य को देखकर चकित रह गया। अभी तक किसी ने उसे नाम लेकर पुकारने का साहस नहीं किया था। उसने जब शिकार को ही अपना भोजन करते देखा, तो उसके आश्चर्य ने क्रोध का रूप धारण कर लिया। क्रोधावेश से अति क्षुब्ध होकर वह भीम ओर झपटा और उन पर घूंसों

की वर्षा करने लगा। किंतु भीम यह कहते हुए खाते रहे, 'थोड़ा रुकिए, मुझे भोजन कर लेने दीजिए।' भोजन समाप्त कर वे बोले, 'अब आ जाओ, इन गरीब लोगों को तुम इतने दिनों से सता रहे हो, अब समय आ गया है कि इसका हिसाब कर लिया जाए।' हमें ज्ञात है कि भीम ने वह हिसाब किस प्रकार चुकता किया। दूसरे दिन प्रात:काल लोगों ने उस भयंकर बकासुर के शव को नगर-द्वार पर पड़ा देखा और परम शांति की सांस ली।

आक्रांता से व्यवहार करने के दो प्रकार होते हैं। दोनों ही प्रकारों में यह चेतना रहती है कि वह आक्रांता तथा विरोधी है। इसलिए हमारे लोग चाहे यह कहते फिरें कि हम पांच प्रतिशत स्थान देंगे अथवा खड़े होकर कहें कि 'आओ, हम लोग निपट लें।' इन दोनों की अवस्थाओं में उसकी विरोध की वास्तविक प्रकृति के विषय में वही चेतना वर्तमान है।

यद्यपि लोग हमें सांप्रदायिक आदि कहते हैं तो भी उनके और हमारे विश्वास एक ही हैं। अंतर इतना ही है कि हममें सत्य के कथन का साहस है और वे भय के कारण तुष्टिकरण एवं शमन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। हां, यह अवश्य है कि वे अपनी इस भीति पर विशाल हृदयता, धर्मनिरपेक्षता आदि का आवरण डालते हैं। और कोई अंतर नहीं है। इसलिए हम जिस परिणाम पर पहुंचते हैं, वह यह है कि ऐसी सब जातियां, जो इस देश में रह रही हैं, अब भी उसके लिए नमकहलाल नहीं हैं। इसकी संस्कृति को उन्होंने मनसा ग्रहण नहीं किया है, उस जीवन-संचार को स्वीकार नहीं किया है, जिसे इस देश ने अनेक शताब्दियों से विकसित किया है, इसके दर्शन, इसके राष्ट्रीय महापुरुषों तथा इस देश के सभी आधारभूत तत्वों पर उनका विश्वास नहीं है। संक्षेप में कह सकते हैं कि वे हमारे राष्ट्रजीवन के लिए विदेशी हैं। केवल हिंदू-समाज का ही जीवन भारत की इस पवित्र भूमि का वास्तविक चिरंतन एवं वैभवशाली राष्ट्रजीवन रहा है।

वह मूल दृढ़ धारणा वर्तमान है

वास्तव में हमारे सच्चे राष्ट्रत्व का यह बद्धमूल विश्वास अति प्राचीनकाल से हमारे रक्त में समाविष्ट है। आज के दिन भी वही विश्वास इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय में विद्यमान है, यद्यपि कभी-कभी सुप्त पड़ा रहता है।

सन् १९२० के लगभग डॉ. मुंजे, जो उन दिनों कांग्रेस के एक बड़े नेता थे, पांडिचेरी में श्री अरविंद से भेंट करने के लिए मद्रास जा रहे थे। डॉ. हेडगेवार उनके साथ थे। डॉ. मुंजे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे और अपने डाक्टर जी

लगभग उनके परिचर के रूप में तृतीय श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। जब ट्रेन पूर्ववर्ती स्टेशन पर रुकी, तब डाक्टर जी उनका सामान बांधने के लिए प्रथम श्रेणी के डिब्बे में आए, किंतु उनका कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही ट्रेन चल दी। जब ट्रेन मद्रास स्टेशन पर पहुंची तब एक टिकट चैकर ने कहा कि वह डॉ. हेडगेवार से इस बात का दंड लेगा कि उन्होंने तृतीय श्रेणी के टिकट से प्रथम श्रेणी की यात्रा की है। डॉ. मुंजे ने उसे समझाने का प्रयत्न किया। किंतु जब देखा कि वह अपने हठ पर अड़ा हुआ है, तो क्रोधावेश में उनके मुंह से निकला कि, 'अच्छा तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते? मैं इस रेल का स्वामी हूँ, क्योंकि मैं किराया देता हूँ और तुम तो एक नौकर हो। निकल जाओ।' वह टिकट चैकर भी अत्यंत क्रोधित हो गया और बोला, 'तुम मुझसे यह कहने वाले कौन होते हो? यह कोई मुसलमान देश नहीं है, तुम निकल जाओ।' यह सुनकर वे दोनों डाक्टर खूब हंसे। उसने ऐसा इसलिए कहा, क्योंकि डॉ. मुंजे की लंबी दाढ़ी थी। इस कारण टिकट चैकर ने उन्हें भूल से मुसलमान समझ लिया था। कहने का अर्थ यही है कि ऐसे अतीव साधारण प्रसंगों में मन के भीतर बैठा सत्य प्रकट हो जाता है कि यह देश, मुस्लिम देश नहीं है।

बहुत वर्ष हुए, जब गोविंदराव काले, जो निजाम के दरबार में पेशवा के राजदूत थे, ने वह वार्ता सुनी कि पेशवा अपनी विजयिनी खड्ग के साथ सिंधु पार कर काबुल तक पहुंच गए हैं। तब उनको बधाई देते हुए उन्होंने पत्र में लिखा, 'मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ कि भगवाध्वज पुन: सिंधु पर लहरा रहा है। मुस्लिम शक्ति चूर-चूर हो गई है तथा एक बार पुन: सिद्ध हो गया कि यह देश हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक हिंदुस्थान है, तुर्किस्तान नहीं।' जिस मूलभूत विश्वास को १५० वर्ष पूर्व एक महान हिंदू साम्राज्य के विदग्ध राजनीतिज्ञ ने व्यक्त किया था, इसी सत्य को सामान्य टिकट चैकर ने भी उन्हीं शब्दों में दुहराया कि यह मुसलमान देश नहीं है। यह है वास्तविकता।

सत्य को भी प्रमाण चाहिए

दुर्भाग्य से कुछ प्रख्यात व्यक्तित्वों ने इस सत्य पर अनेक भ्रांतियों एवं असत्यों का आवरण डालने का प्रयत्न किया। हिंदुओं को इस बात का विस्मरण कराने का प्रयत्न किया जा रहा है कि वे एक राष्ट्र हैं। असत्य भी यदि सतत दुहराया जाए तो दुर्बल मस्तिष्क पर अपना प्रभाव करता ही है। जैसा एक कथा में आता है कि एक बार एक ब्राह्मण एक बकरी के बच्चे को अपनी गोद में लिए जा रहा था। तीन चोरों ने उसे हड़पने की योजना बनाई। एक के बाद दूसरा इस ब्राह्मण से मिला और

आक्षेपपूर्ण उपहासात्मक उद्‌गारों से संबोधन कर कहा कि कैसी विचित्र बात है कि उसके समान पवित्र ब्राह्मण अपनी गोद में कुत्ता उठाए लिए जा रहा है। इस भोले-भाले ब्राह्मण पर प्रथम चोर के कहने का प्रभाव नहीं हुआ, किंतु जब दूसरे चोर ने भी वही बात दुहराई तो उसे संदेह उत्पन्न हो गया। फिर तीसरे के कहने पर तो उसे विश्वास ही हो गया। उसने उस बकरी के बच्चे को फेंक दिया। फलस्वरूप उन चोरों ने उसे अपने अधिकार में ले लिया।

हम इस ऐतिहासिक सत्य की ओर से अपनी आंखें बंद न करें कि चतुर अंग्रेज ने हमारे देश पर अपने अधिकार को स्थायी रूप से बनाए रखने के लिए हिंदुओं की स्वाभिमानी एवं विद्रोही भावना को भंग करने के उद्देश्य से ही राष्ट्रत्व के विषय में इस प्रकार के विसंगत भाव हमारे मस्तिष्कों में भरे हैं, क्योंकि यही भावना उनकी सत्ता के लिए संकट उपस्थित कर सकती थी। आज भी क्या हम अनुभव नहीं करते कि अपने देश के भीतर और देश के बाहर ऐसी ताकतें हैं, जो इस पवित्र और प्रखर राष्ट्रभाव की भावना के उच्छेदन से लाभ उठाना चाहती हैं, जो उनके कुटिल कार्यों का निराकरण करने में समर्थ हैं। जाने या अनजाने हमारे लोग भी इनके इस कपटी प्रचार में बह जाते हैं, जिसका उद्देश्य हमको आत्मघाती मार्ग पर ले जाना है। इसलिए हमारा पवित्र कर्तव्य है कि अपने हिंदू-राष्ट्रत्व के सत्य की पुनर्स्थापना करें, असत्यों का ध्वंस करें तथा प्रत्येक हिंदू को यह अनुभव करा दें कि वह इस महान हिंदू-राष्ट्र का एक सजीव अंग है।

किंतु यह किया कैसे जाए ? कठोर अनुभवों के आधार पर हमें ज्ञात है कि सत्य को भी सिद्ध करने की आवश्यकता हुआ करती है, उसके प्रमाणीकरण की आवश्यकता होती है। इस प्रमाणीकरण का वर्णन अपने शास्त्रों ने निग्रहानुग्रहक्षम शक्ति के रूप में किया है। एक ऐसी शक्ति, जो शुभ की रक्षा एवं अशुभ का नाश करने में समर्थ हो। हमें ज्ञात है कि भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में ही अर्जुन अपनी शंकाओं के साथ आगे आता है। द्वितीय अध्याय उन शंकाओं का पूर्ण उत्तर है। उसके पश्चात् श्रीकृष्ण उन बातों की व्याख्या करते हैं, जिनका प्रतिपादन उन्होंने द्वितीय अध्याय में किया है, किंतु अर्जुन संतुष्ट नहीं होता। अंत में जब श्रीकृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं, तब वह तुरंत कहता है 'हाँ, अब मैं समझ गया।' इसके पश्चात् जीवन के मूलभूत सिद्धांतों के प्रति उसकी कोई इच्छा नहीं रह जाती। एकादश अध्याय के पश्चात् हम अर्जुन को अत्यंत ग्रहणशील हुआ पाते हैं, क्योंकि उसने अब तक जिन दिव्य उपदेशों को श्रीकृष्ण से श्रवण किया था, उनकी पृष्ठभूमि में विश्वरूप की उस असीम शक्ति का आविर्भाव उपस्थित है।

हमने सन् १९४५ में अपने दिल्ली के वार्षिक उत्सव में अध्यक्षता करने के लिए एक प्रमुख कांग्रेसी नेता श्री कैलाशनाथ काटजू को आमंत्रित किया था, जो बाद में केंद्रीय मंत्रिमंडल के एक महत्वपूर्ण मंत्री हो गए थे। उन्होंने निमंत्रण स्वीकार किया। उनके कांग्रेसी मित्रों ने उन्हें यह कहकर निवृत्त करने की चेष्टा की कि उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी सांप्रदायिक संस्था के साथ अपने को संबंधित नहीं करना चाहिए। उन्होंने उन सबको आश्वासन दिया कि वह अपने सिद्धांतों का समझौता नहीं करेंगे। वह आए और उन्होंने कई हजार स्वयंसेवकों को सुरचना तथा गणवेश में कार्यक्रम करते देखा। वहां तीन लाख की संख्या में बहुत बड़ा श्रोता समुदाय भी पूर्ण व्यवस्था एवं शांति के साथ उपस्थित था। परिचयात्मक वक्तव्य के पश्चात् वे अपना अध्यक्षीय भाषण देने के लिए खड़े हुए। उन्होंने कहा, 'यदि यह हिंदुस्थान हिंदुओं का देश नहीं तो किसका है? इस भूमि का राष्ट्रीय जीवन यदि हिंदू का नहीं तो और किसका है?' दूसरे दिन उनका भाषण समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ। स्वाभाविक रूप से उन्हें उनके कांग्रेसी सहयोगियों की आपत्तियों ने परेशान किया। इस पर यह कहा जाता है कि उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया कि 'यदि तुममें से किसी ने भी वह दृश्य देखा होता, तो जो कुछ मैंने कहा है, उससे भिन्न और कुछ नहीं कहता।' उनकी यह बात सत्य भी थी। उनके सामने खड़े हुए सहस्रों सुअनुशासित एवं निष्ठावान स्वयंसेवकों के रूप में हिंदू-राष्ट्र की शक्ति के आविर्भाव ने उनकी वास्तविक राष्ट्रत्व की प्रसुप्त गूढ़ चेतना को पुनः जागृत कर दिया था।

अतएव प्रत्येक हिंदू के लिए सर्वप्रथम कर्तव्य का यह भार आता है कि वह अपने हिंदू-राष्ट्र के अति प्राचीन सत्य के प्रतिपादन के लिए हिंदू-समाज की तदनुकूल पवित्र, उदार एवं अजेय शक्ति का निर्माण करे। हमारे शास्त्रों का वचन है कि आत्मविस्मृति अधर्म है और अपनी आत्मा के सच्चे ज्ञान की जागृति धर्म है। इस प्रकार हमारे सभी प्राचीन आचार्यों द्वारा दिखाए गए धर्म की पुनर्स्थापना का स्पष्ट मार्ग यही है कि हिंदू-समाज अपनी राष्ट्रीय आत्मा के सत्य, अर्थात, गौरवशाली, दीप्तिमान हिंदू-राष्ट्रत्व का जागरण करे।

❑❑❑

१४

(१) हिंदू-राष्ट्र की अनुपमता

(पूर्वार्द्ध)

हिंदू-राष्ट्र की विवेकसम्मत, सकारात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सटीक अवधारणा में ही तथाकथित 'धार्मिक अल्पसंख्यक समस्या' का निदान ढूंढा जा सकता है, अन्यथा इन तथाकथित अल्पसंख्यकों का अपनी मजहबी खाल में अधिकाधिक कट्टर होना एवं हमारे राष्ट्र के विघटन का विकराल स्रोत के रूप में परिणत होना अवश्यंभावी है।

इस संदर्भ में हमारे मुस्लिम व ईसाई नागरिकों से यह अपेक्षा है कि वे धार्मिक अल्पसंख्यक होने की धारणा के साथ विदेशी मनोग्रंथि को तिलांजलि देकर इस पुण्यभूमि की प्रमुख राष्ट्रीय धारा में समाहित हों। जहां तक इस भू-भाग की राष्ट्रीय परंपरा का संबंध है, वह यह कभी नहीं मानती कि मात्र पूजा-पद्धति बदलने से कोई व्यक्ति भूमि-पुत्र नहीं रहता और विदेशी हो जाता है। यहां भगवान को किसी भी नाम से पुकारने पर आपत्ति नहीं हो सकती। इस धरती के कण-कण में आस्थाओं एवं धार्मिक मान्यताओं के प्रति स्नेह व आदर का भाव समाया हुआ है। दूसरी आस्थाओं के प्रति असहिष्णुता धारण करने वाला व्यक्ति यहां का भूमि-पुत्र कभी नहीं हो सकता।

पड़ोसी राष्ट्रों से शिक्षा

इस संबंध में हमारे मुस्लिम मित्रों को ईरान, तुर्की व इंडोनेशिया के अपने सहधर्मियों से सबक लेना श्रेयस्कर होगा। यद्यपि पर्शिया इस्लामिक हो गया, परंतु फारसी नागरिकों ने अपनी लिपि को छोड़कर अरबी लिपि को नहीं अपनाया। उन्होंने अरबी जीवन-पद्धति को ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत् अपने पद्धति को ही अपनाए रखा। वे आज तक अपने महान् पूर्वजों की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। आज भी प्रत्येक पर्शियन अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करते हुए रुस्तम को सम्मान व आदर से स्मरण करता है। रुस्तम मुस्लिम नहीं था। आधुनिक तुर्की के निर्माता कमालपाशा ने सदियों पुरानी राष्ट्रीय जीवन-पद्धति को पुनर्जीवित किया और इस्लाम

की भूमिका को व्यक्तिगत ईश्वराधना तक ही सीमित रहने दिया। इंडोनेशिया का उदाहरण सर्वाधिक नेत्रोन्मीलक है। अधिसंख्य इंडोनेशियाई इस्लाम में विश्वास रखते हैं, किंतु विद्यादायिनी माँ सरस्वती एवं ज्ञान के देवता गणेश आज भी उनके आराध्य हैं। शिशुओं का अक्षरज्ञान चित्रात्मक रामायण से प्रारंभ होता है। एक भारतीय को यह सब देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उसने वहां के एक प्रमुख व्यक्ति से पूछा, 'यह सब क्या है? आप मुस्लिम होकर अपने बच्चों को रामायण की शिक्षा देते हैं?' इंडोनेशियावासी ने सगर्व उत्तर दिया, 'क्योंकि रामचंद्रजी हमारे अद्वितीय महानायक हैं, इसलिए हमारी प्रबल इच्छा है कि हमारी संतानें उनके उच्च आदर्शों को अपने आचरण में लाएं। निस्संदेह इस्लाम में हमें विश्वास है, परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम अपनी पवित्र राष्ट्रीय विरासत एवं जीवन-मूल्यों को तिलांजलि दे दें।' हमारे मुस्लिम मित्रों के लिए यह कितनी उत्कृष्ट शिक्षा है। वहां के लोगों के नाम भी शत-प्रतिशत हिंदू हैं। वहां के पूर्व राष्ट्रपति 'सुकर्ण' थे, उनके पुत्र का नाम कार्तिकेय था। उसके बाद 'सुहृद्' राष्ट्रपति बने जिसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छा मित्र' है (इसका अंग्रेजी अपभ्रंश है सुहार्तो), महिलाएं गर्व से सीता, सावित्री और दमयंती जैसे नाम रखती हैं। उनकी वायु सेना का नाम 'गरुड़', अर्थात् विष्णुवाहन है। उनका संविधान **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** के उद्घोष से प्रारंभ होता है।

राष्ट्रीय समरसता एवं एकात्मता का वास्तविक और स्थायी आधार यही है, जो व्यक्तिगत पांथिक (मजहबी) मतवादों से ऊपर उठकर समान राष्ट्रीय आदर्शों का अनुमोदन करता है। इसी अवधारणा के आधार पर हमारा देश 'हिंदू-राष्ट्र' है और यही विवेकसम्मत, व्यावहारिक एवं उचित दृष्टिकोण है।

सेमेटिक विरोधाभास

हिंदू-राष्ट्र की अवधारणा अति सहिष्णु व विवेकसम्मत होते हुए भी यह आश्चर्यजनक है कि कुछ लोग भयग्रस्त हैं कि यदि हिंदू-राष्ट्र स्थापित हो गया, तो अल्पसंख्यकों का जीवन संकटापन्न हो जाएगा। यह भय यदि है, तो वह इस मिथ्या धारणा के कारण हैं कि हिंदू-राष्ट्र अन्य धर्म-समूहों (मतावलंबियों) से वैसा ही व्यवहार करेगा, जैसा सामी मजहबों ने किया। यहूदीवाद ऐसा पहला मजहब है, जो असहिष्णु है और उसकी उसी असहिष्णुता के कारण ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया गया। ईसाई मजहब का उदय यहूदी संतति के रूप में हुआ, किंतु वह भी इतना ही असहिष्णु सिद्ध हुआ। निस्संदेह यीशु महान संत थे, परंतु बाद में उनके नाम पर जो कुछ हुआ, उसका उनसे कोई संबंध नहीं रहा। यह ईसाईवाद नहीं, केवल चर्चवाद बन गया। यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ कि 'आज तक केवल एक सच्चा ईसाई हुआ, जो

सूली पर मर गया।' ईसाइयों ने यहूदियों को ईसा के हत्यारे घोषित कर उन पर हर प्रकार के अत्याचार किए। हिटलर का व्यवहार अपवाद नहीं था, बल्कि ईसाइयों द्वारा २,००० वर्ष से यहूदियों पर ढाए जा रहे अत्याचारों की चरम परिणति था।

इसके बाद इस्लाम का उदय हुआ। यह तलवार और कुरान की दीर्घ कथा है, जिसे मानव-अश्रुओं तथा शोणित से लिखा गया है। इसका अद्यतन अध्याय है स्वयंघोषित इस्लामी मजहबी राज्य पाकिस्तान। उसका भी कोई भिन्न व्यवहार नहीं है। उसने अपनी संपूर्ण हिंदू जनसंख्या का कत्लेआम कर पश्चिमी भाग से बाहर धकेल दिया और दूसरे भाग, अर्थात् बांग्लादेश में आज भी यही सब हो रहा है। उन सबके कारण उनके रक्त में अन्य मतावलंबियों के प्रति असहिष्णुता ने घर कर लिया है। सामी जातियों के मापदंड से हिंदू-राष्ट्र को मापने पर ही यह भय उपजता है कि हिंदू-राष्ट्र दूसरे धर्म-समूहों के जीवन को संकटग्रस्त करेगा। इसी से यह कल्पना जन्म लेती है जिस तरह सामी राज्य अपनी धार्मिक कट्टरता और उत्पीड़न के लिए बदनाम थे, वही सब हिंदू-राष्ट्र में भी होगा।

हिंदू-राष्ट्र का जीवंत स्वरूप

संदेहशील व्यक्तियों के मस्तिष्क से भ्रम हटाने हेतु हम हिंदू-राष्ट्र की ऐतिहासिक परंपरा और विदेशी धर्म-समूहों को आमने-सामने रखकर देख सकते हैं। यह हमारे इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित और विदेशी इतिहासकारों तथा यात्रियों द्वारा भी प्रमाणित जाज्वल्यमान तथ्य है कि हमने अपने राष्ट्रीय जीवन के किसी क्षेत्र में धर्म के आधार पर किसी के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं किया।

पंजाब के सिख नायकों के काल में तथा विजयनगर राजाओं के सशक्त हिंदू साम्राज्य में मुस्लिमों ने पूर्ण स्वतंत्रता एवं समानता के अधिकारों का उपयोग किया। छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में उभरी अद्यतन हिंदू पदपादशाही ने भी धर्म के आधार पर मुस्लिमों के साथ भेदभाव नहीं किया। छत्रपति शिवाजी की जलसेना का प्रधान दयासारंग एक मुस्लिम था और उनके दो प्रमुख सिपहसालार इब्राहिम खान व दौलत खान थे। अफजल खां से हुई भीषण मुठभेड़ के समय उपस्थित उनके दस विश्वस्त अंगरक्षकों में से तीन मुस्लिम थे। आगरा में शिवाजी के साथ गए १८ वर्षीय युवक का नाम मदारी मेहतर था, जिसने मुस्लिम होते हुए भी औरंगजेब के चंगुल से उनको रोमांचक ढंग से बचाने में मुख्य भूमिका निभाई। शिवाजी द्वारा मस्जिदों व दरगाहों के लिए भूमिदान के अनगिनत उदाहरण इतिहास में उल्लिखित हैं। यहां तक कि उन्होंने प्रतापगढ़ में अफजलखां की कब्र पर इस्लामी पद्धति से पूजा का प्रबंध भी कराया। उस समय के अति कट्टर मुस्लिम इतिहासकारों ने भी शिवाजी द्वारा मस्जिदों,

दरगाहों, कुरान, धर्मपुरुषों और नारियों के प्रति प्रदर्शित उत्कृष्ट सम्मान का प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। यह सब उस समय किया जब दूसरी ओर मुस्लिम शासक ठीक इसके विपरीत हिंदुओं का चतुर्दिक उत्पीड़न करने में संलग्न थे।

इसके बाद भी ईस्वी सन् १७६१ में पानीपत के रण-प्रांगण में स्वराज्य रक्षा के निर्णायक युद्ध में हिंदू तोपचियों का प्रमुख इब्राहिम गार्दी था, जिसने लड़ते-लड़ते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।

हिंदुस्थान ने हजारों वर्ष तक निष्कंटक तथा अपराजेय गौरव व शक्ति का जीवन व्यतीत किया और अपनी आध्यात्मिक व सांस्कृतिक आभा को मैक्सिको से जापान तक विश्व के वृहत् भू-भाग पर विकीर्ण किया। इसके ध्वज ने कभी अश्रुपूरित व रक्तरंजित सैनिक-विजय की दिशा में प्रस्थान नहीं किया, जैसा नए देशों में विस्तार करते समय इस्लाम एवं ईसाइयत करते रहे हैं। इसकी विजय सदैव नैतिक व सांस्कृतिक रही है। वहां की जनता ने इसकी विजय का सदैव सोल्लास स्वागत किया, क्योंकि वह विजय नि:स्वार्थ भाव, चरित्र एवं आध्यात्मिक सहिष्णुता की होती थी। वह कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करती थी, न कि विद्रोह का। शताब्दियों के अंतराल के बाद इस भूमि के प्रति उनकी भावनाएं अब भी धुंधली नहीं पड़ी हैं। आज भी उन राष्ट्रों के श्रद्धालु जनों की हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वे हिंदुस्थान की इस पुण्यभूमि पर आकर गंगाजल में नहाने का सुअवसर अवश्य प्राप्त करें। उनके लिए यह इस देश की सामान्य यात्रा नहीं, बल्कि तीर्थयात्रा होती है। इन सबके आधार पर इस राष्ट्र के अनुपम एवं अद्वितीय जीवन-मूल्यों का साक्षात्कार सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इन्हीं जीवन-मूल्यों द्वारा इस राष्ट्र के सार-सर्वस्व का गठन हुआ है।

अल्पसंख्यकों को सच्चा आश्वासन

इस प्रकार हिंदू-राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा से यहां बसे तथाकथित अल्पसंख्यकों को कोई हानि नहीं, बल्कि सब प्रकार का लाभ ही प्राप्त होगा। इस विशाल भू-मंडल पर केवल हिंदू-विचारधारा ने ही संपूर्ण मानव-सभ्यता में एक ही सर्वशक्तिमान की सर्वव्यापकता को स्वीकार किया और सभी पंथों व उपासना-पद्धतियों को स्वाभाविक रूप से पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर प्रदान करने के साथ-साथ इनको ससम्मान प्रोत्साहन और संरक्षण भी दिया है। ये सभी तथ्य इंगित करते हैं कि केवल सुदृढ़ एवं पुनर्जागृत हिंदू-राष्ट्र में ही तथाकथित अल्पसंख्यक इस मातृभूमि की स्वाभिमानी संतान के रूप में समान अवसरों की सहभागिता के साथ स्वतंत्र एवं संपन्न जीवनयापन की आश्वस्ति प्राप्त कर सकते हैं।

❑❑❑

(२) हिंदू-राष्ट्र की अनुपमता

(उत्तरार्द्ध)

यह संशयपूर्ण तर्क उबाऊ ढंग से बार-बार दुहराया जाता रहा है कि हिंदू-राष्ट्र की अवधारणा सेक्यूलरवाद के विपरीत है। सर्वप्रथम तो पश्चिम में जन्मे धर्मनिरपेक्षता की धारणा ही हमारे देश के संदर्भ में अप्रासंगिक है। शताब्दियों-पूर्व यूरोप के राजाओं ने अपनी राजसत्ताओं पर से पोप के मजहबी आधिपत्य को उखाड़कर अपनी सत्ता को स्थापित किया। इस प्रकार 'मजहबपरस्ती' के विपरीत 'धर्मनिरपेक्ष' राजसत्ता का उदय हुआ। आज 'मजहबी' राज्य को अन्य विश्वासों, आस्थाओं के प्रति असहिष्णु 'धर्म-राज्य' का पर्याय माना जा रहा है। हमारे देश के अतीत या वर्तमान में ऐसे संघर्ष या असहिष्णुता को कदापि महत्व नहीं मिला।

भ्रांति का निराकरण

कभी-कभी धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्रवाद को बराबर मानने से भ्रम हो जाता है, जबकि दोनों कभी समान हो ही नहीं सकते। राष्ट्र का एक संपूर्ण जीवंत अस्तित्व होता है, जिसकी सदैव अनेक भूमिकाएं होती हैं, जिनमें शासन-कला एक है। इस शासन-कला का एक वैशिष्ट्य है धर्मनिरपेक्षता। इस प्रकार राष्ट्रवाद व धर्मनिरपेक्षता की तुलना शरीर की भूमिका से अंग-विशेष के कार्यों की तुलना करने के प्रयत्न के समान है। ऐसी चेष्टा 'राष्ट्र' व 'राज्य' के मूलभूत अंतर के विषय में दु:खद अल्पज्ञता को ही प्रकट करती है।

यदि 'धर्मनिरपेक्षता' को आत्मा के उच्च व उत्तम गुणों से रहित भौतिक व इहलौकिक माना जाए, तो जैसा अर्थ कभी-कभी निकाला जाता है, हम उसे दूर से भी स्पर्श नहीं करेंगे और यदि यह धर्म-विरोध नहीं है, जैसा कि होना चाहिए और इसका आशय है पांथिक क्रिया-कलाप के प्रसार के समान अवसर, एक-दूसरे के पंथ पर झपटने के प्रयास पर रोक, तो यह निश्चित रूप से हिंदू-राष्ट्र की भावना के अनुरूप है। इस स्थिति में ऐसे राज्य के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' नहीं, वरन् 'बहु-पंथीय'

शब्द ही हमारे देश में उचित होगा। इस देश में 'राज्य' ने कभी अपने को पंथ विशेष के साथ नहीं जोड़ा। अहिंदू विचारधारा के लोगों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक मानने अथवा इन पर जजिया थोपकर अपमानित करने का कोई उदाहरण हिंदू-शासन में नहीं मिलता। विधि की दृष्टि से सभी पूर्ण रूप से समान थे और कभी किसी राजा ने अपनी व्यक्तिगत धार्मिक हठधर्मिता को थोपने के लिए शासन-तंत्र को भ्रष्ट नहीं किया।

सकारात्मक दृष्टि

हिंदू विचार एक-दूसरे पर धार्मिक अतिक्रमण रोकने के नकारात्मक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। हिंदू राजाओं के मन में जीवन के व्यापक व सर्वसमावेशी दृष्टिकोण ने प्रत्येक धार्मिक विचार को सम्मान तथा अपनी प्रतिभा के आधार पर बढ़ने को प्रोत्साहन दिया, उसके अनुयायी चाहे कितने भी हों। राजा प्रत्येक विश्वास एवं मत के लिए समर्थन व सुरक्षा का प्रतीक बना, न कि धर्म का निषेध करने वाला। यह है धर्मनिरपेक्षता का सकारात्मक भाव। वस्तुत: राज्य की हमारी अवधारणा सदैव धर्मनिरपेक्ष रही है, परंतु 'धर्मनिरपेक्ष' विशेषण लगाकर राज्य की धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण बनाना, हमारे देश में महत्वहीन है। आज भी हमारी राष्ट्रीय परंपरा के आधार पर ही एक मुसलमान, राष्ट्रपति जैसे उच्चतम पद को सुशोभित कर सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश बन सकता है और केंद्रीय मंत्रिपरिषद् अथवा प्रशासन की स्वराष्ट्रीय व विदेश सेवाओं में महत्वपूर्ण विभाग प्राप्त कर सकता है। पड़ोसी संप्रदायनिष्ठ पाकिस्तानी राज्य से उसका विपर्यय इतना स्पष्ट है कि व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

परंतु दुर्भाग्यवश भारत में धर्मनिरपेक्षता का व्यावहारिक अर्थ शिखर पर बैठे नेताओं के लिए हिंदुत्व-विरोध है। जब स्वर्गीय डॉ. जाकिर हुसैन एक मस्जिद का उद्घाटन करने विशेष रूप से केरल गए, उस समय किसी ने आपत्ति नहीं की, परंतु राष्ट्रपति बनने पर डा.वी.वी. गिरि तिरुपति गए, तो उसे सांप्रदायिक कृत्य कहा गया। सारी दुनिया हम पर हंस रही होगी।

❑❑❑

१५

मूलभूत सत्यों का उद्घोष

हमारा सच्चा राष्ट्रीय जीवन

भारत का राष्ट्रीय जीवन अति पुरातन है। यहां के समाज-जीवन का ताना-बाना सर्वसमावेशी, विशाल जीवन-दर्शन से उद्भूत और समान जीवन-आदर्शों से परिपूरित सांस्कृतिक परंपराओं के इर्द-गिर्द बुना हुआ है। यह जीवंत परंपरा इस भूमि पर इस्लामी एवं ईसावादी आक्रांताओं के पदार्पण से बहुत पहले सदियों से विद्यमान है। जातियों, वर्गों, संप्रदायों, यहां तक कि राजनैतिक साम्राज्यों में मत-भिन्नता एवं ऊपरी विविधताओं के होते हुए भी उनमें अंतर्निहित एकता-सूत्र कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। इस एकात्म प्रवाह से परिपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति करने वाला मानव-समूह ही 'हिंदू' के रूप में विख्यात हुआ। इसीलिए भारत में राष्ट्रीय जीवन वास्तव में 'हिंदू राष्ट्रीय जीवन' ही है।

एकात्मता का अर्थ

राष्ट्रीय एकात्मता के विषय में विचार-विमर्श का आधार यही सकारात्मक तथा सही समझ होनी चाहिए। वास्तविक एकात्मता राष्ट्र की मुख्य धारा, इसकी परंपरा व आकांक्षा के साथ तादात्म्य भाव को सुदृढ़ करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

'राष्ट्रीय' 'साम्प्रदायिक' 'राष्ट्रविरोधी'

इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति को पुष्ट एवं सुदृढ़ करने में सहयोग देने वाले सभी कृत्य 'राष्ट्रीय' हैं। स्वयं को इस राष्ट्रीय प्रकृति से भिन्न मानने वाले राष्ट्रीय हितों के विपरीत आशाएं-आकांक्षाएं संजोने वाले और अपने लिए पृथक् न्याय एवं विशेषाधिकारों की मांग करने वाले समूह 'सांप्रदायिक' कहे जाने चाहिए। अपने अलग विशेषाधिकारों की प्राप्ति के प्रयास में यदि वे पंथ-परिवर्तन, पूजास्थलों का विध्वंस अथवा पावित्र्यभंग,

---

(सन् १९६२ में राष्ट्रीय एकता परिषद् को प्रेषित आलेख)

महान् भूमि-पुत्रों के स्मृति चिह्नों का अपमान अथवा अन्य किसी ढंग से राष्ट्रीय समाज पर आक्रमण करते हैं, तो ऐसे तत्वों को 'राष्ट्र-विरोधी' संज्ञा दी जानी चाहिए।

भारतवर्ष में हिंदू को कभी सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता। वह सदा भारतभक्त रहा है और भारत की गौरव-रक्षा एवं प्रगति के लिए उत्कट प्रयास हेतु सन्नद्ध रहा है। भारत के राष्ट्रीय जीवन-मूल्य वास्तव में हिंदुओं के जीवन से उद्भूत हुए हैं। इस प्रकार वह यहां का 'राष्ट्रीय' है, जो कभी 'सांप्रदायिक' नहीं हो सकता।

तर्क-विसंगत अभिव्यंजना

बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता एक नितांत मिथ्या एवं भ्रांतिपूर्ण अभिव्यक्ति है। लोकतंत्र के दैनंदिन समाजजीवन में बहुसंख्यकों की राय निर्णायक होती है। उचित ही होगा कि बहुसंख्यक जीवन के व्यावहारिक आचरण को राष्ट्रीय अस्तित्व का वास्तविक जीवन स्वीकार किया जाए। इस दृष्टिकोण से भी हिंदुओं के जीवन के उत्थान का प्रयास 'राष्ट्रीय' है, 'साम्प्रदायिक' नहीं। अत: 'बहुमत की साम्प्रदायिकता' जैसी शब्दावली लोकतंत्र की भावना के विपरीत है। विदेशी दासता के समय यह स्वाभाविक था कि 'अल्पसंख्यक अथवा बहुसंख्यक सांप्रदायिक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाए, क्योंकि विदेशी शासक संपूर्ण समाज को विभिन्न जाति संप्रदायों में विभाजित अपना दास मानते थे। परंतु स्वाधीन देश में बहुमत का शासन होने पर भी 'बहुसंख्यक-सांप्रदायिकता' की बात तर्क, सत्य तथा न्याय के विपरीत है।

सतर्क रहने का कर्तव्य

हिंदू ने अन्य सभी आस्था-विश्वासों के प्रति सदैव समुचित सम्मान प्रदर्शित किया है। वह पूजापद्धति की भिन्नता को राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में कभी असंगत नहीं मानता। उसने राष्ट्रीय जीवन पर आघात पहुंचाने वाले विशेषाधिकारों की मांग और भौतिक जीवन में मजहब पर अधिकतम बल देने के बहाने पृथकतावादी नीति अपनाने की मनोवृत्ति का समय-समय पर विरोध किया है। वास्तव में यह उसका स्वाभाविक एवं सर्वोपरि कर्तव्य है कि वह सदैव सतर्क रहकर ऐसी सभी प्रवृत्तियों का दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिकार करे।

तुष्टिकरण हानिकारक

उपर्युक्त तत्वों की राष्ट्रविरोधी मांगों को स्वीकार करना, तुष्टिकरण की नीति अंगीकार करना, तुच्छ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उनसे सौदेबाजी करना और उन्हें तुष्ट करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय गौरव, सम्मान और राष्ट्रीय हितों तथा मान्यताओं को ठेस पहुँचाने जैसी प्रवृत्तियों का समर्थन राष्ट्रजीवन के लिए घातक है।

ऐसी राष्ट्र-विरोधी व विकृत धारणाओं का विरोध करने की सत्प्रवृत्ति को 'हिंदुओं की सांप्रदायिकता' कहना नितांत मूर्खतापूर्ण कहा जाएगा। यह विकृत बुद्धि का परिचायक है। वास्तव में राष्ट्र के प्रति जागरूक प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी प्रवृत्तियों का प्रबल प्रतिकार करे।

सांप्रदायिकता के सात रूप

सांप्रदायिकता कई रूपों में प्रकट होती है। भारतीय राष्ट्र की सत्य अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत हिंदू-समाज की जीवनधारा के विरुद्ध व्यूह-रचना में लिप्त अहिंदू-समाज सांप्रदायिक है। हिंदू-समाज में भी सांप्रदायिक वह है, जो मूलतः बहुआयामी हिंदू-प्रतिमा की अभिव्यंजना के बतौर अपने धार्मिक संप्रदायों के रूप में उत्पन्न हुए, परंतु बाद में अपने अस्तित्व व प्रेरणा के स्रोत को भूलकर अपने को हिंदू-समाज व धर्म के भिन्न मानने लगे हैं और इसी आधार पर पृथक एवं विशिष्ट राजनैतिक व आर्थिक विशेषाधिकारों की मांग करते हैं। इन मांगों की प्राप्ति हेतु वे स्वयं को हिंदू-समाज से भिन्न होने के उद्घोष के साथ तरह-तरह के आंदोलनों का सहारा लेते हैं। नवबौद्ध व सिख इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

सांप्रदायिकता का तृतीय स्वरूप 'द्रविड़ कड़गम' एवं 'द्रविड़ मुणेत्र कड़गम' है, जो नस्लीय विशिष्टता की तर्कविसंगत धारणा के आधार पर पृथकतावादी बने हैं और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शेष समाज के विरुद्ध घृणा, शत्रुता और हिंसा फैलाते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ श्रेणी में वे लोग हैं जो 'स्पृश्यता', 'अस्पृश्यता' और 'ब्राह्मण' व 'अ-ब्राह्मण' के नाम पर विवाद उत्पन्न करते हैं तथा विशेषाधिकारों के लिए घृणा, शत्रुता व स्वार्थ को भड़काते हैं।

भाषायी आधार वाली सांप्रदायिकता पांचवें प्रकार की है, जिसमें पड़ोस में स्थित अन्य भाषा-भाषियों के विरुद्ध अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा, विरोध व घृणा की भावना फैलाई जाती है। 'भाषायी अल्पसंख्यक' शब्द इसी मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। क्षेत्रीयता की संकुचित भावना और अन्य प्रांतीय लोगों के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाना छठे प्रकार की सांप्रदायिकता है। उत्तर-दक्षिण, पंजाबी-गैर पंजाबी, मराठी-कन्नड़, गुजराती और बंगाली, बिहारी-उड़िया आदि भेदभाव इसी प्रकार का है। सातवें प्रकार की सांप्रदायिकता चुनावी लाभ प्राप्त करने के लिए जाति, पंथ व भाषा के आधार पर भड़काई जाने वाली आपसी घृणा है। यह सबसे खतरनाक सांप्रदायिकता है, जो संपूर्ण देश में व्याप्त है और जिसके लिए शासक दल-सहित अनेक राजनैतिक पक्ष दोषी हैं। जब तक यह राजनैतिक सांप्रदायिकता

विद्यमान है, यह नितांत असंभव है कि किसी अन्य प्रकार की सांप्रदायिकता का उन्मूलन किया जा सके। यदि केवल इस सातवें प्रकार की राजनैतिक सांप्रदायिकता से परहेज किया जा सके, तो इसके अन्य स्वरूपों से जूझना कम कठिन हो जाएगा। (इन प्रमुख सांप्रदायिकताओं के अतिरिक्त इसमें अन्य छोटे-मोटे प्रकार भी हो सकते हैं।)

संघर्ष का मूल

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जहां सांप्रदायिकता के कुछ रूप धार्मिक विश्वासों से पनपते हैं, वहीं कुछ केवल शुद्ध लौकिक स्वार्थों के आधार पर विकसित होते हैं। अत: यह कहना तर्क-विसंगत है कि सांप्रदायिकता पंथनिरपेक्षता का प्रतिपक्ष है। वास्तव में विश्वासों में विविधता के कारण धार्मिक क्षेत्र में सामान्यत: कोई विवाद नहीं हो सकता। इन संघर्षों की उत्पत्ति ऐहिक लाभ हड़पने के कारण उत्पन्न आपसी शत्रुता से ही होती है।

धर्म की व्यापकता

तर्क एवं इतिहास न तो यह सिद्ध करते हैं कि 'धर्म' की धारणा संकुचित होती है और न ही यह कि आर्थिक उद्देश्य अधिक व्यापक होते हैं। ईसाई पंथ के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत अमरीका और यूरोप में अनेक राष्ट्र-राज्य हैं, जो संकुचित आर्थिक स्वार्थों पर अधिष्ठित हैं। इस्लाम के मजहबी विस्तार के अधीन ऐसे अनेक राज्य हैं, जो धर्म एवं प्रजाति (नस्ल) के संकुचित स्वार्थों पर अवस्थित हैं। अपने विशाल अंक में वैदिक, अवैदिक एवं भारतप्रसूत अन्य विश्वासों को समेटे महान 'सनातन धर्म' की छत्रछाया में आर्थिक चिंतन के आधार पर संरचित भारत एवं नेपाल जैसे राज्य हैं। अत: यह स्पष्ट है कि धर्माचार विशाल आधार प्रस्तुत करता है, जबकि आर्थिक स्वार्थ संबंधों को संकीर्ण बना देते हैं।

अत्यासक्ति से दूर रहें

'धर्म' जीवन का सनातन विधान है, जो कभी कालों की व्याख्या करता है। वह सर्वसमावेषी है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वार्थपूर्ण आर्थिक लाभ पर आधारित पूजा के विशिष्ट रूप भी 'धर्म' की परिधि में आ सकते हैं। संकुचित विचारों, आस्थाओं व मान्यताओं के प्रति आसक्ति संकीर्ण भावनाओं को जन्म देती है और समानता तथा आर्थिक व अन्य भौतिक स्वार्थों के मार्ग में विरोध शत्रुता भड़काने का साधन बन जाती है। अत: यह अति-आसक्ति अवांछनीय है।

यदि धर्म, समाज व राष्ट्र आदि की उपेक्षा कर कोई आर्थिक स्वार्थों के अधिष्ठान पर एकता की स्थापना करना चाहता है, तो ऐसी एकता सीमित भू-क्षेत्रों में संभव नहीं। यह केवल अखिल विश्व स्तर पर संभव है, जिसमें विभिन्न आर्थिक अभिरुचि रखने वाली संपूर्ण मानवता का समावेश करना होगा। तब आर्थिक 'राष्ट्रीय एकात्मता' निरर्थक व उद्देश्यहीन हो जाएगी।

लक्ष्या क्या है?

व्यावहारिक धरातल पर राष्ट्र में एकात्मता लाने के लिए विभिन्न पूजा-पद्धतियों की समाप्ति नहीं, बल्कि अनन्यता व असहिष्णुता का अवसान अपेक्षित है। हमारा लक्ष्य भाषाओं का विनाश नहीं, वरन् पृथकतावाद और भाषागत कट्टरता की प्रवृत्तियों का उच्छेद है।

साधन एवं उपाय

उत्कट श्रद्धा जगाएं

जाति और विश्वासों से परे प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा देनी होगी कि प्रत्येक भारतवासी का यह परम कर्तव्य है कि वह भारत के 'हिंदू राष्ट्रवाद' के सत्य का बेझिझक उद्घोष करे और इसे सुदृढ़, संपन्न, तेजस्वी और सर्वोच्च प्रभुसत्तासंपन्न बनाए। इस राष्ट्र के प्रति उत्कट समर्पण का भाव सभी के मन में उद्दीप्त करना होगा।

मतपंथों की सुरक्षा व सम्मान करते हुए इन्हें इस राष्ट्र के मूल्यों, आदर्शों, जीवन-दृष्टि, इतिहास व परंपराओं के प्रति स्नेह व आदर प्रकट करने तथा अपनी आकांक्षाओं को राष्ट्र के साथ एकाकार करने का संस्कार देने की व्यवस्था करनी होगी।

विघटनकारी चर्चाएं नहीं

ऐहिक जीवन में सभी नागरिक समान हैं, इस सिद्धांत का कठोरता से पालन करना चाहिए। हमें जाति और विश्वास के आधार पर वर्ग-निर्माण को तथा सेवाओं, वित्तीय अनुदानों, शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश तथा अन्य क्षेत्रों में अनन्य एवं विशेष अधिकारों को तुरंत समाप्त कर देना चाहिए। अल्पसंख्यक व वर्गीय शब्दावली में सोचना-विचारना व बोलना अविलंब बंद कर देना चाहिए।

गलत भाषा-नीति को ठीक करें

स्वतंत्र राष्ट्र में परस्पर व्यवहार के लिए उसकी अपनी भाषा का होना नितांत आवश्यक है। सरलता एवं सुविधा की दृष्टि से हिंदी को अपनी तमाम राष्ट्रीय भाषाओं

में संपर्क भाषा स्वीकृत किया गया है। इसे सरल बनाने के नाम पर इसका उर्दूकरण कर दुर्बोध बनाना राष्ट्र की संप्रभु स्वतंत्रता में साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक तुष्टिकरण का आयात करने के समान है। राष्ट्र की राजभाषा के प्रति ऐसा दृष्टिकोण अपनाना अथवा अंग्रेजी से इसकी बराबरी करना जो हमें विदेशों का पिछलग्गू बनाती है, हमारी उत्कृष्ट राष्ट्रीय प्रकृति की जड़ें खोदने के समान है। राष्ट्र के प्रति उत्कट समर्पण ही एकात्मता का प्रमुख आधार होने के कारण इन दोषपूर्ण भाषा-नीतियों को अविलंब त्याग देना आवश्यक है।

ऋणात्मक शासनप्रणाली

हम समान जीवन-मूल्यों और पंथनिरपेक्ष आकांक्षाओं व हितों से जुड़े 'एक देश, एक समाज और एक राष्ट्र' वाले समुदाय हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि ऐसे राष्ट्र के सभी पहलुओं का नियंत्रण भी एकात्मक शासन-व्यवस्था द्वारा ही होना चाहिए। वर्तमान संघीय ढांचा पृथकतावाद को उत्पन्न व पोषित करने वाला है। एक प्रकार से यह राष्ट्रवाद के सत्य को नकारता है, अत: विभाजक प्रवृत्ति का है। इसका उपचार परमावश्यक है। एकात्मक सरकार की स्थापना के लिए संविधान को संशोधित किया जाना चाहिए और मार्ग के समस्त अवरोधों को समाप्त कर डालना चाहिए।

आक्रामक व्यवहार पर रोक

आक्रामक व अतिक्रमण की वर्तमान सरकारी नीति, अर्थात् पूजा-स्थलों का विध्वंस, मूर्ति-भंजन, गो-हत्या आदि तथा पूर्वस्थलों के समकक्ष कब्रगाह, दरगाह, मकबरे, चर्च इत्यादि का निजी व सरकारी भूमि पर अवैध निर्माण और अनुचित कारणों से धार्मिक शोभायात्राओं को रोकना, लूटमार करना, डराना-धमकाना आदि एकात्मता के मार्ग की बड़ी-बड़ी बाधाएं हैं। इन कृत्यों को रोकने के स्थान पर उन्हें समर्थन एवं प्रोत्साहन देने की प्रच्छन्न नीति से झगड़े बढ़ते ही हैं। अत: यह सब तत्काल त्यागकर ऐसे बुरे कार्यों के अंत के लिए अधिक दृढ़ता व इच्छाशक्ति का अवलंबन करना चाहिए।

हिंदू की अविभाज्य निष्ठा

हिंदुओं के धार्मिक संस्कार व भावनाएं भारतभूमि में ही केंद्रित हैं। पुण्य स्थलों का आह्वान इन्हें केवल भारत और संपूर्ण भारत के चतुर्दिक ले जाता है। उसके भौतिक हितसाधन भी केवल भारत के साथ गुंथे हुए हैं। इस प्रकार, उसका संपूर्ण व एकात्म समर्पण भारत के ही प्रति है। अत: उसके मन में 'स्वधर्म' व स्वदेश

का अंतर्द्वंद्व कभी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में सदैव तादात्म्य रहता है। उसकी निष्ठा अविभाज्य है, अत: उसकी धर्मनिष्ठा में देशनिष्ठा के विपरीत या विरुद्ध होने की कोई संभावना नहीं है। यह देश के प्रति हिंदुओं की निष्ठा का सकारात्मक प्रमाण है कि वही यहां का शत-प्रतिशत राष्ट्रीय समाज है। उन्हें 'सांप्रदायिक' कहना और उसकी निष्ठा की बराबरी उन लोगों से करना, जिनकी निष्ठाएं विभाजित और कभी-कभी संदेहजनक हैं, नितांत अनुचित एवं अबुद्धिमत्तापूर्ण है।

पंथ-परिवर्तन : निष्ठा-उच्छेद

हिंदुओं का पंथ-परिवर्तन करना राष्ट्र के प्रति उनकी अविभाज्य एवं संपूर्ण निष्ठा के स्थान पर उन्हें विभाजित निष्ठा के सामने समर्पण कराने के समान है। यह राष्ट्र व देश की सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा है। अत: इस पर तत्काल नियंत्रण आवश्यक है। किसी व्यक्ति का पंथ-परिवर्तन संबंधित दर्शनों के गंभीर व तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम नहीं होता, बल्कि गरीबी, निरक्षरता और अज्ञानता से अनुचित लाभ उठाने, भय दिखाने और धोखाधड़ी करने की कूटनीति का परिणाम होता है। इस प्रक्रिया में किसी के वास्तविक हृदय-परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस अनुचित व अवांछनीय गतिविधि पर प्रतिबंध लगना ही चाहिए। निर्धनता और अज्ञान में डूबे अपने बंधुओं की सुरक्षा हेतु क्रियाशील होना हमारा कर्तव्य है।

वर्तमान विकृति और उचित दिशा

सर्वसमावेशी होने के कारण हिंदू दर्शन में अहिंदू समुदायों को आत्मसात करने की क्षमता है। पंडित नेहरू के मन में यही तथ्य रहा होगा, जब उन्होंने कहा था कि मुस्लिम व ईसाई-समाज को हिंदू-समाज में उसी प्रकार एकरूप किया जाना चाहिए, जिस प्रकार कभी आक्रांता शक व हूणों को हिंदू-समाज ने आत्मसात कर लिया था। राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने के लिए विभिन्न पूजा-पद्धतियों को एकीकृत करने तथा उनमें श्रद्धा की समान भावना का संचार करने की दृष्टि से पं. नेहरू ने अपने भाषण में सही दिशा-निर्देश किया, परंतु वर्तमान प्रयास हिंदू-समाज को लांछित कर, तुष्टिकरण की नीति द्वारा अहिंदू-समाज के पूर्व-विद्यमान आक्रामक भाव को अधिक उग्र बनाने जैसा है। इस प्रकार आत्मरक्षण में अक्षम तथा दुर्बल बनाते हुए हिंदू-समाज की परंपराओं व धरोहर का अपमान किया जा रहा है। यह विकृत नीति पं. नेहरू की सही दिशा का न केवल तिरस्कार, अपितु उसका निषेध भी करती है। यह परमावश्यक है कि इस विकृति को ठीक किया जाए और हिंदुओं को सम्मानजनक स्थान देने की नीति

अपनाई जाए, ताकि वे राष्ट्रभक्ति के मार्ग पर अडिग, अविचलित होकर डटे रहें और इन्हीं प्रतिमानों के अनुरूप दूसरों को अपने साथ एकात्म करते रहें।

एकात्मता समिति भंग करो

राष्ट्रीय एकात्मता के नाम पर गठित इस समिति ने असंतुष्ट वर्गों को शिकायतें करने एवं मांगें उठाने का अवसर देकर उनमें इस आशा का संचार किया है कि उनकी विघटनकारी मांगें मान ली जाएंगी। उनमें अपनी संकीर्ण मांगों की पूर्ति को लेकर आशा जगी है, क्योंकि समिति ने सांप्रदायिकता को समाप्त करने के लिए इसे परिभाषित करते हुए इससे बचाव का रास्ता ढूंढने का आश्वासन दिया है। इससे कुल मिलाकर इतना ही होगा कि अनेक वर्गों में अलग अस्तित्व रखने की भावना तीव्र होगी।

राष्ट्रीय एकात्मता के बारंबार आह्वान ने यह अवांछनीय धारणा और मजबूत की है कि मानो उसी समय इसका दुर्भाग्यपूर्ण अभाव हो। अत: समिति का अस्तित्व ही इसके मूल उद्देश्यों के प्रतिकूल लगता है। इस प्रकार इसको तुरंत विसर्जित करना आवश्यक है। यह राष्ट्रीय एकात्मता को बढ़ावा देने की दिशा में महत्वपूर्ण पग होगा।

संघ–लक्ष्य

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिंदुओं के राष्ट्रीय चरित्र का साक्षात्कार कर उनमें भारत व उसकी राष्ट्रीय प्रकृति के प्रति प्रखर निष्ठा का संचार करने, उनमें सद्गुण, सच्चरित्र एवं पूर्ण समर्पण की भावना जगाने, सामाजिक जागरूकता उत्पन्न करने, प्रस्थ–सद्भाव, सहयोग एवं स्नेह का भाव उद्बुद्ध करने, राष्ट्रसेवा को सर्वोच्च मानने एवं जाति, भाषा तथा पंथ को गौण स्थान देने की मनोवृत्ति विकसित करने और उसे आचरण में उतारने, उनमें विनम्रता एवं अनुशासन के साथ समस्त सामाजिक दायित्वों के निर्वहन हेतु शारीरिक सौष्ठव एवं कठोरता के महत्व का अभ्यास कराते हुए जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त अनुशासन द्वारा हिमालय से कन्याकुमारीपर्यंत संगठित, समरस राष्ट्र के निर्माण हेतु योजनाबद्ध प्रयास कर रहा है।

दृढ़ विश्वास

संघ की कोई मांग नहीं है, यह विशेषाधिकारों के लिए संघर्षरत नहीं है, यह चुनाव की राजनीति में प्रतिस्पर्द्धा नहीं है और न ही सत्ता में भागीदारी की उसकी कोई इच्छा है। उसकी ऐसी कोई नीति भी नहीं है। अपने राष्ट्र को संगठित, संपन्न और गौरवशाली बनाना तथा इसकी वेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के अतिरिक्त

इसकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। अत: इसमें किसी जाति, दल या मत-पंथ के प्रति विरोध व घृणा के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंदुत्व के सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ यह सबके प्रति सम्मान, स्नेह तथा सहनशीलता का भाव रखता है। हिंदू-विचारों के अनुसार राजसत्ता का कार्यक्षेत्र ऐहिक विषयों तक सीमित है, क्योंकि किसी वर्ग या पंथ के आधार पर विशेषाधिकार और अनन्यता की शब्दावली में सोचना हिंदू-विश्वास और परंपरा के प्रतिकूल है।

अवरोध

यह स्पष्ट है कि अनंतकाल से आई राष्ट्रीय एकात्म भावना की पुनर्स्थापना ही संघ का लक्ष्य है। सरकार और सत्तापक्ष के कतिपय महत्वपूर्ण सदस्यों तथा अन्य राजनैतिक दलों के शिखर पुरुषों द्वारा विद्वेषपूर्वक संघ को 'विघटनकारी' कहे जाने के कारण इस संदर्भ में कुछ भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं, अन्यथा संघ अब तक चतुर्दिक व्याप्त प्रांतवाद, भाषागत शत्रुता तथा जातिवाद को दूर करने में पर्याप्त सीमा तक सफल हो गया होता और उक्त उद्देश्य के लिए किसी समिति के गठन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

पवित्र व्रत

संघ विगत अनेक वर्षों से व्यक्ति-निर्माण लक्ष्य में रखकर अविचल, सशक्त, सुसंगठित और एकीकृत राष्ट्रजीवन में विश्वास रखते हुए कार्यप्रवृत्त है। इस पुनीत महाकार्य के पथ को पावन कर्तव्य पथ के रूप में स्वीकार किया है। सर्वशक्तिमान परमेश्वर की कृपा से संघ इस कार्य को निरंतर करता रहेगा और निकट भविष्य में ही अपने लक्ष्य हो प्राप्त करेगा।

कुछ मूलभूत अवधारणाएं

(१) सामान्य रूप से राष्ट्र की परंपराओं, शताब्दियों से पूजित वीर-वीरांगनाओं, इसकी सुरक्षा व संपन्नता के प्रति अविभाज्य एवं अव्यभिचारी निष्ठा रखने वाले लोग ही **'राष्ट्रीय'** हैं।

(२) **सांप्रदायिक** वे हैं, जो उपर्युक्त निष्ठा के रहते हुए भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वर्ग, जाति, भाषा के आधार पर सोचते हैं और राजनैतिक व अन्य सीमित लाभों के लिए पुरजोर प्रयास करते हुए जनसामान्य को अप्राप्य विशेषाधिकारों का भोग करने के इच्छुक हैं तथा शेष देश के विरोध में अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ईर्ष्या, घृणा, विरोध और यदा-कदा हिंसा का भी सहारा लेते हैं।

(३) (क) वे समूह **राष्ट्र-विरोधी** हैं जिनकी निष्ठा विभाजित है, जो क्रमांक १ में निर्दिष्ट निष्ठा से ऊपर कोई और निष्ठा रखते हैं और जो निष्ठाओं में संघर्ष के क्षण आने पर राष्ट्रहित की बलि देकर या इनके प्रति उदासीन होकर अपनी मजहबी निष्ठा का अनुसरण करना पसंद करेंगे।

(ख) वे समूह स्पष्टतया **विदेशी** हैं, जो अपने-आपको विदेशी, आक्रामक, विजेता या देश का इत: पूर्व स्वामी और शास्ता मान रहे हैं। यदि उनके भीतर शासक के रूप में पुन: स्थापित होने की **आशंका** विद्यमान है, तो वे **शत्रु** हैं।

(४) वे समूह अराष्ट्रीय हैं, जो इस देश के निवासी होने पर भी विकृत चिंतन के फलस्वरूप राष्ट्र से पृथक होने के लिए जी-तोड़ प्रयास करते हैं तथा एक अलग और प्राय: संघर्षरत राज्य बना लेते हैं।

(५) (क) क्रमांक ४ में उल्लिखित वे लोग राष्ट्रद्रोही हैं, जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए क्रमांक ३ (क) और (ख) में निर्दिष्ट तत्वों से हाथ मिलाने में संकोच नहीं करेंगे और किसी भी विदेशी शक्ति से सांठ-गांठ करने की कामना का सचमुच प्रयास करेंगे।

(ख) वे राजनैतिक दल भी पंचम (क) राष्ट्रद्रोही श्रेणी में सम्मिलित किए जा सकते हैं, जो सत्ता पाने या बनाए रखने के लिए तृतीय व चतुर्थ क्रमांक में निर्दिष्ट अराष्ट्रीय तत्वों को सहयोग देंगे या इन जैसा व्यवहार करेंगे।

(ग) विदेशी शक्तियों के आधारभूत सिद्धांतों में विश्वास व्यक्त करने, देश में इनकी सत्ता को प्राथमिकता देने, उन्हें सहन करने, उनका स्पष्टीकरण देने, हमारे देश पर उनका आक्रमण होने पर उसे न्यायसंगत बताने और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमारे देश के विरोधी अथवा हमलावर होने पर भी उनका सहयोग करने वाले राजनैतिक समूह राष्ट्रद्रोही और शत्रु हैं।

दुर्भाग्यवश उक्त वर्णित सभी प्रकार हमारी पुण्यभूमि में विद्यमान हैं। सुदृढ़ व एकात्म राष्ट्रजीवन के निर्माण के लिए इन सबको सम्यक् और निर्भीकरूपेण समझना अत्यंत आवश्यक है।

ऐसे सभी वर्गों में अपवाद होना अवश्यंभावी है। राष्ट्रीय तत्वों में राष्ट्रद्रोही व्यक्ति तथा राष्ट्रद्रोही वर्गों में देशभक्त व्यक्ति मिल सकते हैं। हमें जनसामान्य के मनोविज्ञान और व्यक्तिगत गुणों में भेद करना भी सीखना होगा। यह सामान्य अनुभव

की बात है कि जन-उन्माद फूटने पर अन्य वर्गों में विद्यमान देशभक्तों के पैर उखड़ जाते हैं। उपलब्धि के चरम लक्ष्य के रूप में राष्ट्रीय हितों को चक्षुओं के सम्मुख रखते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक आधारों के साथ समूह के इसी मनोविज्ञान का समग्र रूप में विचार और व्यवहार परमावश्यक है।

राष्ट्रीय लोगों के हित सर्वोपरि हैं, उन्हें सर्वोपरिता देनी चाहिए। सांप्रदायिक व राष्ट्रविरोधी तत्वों से विवेकपूर्वक दृढ़ता, सहानुभूति एवं स्नेहपूर्ण समझदारी से निपटना होगा, ताकि उन्हें विखंडनात्मक गतिविधियों से विमुख किया जा सके, जो देश व राष्ट्र के लिए हानिकारक व घातक हो सकती हैं। अन्य सभी को सभी संभव साधनों द्वारा दृढ़ता से कुचलना आवश्यक है।

कतिपय आशंकाएं

जबलपुर में 'उषा भार्गव प्रसंग' के बाद पं. नेहरू सहित अनेक नेताओं ने खुलकर 'बहुसंख्यक सांप्रदायिकता' शब्द का प्रयोग करना तथा हिंदुओं पर सांप्रदायिकता का आरोप लगाकर धमकी देना आरंभ कर दिया। इसी पृष्ठभूमि में 'राष्ट्रीय एकात्मता परिषद्' का गठन किया गया है। इससे संदेह होता है कि राष्ट्रीय एकात्मता के सात्विक आवरण के पीछे हिंदू-समाज के स्वाभिमान और आत्मविश्वास को खंड-खंड करने और निर्बल बनाने हेतु तथा हिंदू-विरोधी समुदायों के तुष्टिकरण व मान-मनोबल द्वारा इनके आक्रामक भावों के प्रोत्साहन हेतु इन सभी संगठनों को सांप्रदायिक घोषित करने की दुरभि-संधि चल रही है, जो हिंदू-हित और रक्षण के कार्य में संलग्न हैं।

आशंकाओं का आधार

अलीगढ़ कांड की पक्षपातरहित जांच कराने में असफलता तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय-प्रशासन को दोषमुक्त करार देना,

सरलीकरण की आड़ में हिंदी के उर्दूकरण द्वारा इसे भ्रष्ट और अबोधगम्य बनाना, जबकि हिंदी का उपयोग हमारे संविधान की भावना के अनुरूप हो रहा है,

उत्तरप्रदेश के तत्कालीन शिक्षा मंत्री द्वारा पाठ्यपुस्तकों से हमारे राष्ट्रीय नायकों के संदर्भ हटाने का आश्वासन एवं विद्यालयों में हिंदू उत्सवों के मनाने पर प्रतिबंध,

पूर्वी बंगाल के अवैध मुस्लिम घुसपैठियों को निष्कासित कराने की नीति, पूरी तरह से वैधानिक होते हुए भी, का अनुसरण न करना। पश्चिमी बंगाल सरकार को पूर्वी बंगाल में हिंदुओं पर घटित उत्पीड़नों के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन न करने की

सलाह देना और यह विचित्र तर्क देना कि विरोध-प्रदर्शन से यहां अल्पसंख्यकों, अर्थात् मुस्लिमों में असुरक्षा की भावना जगेगी, ऐसी अनेक घटनाएं उद्धृत की जा सकती हैं, जो सरकार के निकृष्टतम भ्रमों की पुष्टि करती हैं और मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति के प्रमाण उपलब्ध कराती हैं।

कुछ समय पहले समाचार-पत्रों में यह प्रकाशित हुआ कि 'राष्ट्रीय एकात्मता समिति' ने एक उपसमिति का गठन किया है, जो विभिन्न सांप्रदायिक संगठनों के प्रवक्ताओं को उनके विचार जानने के लिए आमंत्रित करेगी। जब उपसमिति का गठन ही 'सांप्रदायिकता' को परिभाषित करने के लिए किया गया था, तब उपयुक्त परिभाषा निर्धारित करने से पूर्व ही कतिपय संगठनों को 'सांप्रदायिक' घोषित करना उद्देश्य की प्रामाणिकता के प्रति संदेह उत्पन्न करता है।

उपसमिति के कतिपय सम्माननीय सदस्यों ने समय-समय पर अनेक हिंदू विभूतियों और संगठनों को 'सांप्रदायिक' कहा है। 'सांप्रदायिक' की परिभाषा का निर्धारण के पहले ही 'सांप्रदायिक' का दोषारोपण करने की प्रवृत्ति वाले लोगों की सत्यनिष्ठा स्वत: संदेहास्पद हो जाती है।

क्या ऐसी पृष्ठभूमि के साथ निर्मित तथा इसी प्रकार के लोगों से युक्त समिति से किसी सच्ची जांच की आशा की जा सकती है?

उपसमिति द्वारा महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री से प्रश्न किया गया था कि क्या उनके मन में भारतीय संघ से पृथक् किसी राज्य के गठन की परिकल्पना है? इस प्रकार के प्रश्न करना अपमानजनक और अशोभनीय है। यह समिति के सदस्यों की पूर्वाग्रहगस्त मानसिकता का प्रमाण है। क्या ऐसे पूर्वाग्रहग्रस्त लोगों से वास्तविक सत्यान्वेषण की आशा की जा सकती है?

ऐसा कहा गया कि परिषद् की रुचि केवल राजनैतिक दलों का दृष्टिकोण जानने में है, तब फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को आमंत्रित करने का क्या औचित्य है, जिसका राजनीति से कोई संबंध नहीं है?

परिषद् के अधिकार क्या हैं? यदि यह केवल अनुपयोगी और उद्देश्यहीन मंच है, तो क्या ऐसा करना समय की बरबादी नहीं है?

यहां सरकार एवं सत्ताधारी दल के विचारों का प्राधान्य और वर्चस्व दिखाई देता है। क्या ऐसी परिस्थितियों में मुद्दों पर निष्पक्ष विचार की आशा करना निरर्थक नहीं होगा?

❑❑❑

१६

आंतरिक संकट :

१. मुसलमान

राष्ट्र की सुरक्षा के लिए संकट

संसार में अनेक देशों के इतिहास का यह दु:खद सबक रहा है कि राष्ट्र की सुरक्षा को बाहरी आक्रांताओं की अपेक्षा आंतरिक विरोधी तत्व अधिक बड़ा संकट उपस्थित करते हैं। जब से अंग्रेजों ने इस देश को छोड़ा, तब से हमारे देश में राष्ट्र की सुरक्षा का यह प्रथम पाठ दुर्भाग्यवश सतत उपेक्षित रहा है। हमारे देश के कर्णधारों की ईप्सित कल्पनाओं ने अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य एवं सुरक्षा के लिए आंतरिक उच्छेदन की संभावना को अत्यंत प्रखर और वास्तविक बना दिया है। इनका जन्म वास्तविकताओं का सामना करने के साहस के अभाव में से, राष्ट्रजीवन में एक के पश्चात् जो दूसरे दु:खद प्रसंग आए, उन पर उत्तरदायित्व वहन करने वाले प्रमुखों द्वारा आवरण डालने के लिए किए गए ऊंचे लगने वाले नारों के उद्घोष से तथा अपने संकुचित स्वार्थसिद्धि के लिए विरुद्ध-भावना वाले दलों एवं वर्गों के समय-समय पर अवसर से लाभ उठाने के लिए किए गए समझौतों से हुआ है।

प्रथम हम मुसलमानों के विषय में विचार करें।

आज तक यह कहने वाले अनेक लोग मौजूद हैं कि 'अब मुसलमान समस्या बिलकुल नहीं रही। पाकिस्तान को प्रश्रय देने वाले वे दंगई तत्व सदा के लिए चले गए हैं। शेष मुसलमान हमारे देश के भक्त हैं। उनके लिए जाने को कहीं कोई स्थान नहीं है और वे निष्ठावान बने रहने के लिए बाध्य हैं।'

तथ्य क्या कहते हैं

किंतु तथ्य क्या हैं? क्या यह सत्य है कि सभी पाकिस्तान-समर्थक तत्व पाकिस्तान चले गए? प्रत्यक्ष में वह हिंदूबहुल प्रांत उत्तरप्रदेश के ही मुसलमान थे, जो आरंभ से ही पाकिस्तान के लिए किए गए आंदोलन के प्रमुख रहे और विभाजन

के पश्चात् वे सभी यहीं बने रहे। वास्तव में पंजाब, बंगाल, सिंध तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांतों के मुसलमान, जो पाकिस्तान चले गए, सन् १९३७ के निर्वाचन में मुस्लिम लीग को बिलकुल अमान्य कर चुके थे। बाद के वर्षों में हमारे नेतृत्व की गलत नीति के कारण वे मुसलमान पुन: मुस्लिम लीग की गोद में ढकेल दिए गए।

विभाजन के पूर्व संविधान-सभा की स्थापना के लिए निर्वाचन हुए। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण को अपने चुनाव का आधार बनाकर वे निर्वाचन लड़े। कांग्रेस ने भी संपूर्ण देश में अपने मुसलमान प्रत्याशी खड़े किए थे, किंतु ऐसे प्रत्येक स्थान पर मुसलमानों ने मुस्लिम लीग के प्रत्याशियों को ही वोट दिए और कांग्रेस के मुसलमान प्रत्याशी बुरी तरह परास्त हुए। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत एक अपवाद था। इसका अर्थ यही है कि जो करोड़ों मुसलमान यहां अब भी रह रहे हैं, उन सभी ने पाकिस्तान के लिए वोट दिया था।

क्या उसके बाद भी, जो यहां रह गए, उन्होंने अपने में परिवर्तन किया है? क्या अब भी उनका वही पुराना विरोध और खूनी भाव, जिसका परिणाम सन् १९४६-४७ में व्यापक दंगे, लूट, अग्निकांड, बलात्कार तथा इसी प्रकार के उन्मादपूर्ण कार्यों में हुआ था, समाप्त हो गया है? विभाजन के पश्चात् क्या एक रात में ही वे परिवर्तित होकर देशभक्त हो गए हैं? इस प्रकार के विश्वास के धोखे में रहना आत्मघाती होगा। इसके विपरीत पाकिस्तान के निर्माण से यह मुस्लिम विभीषिका सैकड़ों गुना बढ़ी है, जिसका निर्माण हमारे देश पर भावी आक्रमण की योजनाओं के आधार के रूप में हुआ है।

पाकिस्तान : एक सतत आक्रमण

उनकी आक्रामक नीति सदैव दोहरी रही है। एक तो है सीधा आक्रमण। स्वतंत्रता के पूर्व के दिनों में जिन्ना ने इसका नाम 'सीधी कार्यवाही' रखा था। पहले प्रहार में उन्हें पाकिस्तान मिल गया। हमारे नेतागण, जिनका हाथ इस पाकिस्तान के निर्माण में रहा है, इस दु:खद घटना को 'भाइयों के बीच बंटवारा' कहकर लीपा-पोती करने का प्रयास करते हैं। किंतु यह नग्न सत्य बना ही रहेगा कि हमारी अपनी मातृभूमि में से ही काटकर एक आक्रांता मुस्लिम-राज्य का निर्माण किया गया है। जिस दिन से यह तथाकथित पाकिस्तान अस्तित्व में आया, हम घोषणा करते आ रहे हैं कि यह सतत चल रहे मुस्लिम आक्रमण को स्पष्ट करने वाली एक घटना है। बारह सौ वर्ष पूर्व जब से मुसलमानों ने यहां पैर रखा, उनकी यही आकांक्षा रही कि इस संपूर्ण देश को धर्मांतरण करके गुलाम बनाया जाए, किंतु शताब्दियों तक राज्याधिकार

उनके हाथ में रहते हुए भी उनकी यह आकांक्षा फलवती नहीं हुई, क्योंकि राष्ट्र की विजयिष्णु भावना समय-समय पर महान पराक्रमी पुरुषों के रूप में जागृत होती रही, जो यहां उनके साम्राज्य की मृत्यु का कारण बनी। यद्यपि उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, किंतु इस देश पर अधिकार बनाए रखने की उनकी आकांक्षा भंग नहीं हुई। अंग्रेजों के यहां आने में उन्हें अपनी इस इच्छा की पूर्ति का अवसर मिल गया। उन्होंने अत्यंत धूर्ततापूर्वक अपना खेल खेला। कभी-कभी भीति और विप्लव का निर्माण किया और अंत में हमारे नेताओं को घुड़ककर विभाजन की पापपूर्ण मांग के सामने आत्मसमर्पण कराने में सफल हो गए।

हम संघ के लोग बार-बार इस ऐतिहासिक सत्य को गत इतने वर्षों से लोगों के मन में बैठाने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। कुछ समय पूर्व विश्वविख्यात इतिहासज्ञ प्रो. अर्नाल्ड टायनबी ने भी इसे पुष्ट किया है। उन्होंने दो बार हमारे देश की यात्रा की, हमारी राष्ट्रीय गतिविधियों का निकट से अध्ययन किया तथा विभाजन के शुद्ध ऐतिहासिक यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करने वाला एक निबंध लिखा। जिसमें उन्होंने असंदिग्ध रूप से कहा है कि पाकिस्तान का निर्माण इस बीसवीं शताब्दी में मुसलमानों का इस देश को पूर्णतया अधीन करने के १२०० वर्ष पुराने स्वप्न को साकार करने की दिशा में प्रथम सफल पग है। फिर उनका सीधा आक्रमण, जो उनकी प्रथम सफलता से जोश में अधिक बढ़ा हुआ था, कश्मीर पर हुआ। यहां भी वे सफल हुए, यद्यपि आंशिक रूप से आज केवल एक-तिहाई कश्मीर उनके अधिकार में है। अब पाकिस्तान शेष कश्मीर को भी वहां के पाकिस्तान-समर्थक शक्तिशाली तत्वों की सहायता से हड़पना चाहता है।

जिन्ना के स्वप्न को साकार करने के लिए

हमारे देश के सामरिक महत्व के भागों में अपनी जनसंख्या वृद्धि करना इनके आक्रमण का दूसरा मोर्चा है। कश्मीर के पश्चात् उनका दूसरा लक्ष्य असम है। योजनाबद्ध रीति से असम, त्रिपुरा और शेष बंगाल में बहुत दिनों से उनकी संख्या की बाढ़ आ रही है। कुछ लोग हमें यह विश्वास दिलाना चाहेंगे कि पूर्वी पाकिस्तान अकालग्रस्त होने के कारण वहां के लोग निकल-निकलकर असम तथा पश्चिमी बंगाल में आ रहे हैं, किंतु बात ऐसी नहीं है। पाकिस्तानी मुसलमान असम में १५ वर्ष से शनैः-शनैः घुसपैठ कर रहे हैं। क्या इसका अर्थ है कि वहां इन १५ वर्षों में अकाल ही बना रहा ? असम में मुसलमान गुप्त रूप से प्रवेश कर रहे हैं और स्थानीय मुसलमान उन्हें आश्रय देते हैं। परिणामस्वरूप जहां सन् १९५० में वहां की मुसलमान

जनसंख्या केवल ११ प्रतिशत थी, वहां आज दुगुने से भी अधिक बढ़ गई है। असम को मुस्लिम बहुल प्रांत बनाने के षड्यंत्र के अतिरिक्त यह और क्या है, जिससे कि वह अपने आप थोड़े समय बाद पाकिस्तान की गोद में चला जाए?

सन् १९६० के बंगाली विरोधी दंगों में भी जिन्होंने असम को आन्दोलित कर दिया था, सदा की भांति वहां के मुसलमानों और मुसलमान मिनिस्टरों ने देशद्रोह का कार्य किया था। उन्होंने असमिया हिंदुओं को बंगाली हिंदुओं के विरुद्ध तथा बंगाली हिंदुओं को असमिया हिंदुओं के विरुद्ध, जहां जैसा उन्हें अपने अभिप्रेत के अनुकूल प्रतीत हुआ, खड़ा कर दिया तथा बंगाली हिंदुओं को निकाल बाहर करने के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयत्न में हिंदुओं की हत्या तथा घरों को अग्निकांडों का शिकार बनाया। इसके द्वारा उन्होंने इस प्रांत में हिंदुओं की तुलना में अपने अनुपात को बढ़ा लिया। कुछ चीजें, जो वहां घटित हुईं, इस रहस्य की सूचक हैं। इस प्रकार की अनेक घटनाएं हुईं कि जहां किसी बंगाली मुसलमान सज्जन का घर तो सुरक्षित रहा और उसके दोनों ओर के बंगाली हिंदुओं के घर भस्म हो गए। समाचार-पत्रों में भी यह घटनाएं छपीं कि कुछ व्यक्ति लूटी हुई संपत्ति को पूर्वी पाकिस्तान ले जाते हुए बंदी बनाए गए। यह बात स्पष्ट है कि अपनी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए पूर्वी पाकिस्तान से मुसलमानों से भरे हुए ट्रक पर ट्रक आए थे। जब हम स्मरण करते हैं कि जिन्ना के पाकिस्तान के स्वप्न में कश्मीर और असम के भाग सम्मिलित थे तो हमारे सामने उनके कार्यों की योजना दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाती है।

जिन्ना के स्वप्न को पूर्ण करने की उनकी योजना को मात्र 'ईप्सित कल्पना' कहकर छोड़ देना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। इसी प्रकार जिन्ना द्वारा की गई पाकिस्तान की मांग को भी हम एक 'बेहद अव्यवहार्य कल्पना' मात्र कहकर एक बार छोड़ चुके थे, परंतु तो भी आज वह एक कठोर सत्य है। शस्त्रास्त्र एकत्र करने का उनका ज्वर अविरत बढ़ता जा रहा है। उनकी मस्जिदों में सभाएं तथा हिंसा के लिए प्रोत्साहन भयंकर रूप से बढ़ रहे हैं। कुछ वर्षों पूर्व कोलकाता के पुलिस कमिश्नर ने सावधान किया था कि केवल नाखोदा की मस्जिद में ही इतनी बारूद संगृहीत है कि आधा कोलकाता उड़ाया जा सकता है तथा जब तक उसकी तलाशी लेकर उसमें से वह भयंकर सामान हटाया नहीं जाता, तब तक कोलकाता में जन-शांति बनाए रखना नितांत असंभव होगा। उसकी इस साहसपूर्ण चेतावनी के कारण कोलकाता से तुरंत उसका स्थानांतरण कर दिया गया। यदि उनके एक हजार वर्ष के नग्न आक्रमण के इतिहास के बाद भी प्रमाणों की आवश्यकता है, तो दिल्ली तथा देश के अन्य स्थानों पर बमों का फटना उनकी विध्वंसक तैयारियों के स्पष्ट प्रमाण हैं।

हमारा वर्तमान नेतृत्व उनकी इन कार्यवाहियों पर कठोरतापूर्वक प्रतिबंध लगाने के लिए अति दुर्बल है। इस तथ्य के आभास ने उन्हें अपने दुष्ट अभिप्रेतों को सिद्ध करने के लिए और भी साहसिक बना दिया है। उन्हें यह भली-भांति स्मरण है कि कोलकाता, नोआखाली और त्रिपुरा में उनके द्वारा किए गए हिंसा एवं रक्तपात के कार्यों ने हमारे नेताओं को साहसहीन कर दिया था जिससे कि वे अपनी मातृभूमि की एकता का विनिमय करने तथा देश का एक भाग दे डालने को विवश हो गए थे। आज भी वे यह देख रहे हैं कि गुंडागीरी के द्वारा हमारे वर्तमान नेताओं के हाथों से बड़ा लाभांश प्राप्त किया जा रहा है।

सन् १९५० में हिंदुओं के हत्याकांड और पूर्व बंगाल से सामूहिक निष्कासन के परिणामस्वरूप एक घटना घटित हुई थी। ठीक उसी काल में बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली के अनेक भागों में लगातार दंगे होने लगे थे। हमारी सरकार इस विचित्र मनोदशा से पीड़ित है कि जहां कहीं भी दंगे होते हैं, उसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हाथ अवश्य होना चाहिए। उत्तरप्रदेश सरकार ने हमारे कुछ कार्यकर्ताओं को जेलों में डाल दिया था। उसी समय किसी अन्य कारण से मेरी भेंट सरदार पटेल से हुई थी। मैंने स्वाभाविक रूप से पूछ लिया कि हमारे लोगों को क्यों पकड़ा गया है? उन्होंने उत्तर दिया कि उत्तरप्रदेश सरकार को ऐसी सूचनाएं मिली हैं कि उन विप्लवों के लिए संघ के कार्यकर्ता उत्तरदायी थे। मैंने उनसे कहा कि 'यदि आपने इन क्षेत्रों की स्थिति पर ध्यान दिया होता, जहां विप्लव हुए हैं, तो आपको यह तथ्य स्पष्ट हो जाता कि वे क्षेत्र वही हैं, जिन्हें जिन्ना ने पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान को मिलाने के लिए मार्ग के रूप में मांगा था। और यह भी कि ये दंगे पूर्वी पाकिस्तान से हिंदुओं के सामूहिक निष्कासन के समकालीन हैं। इसका अर्थ केवल यही है कि इस मार्ग की मांग को मनवाने के लिए वे हमारी सरकार को झुकाना चाहते हैं। सरदार पटेल एक क्षण के लिए चुप रहे। फिर बोले, 'हां जो कुछ तुम कहते हो उसमें सत्यता है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके बाद शीघ्र ही हमारे सभी कार्यकर्ता छोड़ दिए गए। हमारा यह सौभाग्य था कि उन दिनों वास्तविकता का सामना करने के लिए सरदार पटेल के रूप में फौलादी इच्छाशक्तिसंपन्न एक व्यक्ति था।

नियतकालिक बम

सरदार पटेल इस तथ्य से अवगत थे कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश पहले ही की भांति एक शक्तिशाली मुस्लिम क्षेत्र बना हुआ है। वह नहीं चाहते थे कि एक मुस्लिम पट्टी द्वारा उसका संबंध पाकिस्तान से जुड़े। अत: उन्होंने पहले से ही इस बात के लिए सावधानी से काम किया था कि विभाजन के पश्चात् पूर्वी पंजाब से निकाले हुए

मुसलमान, पश्चिमी पाकिस्तान से उत्तरप्रदेश तक लगातार एक मुस्लिम शृंखला बनाने के लिए कहीं पश्चिमी पंजाब के निकट ही न बस जाएं, किंतु आचार्य विनोबा भावे के दबाव से मुसलमानों को पहले ही गुड़गांव जिले के निकट पुनर्वास के लिए आज्ञा दे दी गई। अब उन क्षेत्रों में चार लाख से अधिक मुसलमान बस चुके हैं।

इस बात के निश्चित लक्षण प्रकट हो रहे हैं कि सन् १९४६-४७ के समान ही एक विस्फोटक स्थिति शीघ्रता से उत्पन्न होती चली जा रही है और पता नहीं कि कब इसका विस्फोट हो जाए। ठीक दिल्ली से रामपुर और लखनऊ तक मुसलमान एक भयंकर योजना तैयार कर रहे हैं। शस्त्रास्त्रों का एकत्रीकरण तथा अपने लोगों को सज्जित करते हुए संभवत: इस बात की प्रतीक्षा में अपना समय बिता रहे हैं कि जब पाकिस्तान हमारे देश से सशस्त्र संघर्ष का निर्णय करे, तब वह भीतर से चोट करे। यदि इस कुचेष्टा के अंकुर को ही हम नहीं काटते, तो बहुत संभव है कि दिल्ली की नींव तक कंपित हो जाए। ऐसा नहीं है कि हमारे नेता इस बात से अवगत नहीं हैं। गुप्तचर विभाग उन्हें ठीक सूचनाएं देता है, किंतु यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में केवल चुनाव रहता है और चुनाव का अर्थ वोट प्राप्त करना, जिसका अर्थ होता है जनता के उन वर्गों का तुष्टिकरण करना, जिनके पास मतों की अच्छी और ठोस संख्या रहती है। मुसलमान इस प्रकार की ठोस संख्या वाला वर्ग है। इस सब तुष्टिकरण के मूल में यही तथ्य है, जिसका परिणाम घातक होता है।

न कुछ भूलना, न कुछ सीखना

दक्षिण में मुस्लिम लीग ने अपने कुत्सित सिर को पुन: उठाया है। पाकिस्तान के निर्माण ने उत्तर में हिंदुओं को कम से कम कुछ समय के लिए तो मुस्लिम लीग के संकट के प्रति जागरूक कर दिया है। इसीलिए लीग के नेताओं ने अपने मुख्य वास दक्षिण में स्थानांतरित कर लिए हैं। अब वे इस वक्तव्य के साथ प्रकट हो गए हैं कि उस समय तक वे अपने कार्यों का संचालन गुप्त रूप से करते थे। केरल के इस सामूहिक आंदोलन, जिससे साम्यवादी सरकार का वहां पर पतन हुआ, ने इन्हें बाहर आने के लिए एक स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। इसके बाद जो चुनाव आए, वे इनके लिए अनपेक्षित लाभकारी सिद्ध हुए। कांग्रेस ने अपने अतीत के अनुभव से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की। उसने यह भी विचार नहीं किया कि मुस्लिम लीग का ही अनुनय करने से हमारे देश पर पाकिस्तान की विपत्ति आई है। इसने सन् १९५७ में चुनावों के अंतर्गत एक बार पुन: इसी देशद्रोही दल को आलिंगन करने के लिए अपने बाहें फैला दीं और उनके इस स्पष्ट राष्ट्रविरोधी कृत्य के समर्थन के लिए पंडित

जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग को यह कहकर देशभक्ति का एक उज्ज्वल प्रमाण-पत्र भी दे दिया कि वह नवीन दल पुरानी मुस्लिम लीग नहीं है, वरन् एक नया देशभक्त दल है, जो अपनी जाति एवं धर्म के प्रति भक्ति रखता है। देशभक्ति की कैसी अद्भुत परिभाषा है? किंतु हमारे पंडितजी के दुर्भाग्य से दूसरे ही दिन अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया कि उनका दल वही पुराना दल है, जिसमें परिवर्तन की छाया भी नहीं है। अब वे केरल में स्वतंत्र 'मोपला नाड' के लिए खुले रूप में प्रचार कर रहे हैं।

इन नवीन विकासमान परिस्थितियों में कोई भी देख सकता है कि एक बार पुन: लगभग अर्ध-शताब्दी पूर्व की वही पुरानी घटनाएं सजीव हो रही हैं। हमारे नेताओं ने विश्रान्ति काल में (सन् १९२१ से १९२९ तक) मुसलमानों की मैत्री प्राप्त करने के लिए हिंदुओं से कहा था कि वे भी खिलाफत आंदोलन, जो टर्की के बादशाह को सिंहासनाच्युत करने के कारण अंग्रेजों के विरुद्ध किया गया था, को अपना ही मानकर इसमें भाग लें। केरल में भी आंदोलन की सहायता के लिए हिंदू धन तथा जन के साथ आगे आए। किंतु मुसलमानों का कोप, जो अंग्रेजों पर था, शीघ्र ही 'हिंदू काफिरों के विरुद्ध जेहाद' के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें मुस्लिम बर्बरता के सभी भीषण अत्याचार, जैसे हत्या, अग्निकांड, स्त्रियों का अपहरण, लूट तथा बलात् धर्म-परिवर्तन हुए। जब इन रोमांचक अत्याचारों के समाचार देश के अन्य भागों में पहुंचे और वहां के निवासियों के हृदयों पर आघात किया, तब एक प्रख्यात नेता ने इन जघन्य मुसलमान अपराधियों को 'बहादुर मोपला' कहते हुए उनकी खुलकर प्रशंसा की। हम उन शब्दों की तुलना अपने वर्तमान नेताओं के उन शब्दों से करें, जो उन्हें 'देशभक्त' कहते हैं, तो हमें उस लंबी आत्मघाती मूर्छा की कल्पना हो जाएगी, जिसने हमारी राष्ट्रीय जागरूकता एवं सुरक्षा की संपूर्ण मानसिक शक्ति को निर्जीव बना दिया है।

हमारी अपनी सरकार द्वारा मुसलमानों को हर जगह इनकी विघटनात्मक और विध्वंसक क्रियाओं में प्रोत्साहन मिलता है। इस कार्य में हमारे नेता तथा राजनीतिक दल भी उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। कोलकाता के उन दंगों को ले लीजिए, जो सन् १९६३ में पूर्वी पाकिस्तान के खुलना, नारायणगंज और ढाका के क्षेत्रों में हिंदुओं के विध्वंस के बाद घटित हुए थे। हमारे अपने ही सत्ताधारी लोगों ने उन्हें पूर्वी बंगाल के दंगों की प्रतिक्रिया के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया। किंतु तथ्य क्या हैं? वे मुसलमान ही थे, जिन्होंने पहले कोलकाता में विद्यार्थियों के शांतिपूर्ण जुलूस पर आक्रमण किया और उन्होंने ही स्वामी विवेकानंद की शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य

में निर्मित विशाल प्रदर्शिनी में आग लगाई तथा बहुमूल्य दर्शनीय वस्तुएं नष्ट कर दीं। क्या कोई सही मस्तिष्क वाला व्यक्ति इस बात पर विश्वास करेगा कि कोलकाता के हिंदुओं ने उस पंडाल को जला डाला, जिसमें स्वामी विवेकानंद की दर्शनीय वस्तुएं रखी गई थीं। मुसलमानों के इस प्रकार विध्वंस आरंभ करने के पश्चात् ही हिंदू अपनी रक्षा के लिए खड़े हुए। इसमें तनिक भी संदेह के लिए अवकाश नहीं है कि कोलकाता का दंगा पूर्वी बंगाल के दंगों का प्रसार मात्र था, इनकी प्रतिक्रिया कदापि नहीं थी।

किंतु हमारी सरकार, जो अब तक सामान्यत: अपने अंग्रेज मालिकों के पदचिह्नों पर ही चल रही है, हिंदुओं पर प्रचंड रूप से पिल पड़ी और उन्हें बिना सोचे-विचारे गोलियों से उड़ाने लगी। हमारे एक केंद्रीय मंत्री ने तो घोषणा भी की कि 'हमारे लिए एक-एक मुसलमान का जीवन पवित्र है', जबकि सच्चे अर्थों में किसी भी सरकार कहलाने योग्य सत्ता के लिए प्रत्येक जीवन पवित्र धरोहर होनी चाहिए। उन्होंने यह कहकर आत्मप्रशंसा भी की कि पुलिस की गोलियों से मुसलमानों की अपेक्षा हिंदू अधिक मारे गए। इस वक्तव्य से उन्होंने इस संबंध में सरकार की वास्तविक मनोभूमिका को ही प्रकट किया। संक्षेप में हमारे अपने देश में जिस भांति काम चल रहा है, इसका यही ढंग है।

अगणित छोटे-छोटे पाकिस्तान

वास्तव में संपूर्ण देश में जहां भी एक मस्जिद या मुसलमानी मुहल्ला है, मुसलमान समझते हैं कि वह उनका अपना स्वतंत्र प्रदेश है। यदि वहां हिंदुओं का कोई जुलूस गाते-बजाते जाता है, तो वे यह कहते क्रोधित होते हैं कि इससे उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस लगती है। यदि उनकी धार्मिक भावनाएं इतनी नाजुक हो गई हैं कि मधुर संगीत से भी क्षुब्ध हो जाती हैं, तो वे अपनी मस्जिदों को जंगलों में स्थानांतरित करके वहां चुपचाप आराधना क्यों नहीं करते। वे सड़क के किनारे ही एक पत्थर जमाने का, उस पर सफेदी पोतने का तथा उसे 'प्रार्थना-स्थल' कहने का हठ क्यों करते हैं ? फिर जब वहां संगीत होता है तो हाय-तोबा क्यों मचाते हैं कि उनकी आराधना में व्याघात होता है ?

कुछ वर्षों पूर्व अरब का एक मौलवी हमारे देश में आया था। उससे प्रार्थना की गई कि वह कुरान का पाठ उसी प्रकार करे, जैसे उसके देश में किया जाता है। उसने इस बात का उत्तर दिया कि वहां तो हम उसे हारमोनियम, तबला तथा इसी प्रकार के अन्यान्य वाद्य-यंत्रों के साथ गाते हैं। यदि यहां मैं करूंगा तो यहां के मूर्ख मुसलमान

मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि यहां के मुसलमानों की संगीत-विषयक तथाकथित धार्मिक भावनाओं का धर्म अथवा आराधना से कोई संबंध नहीं है, वरन् पूर्णरूपेण उसकी प्रेरणा में हिंदुओं से झगड़ा करना तथा अपने लिए एक छोटा स्वतंत्र कक्ष स्थापित करने का दृष्टिकोण निहित है?

यह किस प्रकार संभव होता है कि वे इन आक्रामक और राष्ट्रविरोधी कार्यों को खुल्लमखुल्ला करने का साहस करते हैं? यह इसलिए होता है कि हमारी सरकार भी उन्हें व्यक्त अथवा प्रच्छन्न रूप से प्रश्रय देती है। यद्यपि उच्च न्यायालय नागरिकों के अनिवार्य अधिकारों के अंतर्गत सार्वजनिक मार्गों पर बाजे के साथ जुलूस निकालने के अधिकार का समर्थन कर चुका है, फिर भी सरकार शांति और व्यवस्था की दृष्टि से जुलूसों को नियमित करने के लिए प्रशासकों को दी हुई स्वतंत्र निर्णय की शक्तियों के आवरण में प्राय: हिंदुओं को इन सड़कों पर जुलूस निकालने को रोक देती है, जिन पर मस्जिदें स्थित हैं। यह उन लोगों के लिए पारितोषिक है, जो शांति भंग करना चाहते हैं, और शांतिप्रिय नागरिक, नागरिकों के रूप में अपने सहज अधिकारों का उपयोग करने में इस प्रकार की ज्यादती के शिकार हो जाते हैं। कानून का पालन करने वाले नागरिकों से कहा जाता हैं कि वे अपने को संयमित रखें और जो हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें उनकी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता दी जाती है। यह एक प्रकार से परोक्ष रीति से स्वीकार करना है कि देश के अंदर कितनी ही मुस्लिम बस्तियां हैं, अर्थात् कितने ही लघु पाकिस्तान हैं, जहां देश का सामान्य कानून कुछ संशोधनों के साथ लागू होता है और जहां दुष्टों के मन की लहर ही अंतिम नियम है। यह स्वीकृति चाहे परोक्ष ही क्यों न हो, एक अत्यंत खतरनाक सिद्धांत को उपलक्षित करती है, जिसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के विकास से पूर्व विनाश की संभावनाएं भरी पड़ी हैं। इस देश में इस प्रकार की बस्तियां नि:संशय रूप से पाकिस्तान-समर्थक तत्वों के चारों ओर फैले हुए जाल के छोटे-बड़े केंद्र हो गई हैं।

अनेक उदाहरण

उदाहरण के लिए, सन् १९६३ में महाराष्ट्र के मालेगांव में गणेश की प्रतिमा सिराने के लिए जुलूस के साथ ले जाई जा रही थी। मुसलमानों ने उस पर आक्रमण किया। कुछ झगड़ा हुआ। सदैव के समान सरकार कानून और व्यवस्था स्थापित करने आगे आई और बड़ी संख्या में प्रमुख हिंदू सज्जनों को पकड़ लिया, मानो वही उस कानून-भंग के कृत्य के लिए उत्तरदायी रहे हों। बाद में मुझे उसी राज्य के एक महत्वपूर्ण उच्च पदाधिकारी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उनसे कहा कि

'यह घटना रात्रि के नौ-दस बजे घटित हुई थी। ठीक दूसरे दिन पाकिस्तान रेडियो ने प्रसारित कर दिया कि उस नगर में मुसलमानों की जाति-शेष करने वाला हत्याकांड हुआ है। पाकिस्तानी रेडियो को यह बात कुछ घंटों में ही कैसे ज्ञात हो गई ? कोई पाकिस्तानी सज्जन ट्रांसमीटर के साथ अवश्य होना चाहिए और उनका पाकिस्तान से सतत संपर्क भी होना चाहिए।' उन्होंने कहा, 'हाँ, यही संभावना है।' तब मैंने उनसे पूछा, 'क्या आपको ज्ञात है कि प्रधानमंत्री के घर में होने वाली गुप्त मंत्रणाओं की सूचनाएं, जो अत्यंत गोपनीय मानी जाती हैं, प्राय: उसी रात में बीजिंग और रावलपिंडी चली जाती हैं।' उन्होंने कहा, 'हाँ, यह मेरी जानकारी में है।'

निष्कर्ष यह है कि प्राय: हर स्थान में ऐसे मुसलमान हैं, जो ट्रांसमीटर के द्वारा पाकिस्तान से सतत संपर्क स्थापित किए हैं और अल्पसंख्यक होने के नाते सामान्य नागरिक के ही नहीं, अपितु कुछ विशेषाधिकारों तथा विशेष अनुग्रहों का भी उपभोग करते हैं। हमारा गुप्तचर विभाग राष्ट्रीय अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास करने वाले इन तत्वों के प्रति इतना सचेष्ट प्रतीत नहीं होता, जितना देशभक्त व्यक्तियों के प्रति।

कुछ दिन पूर्व उत्तरप्रदेश विधानसभा में एक सदस्य ने चुनौती दी थी कि लखनऊ नगर में ही कई ट्रांसमीटर चालू हैं और उनका पता लगाने के लिए वह पुलिस को ले जाने को तैयार है, यदि पुलिस में साहस हो। अब तक तो ऐसा लगता है कि सरकार उनकी बात बिलकुल नहीं सुन पाई है। कोई आश्चर्य नहीं कि शत्रु के पंचमांगी अपनी अति दुष्ट योजनाओं को इस प्रकार आनंद से चलाते रहते हैं, मानो स्वयं सरकार ही उनके पक्ष में हो। इस प्रकार के तत्व उत्तरदायित्व के पदों तथा महत्व के स्थानों पर भी हो सकते हैं। हम ज्वालामुखी पर बैठे हुए यह अनुभव कर रहे हैं कि हमारे धर्मनिरपेक्ष संसार में सब कुछ ठीक ही है।

महान 'राष्ट्रीय मुसलमान'

कम से कम अब हम जागें, चारों ओर देखें और बड़े-बड़े प्रमुख मुसलमानों के भी शब्द तथा कृत्यों के सही तात्पर्य को समझें। उनके अपने ही वक्तव्यों ने आज तथाकथित 'राष्ट्रीय मुसलमानों' के महानतम व्यक्तियों को भी उनके सच्चे नग्न रूप में प्रकट कर दिया है।

स्वतंत्रता-संग्राम के प्रारंभिक काल में मौलाना मुहम्मद अली महात्मा गांधी के दाहिने हाथ थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की थी कि मुसलमानों में बुरे से बुरा पापी तथा भ्रष्ट उनकी निगाह में महात्मा गांधी से भी बहुत अधिक श्रेष्ठ है।

मुझे एक बार अपने देश में सूफी संप्रदाय के एक बड़े विद्वान से बात करने का अवसर मिला। उन्होंने कहा कि कम्युनिज्म के अनीश्वरवादी दर्शन की चुनौती का सामना करने का एक ही मार्ग है कि ईश्वर में विश्वास रखने वाले सभी मनुष्यों को जुटाकर एकत्रित लाया जाए, चाहे वे किसी भी संप्रदाय अथवा धर्म के क्यों न हों। मैंने उनसे पूछा कि वह कौन सा सामान्य आधार है, जिस पर वे साथ-साथ आ सकते हैं। एक क्षण भी संकोच न करते हुए उन्होंने उत्तर दिया, 'इस्लाम'। उनके तथाकथित विद्वान और दार्शनिकों के मस्तिष्क भी इस प्रकार से काम करते हैं।

हमारे समय के महानतम 'राष्ट्रीय मुसलमान' मौलाना आजाद ने भी अपने अंतिम समय में 'इंडिया विन्स फ्रीडम' नामक पुस्तक में अपने मस्तिष्क को निर्भ्रांत शब्दों में प्रकट कर दिया है। प्रथम तो संपूर्ण पुस्तक आरंभ से अंत तक एक निर्लज्जतापूर्ण अहमन्यता से भरा हुआ कथन है, जिसमें गांधीजी तथा नेहरू जी सहित अन्य सभी नेताओं को समाविष्ट करते हुए क्षुद्र बुद्धि के रूप में चित्रित किया गया है और पटेल को सांप्रदायिक के रूप में। दूसरे, कोलकाता और नोआखाली आदि अनेक स्थानों पर मुसलमानों द्वारा हिंदुओं के घोर संहार तथा अत्याचारों की निंदा के लिए उनके पास एक शब्द भी नहीं है। सबसे बढ़कर पाकिस्तान के निर्माण का उनका विरोध पूर्णरूप से इस कारण है कि वह मुसलमानों के हितों के प्रतिकूल होगा। आजाद के कहने का अर्थ है कि जिन्ना का अनुसरण करना मुसलमानों की मूर्खता थी, क्योंकि इससे मुसलमानों को देश का एक टुकड़ा ही मिला। यदि उन्होंने उनकी (आजाद की) शिक्षा का अनुसरण किया होता तो संपूर्ण देश के कार्यकलापों में उनकी आवाज निर्णयात्मक होती और साथ ही पाकिस्तान के सभी लाभ भी प्राप्त होते। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व प्रधान न्यायाधीश श्री मेहरचंद महाजन ने भी इस किताब के विषय में यही टीका की है। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं, 'मौलाना, जिन्ना से अधिक धूर्त थे। यदि उन पर छोड़ दिया जाता तो भारत वस्तुत: मुसलमानी वर्चस्व का देश हो जाता।'

वास्तविकता का सामना करो

आज भी मुसलमान, चाहे वे सरकारी उच्च पदों पर हों अथवा उसके बाहर हों, घोर अराष्ट्रीय सम्मेलनों में खुले रूप में भाग लेते हैं। उनके भाषणों में भी खुली अवज्ञा और विद्रोह की झंकार रहती है। एक केंद्रीय मुसलमान मंत्री ने इसी प्रकार के एक सम्मेलन के मंच से बोलते हुए चेतावनी दी थी कि यदि मुसलमानों के हितों की भली प्रकार रक्षा न की गई तो यहां भी स्पेन की कहानी दुहराई जाएगी, जिसका यही अर्थ है कि वे सशस्त्र विद्रोह के लिए उठ खड़े होंगे।

अब तो उनमें इतना साहस आ चुका है कि कुछ प्रांतों में वे 'मुस्लिम लीग' के नाम से केवल चुनाव ही नहीं लड़ते, अपितु सार्वजनिक सभाओं और जुलूसों में 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के नारे भी लगाते हैं। उनके लिए वही क्षेत्र 'पाक', अर्थात् पवित्र है, जहां उनका अबाध प्रभुत्व स्थापित है और शेष भारत जहां वे निवास करते और समृद्ध हो रहे हैं, 'नापाक', अर्थात् अपवित्र है। कोई पुत्र कितना ही पतित और भ्रष्ट क्यों न हो गया हो, क्या अपनी माँ को कभी अपवित्र तथा पापपूर्ण कह सकता है ? और इतने पर भी हमें यह विश्वास करने के लिए कहा जाता है कि ऐसे तत्व इस भूमि के पुत्र हैं।

अधिक विलंब होने के पूर्व ही इस ईप्सित धारणा के लंबे और आत्मघाती सम्मोहन को हम तुरंत रोकें और राष्ट्र की सुरक्षा एवं समग्रता के हितों को सर्वोच्च स्थान देते हुए स्थिति की कठोर वास्तविकता को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करें।

❑❑❑

१६

आंतरिक संकट

२. ईसाई

ऊपरी प्रभाव

जहां तक ईसाइयों का संबंध है, ऊपरी तौर से देखने वाले को तो वे नितांत निरुपद्रवी ही नहीं, वरन् मानवता के लिए प्रेम एवं सहानुभूति के मूर्तिमान स्वरूप प्रतीत होते हैं। उनकी वक्तृताएं 'सेवा' एवं 'मानवोद्धार' जैसे शब्दों से परिपूर्ण रहती हैं। उनसे प्रतीत होता है मानो सर्वशक्तिमान ने उन्हें मानवता के उत्थान के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया है। सब स्थानों पर वे स्कूल, कालेज, अस्पताल तथा अनाथालय चलाते हैं। हमारे देश के लोग, जो सीधे-सादे और भोले हैं, इन बातों पर विश्वास करने लगते हैं। किंतु इन सब गतिविधियों में करोड़ों रुपए उंडेलने में ईसाइयों का वास्तविक और अंतरस्थ उद्देश्य कुछ अलग ही है।

नग्न पंजा

हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति डा. राजेंद्रप्रसाद एक बार असम गए थे। उन्होंने वे स्कूल और अस्पताल देखे, जिन्हें ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन पहाड़ी प्रदेशों में स्थापित कर रखे थे। उन्होंने इन सब कार्यों के प्रति अपना संतोष व्यक्त किया, किंतु अंत में यह उपदेश भी दिया कि 'निस्संदेह तुमने बहुत अच्छा काम किया है, परंतु इन चीजों को धर्मांतरण के उद्देश्य के लिए उपयोग में मत लाना।' किन्तु उनके बाद जो धर्मप्रचारक बोला, उसने सीधे शब्दों में कह दिया, 'यदि हम केवल मानवता के विचार से ही यह करने के लिए प्रोत्साहित हुए होते तो यहां इतनी दूर क्यों आते ? इतना धन हम लोग क्यों व्यय करते ? हम तो यहां एक ही निमित्त से हैं कि अपने प्रभु ईसा के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करें।' वे इस विषय में अत्यंत स्पष्ट हैं।

वे मानते हैं कि इस लक्ष्य के लिए प्रत्येक युक्ति, वह कितनी ही अनुचित क्यों न हो, उचित है। भांति-भांति की रहस्यपूर्ण एवं क्षुद्र युक्तियां, जिन्हें वे धर्मांतरण के

लिए प्रयोग में लाते हैं, सभी को बहुत अच्छी प्रकार से विदित हैं। एक गांव की ही बात है, जहां गत जनगणना के अवसर पर ईसाई प्रचारकों ने इस गांव के संपूर्ण निवासियों को ईसाई के रूप में लिखवा दिया। जब इस कुचेष्टा का पता चला और वहां के लोगों ने विरोध प्रकट किया, तब उन ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन्हें बताया कि अब कुछ नहीं हो सकता। अब तो तुम सरकारी अभिलेखों में ईसाई के रूप में लिख लिए गए हो। इस कारण तुम्हें ईसाइयों की भांति व्यवहार करना चाहिए। इन गरीब हिंदू ग्रामीणों ने हमारे उदासीन हिंदू-समाज का सहारा तथा सहायता न पाकर उनकी बातों पर विश्वास कर लिया और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा वे अपनी संख्या दिनोंदिन बढ़ाते चले जा रहे हैं।

अनेक प्रमुख ईसाई धर्मप्रचारक इस बात को असंदिग्ध रूप से घोषित कर चुके हैं कि उनका एक ही लक्ष्य है, इस देश को ईसा के साम्राज्य का एक प्रांत बनाएं। चेन्नै के 'वेदांत केसरी' की सूचना के अनुसार मदुरै के आर्क बिशप ने कहा है कि उनका मुख्य उद्देश्य है संपूर्ण भारत पर ईसा के झंडे को फहराना। अभी हाल में मुंबई में हुई युकेरिस्टिक कांग्रेस में कार्डिनल ग्रेशियस इस बात से दुःखी थे कि शताब्दियों तक धर्मांतरण करने के पश्चात् भी भारत में केवल साठ लाख ही कैथोलिक ईसाई हैं और हिंदू बहुसंख्या में बने हुए हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि अब से उनमें प्रत्येक व्यक्ति धर्मांतरण के कार्य के लिए स्वयं को प्रचारक समझे। इसका अर्थ है कि देश की संपूर्ण जनता ईसाई धर्म में धर्मांतरित हो जानी चाहिए, अर्थात् उनका वंश, परंपरागत धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा जीवनपद्धति ध्वस्त हो जानी चाहिए और उन्हें ईसाई धर्म के विश्वसंघ में विलीन हो जाना चाहिए।

धर्म या राजनीति

जिस प्रकार वे अन्य जनों के प्रति व्यवहार करते हैं, वह हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य करता है कि आधुनिक मतांतरकारी धर्मों में सच्चे धर्म के तत्व अत्यल्प मात्रा में होते हैं। ईश्वर, पैगंबर और धर्म के नाम पर वे केवल अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को आगे बढ़ाना चाहते हैं। सच्चे धर्म में तो मतांतरित करने की, पूजा की विधि में परिवर्तन करने की आवश्यकता ही नहीं। प्राचीनकाल में हमारे धर्मप्रचारक जो दूसरे देशों में गए थे, उन्होंने अन्य लोगों पर बलात् अपना धर्म नहीं लादा। इसके विपरीत हमारे गुरुओं ने उनके पूजा के प्रकार को अस्वीकृत न करते हुए एक सर्वव्यापक दर्शन से सुरक्षित करके उसे और भी उदात्त बनाने का, मस्तिष्क एवं हृदय से उदात्त और पवित्र गुणों को उनके मन में बैठाकर तथा अपनी ही

पूजा के प्रकार द्वारा उन्हें और भी अच्छे भक्त बनाने का प्रयत्न किया। यह था वास्तविक धर्म।

धर्म की जो कल्पना ईसाई प्रचारकों द्वारा प्रचारित की जाती है, वह सचमुच आश्चर्यकारक है। मैं एक बार एक धर्मप्रचारक से मिला। उसने मुझे इंग्लैंड के आर्क बिशप द्वारा लिखी गई एक पुस्तक दी और कहा कि इस पुस्तक द्वारा मुझे उनके कार्य की प्रकृति के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। मैंने उसे पढ़ा। जब मैंने उसे पुस्तक लौटाई तो उसने अत्यंत उत्साहपूर्वक पूछा कि पुस्तक कैसी थी। मैंने उत्तर दिया, 'यदि तुम्हारा आर्क बिशप ऐसा है तो तुम क्या होगे ?' वह इस बात से चौंका। मैंने उस पुस्तक के कुछ अंश उसे दिखाए जिनमें लिखा था कि ईश्वरप्राप्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि प्रतिदिन दो बार प्रार्थना की जाए और रविवार को गिरजाघर में जाया जाए। शेष समय में सभी प्रकार के शारीरिक आनंद एवं भोगों का सेवन करने में कोई हानि नहीं है। सत्य यह है कि ये शब्द उस महान संत ईसा के उपदेशों के पूर्ण विरुद्ध हैं।

लोकमान्य तिलक ने ईसा के महान शिष्य संत पाल को अपने 'गीता रहस्य' में उद्धृत किया है। वह भी ईश्वर से कहता है, 'यदि मैं असत्य भाषण द्वारा तुम्हारी (ईश्वर की) महिमा की वृद्धि करता हूँ, तो वह पाप कैसे हो सकता है?' इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके इस वक्तव्य का वर्तमान ईसाई धर्मप्रचारकों ने अपने कुचक्रों को आगे बढ़ाने में पूर्ण उपयोग किया है। यह सच ही कहा गया है कि दुनिया में सच्चा ईसाई केवल एक ही हुआ है और क्रूस पर उसकी मृत्यु हुई।

पक्षरहित निर्णय

ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियां केवल अधार्मिक ही नहीं, राष्ट्रविरोधी भी हैं। एक बार मैंने एक ईसाई धर्मप्रचारक से प्रश्न किया कि वे हमारे पवित्र ग्रंथों और देवी-देवताओं की निंदा क्यों करते हैं? उसने स्पष्ट उत्तर दिया, 'हमारा लक्ष्य है कि हिंदू के हृदय से उसके धर्म के प्रति विश्वास को झटककर बाहर कर दिया जाए। जब उसका यह विश्वास ध्वस्त हो जाएगा, तब उसका राष्ट्रत्व भी नष्ट कर दिया जाएगा। उसके मस्तिष्क में एक रिक्तता उत्पन्न हो जाएगी, तब हमारे लिए उस रिक्तता को ईसाइयत से भरना सरल हो जाएगा।'

कुछ वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश सरकार ने ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियों के संबंध में सूचना देने के लिए एक समिति गठित की थी। उस समिति के अध्यक्ष श्री नियोगी उच्च न्यायालय के एक अति सम्माननीय अवकाश प्राप्त न्यायाधीश थे, जो

किसी भी गुट या दल के व्यक्ति नहीं थे। समिति के सदस्यों ने संपूर्ण मध्यप्रदेश का प्रवास किया और धर्मांतरित ईसाइयों, ईसाई धर्मप्रचारकों तथा अन्यान्य लोगों से भेंट की। वे अनेक गिरजाघरों में भी गए। अपनी व्यक्तिगत जांच के आधार पर उन्होंने सन् १९५७ में एक लंबा प्रतिनिवेदन प्रस्तुत किया। इस प्रतिनिवेदन का सार इस प्रकार है-

'ईसाई धर्मप्रचारकों के सभी औदार्यपूर्ण कार्य उनकी धर्मांतरण की गतिविधियों को चलाने के लिए एक आवरण मात्र हैं। भोले-भाले लोगों को कभी त्रस्त करके और कभी प्रलोभन द्वारा आकर्षित कर वे अपना उपर्युक्त कार्य करते हैं। इन गतिविधियों के मूल में उनकी यह महत्वाकांक्षा है कि उनकी संख्या की शक्ति के आधार पर अपने लिए एक अलग ईसाई राज्य बना लिया जाए, वे इसी एक उद्देश्य से करोड़ों रुपए व्यय कर रहे हैं।'

'पादरिस्तान' के लिए

असम में नागालैंड की सृष्टि इस बात का ज्वलंत उदाहरण है। नागालैंड में जो खुला विद्रोह चल रहा है, वह ईसाई प्रचारकों द्वारा ही संचालित है, इस तथ्य को पंडित नेहरू ने भी स्वीकार किया है, किंतु हमारी सरकार समय-समय पर देश को यह बताने में नहीं थकती कि वहां 'शांति' स्थापित हो गई है, चाहे दूसरे ही दिन वहां से समाचार क्यों न आ जाए कि कोई ट्रेन लूट ली गई, कोई पुल उड़ा दिया गया अथवा हमारी फौज के कुछ जवान मार दिए गए। जब लोकसभा में यह प्रश्न किया गया कि विद्रोहियों के अधिकार में इतने बड़े परिमाण में शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद कैसे पहुंचे ? तो यह उत्तर दिया गया कि गत युद्ध के समय जब जापानी भाग रहे थे, तब हथियारों का भार ढोने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने उन्हें जंगलों में फेंक दिया था और नागाओं ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। किंतु वृत्त-पत्रों में एक सूचना प्रकाशित हुई है कि अपनी सेना से एक संघर्ष में कुछ विद्रोही मारे गए और उनके हथियार ले लिए गए। वे हथियार नवीनतम थे और अमरीका के बने हुए थे। उन पर बनाने का वर्ष भी अंकित था। यह सन् १९५५ और १९५६ की बात है। हमारे नेताओं ने हमसे यह विश्वास कर लेने के लिए कहा कि नागाओं ने सन् १९५५-१९५६ के बने हुए अमरीकी हथियार बहुत पूर्व सन् १९४४ में प्राप्त किए थे। यह सूचना मिली है कि नागाओं के अधिकार में नवीनतम मॉडेल की हवाई जहाजों को मारने की तोपें हैं। यह भी स्पष्ट है कि वे हथियार किस प्रकार उनके अधिकार में आए होंगे। **जो अमरीकी हथियार पाकिस्तान में आते हैं, वे असम में ईसाई धर्मप्रचारकों को हस्तांतरित कर दिए जाते हैं।**

इस प्रकार विद्रोह चलता रहा है, फिर भी हमारे नेताओं ने आंशिक रूप में उनकी मांग को स्वीकार कर नागालैंड की स्थापना कर दी है। इसके विषय में यह अनिष्टसूचक लक्षण है कि यह सीधा विदेश मंत्रालय द्वारा प्रशासित नहीं है। दबाव दो प्रकार का है। एक तो आंतरिक विद्रोह है, जो उनके द्वारा प्राप्त की गई आंशिक सफलता के कारण अब भी चल रहा है और जिसका वेग बढ़ता जा रहा है। नागालैंड बनाने के हमारे निर्णय के पश्चात् भी हमारा एक हवाई जहाज गिरा दिया गया। द्वितीय प्रकार का दबाव अंतर्राष्ट्रीय है। हमें ज्ञात है कि विद्रोही नागाओं का नेता फिजो पाकिस्तान तथा कुछ अन्य शक्तियों की सहायता से हमारे देश से गायब होकर इंग्लैंड चला गया है। उसे एक प्रसिद्ध ईसाई धर्मप्रचारक माइकेल स्काट ने आश्रय दिया, जिसने हमारे सम्मान को धक्का पहुंचाने वाले अनेक प्रकार के वक्तव्य देने के लिए उसे प्रोत्साहित किया। हमारे नेताओं ने संसार में शांतिस्थापक होने के अपने सम्मान को दांव पर लगाने से नागालैंड दे डालना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि वे अपने अंतर्राष्ट्रीय सम्मान के प्रति, वह कुछ भी क्यों न हो, अति कोमल हृदय हैं। अब उन्होंने उनको और अधिक स्वायत्त शासनाधिकार देने की दृष्टि से नागा विद्रोहियों के साथ 'शांतिवार्ता' आरंभ की है तथा उस शांति-नियोजन के एक सदस्य के रूप में उस 'सज्जन' माइकेल स्काट को भी रखा है। हमारे नेता अपने को शांति-निर्माता प्रदर्शित करने के लिए देश-विभाजन को अत्यंत सस्ता मूल्य समझते हैं। अंतर्राष्ट्रीय दबाव बढ़ता ही जा रहा है। अत: आश्चर्य नहीं होगा कि निकट भविष्य में ही नागालैंड अलग हो जाए तथा ईसाई धर्मांधों के वर्चस्व तथा आधिपत्यवाला एक स्वतंत्र राज्य बन जाए।

अंतर्राष्ट्रीय ईसाई आंदोलन के एजेंट

असम में शिलांग के आसपास के प्रदेश के लिए पहाड़ी राज्य की एक अन्य मांग भी हो चुकी है। इन्हीं ईसाई प्रचारकों से इसे प्रेरणा मिली है। बिहार में वे 'झारखंड' के लिए आंदोलन चला रहे हैं। निस्संदेह हमारे नेताओं ने स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह मांग एक अव्यवहार्य अद्भुत कल्पना मात्र है और कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती। किंतु भविष्य में क्या होगा, इस विषय में हम निश्चिंत नहीं हो सकते। क्योंकि हमारा बहुत बार का अनुभव है कि हमारे नेताओं द्वारा किसी मांग को 'अद्भुत कल्पना', 'राष्ट्रविरोधी कल्पना' आदि कहकर की गई प्रबल भर्त्सना इस बात का सूचक लक्षण रही है कि वे इस मांग को स्वीकार करने का निश्चय अपने मन में कर चुके हैं। हमारा यह अनुभव पाकिस्तान के निर्माण से लेकर नागालैंड के

निर्माण तक एकसमान रहा है। केरल में जिस समय कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध जनांदोलन चल रहा था, तब ईसाई नेता कहा करते थे कि यह केरल में ईसाई मिशनों का जीवन-मरण का संघर्ष है। वे यहां तक कहने लगे थे, 'केरल में या तो कैथोलिक का राज्य होगा या कम्युनिस्टों का। हम वहां शासन करना चाहते हैं।'

कुछ वर्षों पूर्व यूरोप में ईसाई पादरियों के एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की गई थी, जिसमें हमारे पूरे समुद्री तट पर और विंध्य एवं सतपुड़ा की पहाड़ी श्रेणियों के बीच इधर से उधर तक ईसाई-प्रभाव के केंद्र आरंभ करने की विस्तृत योजना थी। वह दक्षिणी प्रायद्वीप को घेरकर उसे ईसाई वर्चस्व के अधीन लाने की योजना का प्रथम चरण था। फिर दूसरे प्रसार में हिमालय की संपूर्ण मेखला पर वर्चस्व करना था।

कुछ दिनों पूर्व वृत्त-पत्रों में एक भेद प्रकाशित हो गया था कि हमारे देश में ईसाई मिशन और मुस्लिम लीग में यह समझौता सन् १९४२-४४ के लगभग हुआ है कि दोनों को मिलकर काम करना चाहिए और आपस में देश का बंटवारा कर लेना चाहिए। इस बंटवारे के अनुसार, पंजाब और मणिपुर के बीच गंगा का संपूर्ण मैदान मुसलमानों का तथा दक्षिणी प्रायद्वीप और हिमालय ईसाइयों का था।

कुछ वर्ष पूर्व ईसाइयों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, जिसमें उनसे भारत में ईसाई साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प कराया गया था। हमारे केंद्रीय मंत्रियों में से एक उन कार्यवाहियों को आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित था।

इस प्रकार की भूमिका है हमारे देश में निवास करने वाले ईसाई सज्जनों की। वे यहां हमारे जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक तंतुओं को ही नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं, वरन् विविध क्षेत्रों में और यदि संभव हो तो संपूर्ण देश में राजनीतिक सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। वास्तव में जहां कहीं भी उन्होंने कदम रखा है, उनकी यही भूमिका रही है। यह सब उन्होंने जीसस क्राइस्ट के दैवी पंखों की छाया में मानव के बीच शांति एवं भ्रातृत्व लाने के आकर्षक परिधान में किया है। जीसस ने अपने अनुयाइयों से कहा था कि अपना सब कुछ गरीब, अज्ञानी तथा दलित को दे डालने के लिए है, किंतु उसके अनुयाइयों ने व्यावहारिक रूप में यह किया कि वे जहां भी गए 'रक्त देने वाले' सिद्ध न होकर 'रक्त चूसने वाले' सिद्ध हुए। जहां इन तथाकथित क्राइस्ट के अनुयाइयों ने अपने उपनिवेश बनाए हैं, उन सभी देशों की क्या गति हुई है? जहां कहीं उन्होंने कदम रखा, वहां के निवासियों को लुप्त कर दिया। क्या हम वे हृदयद्रावी कहानियां नहीं जानते कि किस प्रकार उन्होंने

अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के मूल निवासियों का समूल नाश किया। इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। क्या हमें ईसाई मिशनरियों का अपने देश का भीषण अत्याचारी इतिहास ज्ञात नहीं है कि उन्होंने गोवा तथा अन्य स्थानों पर किस तरह से लोगों का उत्पीड़न किया ?

संत जेवियर के विषय में कहा जाता है कि उस समय वह अपने जीवन में परम आनंद का अनुभव करता था, जब नवीन धर्मांतरित जन अपने पूर्व के देवी-देवताओं को पैरों से कुचलते थे, मंदिरों को ढहाते थे तथा अपने ही माता-पिता और वृद्धजनों को, जो हिंदू रह जाते थे, अपमानित करते थे। अभी अति निकट काल में कांग्रेस शासन-काल के अंतर्गत केरल में सैकड़ों प्राचीन पवित्र हिंदू मंदिर अपवित्र किए गए तथा ईसाई शिल्प-भंजकों ने उनकी मूर्तियों को तोड़ा। इसमें शबरी मलाई का प्रसिद्ध मंदिर भी है। ये वही धर्मांध ईसाई हैं, जिन्होंने कन्याकुमारी में विवेकानंद शिला पर स्थापित पट्टिका को तोड़ा था। इस प्रकार के हैं ये लोग, जो हमें यह उपदेश देने आते हैं कि ईसाई धर्म मानवता पर शांति, मंगल एवं मानवीय दयालुता की वर्षा करेगा।

यहां जब तक ईसाई इस प्रकार की गतिविधियों में लगे हुए हैं और अपने को ईसाई धर्म के प्रसार के लिए अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का एजेंट मानते हैं, अपनी इस जन्मभूमि के प्रति सर्वोच्च निष्ठा अर्पण करने से तथा अपने पूर्वजों के पैतृक दाय एवं संस्कृति की सच्ची संतान के रूप में व्यवहार करने से इनकार करते हैं, तब तक वे यहां विदेशियों के रूप में रहेंगे और उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाएगा।

❑❑❑

१६

आंतरिक संकट

३. कम्युनिस्ट

साम्यवाद के लिए भूमि की तैयारी

अंग्रेज के इस देश को छोड़कर जाने के पश्चात् जब हम अपने राष्ट्र की भावी रचना को आकार देने के लिए स्वाधीन हुए, तो हमारे लिए विविध सिद्धांतों और वादों पर विचार-विमर्श करना एक महत्व की बात हो गई। निस्संदेह हमने पाश्चात्य ढंग की जनतांत्रिक रचना को अपनाया है, किंतु क्या इतने वर्षों के प्रयोगों के पश्चात् हम इसके हितकर फलों को प्राप्त करने में समर्थ हो पाए हैं ? जनता की सामूहिक इच्छा का प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वास्थ्यकर स्पर्धाओं, स्वार्थ एवं विच्छेद की शक्तियों को बढ़ावा दिया है।

हमारे देश में जनतंत्र की गंभीर असफलताओं में कम्युनिज्म की बढ़ती हुई विभीषिका है, जो जनतांत्रिक विधान की मानी हुई शत्रु है। जनता के समक्ष की गई अपनी आर्थिक अपील में कम्युनिस्टों से कहीं पिछड़ न जाएं, इस प्रयास में हमारे नेतागण कम्युनिस्टों की ही भाषा तथा कार्यक्रमों को अपनाकर कम्युनिज्म को अधिक सम्माननीय बना रहे हैं। यदि नेतागण यह समझते हैं कि इस प्रकार के चातुर्य से वे कम्युनिस्टों के पाल की हवा खींच लेंगे, तो यह इनकी बहुत बड़ी भूल है।

वे यह अनुभव करते हैं कि आर्थिक विकास ही कम्युनिज्म से रक्षा का एकमेव उपाय है। 'उच्चतर जीवन-स्तर' के आश्वासन की जनता के कानों में हो रही सतत घोषणा, ऐसे समय में उनकी अपेक्षाएं बढ़ाना जब वे संभवत: संतुष्ट नहीं की जा सकतीं, विफलता के भाव की वृद्धि करना एवं सामान्य जनता के लिए असंतोष और अराजकता के मार्ग को प्रशस्त करना है। हमें देशभक्ति, चरित्र एवं ज्ञान जैसी उच्चतर भावनाओं के लिए आह्वान कहीं भी सुनने को नहीं मिलता और न कहीं सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास पर ही बल दिया जाता है। इसी प्रकार के दुर्बल एवं विफल मस्तिष्कों में कम्युनिज्म के बीज जल्दी जड़ पकड़ते हैं।

आग में घी डालना

कम्युनिज्म की इस विभीषिका को रोकने का पाश्चात्य देशों का दृष्टिकोण भी यहां कम्युनिज्म के विस्तार के लिए प्रोत्साहन देने में अपना योगदान करता है। अमरीका का विश्वास है कि अधिकाधिक डालर-सहायता कम्युनिज्म की समस्या का हल कर देगी। चीन के संबंध में तथा अब वियतनाम में हुए अनुभवों ने स्पष्ट कर दिया है कि तदनुरूप राष्ट्रीय चारित्र्य एवं आत्मविश्वास की निर्मिति के बिना इस प्रकार की सहायता का कोई लाभ नहीं होगा। प्रत्येक आर्थिक सहायता के साथ होने वाला उनका देशव्यापी प्रचार जनता की केवल आर्थिक संज्ञा को ही उत्तेजित करता है और उन पहलुओं से वंचित रखता है, जो स्वतंत्र एवं जनतांत्रिक जीवन के वास्तविक मेरुदंड का निर्माण करते हैं।

पाश्चात्य जन इस विचित्र बुद्धि-विभ्रम से भी पीड़ित हैं कि यदि हमारे देश की कम्युनिज्म से रक्षा करनी है तो प्राचीन हिंदुत्व मिट ही जाना चाहिए। उन्हें लगता है कि केवल ईसाई पंथ ही कम्युनिज्म की बाढ़ का प्रतिरोध कर सकता है। अर्नाल्ड टायनबी ने कम्युनिज्म का वर्णन 'ईसाई पाखंडमत' कहकर किया था। आश्चर्य का विषय है कि वही आज यह कहने लगे हैं कि ईसाई पंथ ही कम्युनिज्म के लिए एकमात्र उत्तर है।

ईसाई पंथ इस समस्या का समाधान कैसे हो सकता है, जो स्वयं उसी की त्रुटियों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ है। जिनका यह विचार है कि इस मूर्तिपूजक देश की रक्षा ईसाई पंथ ही कर सकता है, उन्हें कुछ रुककर यह सोचना होगा कि ईसाई-विश्व के सबसे कट्टर देश रूस ने ईसा मसीह का परित्याग क्यों किया? अपने देश में ही क्या स्पष्ट नहीं है कि केरल प्रांत, जहां ईसाई जनसंख्या का प्रभाव सर्वाधिक है, सबसे बड़ा कम्युनिस्ट क्षेत्र है। यदि पाश्चात्यों का यह विचार है कि हिंदुओं को ईसाई पंथ में धर्मांतरित करने के लिए धन तथा जन उंडेलकर वे इस देश को कम्युनिज्म से बचा लेंगे, तो वे केवल आत्मघाती आत्मवंचना से ही ग्रस्त हैं, क्योंकि ईसाइयत के प्रसार से समाज की प्राचीन श्रद्धाएं और राष्ट्रीयता भंग हो जाती है और जहां श्रद्धाएं भंग हो जाती हैं, वहीं कम्युनिज्म जड़ पकड़ता है। कम्युनिज्म के बढ़ने का यही सबसे बड़ा मनोवैज्ञानिक तत्व रहा है।

निष्ठा के अभाव का परिणाम कम्युनिज्म

मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता, उसकी कोई निष्ठा भी होनी चाहिए, जिनके लिए वह जीवित रहे और मरे। इसके बिना जीवन दिशा एवं अर्थ से विहीन हो जाता है तथा मनुष्य इधर-उधर बहने लगता है। वह खोया हुआ सा अनुभव करता है।

ऐसी अवस्था में अधिक समय रहना प्राणी के लिए एक असंभव-सी बात होती है। विज्ञान के उदयकाल तक यूरोपीय जन को ईसाई धर्म आवश्यक निष्ठा प्रदान करता था, किंतु विज्ञान ने इसे नष्ट कर दिया। फिर भी यूरोप को एक लंगर खोने के पश्चात् अपनी नौका को स्थिर रखने के लिए दूसरा सहारा मिल गया था। धर्म से इसकी निष्ठा चली गई, किंतु विज्ञान में नवीन निष्ठा प्राप्त हो गई। वास्तव में विज्ञान यूरोप का नवीन धर्म हो गया। तब लोग विज्ञान को इसी प्रकार सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसंपन्न मानने लगे, जैसा किसी भी धर्म में ईश्वर के विषय में विचार किया जाता है।

परंतु कुछ शताब्दियों के पश्चात् विज्ञान ने अपने को इस रूप में अप्रमाणित करना आरंभ कर दिया। वैज्ञानिक विश्व के संबंध में अपने अज्ञान को स्वत: स्वीकृत करने लगे। आधुनिक काल के सबसे बड़े वैज्ञानिक आइंस्टीन ने भी एक ऐसे सत्य की सत्ता को स्वीकार किया है, जो भौतिक विज्ञानों की पहुंच के परे है। इस प्रकार वैज्ञानिक लोग विक्टोरिया युग के सर्वज्ञता के मनोभाव के स्थान पर यह अनुभव करने लगे कि उनके समक्ष ज्ञान का एक संपूर्ण सागर अज्ञात-सा पड़ा है और इस अवसाद के पश्चात् पश्चिम का मनुष्य अज्ञात सागर में कर्णहीन नौका के समान हो गया। प्राचीन निष्ठाएं मर चुकी थीं तथा नवीन प्रकाश में आ नहीं पाई थीं। निष्ठा की इसी रिक्तता की स्थिति में यह घटित हुआ कि इस अवकाश को पूर्ण करने के लिए कुछ ऐसे विश्वास आए, जिनमें सत्य एवं शिव का आभास मात्र था। ऐसा ही एक विश्वास कम्युनिज्म था।

अत: हमारी प्राचीन जीवनदात्री निष्ठा को उन्मूलित करने वाला किसी भी दिशा से किया गया प्रयास हमारे राष्ट्रजीवन पर भीषण संकट को निमंत्रण है, क्योंकि इसी विश्वास ने हमारे अस्तित्व को बनाए रखा और इसी ने मानव-संस्कृति के श्रेष्ठतम पुष्प उत्पन्न किए हैं।

प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण सदैव संकटापन्न

हमारे देश में कम्युनिज्म की विचारधारा को विफल करने के विविध प्रयत्न हो रहे हैं। कुछ लोग अनुभव करते हैं कि विनोबा जी द्वारा चलाया गया भूदान आंदोलन कम्युनिज्म के समान यह घोष कि 'भूमि जोतने वाले के लिए' तथा विनोबाजी के कुछ अदूरदर्शी अनुयाइयों द्वारा दी गई यह धमकी कि 'यदि तुम स्वेच्छा से नहीं दोगे, तो कम्युनिस्ट निश्चित रूप से आएंगे और तुम्हारा सब कुछ बलात् हरण कर लेंगे' विपरीत प्रभावकारी सिद्ध होंगे। क्योंकि वे जनमानस में एक विचार अंकित करते हैं कि अंतत: कम्युनिज्म सही और अवश्यंभावी है। यह कम्युनिज्म के लिए परोक्ष

स्वीकृति होगी। इससे भी बढ़कर जनता में यह संशय उत्पन्न हो जाएगा कि इस प्रकार से सभी आंदोलन, जो उनकी उन्नति के नाम पर चलाये जाते हैं, कम उत्साह के और वंचनापूर्ण हैं। वे ऐसा कह सकते हैं, 'चूंकि अब कम्युनिस्ट आगे बढ़ रहे हैं, तुम इन सभी सुधारों और प्रतिज्ञाओं को लेकर आगे आना चाहते हो। हम स्पष्टवादी कम्युनिस्टों को अधिक पसंद करेंगे। वे कम से कम प्रामाणिक और साहसी तो हैं। वे जो कुछ कहते हैं, उसका वही अर्थ होता है। इसलिए हम उनका विश्वास कर सकते हैं।' इस प्रकार अपेक्षाओं के विपरीत यह आंदोलन कम्युनिस्टों के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। वास्तव में केवल कम्युनिज्म को निष्फल करने के दृष्टिकोण से कार्य करना सदैव संकटापन्न है। यथार्थ एवं भावात्मक निष्ठा का पोषण ही जनता को कम्युनिज्म की हीन विचारधारा के आकर्षण से ऊपर उठा सकता है।

कुछ लोग हैं जो समझते हैं कि जब तक आर्थिक असमानता बनी हुई है, तब तक कम्युनिज्म की वृद्धि अनिवार्य है, किंतु वास्तविकता यह है कि आर्थिक असमानता पारस्परिक घृणा का सही कारण नहीं है, जिस पर कम्युनिस्ट पनपा करते हैं। श्रम की महत्ता का विचार हमारे समाज के मन ने भली प्रकार ग्रहण नहीं किया है। उदाहरण के लिए, एक रिक्शावाला, जो प्रतिदिन तीन चार रुपए कमाता है 'ए' 'ओ' कहकर पुकारा जाता है और क्लर्क जो साठ रुपए मासिक वेतन पाता है 'बाबूजी' कहा जाता है। दृष्टिकोण की यही असमानता, जो हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली हुई है, घृणा को उत्पन्न करती है। यह है अधुनातन विपर्यास, जो हमारे जीवन में प्रविष्ट हो गया है। हमारे दर्शन में अपने कर्तव्य-कर्मों के पालन से किसी के उच्च-नीच होने का भाव नहीं है। प्रत्येक कार्य उसी सर्वशक्तिमान की समाज के रूप में पूजा है। यह भावना एक बार पुनरुज्जीवित करनी है।

मतपत्र द्वारा समाजवाद

हमारे देश में एक अन्य दिशा से कम्युनिज्म का संकट वास्तविक हो गया है और यह है हमारे शासन की वर्तमान नीति के द्वारा, जिसने समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया हुआ है, जिसमें कम्युनिज्म के सभी तत्व मौजूद हैं। इसमें केवल उन्हें प्राप्त करने के साधनों का ही अंतर है। पहली बात यह है कि हमारे नेता कहते हैं कि वे समाजवाद को मतपत्र-पेटिका द्वारा प्राप्त करेंगे, चीन और रूस के समान गोली से नहीं। इसका केवल यही अर्थ होता है कि चीन और रूस के समाज में तथा हमारे समाज में एक अंतर है। संभवत: रूस और चीन के लोग जागृत तथा क्रियाशील थे। इसीलिए उन्हें गोली से दबाया गया। यहां हमारे लोग नम्र वीरपूजक हैं। यदि राष्ट्रसेनानी आता है और कहता है 'मेरे प्यारे मित्र आओ, गर्दन झुकाओ, मैं तुम्हारा सिर काटना चाहता हूँ।'

हमारे लोग निश्चय ही आगे झुक जाएंगे और अपने को सिर काटने हेतु अर्पण कर देंगे ? इस प्रकार के विनीत लोगों के लिए गोली की क्या आवश्यकता ? मतपत्र-पेटिका पर्याप्त है। यदि नेता कहता है, 'समाजवाद के लिए मतदान करो' लोग समाजवाद के लिए मतदान करेंगे। यदि कल उन्हें पता लगेगा कि समाजवाद के पक्ष में मतदान करने से उनकी स्वाधीनता चली गई तथा व्यक्ति के रूप में वे एक यंत्र के निर्जीव अंग मात्र रह गए हैं, तो वे उसे भाग्य का विधान मानकर स्वीकार कर लेंगे।

हमारे लोग मुसलमानी शासन को एक हजार वर्ष से अधिक काल तक इस सीमा तक स्वीकार किए रहे कि आज भी हमें ऐसे कुछ लोग कहते हुए मिलते हैं कि मुसलमान महान एवं संत पुरुष थे। कुछ तो यहां तक कहते हैं कि हमें हैदरअली, जिसने अपने हिंदू राजा को जेल में डालकर उसका सिंहासन हड़प लिया था, की तथा उसके पुत्र टीपू की प्रतिमा खड़ी करनी चाहिए, जिसने बलात् अनगिनत हिंदुओं को मुसलमान बनाया, बहुत से मंदिर ढाए तथा अनेक स्त्रियों को सताया। अब भी इस सीमा तक हमारा बुद्धिभ्रम बना हुआ है। जब अंग्रेज आए तब कुछ लोगों ने कहा, 'वे तो स्वर्ग से भेजे गए हैं।' कुछ यहां तक बोले कि 'भविष्य पुराण में भविष्यवाणी की जा चुकी है कि हमारे देश पर विकटेश्वरी नाम की रानी शासन करेगी। वह महारानी विक्टोरिया के अतिरिक्त और कोई नहीं है।' इस प्रकार के विनम्र लोगों के लिए थोड़ा-सा प्रचार ही पर्याप्त है।

जान बनियन के 'दि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' में यात्री को एक दैत्य पकड़ लेता है। वह दैत्य सीधे ही उसकी हत्या करना चाहता है, किंतु अपनी पत्नी के उपदेश से उससे आत्महत्या करने के लिए अनुरोध करता है। दैत्य कहता है, 'तुम जीवन के इन सब कष्टों को क्यों भोग रहे हो ? आत्महत्या से अधिक आनंददायी और कुछ नहीं है। तुम जो चाहो चुन लो, चाकू, फांसी या विष और अपने कष्टपूर्ण जीवन का अंत कर डालो तथा सदैव के लिए इस भार से मुक्त हो जाओ।' वह उस यात्री को ऐसा समझा देता है कि वह आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है। ठीक उसी समय एक मित्र यात्री को सलाह देता है और इस जाल में फंसने से रोकता है। फलितार्थ यह है कि भोले और विनम्र लोगों के लिए थोड़ा-सा अनुनय गोली का काम करता है।

अनिष्ट सूचना

हम देखते हैं कि समाजवाद के नाम पर यहां जो कुछ हो रहा है, सभी उपाय, जिनका हम यहां प्रयोग करते हैं, चीन में घटित हुई चीजों की संशोधित प्रतिलिपि मात्र हैं। केवल अंतर इतना ही है कि चीन में ये परिणाम पाशवी हिंसा

के द्वारा प्राप्त किए गए, जबकि वही चीजें यहां परिष्कृत प्रचार के द्वारा की जा रही हैं। यदि हम दोनों देशों के प्रशासनिक कार्यों की तुलना करेंगे तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा। जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में प्रथम बार सत्ता ग्रहण की तो उन्होंने अपनी एकछत्र सत्ता के लिए किसी चुनौती को नहीं चाहा। अत: उन्होंने पुराने सरदारों, रजवाड़ों तथा उद्योगपतियों को समाप्त किया और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। उन्होंने बड़े जमींदारों और अंत में छोटे जमींदारों तथा कृषकों को भी समाप्त कर दिया।

यहां भी जमींदारी-उन्मूलन को चुका है। अब सत्रहवां संशोधन आया है, जिसके द्वारा एक छोटे से छोटा कृषक, जिसके पास आधे एकड़ भी भूमि है, भी 'एस्टेट-होल्डर' माना जाएगा और सरकार को अधिकार होगा कि उसकी संपत्ति को वस्तुत: बिना प्रतिफल दिए ही ले ले। सरकारी खेती, सामूहिक खेती, बैंकों और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा इसी प्रकार के समाजवादी मतवाद वातावरण में हैं। यह सब कुछ एक प्रकार से प्रत्येक पग पर चीन के मार्ग का ही अनुसरण है। हम चीन के साथ के निकट साम्य को देखने का प्रयत्न करें तथा अति स्पष्ट अनिष्ट सूचना को पढ़ें और केवल दास एवं इस व्यवस्था के औजार बन जाने की स्थिति को प्राप्त होने से पूर्व ही चेत जाएं।

इससे भी आगे यदि विचार करें तो समाजवाद इस मिट्टी की उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एवं परंपराओं में नहीं है। हमारे सहस्रों वर्ष प्राचीन राष्ट्रजीवन की परंपराओं एवं आदर्शों से इसका कोई संबंध नहीं। यहां के हमारे करोड़ों लोगों के लिए यह विचार परकीय है। ऐसा होने के कारण इसमें हमारे हृदयों को पुलकित और समर्थ एवं चारित्र्यसंपन्न जीवन के लिए प्रेरित करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के आदर्श की आवश्यकता पूर्ण करने की प्रारंभिक योग्यता भी नहीं है।

सब प्रकार से अयोग्य

अंतत: जैसा हम देख चुके हैं समाजवाद (वैसा ही, जैसा कम्युनिज्म अपने मूल रूप में है, क्योंकि रूस भी अपने को 'समाजवादी राज्य' ही कहता है) वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत में सराबोर एक प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुआ था, रूस को भी लाभान्वित करने में असफल हुआ। सिद्धांत के रूप में बहुत समय पूर्व उसका विस्फोट हो चुका था और अब व्यवहार में विस्फोट हो चुका है।

आजकल हमारे नेता समाजवाद के घातक दोष, अर्थात् व्यक्ति को एक जीवमान सत्ता के रूप में मिटाने के दोष पर 'जनतांत्रिक समाजवाद', 'समाजवादी जनतंत्र' जैसे घोषों को गढ़कर परदा डालने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में जनतंत्र और समाजवाद की दोनों कल्पनाएं परस्पर विरोधी हैं। समाजवाद जनतंत्रात्मक नहीं हो सकता और जनतंत्र समाजवादी नहीं हो सकता। जैसा हम विचार कर चुके हैं, व्यक्ति-स्वातंत्र्य जनतंत्र का प्रथम विश्वास है, जबकि यह समाजवाद का पहला शिकार है। जनतंत्र में व्यक्ति के गौरव को उच्च स्थान दिया जाता है, जबकि समाजवाद में वह केवल पहिए का एक दांत है, इस भीषण यंत्र का, जिसे हम 'राज्य' कहते हैं, केवल एक निर्जीव पेंच।

राष्ट्र की प्रतिभा को पुनरुज्जीवित करो

इस प्रकार अंग्रेज के छोड़ जाने के पश्चात् हम अपने को एक भ्रमित दशा में विदेशी सिद्धांतों एवं वादों में से प्रत्येक का कुछ न कुछ ग्रहण करने के प्रयत्न में पाते हैं। यह इस देश के लिए अत्यंत अपमानकारक है, जिसने एक ऐसे सर्वग्राही दर्शन को जन्म दिया है, जिसमें राष्ट्रजीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए वास्तविक एवं स्थायी आधार प्रदान करने का सामर्थ्य है। यह विश्वास करना हमारी मेधा एवं मौलिकता का शुद्ध दिवालियापन होगा कि पश्चिम के वर्तमान सिद्धांतों और वादों में मानव की मेधाशक्ति अपनी चरम उच्चता पर पहुंच चुकी है। इसीलिए हमें अपने जीवन-पथ का विकास अपने प्राचीन ऋषियों द्वारा आविष्कृत तर्क, अनुभव एवं इतिहास की कसौटी पर कसे हुए सत्य के आधार पर ही करनी चाहिए।

❑❑❑

हमारा कर्तव्य है कि अपने इन परित्यक्त भाइयों, जो शताब्दियों से धार्मिक दास्य के क्लेश को भोग रहे हैं, को पुनः अपने पूर्वजों के घर बुला लाएं। ईमानदार, स्वतंत्रताप्रिय मनुष्यों की भांति वे भी दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नों को उतार फैंकें और वंश-परंपरानुगत भक्ति एवं राष्ट्रीय जीवन की रीतियों का अनुसरण करें। सभी प्रकार की दासता हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है। अतः इसे त्याग देना चाहिए। यह इन सभी भाइयों के लिए आह्वान है कि वे हमारे राष्ट्र-जीवन में अपना मूल स्थान ग्रहण करें और हमारे समाज के इन लौटे हुए, भटके हुए पुत्रों के पुनः आगमन पर हम महान दीपावली का पर्व मनाएं। ❑

तृतीय भाग

वैभव का मार्ग

(राष्ट्रीय चेतना का जागरण)

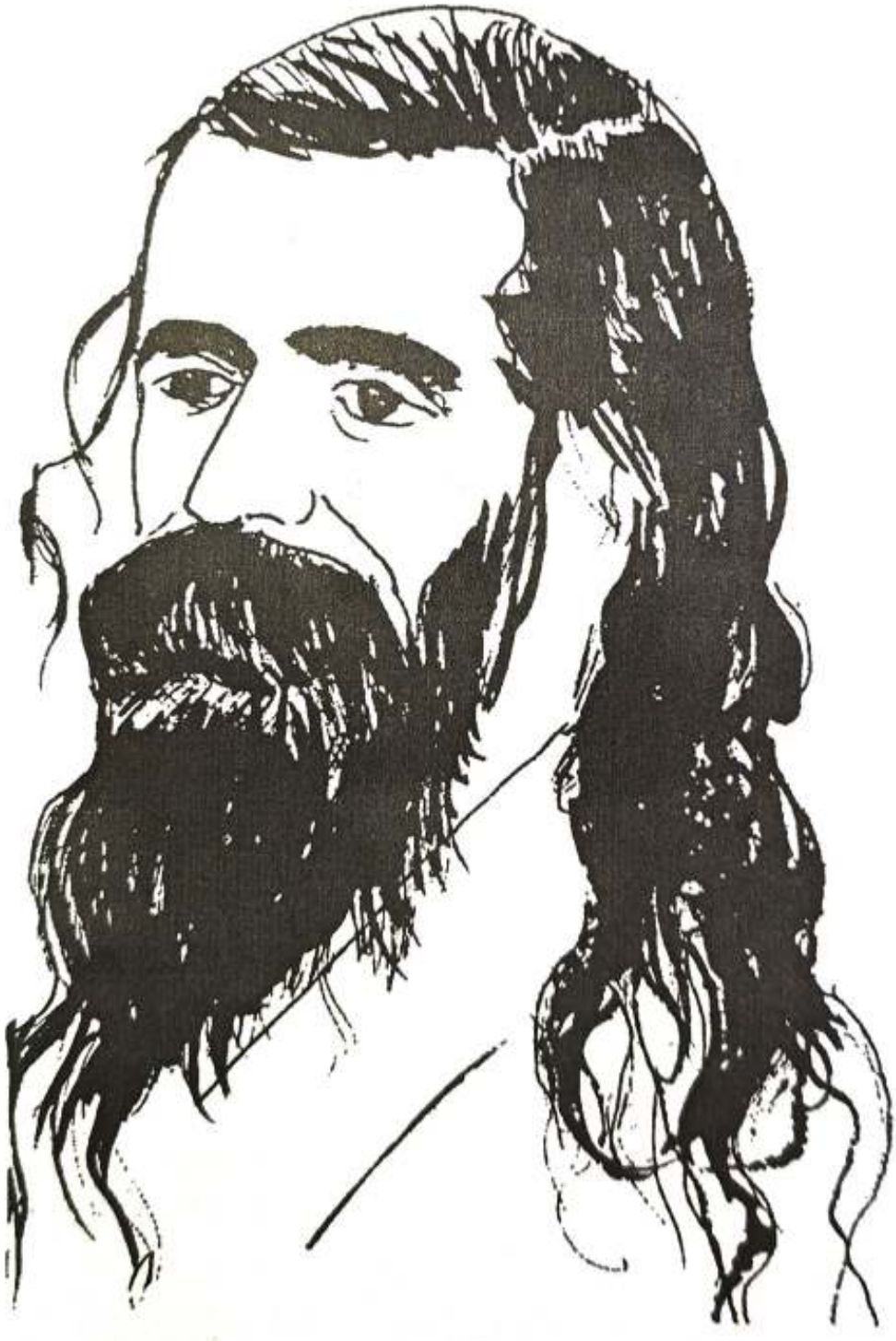

१७

ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति

संघ का उद्देश्य

अपने संगठन के संस्थापक संघ के उद्देश्य को इस एक छोटे से सारगर्भित वाक्य में रख दिया करते थे कि 'हमें अपने हिंदू-समाज को संगठित कर इतना शक्तिशाली बनाना है कि पृथ्वी पर कोई भी शक्ति इस पर कुदृष्टि न डाल सके।' इस महान् समाज के सभी पुत्रों के कंधों पर यह सबसे महत्त्व का उत्तरदायित्व आया हुआ है।

कृतज्ञता का हमारा ऋण-भार

हम ऐसा क्यों कहते हैं कि अपने समाज को संगठित करने के इस पवित्र कार्य हेतु अपने-आपको समर्पित करने के लिए हम कर्तव्यबद्ध हैं? क्योंकि हम सबने इस समाज में जन्म लिया है और इसी में हमारा पालन-पोषण हुआ है। हमारे व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की सुखमयता एवं सुरक्षा इस समाज में जन्म लेने के कारण ही संभव हुई है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार भी है। हमारा एक प्राचीन तथा अमर समाज है, जिसने जीवन के सभी क्षेत्रों में महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया है तथा सर्वोत्कृष्ट दर्शन एवं पवित्रतम सामाजिक मानदंडों को विकसित किया है। जगत् पर इस महानता की छाप आज तक भी देखी जा सकती है। अन्य लोग उस भूमि को एक पुत्र राम, एक कृष्ण और एक शंकराचार्य की संतति के रूप में उल्लेख करते हैं, जिसके रक्त में उन सब प्रख्यात पूर्वजों के गौरवमय कीर्तिमान गुणों की धारा प्रवाहित है, जो ज्ञान तथा कर्तृव्य के प्रत्येक क्षेत्र के जगद्गुरु रहे हैं।

यह सब प्रकट करता है कि हिंदू-समाज में हमारे जन्म ने हमें एक सुखदायी शारीरिक अवलंब के अतिरिक्त यह सब अनुपम प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है तथा हमारे लिए महान् आत्माओं द्वारा किए उन्नत शिखरों पर पहुंचने का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस प्रकार हम कितने ही रूपों में अपने समाज के अमित ऋणी है। इस अवस्था में क्या हमारे लिए यह योग्य है कि हम इसके प्रति अपने कर्तव्यपालन की चिंता किए बिना इसके पुण्यों तथा फलों का उपभोग मात्र करते रहें। हमारे शास्त्रों में यह कहा गया है कि एक मनुष्य को उतने पर ही निर्भर रहना चाहिए, जितना उसके पास समाज को समर्पित करने के पश्चात् शेष रहता है। इस प्रकार हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम अपने को कृतज्ञता के उस ऋण-भार से मुक्त करें। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है।

हम सेवा कैसे करें ?

अब वह कौन-सा साधन है, जिससे हम उस ऋण को चुका सकते हैं? एक यथार्थ भक्त परमेश्वर से कहता है 'हे भगवान ! मैं तेरी पूजा कैसे करूंगा ? पुष्प, चंदन तथा जल सब तेरे ही तो हैं। तू ही तो उस दीपक की दीप्ति है, जिससे मैं तेरी आरती करता हूं। सब कुछ तेरा ही है। जो कुछ तूने मुझे दिया है, उसको ही तेरे चरणों में अर्पित कर तेरा दीनतम सेवक बने रहने के अतिरिक्त मेरे पास और रास्ता ही क्या है?' प्राचीन काल से ही अपने समाज को ईश्वर का जीवंत स्वरूप वर्णित किया गया है। हमें भी उस स्वरूप को अपना इष्ट देवता स्वीकार करना चाहिए तथा अपने ऋण-भार से मुक्ति के लिए, जीवन-भर उसकी सेवा करने का निश्चय करना चाहिए।

सेवा के अनेक तथा विभिन्न प्रकार संभव हैं। भूखे को भोजन देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, रोगी को औषधि देना ये सब सेवा के प्रकार हैं, अर्थात् यथार्थ सेवा से तात्पर्य है कि जिसकी सेवा करनी है, उसमें जो कमी है, उसे दूर करना। आज हमारा समाज अज्ञानता, गरीबी, छुआछूत, अनैतिकता आदि का एक अति पीड़ादायी चित्र प्रस्तुत करता है। हम उन अनेक प्रयासों को भी देखते हैं जो इन कमियों को दूर करने के लिए व्यक्तियों द्वारा सदुद्देश्य से किए जा रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है कि हममें उनके प्रति सद्भावना उत्पन्न हो, परंतु प्रश्न यह है कि क्या हम इन प्रयासों को सेवा का वही सही प्रकार कह सकते हैं, जिसकी हमारे समाज को आज अतीव आवश्यकता है ? क्या वे हमारे समाज का अंततः स्थायी कल्याण कर सकेंगे ? शरीर पर एक के बाद एक उठते हुए फोड़े का उपचार एवं मल्हम-पट्टी करना व्यर्थ होगा, जब रक्त ही दूषित हो गया हो। जब मूल कारण का उपचार किया जाएगा, तभी व्याधि दूर होगी।

विगत तथा वर्तमान का चित्र

क्या यह सत्य है कि हमारे समाज में पूर्वकाल में भी दैन्य और दारिद्र्य उसी रूप में विद्यमान था, जिस रूप में आज देखने को मिलता है ? पर इतिहास एक बिल्कुल

भिन्न कहानी प्रस्तुत करता है। कुछ विदेशी यात्री, जो पूर्वकाल में यहां आए थे, उन्होंने यहां जो पाया, उसका आंखों-देखा हाल लिखा है। उनके लेख, जो आज विद्यमान हैं, बताते हैं कि 'जन-समाज यहां सुखी और संतुष्ट है। यहां कोई निराश्रयी तथा भिखारी नहीं है। लोग जब तीर्थ-यात्रा पर बाहर जाते हैं, तब चोरी का किंचित् मात्र भय न रखते हुए वर्षों के लिये अपने मकानों को ताला लगाए बिना छोड़ जाते हैं। नैतिक पथभ्रष्टता की बहुत कम घटनाएं होती हैं। वे सब अपने व्यवहार में अत्यंत धर्मपरायण, उदार तथा विश्वसनीय हैं। वे एक पौरुषेय, सामर्थ्यवान जाति है। धनी और बुद्धिमान है।' उन विदेशी दर्शकों का इतना दैदीप्यमान वर्णन लिखने के पीछे कोई दूर का मन्तव्य नहीं हो सकता था। हमारे देश में कोई लौह-आवरण भी नहीं था, जैसा कि आजकल रूस या चीन में है। वे कई वर्षों तक देश के चारों कोनों में मनचाहे ढंग से इधर-उधर घूमते रहे। इसलिए उन उल्लेखों को बिना किसी संदेह के विश्वसनीय मानना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि हमारे समाज ने केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही ख्याति प्राप्त की थी और दैनिक व्यावहारिक जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर दुर्लक्ष्य किया था। प्रामाणिक प्राचीन आलेखों ने नि:संदिग्ध रूप से यह प्रकट कर दिया है कि विज्ञान और कला की प्रत्येक शाखा में हम बाकी दुनिया से कई शताब्दियां आगे थे। दो सहस्त्र वर्ष पुराना चमकता हुआ अशोक स्तंभ, जिसको किंचित् भी जंग न लगा, आज भी धातुशोधन की एक अपराजित चुनौती है।

पुरानी पुस्तकों तथा विदेशी आलेखों में भी एक घटना का उल्लेख है। एक रोमन शासक एक विचित्र रोग से पीड़ित हुआ, जो उसके राज्य में किसी के द्वारा ठीक न किया जा सका। उसने हमारे देश से सहायता मांगी, जो उस समय औषधि विज्ञान में निष्णात माना जाता था। हमारा एक राजवैद्य वहां गया। उसने उसकी खोपड़ी खोली और उसके मस्तिष्क की शल्यक्रिया की। राजा का रोग ठीक हो गया। वह राजवैद्य उन लोगों को वह विज्ञान सिखाने के लिए वहां और तीन वर्ष रहा तथा उच्च सम्मान प्राप्त कर लौटा। यह स्मरण रखना चाहिए कि शल्यशास्त्र की वर्तमान प्रगति की अवस्था में भी मस्तिष्क की शल्यक्रिया एवं अत्यंत गंभीर खतरे की विधि समझी जाती है।

हम कभी घर के लिए व्याकुल लोगों में से नहीं थे। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उद्घोष के साथ हमारे संत-महात्माओं ने संसार के चारों कोनों में भ्रमण किया। हमारा कल्याणकारी प्रभाव पृथ्वी के विशाल खंडों में फैला हुआ था और हमारी पताका अनेक देशों में फहराती थी। दूर देशों से यात्री हमारे वैभव का दर्शन प्राप्त

करने आया करते थे। इन दिनों की हमारी जाति की सांस्कृतिक-विजय क्षमता की साक्ष्य देने वाले मंदिर एवं मूर्तियां, चित्रकला एवं नक्काशी, भाषा एवं आचार-व्यवहार, महाकाव्य तथा लोकगीत, साहित्य एवं कला के अगणित जीवंत एवं भव्य प्रमाण इन सब देशों में खड़े हुए हैं। मुसलमानों का 'अर्द्धचंद्र और तारा' हमारे ओंकार 'ॐ'का ही एक अंश है। यह सत्य नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने केवल बुद्ध के जन्म के बाद ही अपने देश से बाहर जाना प्रारंभ किया था। हमारे धर्म-विस्तारक इससे पूर्व भी अमेरिका पहुंच चुके थे। बौद्ध भिक्षुओं ने तो केवल उस परंपरा का अनुसरण किया था। घर में और विदेशों में भी हमने एक प्रतापी और साथ ही साथ एक उदार जाति के रूप में श्रेष्ठता प्राप्त की थी।

फिर अपने देश में यह वर्तमान घृणित अवस्था क्यों ? इस धन-धान्यपूर्ण और संस्कृति के देश में दु:ख दारिद्र्य तथा अधर्म का पिशाच किस प्रकार घुस आया? क्या कारण है कि एक समय की जगन्माता भारत, जिसने कभी अनेकों निष्कासित जातियों को आश्रय एवं सुरक्षा प्रदान की थी, आज संसार की गलियों की भिखारिन बन गई है? आज हम विदेशियों के द्वारों पर केवल अन्न और धन के लिए ही नहीं, तो आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों की भी भीख मांगते फिरते हैं। इस प्रकार हम समस्त संसार के सामने अपनी बुद्धिमत्ता तथा मौलिकता के दिवालिएपन का प्रदर्शन कर रहे हैं। फिर इस दैन्य और अधोगति की पतित स्थिति की जड़ में क्या रहस्य छिपा हुआ है?

क्या विदेशी उत्तरदायी हैं?

गत कुछ दशाब्दियों के अनेक विचारक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि गत सहस्र वर्षों की हमारी दासता इस पतन का प्रधान कारण है। उन्होंने इतिहास में पढ़ा था कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने, जो यहां शासक बनकर बस गए थे, हमारे राष्ट्रीय श्रद्धा और सम्मान के बिंदुओं का योजनानुसार विनाश किया था। उन्होंने हमारी स्त्रियों का शीलभंग किया, मंदिरों तथा तीर्थस्थानों को खंडित किया और बहुत बड़ी संख्या में लोगों का तलवार की धार पर अथवा भौतिक सुखों का प्रलोभन देकर धर्म-परिवर्तन किया। नए धर्मावलंबियों ने भी अपने राष्ट्रीय बंधों के टूट जाने के कारण विदेशी आक्रामकों के उसी बर्बर शासन तथा उन्हीं घृणित कृत्यों को जारी रखा।

अंग्रेज, जो बाद में आए, अधिक कुटिल, मगर शिष्ट थे। उन्होंने खुलेआम तोड़फोड़ एवं भ्रष्ट करने का रास्ता नहीं अपनाया। उन्होंने अपने धूर्ततापूर्ण प्रचार द्वारा परंपरागत चली आई श्रद्धा तथा राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने की चेष्टा की। उन्होंने एक विशेष शिक्षा-पद्धति आरंभ की, जिसका लक्ष्य हमारे लोगों की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक

तथा पौरुष की भावनाओं का उन्मूलन कर अपने साम्राज्य को पुष्ट करना मात्र था। अपने शिक्षित कहलाए जाने वाले लोग उनके कपट के शिकार हो गए तथा गोरे लोगों के रीति-रिवाजों तथा विचारों की नकल कर जो कुछ अपना था, उसका उपहास करने लगे। इस प्रकार मातृभूमि की परंपराओं की मिट्टी से उखड़कर हमारा राष्ट्र-जीवन अधर्म तथा दुर्गुण की दुर्गंध छोड़ता हुआ क्षीण होने तथा मुरझाने लगा। उनके सामने गत सहस्र वर्षों के विदेशी प्रभुत्व का यह धूमिल चित्र होने के कारण, वे विचारक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि केवल इस विदेशी जुए को उतार फेंकना पर्याप्त है। उन्होंने इसका प्रयास भी प्रारंभ कर दिया। यह बिल्कुल स्वाभाविक भी था।

परंतु समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती, यह प्रश्न बना ही रहता है कि विदेशी यहां पैर जमाने में किस प्रकार सफल हो गए? क्या यह बात सत्य है कि वे आक्रामक इस विशाल देश को केवल अपनी अधिक योग्यता के आधार पर पराजित एवं शासित कर सके? नहीं। हमारे इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ है कि हमारी जाति जनसंख्या, सेना, नीतिज्ञता, पराक्रम, ऐश्वर्य, बुद्धिमत्ता, ज्ञान आदि प्रत्येक गुण, जिनसे किसी भी जाति को निश्चित विजय प्राप्त होती है, में आक्रामकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थी।

प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ

हमारा अपनी मातृभूमि में स्वतंत्र तथा ऐश्वर्यशाली राष्ट्रीय जीवन था। हमारी एक अनूठी सामाजिक व्यवस्था और अतीव विकसित राजनीतिक संस्थाएं थीं। उन दिनों के हमारे राजनीतिज्ञों को राज्य-प्रशासन के सिद्धांतों की गहरी पकड़ थी। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसा ग्रंथ है, जिसकी बराबरी का संसार के समस्त राजनीतिक साहित्य में दूसरा एक भी ग्रंथ मिलना कठिन है। यह छोटा-सा ग्रंथ वास्तव में ऐसे विचारों का कोष है, जिनकी स्वाभाविक एवं स्थायी श्रेष्ठता देश तथा काल की सभी सीमाओं से परे है। यह एक पुस्तक में संकलित शुष्क ज्ञान मात्र नहीं है, बल्कि उन दिनों के वास्तविक राज्य-शासन का एक जीवंत तथा व्यावहारिक मार्गदर्शक ग्रंथ है। हमारी सेनाओं की आघाती-शक्ति बाहर से आने वाले आक्रमणकारियों के लिए भयकारक थी। वास्तविकता यह है कि हमने पहले शकों और हूणों के बर्बर समूहों को खदेड़ दिया था और जो लोग यहां रह गए थे, उनको अपनी सर्वग्राही संस्कृति में समाविष्ट कर लिया था।

तथाकथित 'विश्वविजेता' यूनान के सिकंदर को भी यही सब कुछ भोगना पड़ा था। पाश्चात्यों द्वारा लिखित हमारी इतिहास की पुस्तकों में हमें पढ़ाया जाता है

कि 'सिकंदर महान्' ने हमारे देश को जीत कर भी हमें वापस दे दिया। वह सिकंदर, जो ईरान में अत्याचार करके फूला नहीं समा रहा था और जिसने विजय के उन्माद में जहां भी कदम रखा, वहीं सर्व प्रकार के बर्बर अनाचार किए थे, भारत की भूमि पर कदम रखते ही उदार व्यक्ति कैसे बन गया ? हमसे आशा की जाती है कि हम ऐसे 'इतिहास' में विश्वास करें। संसार को आज तक एक उदार पाश्चिमात्य विजेता देखने के लिए मिलना शेष है। लगभग दो सहस्र वर्ष की बहुप्रशंसित ईसाई-शिक्षा के बाद भी उनके द्वारा पश्चिम के जीते हुए राष्ट्रों में अपने ईसाई भाइयों के प्रति दिखाई 'उदारता' की कथाओं को पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इतिहास द्वारा प्रकट किया हुआ तथ्य यह है कि सिंकदर हमारे छोटे पर्वतीय सरदारों के ध्वंसकारी प्रहारों को भी झेल नहीं सका और उसे अपने जीवनरक्षा के हित में भाग जाना पड़ा। फिर भी वह हमारे एक योद्धा के खतरनाक तीर से बच न सका। प्राणघातक रूप में घायल होकर और उसी मार्ग से पीछे हटने का खतरा न मोल लेने के विचार से उसने दूसरा मार्ग अपनाया। परंतु वह केवल ईरान में बाबुल तक पहुंच सका। अंत में वहीं उसकी कब्र बनी। सेल्यूकस द्वारा एक अन्य यूनानी आक्रमण भी मगध के महाराजाधिराज चंद्रगुप्त द्वारा कुचल दिया गया।

एक विभाजित गृह तथापि, उस समय तक हमारे राष्ट्रीय ऐक्य में धीरे-धीरे शिथिलता आनी प्रारंभ हो गई थी। 'महाभारत' के विराट युद्ध के पश्चात् के लंबे शांतिकाल में समस्त राष्ट्र पूर्ण सुरक्षा की भावना के कारण एक प्रकार की मूर्च्छा को प्राप्त हो गया था। ऐक्य की प्रवृत्ति, जो आने वाले समान खतरे की चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, शताब्दियों के कालांतर में मंद पड़ गई और एक राष्ट्र होने की जीवंत चेतना धीरे-धीरे अनजाने में कम होती गई, जिसके फलस्वरूप छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य बनते चले गए और राष्ट्र कमजोर हो गया। राजपद जनता की निष्ठा का आधार बन गया और उसने राष्ट्रीय भावना का स्थान ले लिया। परस्पर विद्वेष तथा विभिन्न राज्यों में स्पर्द्धा ने उनके संबंधों को दूषित कर दिया और इस प्रकार हमारा राष्ट्र अपने में ही विभाजित हो गया। वे शत्रु तथा मित्र की पहचान करने की क्षमता खो बैठे थे। हम राष्ट्रीय सुरक्षा के इस प्रथम पाठ को भी भूल गए कि जिस शत्रु ने हमारी भूमि के एक हिस्से को लूटा है, वह किसी दिन इस पूरी भूमि को लूटेगा तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता अविभाज्य है। हम यह भी भूल गए कि इसका परिणाम हमारे स्वयं के तथा सभी के लिए घातक होगा और वे सब चीजें, जिससे हमें लगाव है तथा जो हमारे लिए पवित्र हैं, हमारी सारी धन संपत्ति एवं समृद्धि धूल में मिल जाएगी। जो

शत्रु पहले हमारी सामर्थ्य के सामने कांपते थे, बाद में 'सम्माननीय अतिथि' के रूप में आए और हमारे विजेता तथा शासक बन गए।

हमारा देश मुस्लिम आक्रमण के सामने किस प्रकार पराजित हो गया, इसकी दर्दनाक कहानी हमारे सामने है। अपने पैगंबर की मृत्यु के एक शताब्दी के अंदर ही मुसलमानों ने लगभग संपूर्ण दक्षिणी यूरोप, स्पेन, पुर्तगाल तथा एशिया के हिस्सों को परास्त कर दिया था और वे प्रशांत महासागर तक मजबूती के साथ जम गए थे। अपने पीछे अंधमहासागर (एटलांटिक) से प्रशांत महासागर (पैसिफिक) तक सर्वदूर फैले हुए साम्राज्य-निर्माण के पश्चात् उन्होंने एक सिंध के रास्ते से और दूसरे अफगानिस्तान द्वारा हिमालय के पार पंजाब में प्रवेश करके घुसने की चेष्टा की, परंतु इतने विशाल साम्राज्य तथा सेनाओं के उनके आधिपत्य में होते हुए भी उनके एक के बाद एक आक्रमणों के झोंके अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हेतु लड़ने वाले छोटे राजाओं द्वारा दो शताब्दियों तक सफलतापूर्वक पीछे हटा दिए जाते रहे। इस प्रकार यह प्रमाणित हो गया कि हिंदू सैन्य-कौशल तथा पराक्रम मुस्लिम-समूहों की आक्रमक शक्ति की तुलना में अति श्रेष्ठ था, तथापि हिंदू-प्रतिरोध का अंततः ह्रास हो जाने के कारण यह था कि आंतरिक वैमनस्य तथा द्रोह ने उनकी श्रेणियों को दुर्बल कर दिया था और देश का बाकी हिस्सा मातृभूमि की रक्षा हेतु युद्ध को चलाए रखने के लिए समय-समय पर उनकी सहायता देने में असफल रहा।

मुस्लिम आक्रमण के पहले धक्के के पश्चात् भी अपना देश जागकर संगठित रूप से खड़ा नहीं हुआ। वैमनस्य और विश्वासघात की आत्मघाती कहानी चलती रही। महमूद गजनी, जो पवित्र सोमनाथ के मंदिर को लूटने और अपवित्र करने के उद्देश्य से निकला था, को हमारे अपने ही सरदारों ने मार्गदर्शन कर सहायता दी। वह जयचंद ही था जिसने मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया। एक हिंदू राजा ने ही एक विधर्मी शत्रु को हस्तिनापुर की पवित्र राजधानी में पहली बार एक विदेशी शासन स्थापित करने में सहायता दी। जयचंदों की जाति तीव्र गति से बढ़ने लगी। अकबर के विशाल साम्राज्य का आधारस्तंभ राजा मानसिंह ही था। यही महाराणा प्रताप के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आया था, जो उन दिनों में अकेले ही स्वतंत्रता का दीपक प्रज्ज्वलित किए हुए थे। मिर्जा राजा जयसिंह, जसवंत सिंह और अन्य हिंदू सरदार कुख्यात हिंदू-विरोधी धर्मोन्मत्त औरंगजेब के शक्तिशाली हस्तक थे।

हमारा विघटन इतना अधिक हो गया था कि बख्त्यार खिलजी जो दिल्ली से पूर्व की ओर गया था और जिसके पास केवल अठारह व्यक्ति थे, ऐसा कहा जाता है कि वह नरसंहार, सामूहिक धर्मपरिवर्तन, स्त्रियों का अपहरण, मंदिरों की तोड़-

फोड़ तथा राज्यों को नष्ट करता हुआ अपनी तलवार के बल पर सीधे बंगाल तक पहुंच गया। जगत्प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय के सहस्रों विद्यार्थी तथा अध्यापक उसके द्वारा निर्दयता के साथ कत्ल कर दिए गए। उसने नगर की समस्त जनसंख्या को भी तलवार के घाट उतार दिया। उसने वहां के पुस्तकालय को भी आग लगा दी, जो सहस्रों वर्षों से संगृहीत ज्ञान का कोषागार था। अंत में उसने बंगाल में अपना शासन स्थापित किया।

औरंगजेब की सेना के मनुची नामक इटालियन अधिकारी ने स्वयं देश में चारों ओर घूमकर अपनी डायरी में लिखा कि 'यदि इस समय कोई आक्रामक ३०,००० सेना के साथ दर्रा खैबर होकर प्रवेश कर जाए तो वह सुगमता से संपूर्ण हिंदुस्थान को विजय कर शासन कर सकता है।' ऐसे उदाहरण तथा आलेख हमारे तत्कालीन इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित हैं, जो परस्पर विनाशक झगड़ों, विश्वासघातों तथा देश को गुलाम बनाने के लिए शत्रु की सहायता की हृदयविदारक कहानी का वर्णन करते हैं।

अंग्रेजों के आने के बाद भी विश्वासघात की आत्मघातक कहानी उसी प्रकार चलती रही। हमने मुस्लिम आक्रमण के पाठों से अपनी आंखें मूंद ली थीं। हिंदू सैन्य अधिकारी तथा सैनिक ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित एवं सुदृढ़ बनाने के लिए अपना और स्वतंत्रता-सेनानियों का रक्त बहाते रहे। हमारे धनी व्यापारी अंग्रेजों की धन से सहायता करते रहे। व्यक्ति, धन और बुद्धि ये सभी साधन उनके चरणों में रख दिए गए। हमारी बेड़ियों को मजबूत करने के लिए उनका उपयोग किया गया। जैसा कि एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है 'इंग्लैंड में यदि स्वस्थ शरीर के सभी व्यक्ति शस्त्रसज्जित कर एक सेना के रूप में संगठित कर दिए जाते, तो भी वे भारत को विजित नहीं कर सकते थे, शांतिपूर्वक शासन करने की तो बात ही अलग है। वास्तव में ये स्थानीय व्यक्ति ही थे, जिन्होंने अपने आंतरिक झगड़ों के कारण **हमारे लिए काट-छांटकर एक राज्य निर्माण करके दे दिया।**'

इतिहास की चेतावनी

अत: इतिहास का निष्कर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे गलत समझने की कोई गुंजाइश नहीं है। राष्ट्रीय चेतना तथा एक ही राष्ट्र-शरीर के अंग होने की अवयवी भावना का अभाव तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न परस्पर घृणा, फूट, विद्वेष तथा निजी क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए परस्पर विनाशक कलह इन्होंने ही गत सहस्र वर्षों से अपने राष्ट्र के मर्मस्थान को ग्रस लिया है। मुसलमान अथवा अंग्रेज हमारे शत्रु नहीं थे, बल्कि हम स्वयं ही अपने शत्रु रहे। गीता में कहा है-

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'

गीता ६-५, (अर्थात् हम ही अपने मित्र हैं और हम ही अपने शत्रु हैं।) खेद है कि अपने बारे में बाद के अर्द्धभाग की सत्यता सिद्ध हुई है।

इसलिए हम कहते हैं कि अपने पतन तथा विनाश के कारण के लिए बाह्य आक्रामकों को कोसने से कोई लाभ नहीं है। आखिरकार दुर्बल देशों पर आक्रमण करना, उन्हें लूटना तथा उनका विनाश करना, यह लुटेरे राष्ट्रों की प्रकृति होती है। यदि एक सांप किसी आदमी को काटता है, तो यह उसका दोष नहीं है। यह तो उसकी प्रकृति में ही है। दोष तो उस आदमी का है, जो सतर्कता नहीं बरतता और संभाव्य खतरे से अपना बचाव नहीं करता। दुर्भाग्य से अपने गत सहस्र वर्षों में अपमान तथा विपत्तियों के बार-बार आने वाले इतिहास के अनुभवों के बावजूद भी हम एक आधारभूत शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके कि हम स्वयं ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं और जब तक अपने में से उस प्राणघातक दुर्बलता को नहीं मिटा देते, तब तक हम एक राष्ट्र के रूप में जीवित बने रहने की आशा नहीं कर सकते।

हमने कम से कम अब भी यह शिक्षा-ग्रहण नहीं की। हम आजकल सुनते हैं कि हमने स्वतंत्रता विजित कर ली है तथा अब चारों ओर जागृति हो गई है। इसलिए अब हमें अपनी पुरानी असफलताओं के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए, परंतु क्या यह सत्य है कि हमने स्वतंत्रता केवल अपने पराक्रम तथा त्याग के बल पर प्राप्त की है? यदि यह सत्य है, तो यह कैसे हुआ कि अंग्रेज ब्रह्मदेश तथा श्रीलंका को भी छोड़कर चले गए, जबकि वहां स्वतंत्रता के लिए संघर्ष बिल्कुल हुआ ही नहीं। एक नए स्वतंत्र राज्य पाकिस्तान का अस्तित्व मुसलमानों की ओर से किंचित् भी त्याग हुए बिना ही कैसे बन गया ? हमारे नेताओं की अविभाजित भारत की स्वतंत्रता की सभी घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं के विपरीत विभाजन के लिए सहमति क्योंकर हो गई? वास्तविकता यह है कि पिछले विश्वयुद्ध के रक्तपात के उपरांत अंग्रेजों में एक विशाल और विस्तृत साम्राज्य को चलाने की शक्ति रह ही नहीं गई थी। उनको भारतीय सेना की राजभक्ति का भी विश्वास नहीं रह गया था, परंतु अंग्रेजों ने धूर्त होने के कारण अपने प्रति सद्भावना बनी रहे, इस प्रबंध के साथ इन सब देशों को छोड़ दिया और पाकिस्तान के रूप में अपने लिए एक स्थायी अड्डा निर्माण कर लिया। सर जान स्ट्राशी ने अपनी एक पुस्तक में अर्द्धशताब्दी पूर्व लिखा है कि यदि अंग्रेजों को संयोगवश भारत छोड़ना ही पड़ा तो वे इसे 'हिंदू-भारत' एवं 'मुस्लिम-भारत' में विभाजित करके ही जाएंगे। अब भिन्नता केवल यही है कि हमारे नेताओं ने उस योजना को क्रियान्वित करने में अंग्रेजों को

सहायता मात्र ही नहीं दी, अपितु और आगे बढ़कर देश को 'मुस्लिम भारत' और 'गैर-मुस्लिम भारत' में विभाजित कर दिया।

कार्य-कारण नियम

पाकिस्तान के निर्माण ने केवल यही सिद्ध किया है कि हमने इतिहास से शिक्षा ग्रहण नहीं की और अपनी प्राणघातक दुर्बलता का उपचार भी नहीं किया।

अंग्रेजों के जाने के समय हिंदू अत्यधिक असंगठित थे और राष्ट्रीय नेतृत्व मुसलमानों द्वारा इधर-उधर की गई छोटी-मोटी मार-काट और अंग्रेजों की कूटनीति का सामना करने के लिए अत्यंत दुर्बल था। परिणामस्वरूप हुआ भारत का विभाजन। इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। दु:ख है कि हम इतिहास से केवल यही शिक्षा ग्रहण करते हैं कि हम इतिहास से कुछ भी नहीं सीखते। अपनी मातृभूमि के बड़े-बड़े खंड आधा पंजाब, आधा बंगाल, सिंध और सीमांत प्रांत-पुन: शत्रुओं के हाथ में चले गए।

ये भूखंड कभी हिंदू-राष्ट्र की शान थे। पंजाब वेदों का जन्मस्थान है, जो हमारी पवित्र दायों में पवित्रतम हैं। हमारे महान ऋषियों ने सिंधु के किनारे पर साधना की थी। बंगाल-संतों, कवियों तथा क्रांतिकारियों की गोद रहा है। उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत सहस्रों वर्षों से हमारी सुरक्षा-रेखा थी। हमारे स्वतंत्र और शक्तिशाली हिंदू राज्य का आदेश उन सब स्थानों में चलता था। परंतु शताब्दियों पूर्व वे हिस्से मुस्लिम आक्रमण से पराजित हो गए। बाद में उन्होंने मुस्लिम आधिपत्य को उखाड़ फैंका, परंतु एक अन्य शत्रु अंग्रेज के शासन के अंतर्गत आ जाने मात्र के लिए। अब वे पुन: मुस्लिम नियंत्रण में चले गए हैं।

इन प्रांतों को सन् १९४७ में मुस्लिम शासन में दे दिए जाने के बाद, वहां लाखों हिंदू भाई-बहन निर्दयता के साथ कत्ल कर दिए गए। हमारी नारियों का शील भंग किया गया, तलवार के जोर पर विशाल प्रमाण में सामूहिक धर्मपरिवर्तन किया गया, मुस्लिम समूहों द्वारा हिंदू मात्र पर जो अमानवीय अत्याचार एक सहस्र वर्ष पूर्व किए गए थे, उनकी पुनरावृत्ति हुई। वही क्रूरता अभी भी उसी प्रमाण में, उसी बर्बरता के साथ चल रही है। क्या इन बातों के लिए इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण की आवश्यकता है कि ध्वस्त मानवों के कंकाल बने लाखों की संख्या में शरणार्थी भाइयों का पश्चिमी बंगाल में नित्य प्रति चले आने का लगातार तांता लगा रहता है?

एक सहस्र वर्ष पूर्व अब एक सहस्र वर्ष के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय दुर्घटना का मूल कारण वही है-इस भूमि के पुत्र, हिंदुओं में संगठित तथा एकरूप जीवन का नितांत अभाव। कारण और परिणाम का (कार्य-कारण) नियम, काल और स्थान

की सीमा के परे है। गत एक सहस्र वर्ष के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ हमारे राष्ट्रीय स्तर पर घटित हो रहे इस कटु सत्य का मौन साक्षी है।

अब हम उन क्षेत्रों की अवस्था का अवलोकन करें, जो अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे हाथ में आए। क्या हमारा स्वातंत्र्य और सम्मान कम से कम यहां सुरक्षित है?

जयचंदों की परंपरा

उस प्रथम विभाजन के पश्चात् पुन: कश्मीर का विभाजन हुआ। एक समय हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने तथाकथित कश्मीर समस्या को हल करने के विचार से कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत हिस्से को पाकिस्तान को दे डालने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की थी। कश्मीर में मतगणना का प्रस्ताव भी हमारे नेताओं द्वारा ही सुझाया गया था। इससे क्या स्पष्ट होता है ? क्या शरीर के किसी अवयव को अपना भाग्य स्वयं निर्णीत करने के लिए कहा जाए? इसके विपरीत क्या संपूर्ण शरीर को ही इस विषय में निर्णय नहीं लेना चाहिए? उसी प्रकार से यदि मतगणना होनी ही है तो वह संपूर्ण देश में होनी चाहिए। केवल कश्मीर में मतगणना का तात्पर्य यह होगा कि हमारी मातृभूमि की एकता की चेतना हमारे मस्तिष्क में प्राय: निकल चुकी है।

इसके अतिरिक्त हमारे समाज में किसी भी तथा प्रत्येक विषय में चाहे वह भाषा, पंथ, संप्रदाय अथवा पार्टी से संबंधित हो, गंभीर दरार बनती जा रही है। कोई भी व्यक्ति खड़ा हो जाता है और कहता है कि उसे अपनी भाषा के लिए एक राज्य अथवा अपने संप्रदाय के लिए एक राज्य चाहिए। यदि वह संघ में बने रहने के लिए तैयार भी है तो वह चाहता है कि वह एक ढीले तौर से बांधा गया संघ हो, जिसमें उसके राज्य को अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हों तथा केंद्रीय सत्ता नाममात्र के लिए लागू हो।

परस्पर घृणा तथा विद्वेष का वही अभिशाप, जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को गत एक सहस्र वर्षों में कसाईखाने में बदल दिया था, अभी भी प्रांत, दल, भाषा, पंथ, संप्रदाय आदि के नए वेश में अपना मृत्यु-नृत्य किए जा रहा है। एक बार आंध्र के एक प्रसिद्ध नेता ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी कि यदि पृथक् आंध्र राज्य नहीं बनाया गया तो इसे प्राप्त करने के लिए वह रूस की सहायता लेगा। एक प्रसिद्ध सिख नेता ने एक समय धमकी दी थी कि यदि पंजाबी सूबा नहीं बनाया गया तो सभी सिख साम्यवादी बन जाएंगे। हमारी सीमाओं पर चीनी सेनाओं के सन्नद्ध खड़े रहने के समय इस प्रकार के वक्तव्य का केवल एक ही आशय हो सकता था और वह यह

कि एक पृथक् राज्य के निर्माण में उसकी सहायता देने का आश्वासन दिया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व वही नेता पाकिस्तान से सहायता प्राप्त करने के लिए सांठ-गांठ कर रहा था। क्या हम कह सकते हैं कि इस भूमि से जयचंदों तथा मानसिंहों की जाति समाप्त हो गई है?

इतिहास की पुनरावृत्ति

राष्ट्रीय चेतना के अभाव का वही घातक रोग, जिसके कारण हमने शत्रु-मित्र की पहचान करने की पात्रता खो दी थी, अभी भी पूर्ववत् है। एक बार नागपुर में अपने-आपको अब्राह्मण कहने वाले लोगों का एक सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में मुसलमान तथा ईसाई भी भाषण कर रहे हैं, यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। जब उस सम्मेलन के आयोजकों में से एक से इस बारे में पूछा, तो उसने उत्तर दिया 'अजी ! वे भी तो अब्राह्मण है।' यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे इस सामान्य तथ्य को भी नहीं पहचान सकते कि हिंदू की उसके पंथ अथवा संप्रदाय की कोई भी संज्ञा क्यों न हो, एक सामाजिक इकाई होती है। मुसलमान एवं ईसाई बिल्कुल विदेशी ही नहीं तो विरोधी पक्ष के हैं।

यह कल्पनातीत हो, तथापि एक कठोर सत्य है कि सन् १९५७ के चुनाव में पंजाब के अंबाला निर्वाचन-क्षेत्र से एक मुसलमान निर्वाचित हुआ, जो वहां पर एकमात्र मुस्लिम प्रत्याशी था और अन्य सभी हिंदू थे, जिन पर एक दशाब्दी पूर्व ही मुसलमानों के हाथों अवर्णनीय अत्याचार हुए थे। ऐसी है हमारे समाज की आत्मघातक, आत्मविस्मरण की अवस्था।

देश का कोई भी भाग इन आपस के झगड़ों से मुक्त नहीं है। हर जगह हमारे ही लोगों द्वारा शत्रु के प्रवेश तथा उसकी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए भूमिका तैयार की जा रही है। असम में जुलाई १९६० में बंगाली-विरोधी उपद्रवों, जिनके कारण बंगाली हिंदुओं को भारी संख्या में वहां से जाना पड़ा, ने मुसलमानों को ही लाभ पहुंचाया, क्योंकि इस प्रकार उस दुर्बल राज्य में हिंदुओं की प्रतिशत संख्या कम हो गई। असमियों और बंगालियों में परस्पर घृणा और विभेद ने उस प्रांत में मुसलमानों को सामान्य हिंदुओं पर और अधिक अत्याचार कर सकने में सहायता प्रदान की है।

वास्तव में हमें श्रीहट (सिल्हट) इसी असमी-बंगाली विभेद के कारण पाकिस्तान को देना पड़ा। सन् १९४७ में यह निर्णय करने के लिए कि श्रीहट जिला भारत में रहेगा अथवा पाकिस्तान में, वहां मतगणना हुई थी। हिंदुओं ने जो कि असमी-बंगाली झगड़ों और विद्वेषों से जर्जर हो गए थे, मतदान करने की चिंता ही नहीं की, परंतु मुसलमानों ने राजनीतिक दृष्टि से अधिक सतर्क होने के कारण अपनी

संख्या को बड़े प्रमाण में एकत्रित किया और पाकिस्तान के पक्ष में ठोस मतदान कराया। यह है वह दुर्भाग्यपूर्ण कथा कि किस प्रकार हमने हिंदू बहुसंख्या के होते हुए भी श्रीहट को पाकिस्तान के हाथों खो दिया।

विदेशी जाल

हमारा एक देश और एक संस्कृति है, इस चेतना के अभाव ने कुटिल विदेशियों को फूट के बीज बोने के लिए हमारे समाज को एक उपजाऊ भूमि बना दिया है। तथाकथित बुद्धिवादी वर्ग भी ऐसे कपटी प्रचार के कारण सुगमता से अपना आधार छोड़ बैठता है। उदाहरणस्वरूप, एक पृथक् द्रविड़नाड के लिए आंदोलन एक विदेशी के कुटिल मस्तिष्क की उपज है। एक विदेशी ईसाई मिशनरी ने ही लगभग आठ वर्ष पूर्व तमिलनाडु में प्रत्येक नगर तथा ग्राम का दौरा किया और सतत यह दुष्ट प्रचार किया कि तमिल संस्कृति, तमिल भाषा तथा तमिल की प्रत्येक चीज शेष भारत की संस्कृति, भाषा आदि से मूल रूप से भिन्न है और तमिलवासी अपने में एक स्वतंत्र राष्ट्र हैं। इस विशाक्त सिद्धांत को सामान्य व्यक्ति के लिए ग्राह्य बनाने के लिए उसने 'तिरुवकुरल' का एक विकृत भाष्य भी तैयार किया। किंतु आश्चर्य यह है कि तथाकथित बुद्धिवादी भी उस जाल को नहीं देख पा रहे हैं, जो उनको फंसाने के लिए बिछाया गया है। वस्तुत: उनमें से कुछ तो शत्रुरचित खेल खेलने में ही गर्व का अनुभव करते हैं। आंदोलन के तथाकथित विचार-प्रवर्तकों द्वारा प्रस्तुत तर्क उन विदेशी मिशनरी के तर्कों का तोते के समान दोहराना मात्र है।

द्रविड़नाड आंदोलन के समर्थन में एक प्रिय तर्क इस प्रकार है 'पूर्वकाल में यद्यपि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक था, तो भी सदैव ही अन्यान्य राज्य रहे हैं। अत: इसमें क्या हानि है? यदि अब भी हम अपने भौतिक कल्याण के लिए अपना एक पृथक् राज्य निर्माण कर लेते हैं, पर भारत को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही मानते रहें और हमारे लोग भारत भर में तीर्थयात्रा आदि के लिए पूर्ववत जाते रहें?' यह सत्य है कि पूर्वकाल में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, यद्यपि हम सांस्कृतिक दृष्टि से सदैव एक बने रहे, परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि हमारी भूमि के मुख्य शासकों में संपूर्ण देश को एक प्रशासकीय ईकाई के अंतर्गत लाने की अप्रतिहत प्रवृत्ति सदैव ही बनी रही। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों का एकमेव उद्देश्य यही था कि संपूर्ण भारत को एक ही चक्रवर्ती के सर्वोच्च राजकीय प्रभुत्व के अंतर्गत लाया जाए। इन यज्ञों को करने वाले का दूसरे राज्यों की जनता को शोषित अथवा उसका दमन करने के सदृश कोई स्वार्थी मन्तव्य नहीं होता था। वह छोटे-छोटे राज्यों से एक सर्वोच्च केंद्रीय सत्ता के

प्रति राज्यभक्ति की अपेक्षा मात्र रखता था। अन्य बातों में हस्तक्षेप न करते हुए वह उनको स्वतंत्र रूप से पहले के समान रहने के लिए छोड़ देता था।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार इतिहास में अनेकों राज्यों के अस्तित्व का उल्लेख है, उसमें यह कटु सत्य भी दिया गया है कि इन अनेक छोटे-छोटे राज्यों, जो कालांतर में परस्पर से दूर तथा परस्पर के वैरी हो गए थे, के स्थापित हो जाने से ही विदेशी आक्रामकों द्वारा इन सब राज्यों सहित संपूर्ण देश को गत एक सहस्र से भी अधिक वर्षों के लिए अधीन कर दिया है कि देश के किसी एक हिस्से का भाग्य देश के अन्य हिस्सों के साथ अविभाज्य रूप में जुड़ा हुआ है और विशेषतया जब भौतिक कल्याण (उत्कर्ष) ही प्रेरणा का एकमात्र निमित्त होता है, जैसा पृथक् द्रविड़नाड की मांग के बारे में है, कोई विदेशी शक्ति निश्चित ही भौतिक प्रलोभन देकर इसे अपने हाथ का मोहरा बना लेगी। इसका परिणाम होगा, जैसा पूर्वकाल में हो चुका है, शेष भारत का ही नहीं, इस तथाकथित द्रविड़नाड का भी विनाश।

विषाक्त बीज

हमारे वर्तमान संविधान के निर्माणकर्त्ता भी हमारे समान शुद्ध भावनायुक्त राष्ट्रत्व में विश्वास नहीं रखते थे। यह हमारे संविधान के संघात्मक ढांचे से स्पष्ट है। अब हमारे देश का 'राज्यों का संघ' इस प्रकार से वर्णन किया जाता है। जो पूर्व व्यवस्था के अंतर्गत केवल प्रांत माने जाते थे, उनको अब अनेक अनन्य अधिकारों के साथ राज्य का दर्जा दिया गया है। वास्तव में पूर्व काल में हमारे अविभक्त राष्ट्रीय जीवन के अनेक पृथक् राजनीतिक इकाइयों में खंडित हो जाने से ही राष्ट्रीय विशृंखलता के वही बीज विद्यमान हैं, जो सीमा-निर्धारण, नदियों के जल की वितरण-व्यवस्था आदि विषयों को लेकर राज्यों में विवादों के रूप में अंकुरित होने आरंभ हो गए हैं। इन सब झगड़ों को अब एक ऊंचा दर्जा प्राप्त हो गया है और ये अधिकृत रूप में 'सीमा-विवाद', 'नदियों के जल का विवाद' आदि नाम से कहे जाते हैं। मानो ये विवाद दो सर्वप्रभुता-संपन्न देशों के मध्य हों। महाराष्ट्र के एक नेता ने एक समय कहा था कि उसे अपने सीमांत पर चीनी आक्रमण के बारे में सोचने का उस समय तक अवकाश अथवा इच्छा नहीं है, जब तक मैसूर-महाराष्ट्र सीमा विवाद उसकी संतुष्टि के अनुसार निर्णीत नहीं हो जाता।

वर्तमान गंभीर खाद्य-संकट के काल में भी प्रांतीयता के विषैले दांतों ने भुखमरी के शिकंजे में जकड़े हुए करोड़ों लोगों की भयानक विपत्ति के सामने पीछे हटने के बजाय राजनीतिक व्यवहार में विष की और अधिक मात्रा प्रविष्ट कर

दी है। सन् १९६३-६४ में मध्यप्रदेश तथा पंजाब में उनकी आवश्यकता से अधिक गेहूं का संचय था, परंतु वे राज्य सरकारें उसे अपने पड़ोसी राज्यों को देने को तैयार नहीं थीं। समाचार-पत्रों ने लिखा था कि पंजाब में अतिरिक्त गेहूं सड़ना आरंभ हो गया है और इसे जानवरों के चारे के रूप में उपयोग करना पड़ रहा है। परंतु पंजाब सरकार भुखमरी से प्रभावित पड़ोसी राज्य उत्तरप्रदेश को अनाज का एक दाना भी देने को तैयार नहीं थी। केंद्र द्वारा पंजाब सरकार पर दबाव डाले जाने के पश्चात् ही वह उत्तरप्रदेश को उसकी मांग का पांचवां हिस्सा देने को तैयार हुआ। वह भी एक पीड़ित पड़ोसी की सहायता के रूप में नहीं, तो शराब और चीनी के बदले में, जिनको पहले उत्तरप्रदेश ने जवाब के तौर पर पंजाब को देना अस्वीकार कर दिया था। गेहूं हमारे द्वार पर अमरीका से आ सकता है, जो हमारी सीमाओं से दस हजार मील दूर है, परंतु वह अपने ही देश में एक अतिरिक्त अनाज वाले राज्य से पड़ोस के भुखमरी से पीड़ित राज्य तक नहीं पहुंच सकता। कितनी लज्जा का विषय है!

हाल ही में चुनाव आयोग ने राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करने का एक नया आधार विकसित किया है। राष्ट्रीय आधार पर दलों को मान्यता देने की पद्धति को राज्य स्तर पर मान्यता देने के पक्ष में बदल दिया गया है। इससे केवल यही संकेत मिलता है कि राजनीति के कर्णधारों की मानसिक प्रक्रिया राज्यीय इकाइयों के पृथकत्व की चेतना से प्रभावित है, संपूर्ण राष्ट्र की अविभाज्य एकता से नहीं। एक ओर वे 'राष्ट्रीय एकता' पर प्रस्ताव पारित करते हैं और दूसरी ओर राष्ट्रीय विषयों पर वास्तविक व्यवहार में ऐसी नीतियां निर्धारित करते हैं, जो राष्ट्रीय एकता के अधिष्ठान पर ही आघात करती हैं।

वायुमंडल में ये सब अशुभ लक्षण हैं। सबसे बड़ा खतरा तो अभी आने को है। भाषावार राज्यों के विषैले सिद्धांत ने 'आत्मनिर्णय का अधिकार' और 'पृथक् होने का अधिकार' इन मांगों को उत्तेजित किया है। यह हो सकता है कि हमारे वर्तमान संविधान में 'पृथक् होने के अधिकार' को अंगीकार नहीं किया गया है, परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्ताधारी कांग्रेसी दल उस सिद्धांत को बहुत पहले मान चुका है। इसी के कारण तो अपनी मातृभूमि के विभाजन का बीज बोया गया था। यह भी सत्य है कि कांग्रेस ने आज तक उस प्रस्ताव को रद्द नहीं किया है। उसी कांग्रेस का नेतृत्व चलते रहने और प्रांतीय तथा भाषायी विद्वेष एवं घृणा का वातावरण बढ़ते जाने के कारण एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब संविधान में आवश्यक

संशोधन कर पृथक् होने के अधिकार को भी अंगीकार कर लिया जाए। बेरुबाड़ी (पश्चिमी बंगाल) के विषय में हम देख चुके हैं कि परकीय देशों को अपनी मातृभूमि के हिस्सों को दे डालने का संसद, जिसका वास्तव में आशय है सत्ताधारी दल, को अधिकार देने के लिए संविधान में संशोधन सन् १९५९ में किया गया।

इन संशोधनों, जो कि संविधान की भावना पर ही आघात करते हैं, के बार-बार होते रहने पर भी जनता को संविधान की पवित्रता तथा देश की एकता बनाए रखने के लिए शपथ लेने का आग्रह किया जाता है। और वे कौन हैं, जो शपथ दिलाते हैं ? वे हैं संविधान के नष्ट करने के निश्चयी, हमारे देश के 'विभाजक' लोग। कितनी बड़ी विडंबना है?

आज भी, जब हमारे राष्ट्र के मर्मस्थलों को ऐसे कीटाणु खाए जा रहे हैं, क्या यह मान लेना संकट से खाली होगा कि मूल रोग, जिसके परिणामस्वरूप पूर्वकाल में हमारी यह दुर्गति हुई तथा हमें कलंकपूर्ण दासता भुगतनी पड़ी और जिसने आज पहले से भी अधिक भयंकर रूप ग्रहण कर लिया है, कालांतर में हमारी वर्तमान स्वतंत्रता को क्रमश: समाप्त नहीं कर देगा?

मूलगामी उपचार

इन परिस्थितियों में स्पष्टत: समाज की सेवा का सर्वोत्तम प्रकार यही है कि राष्ट्रीय चेतना एवं एकत्व के अभाव के मूलभूत रोग को दूर किया जाए और एक सशक्त, सुसंगठित, आत्मचेतनापूर्ण तथा आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन का निर्माण किया जाए। हमारी स्वतंत्रता उसी अवस्था में सुदृढ़ एवं सुरक्षित रह सकती है। जड़ों के प्रति दुर्लक्ष्य करते हुए केवल फलों का आनंद लेते रहने की आशा करना व्यर्थ होगा। इसमें संदेह नहीं कि रोग से दूषित होने पर भी वृक्ष कुछ समय तक फल देता है, परंतु वे फल अस्वास्थ्यकर, शुष्क तथा स्वादरहित होंगे और ऐसा ही है विभिन्न प्रकार के रोगों को प्रकट करता हुआ स्वतंत्रता का फल, जो आज हमें प्राप्त है। कारण यह है कि राष्ट्रीय जड़ें हमारे समाज के मस्तिष्क एवं हृदय में गहराई तक प्रवेश नहीं कर सकी हैं। यदि हम जड़ों के प्रति दुर्लक्ष्य करते चले जाएंगे, तो कुछ समय के पश्चात् ये फल भी अदृश्य हो जाएंगे और वृक्ष का सूखा और नंगा तना मात्र ही खड़ा दिखाई देगा। यदि हम जड़ों की चिंता करेंगे, तो फल की चिंता करने की आवश्यकता नहीं। फलों को बाहर से उधार लेकर उन्हें वृक्ष पर चिपकाने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमें अपनी राष्ट्रीय जड़ों को गहरे तक ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए, ताकि हम संसार के सभी तूफानों में स्वतंत्र एवं सीधे खड़े रह सकें।

नए उद्योग स्थापित करने अथवा आर्थिक आयोजना द्वारा यह नहीं किया जा सकेगा। यदि एक रोगी के आंतरिक रोग का उपचार करना है, तो उसे औषधि देने की आवश्यकता है, स्वादिष्ट भोजन तथा पेय पदार्थ नहीं। उस दुर्बल अवस्था में वह उस कुत्ते को भी भगा नहीं सकेगा, जो उसके लिए परोसी गई समस्त सामग्री को खा सकता है। हमारी राजनीति का भाग्य इससे भिन्न नहीं है। जब तक हमारे समाज के विघटन एवं आत्मविस्मरण का यह आंतरिक रोग दूर नहीं हो जाता और राष्ट्रीय दृष्टि में सतर्क एवं संगठित नहीं बना दिया जाता, तब तक वह संसार में किसी भी प्रकार की समृद्धि का उपभोग करने के अयोग्य रहेगा। इस पूर्वापेक्षित के बिना केवल भौतिक उत्कर्ष प्राप्त कर लेने का कोई भी प्रयास समाज के प्रति सेवा की बजाय एक अभिशाप बन सकता है। इतिहास हमें यह बताता है कि हमारी असीम समृद्धि ने ही आक्रामकों के बर्बर समूहों को हमारे देश पर आक्रमण करने के लिए आकर्षित किया था। हमारे पास उसकी रक्षा करने के लिए संगठित शक्ति नहीं थी, जिसके फलस्वरूप हम उन लुटेरों के हाथ अपने वैभव को खोकर अपने-आपको घोर दरिद्रता एवं दुर्गति की वर्तमान स्थिति में पाते हैं।

इसलिए हमें अपने मातृ-समाज को एक बार पुन: संयुक्त, संगठित, जागरूक तथा राष्ट्रीय चेतना एवं ऐक्य की प्रचंड भावना से पुनरुत्थानशील कर मूल रोग का उन्मूलन करने का निश्चय करना है। इस हेतु हमें इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के पास एक संगठित राष्ट्रत्व का संदेश लेकर पहुंचना चाहिए और उन्हें परस्पर प्रेम तथा अनुशासन के बंधनों से बांधते हुए एक सामर्थ्यशाली संगठित शक्ति अभिन्न रूप में निर्मित करनी चाहिए। ऐसा एक सतर्क, संगठित तथा अजेय शक्तिशाली राष्ट्रजीवन ही युद्ध द्वारा जर्जर संसार के वर्तमान संक्षोभ में अपना मस्तक सीधा करके खड़े रहने की आशा कर सकता है।

❑❑❑

१८

एकात्मक शासन की अनिवार्यता*

प्रतिवेदन पर प्रतिक्रियाएं

राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हुए लगभग दो सप्ताह हो रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र के प्रमुख व्यक्ति तो प्रतिवेदन के अधिकृत रूप से प्रकाशित होने से पूर्व ही समिति के सुझावों पर अपनी प्रतिक्रियाओं को मुक्त रूप से व्यक्त करने लगे हैं। कोई संतुष्ट हुआ प्रतीत नहीं होता। प्रतिवेदन के विरोध में संपूर्ण वातावरण आंदोलित हो उठा है। भावनाएं उमड़ रही हैं। प्रांत-प्रांत के विधायक वर्ग एक-दूसरे के प्रति विरोधी भावनाओं को खुलकर प्रकट कर रहे हैं। कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के साथ एक समान प्रशासनिक इकाई में सहयोग करने और साथ-साथ रहने की मन:स्थिति में दिखाई नहीं देता। विरोध इतना तीव्र और बढ़ा हुआ है कि उसने दृढ़मूल वैर का रूप धारण कर लिया है।

अंग्रेजों द्वारा प्रचार

अंग्रेज शासक ने इस देश और यहां की प्रजा के संबंध में जो बातें प्रचारित की थीं, उनका आज बरबस स्मरण हो आता है। वह अत्यंत दृढ़तापूर्वक संसार को यह बताता रहा है कि याद रखो, यह एक नहीं है, वरन् आधुनिक यूरोप के समान एक महाद्वीप है। एक बहुत विस्तृत भूखंड, जिसमें अनेक देश, अनेक जनसमुदाय, अनेक राष्ट्रीयताएँ हैं, जिनकी वंश, संस्कृति एवं भाषा की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ एवं स्वरूप हैं। यहां के समाज के स्वरूप के विषय में भी धोखा न खाने के लिए वह सभी को सावधान करता रहा है। वह यही प्रतिपादित करता रहा है कि राष्ट्र की एकता के अर्थ में यह इंग्लैंड, फ्रांस अथवा जर्मनी के समान एक राष्ट्र नहीं है, अपितु अनेक राष्ट्रीयताओं का एक समूह है, जिनमें एक-दूसरे से समानताएं कम एवं यूरोप के विभिन्न देशों में रहने वाले लोगों की अपेक्षा अंतर अधिक है। वह यह भी प्रचार कर रहा है कि मानव वंशशास्त्र के अनुसार वे सब विभिन्न

---

* (श्री गुरुजी द्वारा सन् १९५६ में राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित होने के तुरन्त पश्चात् लिखा हुआ लेख)

वंशों के हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से वे किसी अज्ञात स्थान से यहां बसने के लिए देशांतरित होकर इस देश में आए हैं। राजनीतिक दृष्टि से वे क्रमागत लुटेरे और आक्रांता हैं, जो अंत में इस उर्वरा भूमि में आकर बस गए हैं और जिसके परिणामस्वरूप इनमें एक-दूसरे के प्रति अन्तरनिहित वैरभाव है। वह कुछ काल से प्रच्छन्न है और जिसकी प्रकट हिंसा के रूप में व्यक्त होने की प्रवणता इधर कुछ कम हो गई है। भाषाओं की दृष्टि से वे एक-दूसरे से अपरिचित हैं। संस्कृति के उनके विभिन्न स्तर हैं और धर्म में तो इतने भेदभाव हैं कि वे सदैव एक-दूसरे का गला घोंटने के लिए उद्यत रहते हैं।

जिन विभेदों पर उन्होंने विशेष रीति से जोर दिया और जिन्हें बहुत मात्रा में उभारा, वे हैं हिंदू और मुसलमान, द्रविड़ और आर्य, जैन तथा सिख जैसे विभिन्न पंथ और हिंदू-समाज की विभिन्न जातियों के एक-दूसरे से और विशेष रीति से ब्राह्मण-अब्राह्मण के। वे संसार को और विशेष रूप से हमारे ही लोगों को यह समझाते हुए कभी नहीं थके कि इस देश में एक सार्वभौम सत्ता के रूप में इनका भगवान के द्वारा निर्धारित अस्तित्व ही परस्पर विरोधी शक्तियों को नियंत्रित किए हैं तथा देश में व्यक्ति के जीवन, मान-सम्मान और वित्त की सुरक्षा को बनाए रखते हुए हिंसा एवं रक्तपात के भीषण दृश्य तथा समय-समय पर सतत होने वाले परस्पर के युद्ध को रोके हुए है। हमें यह भी समझाया गया कि उन्होंने यहां एक सुस्थिर प्रशासन दिया है, जो न्यायी, दयालु और प्रगतिशील है। उन्हीं के कारण एवं उनके सत्ताकाल में ही इस देश के विविध, बहुधा परस्पर विरोधी जनों के विचित्र समुदाय में एकसमान मातृभूमि, देशभक्ति एवं समान राष्ट्रीयता की भावनाएं शनैः-शनैः विकसित हुई हैं।

नेताओं की परीक्षा

कुल काल के लिए ऐसा प्रतीत भी हुआ कि मातृभूमि के प्रति समान प्रेम भारत के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक लोगों में निविष्ट हो गया है अथवा नवीभूत हुआ है और इस प्रेम पर आधारित एक समाज एवं एक राष्ट्रीयता की भावना का भी निर्माण हो गया है। उस समय जनता के सभी नेतागण एक राष्ट्र की भाषा बोलने लगे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि एक राष्ट्र के सिद्धांत में उनकी वास्तविक आस्था है। सभी ने उस समय इस महती भावना को व्यक्त किया तथा जनता को अंग्रेजों की दासता के जुए को उतार फेंक, देश को स्वतंत्र करने के लिए संग्राम करने को प्रेरित किया। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो समस्त जनसमुदाय ने इस भावना को ग्रहण कर लिया हो।

किंतु अंग्रेज इन विभेदों को पुनः-पुनः दृढ़तापूर्वक कहने में कभी नहीं थका, जिन्हें उसने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए परिकल्पित कर जनता के मस्तिष्क में दृढ़ता

से बैठाने का प्रयत्न किया था। उसने भविष्यवाणी की कि उसके यहां से जाते ही देश सभी प्रकार से परस्पर विनाशकारी कलह से व्याप्त हो जाएगा तथा देश में सभी व्यवस्था भंग होकर अस्त-व्यस्तता छा जाएगी। इस प्रकार से उसने अपने को यहां बनाए रखने का, हमारे देश पर अपने साम्राज्यवादी आधिपत्य को न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। हमारे नेताओं के विचार में यह केवल प्रचार मात्र था जो यदि दुष्टतापूर्ण न भी माना जाए तो भी असत्य तो था ही। और उन्होंने स्वतंत्रता की लड़ाई को इस विश्वास के साथ तीव्र किया कि वे स्वयं तथा उनका अनुसरण करते हुए देश के सभी नागरिक एक राष्ट्र के आदर्श के वास्तविक तथ्य को अनुभव कर चुके हैं। अंतत: परिस्थितियों से विवश होकर अपनी युद्धोत्तर छिन्न-भिन्न अवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के दबाव के कारण अंग्रेज को इस देश पर से अपनी पकड़ ढीली करनी पड़ी और शासन का उत्तरदायित्व उन नेताओं को सौंपना पड़ा,जो जोर-जोर से लगातार स्वायत्त शासन की मांग कर रहे थे। पर अब समय आ गया है हमारे नेताओं की उस आत्मश्लाघा की परीक्षा का कि उन्होंने एकसूत्र राष्ट्रजीवन की निर्मिति एवं अनुभूति कर ली है।

असफलताएं

यदि ईमानदारी से सोचें तो यह नहीं कहा जा सकता कि हमने परीक्षा को सफलतापूर्वक उत्तीर्ण किया है। एक देश और एक राष्ट्र की घोषणा को प्रथम और सर्वाधिक क्रूर आघात अपनी माता भारत भूमि के दु:खद विभाजन की स्वीकृति के रूप में लगा। यह इस बात को मानना हुआ कि मुसलमानों का यहां एक अलग, विरोधी राष्ट्रीय जाति के नाते अस्तित्व है, जिसे हिंदू-राष्ट्र के साथ इस भूमि में जीवित रहने के लिए जबरदस्ती बांध दिया गया है और उन्होंने अब इस देश का विभाजन कर जहां से वे मूल रूप से आक्रांता के नाते आए तथा जहां वे विजेता के नाते बसने को प्रयत्नशील रहे हैं, अपने लिए एक अलग राज्य जीत लिया है। कुछ लोगों द्वारा प्रचारित द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के विपरीत प्रतिवाद तथा उसका विरोध एवं धिक्कार करने के उत्कट प्रयत्नों के बावजूद विभाजन की स्वीकृति और अब उसको न्यायसंगत बताना तथा परिणामस्वरूप हमारी मातृभूमि के कलेवर में से एक मुस्लिम राज्य का अलग निर्माण कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्होंने इन सब विरोधों की असत्यता को सुस्पष्ट कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि मौखिक घोषणाओं एवं मूल विश्वासों में एकसूत्रता नहीं थी। हमारे इन प्रमुख नेताओं की वैचारिक प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में कहीं पर यह विश्वास बराबर जमा रहा कि जिसे सब लोग अधिकारपूर्वक एक मातृभूमि

कहते हैं, उसकी सीमाओं के अंतर्गत एक अलग मुस्लिम राष्ट्र का अस्तित्व है और इन सीमाओं में उनकी एक मुस्लिम राज्य की मांग न्यायोचित है। मातृभूमि की एकता में यह अंतर्जात अविश्वास इस प्रकार देश के खंडित होने पर प्रकाश में आ गया।

इस 'आत्म-निर्णय के अधिकार' के घोष का दुरुपयोग कश्मीर और अब गोवा तक पहुंच गया है। यह कहना कि कश्मीरी अपने भविष्य का निर्णय करेंगे, इस देश भारत तथा इसकी जनता के ऐक्य भाव को अस्वीकार करना है। इसके पश्चात् आया हमारा वर्तमान संविधान, जिसने देश को लगभग स्पष्ट रूप से विलग ऐसी अनेक इकाइयों में परिवर्तित कर दिया, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग-अलग राज्य है और सभी एक संघ में सम्बद्ध हैं। जब कोई यह सोचने लगता है कि हमारे इस संविधान के निर्माताओं ने, जिस समय इस संविधान को बनाया था तब देश में कैसी परिस्थितियां थीं, तो यह पाता है कि उस समय का वातावरण एकात्मक शासन के निर्माण एवं विकास के लिए अत्यंत अनुकूल था। भारत या इस नाम से पहचाना जाने वाला जो कुछ शेष है, उसके एकरस अखंड राष्ट्रत्व की अभिव्यक्ति के नाते एक देश, एक विधानमंडल, संपूर्ण देश में शासन को चलाता हुआ एक कार्यकारी केन्द्र प्रस्थापित हो सकता था। किन्तु नेताओं का मस्तिष्क और विवेक उस समय राज्यों के संघ के विचार से मोहग्रस्त था, जिसमें प्रत्येक भाषायी गुट अपनी अलग भाषा और संस्कृति के साथ एक अलग जन (राष्ट्र) के रूप में व्यापक स्वायत्त शासन के अधिकारों का उपयोग करे।

संघ राज्य के मूल में

अनेक वर्ष पूर्व, अर्थात् सन् १९२३ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो देश के सभी जनों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली एकमात्र राजनीतिक संस्था थी, ने हमारे देश के लिए इस प्रकार के सांघिक ढांचे का विचार किया था और भाषावार राज्यों ने उस संघ का निर्माण स्वीकार किया था। उन्होंने यह घोषणा क्यों की और अंत में वे क्या बनाना चाहते थे? यह स्पष्ट नहीं है। किंतु इसी संबंध में ब्रिटिश पार्लियामेंट के कंजर्वेटिव दल के एक सदस्य का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें उसने प्रांतीय विधानमंडलों की आवश्यकता पर विशद रूप से प्रकाश डालते हुए कहा है कि यह पग उठाने से अंत में यह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने पर देश आधे दर्जन या इससे भी अधिक परस्पर विभिन्न एवं विरोधी भाषायी-राज्यों में विभक्त हो जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवत: यह घोषणा करने वालों ने इस देश में भाषायी राज्यों की स्थापना और उनके संघ की प्रेरणा इसी मूल स्रोत से प्राप्त की हो।

इस प्रकार भाषावार राज्यों के संघ के लिए वचनबद्ध होने पर अंतत: जो संविधान स्वीकार किया गया, वह ऐसे सांघिक ढांचे का ही हो सकता था, जिसमें कुछ काल के लिए प्रांतों की वर्तमान सीमाओं को स्वीकार करते हुए उन्हीं पहले के प्रांतों को लगभग स्वायत्त राज्य का पद प्रदान कर दिया गया। राज्यों की सीमाओं के पुनर्गठन का प्रश्न और भाषावार राज्यों की स्थापना की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की मांग के विषय को बाद में विचार में लेने का निश्चय किया गया। परिणामस्वरूप अब यह राज्य पुनर्गठन समिति अपने सुझावों को लेकर सामने आई है, जिनसे जनता के सभी वर्ग असंतुष्ट दिखाई देते हैं। वातावरण में पारस्परिक अविश्वास स्पष्ट रूप से व्याप्त है। सदिच्छा का अभाव, अधिकाधिक भूमि हथियाने के लिए लोभी आक्रोश, एक ऐसे घृणित दृश्य को उपस्थित कर रहे हैं, मानो किसी शव के चारों ओर अनेक भेड़िये एक-दूसरे की ओर गुर्राते हुए खड़े हों। यह दृश्य कितना वेदनाकारी है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो नेता लोग अंग्रेज साम्राज्यवादियों की उस गर्वोक्ति को सत्य प्रमाणित करने के लिए होड़ लगाए हुए हैं, जिसमें उन्होंने यह कहा था कि यदि उनका शासन यहां से हट जाएगा तो यहां के लोग एक-दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे और देश में निकृष्टतम अस्त-व्यस्त परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएंगी।

हमारा भविष्य दांव पर

यह सब क्यों घटित हो रहा है? मातृभूमि और राष्ट्र की एकता की सभी धारणाएं क्यों चूर-चूर हो गईं ? क्या वे घोषणाएं सत्य थीं? वर्तमान दु:खपूर्ण अवस्था हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य करती है कि अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति का कार्य जिन नेताओं के हाथ में था, उन्होंने यह कभी अनुभव नहीं किया कि यह एक देश, एक जन और एक राष्ट्र है। देशव्यापी एकता जो अल्पकाल के लिए अभिव्यक्त हुई थी, वह हमारी पुरातन राष्ट्रीय एकता के एकात्मक बोध से उत्पन्न नहीं थी। हमारे जीवन की बाह्य विविधता, जो एकरस राष्ट्रजीवन के स्वरैक्य को विघटित न होने देते हुए, प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूहों को अपनी अभिव्यक्ति और विकास की पूर्ण स्वतंत्रता देती है और इससे अपरिचित व्यक्तियों को संभ्रम में डाल देती है, हमारी राष्ट्रीय विचारधारा और जीवन के हमारे उदार दृष्टिकोण वाले राष्ट्र की जीवन-शक्ति के प्राचुर्य की अभिव्यक्ति मात्र है।

वह एकता ऊपरी भेदों के भीतर मूलभूत एकता के आधार पर अनुभूत किए सामंजस्य का फल नहीं थी, वरन केवल एक जोड़-जाड़ का काम था, साम्राज्यवादी समान शत्रु का सामना करने के लिए अस्थायी युद्ध-विराम था और ब्रिटिश आधिपत्य के प्रतिक्रियास्वरूप सभी के लिए विदेशी राज्यकर्ताओं के विरोध की नकारात्मक

भावना से एक समान संकट का सामना करने के लिए आह्वान किया हुआ एक अल्पकालिक महासंघ था। इसीलिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जैसे ही विरोधी अंग्रेज यहां से वापस गया, वह टुकड़ों को जोड़-जाड़कर बनाई गई एकता टुकड़े-टुकड़े हो गई, क्योंकि समान शत्रु से युद्ध करने के लिए अब संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता नहीं रही थी।

हमारी वर्तमान दशा का यह एक अत्यंत शोचनीय चित्र है। जब हम आगे अधिक अच्छे समय के लिए देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे सामने एक निरानंद भविष्य दिखाई देता है, जो निराशा के अंधकार से परिव्याप्त है। आज हमारे जिन नेताओं के हाथ में देश का भाग्य है, उनमें अपनी पवित्र मातृभूमि की ऐक्य-भावना के भावात्मक बोध का अभाव है। वे उस शाश्वत राष्ट्रीय चेतना से अपरिचित हैं, जो विविधताओं की बहुलता के भीतर अमर रूप से निहित सजीव एकता को सदैव व्यक्त करती है। इसी का परिणाम है कि वे विच्छेद और खण्डीकरण को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसी दशा में उज्जवल भविष्य की आशा करना बुद्धिमानी नहीं होगी। सम्मानपूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व भी संकट में है तथा सत्ता और युद्धप्रिय राष्ट्रों की इस दुनिया में हमारा अस्तित्व मौजी संयोग की दया पर संदिग्धावस्था में पड़ा हुआ है, जिसके कारण वह किसी भी समय विश्व को भीषण युद्ध में झोंक सकता है, जिसमें पड़ जाने पर हमें सफलता की आशा नहीं करनी चाहिए। जिस घर में फूट व्याप्त है, इसका पतन निश्चित हो जाता है।

व्याधि का उपचार

ये निराशाजनक संत्रस्त विचार हैं, किंतु कोई कारण नहीं कि हम निराशा में पड़ें, क्योंकि इसका भी उपचार है। वह उपचार यही है कि हम पृथकता की सभी प्रवृत्तियों को निर्मूल करें जो मातृभूमि की एकता में दृढ़ विश्वास करने से इनकार करती हैं, उनका उच्छेद कर डालें और हम उन वचनों एवं कर्मों से अपने को मुक्त करें, जो हमारे राष्ट्रजीवन की एकता की अनुभूति के विरुद्ध विचारों को उत्पन्न करते हैं।

इस लक्ष्य की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रभावी कदम यह होगा कि हम अपने देश के संविधान से सांघिक ढांचे की संपूर्ण चर्चा को सदैव के लिए समाप्त कर दें। एक राज्य के, अर्थात् भारत के अंतर्गत अनेक स्वायत्त अथवा अर्द्धस्वायत्त राज्यों के अस्तित्व को मिटा दें तथा एक देश, एक राज्य, एक विधानमंडल, एक कार्यपालिका घोषित करें। इसमें खण्डात्मक, क्षेत्रीय, सांप्रदायिक, भाषायी अथवा अन्य प्रकार के गर्व का चिह्न भी नहीं होना चाहिए। इन भावनाओं को हमारे एकत्व के सामंजस्य को उद्ध्वंस करने का अवकाश नहीं मिलना चाहिए। संविधान का पुनः परीक्षण एवं पुनर्लेखन हो, ताकि अंग्रेजों द्वारा किया गया तथा वर्तमान

नेताओं द्वारा मूढ़तावश ग्रहण किया हुआ कुटिल प्रचार कि हम अनेक अलग-अलग मानव-वंशों अथवा राष्ट्रीयताओं के गुट हैं, जो संयोगवश भौगोलिक एकता एवं एक समान सर्वप्रधान विदेशी शासन के कारण साथ-साथ रह रहे हैं, इस एकात्मक शासन की स्थापना द्वारा प्रभावी ढंग से अप्रमाणित हो जाए। हम विधान निर्माताओं और राज्य पुनर्गठन समिति के 'सुयोग्य सदस्यों' के कृतज्ञ हों, किंतु राष्ट्र को अपने ही में विभाजित हो टुकड़े-टुकड़े होकर विनाश की दिशा में अग्रसर न होने दें। हमारे वर्तमान राज्यकर्ताओं को चाहिए कि वे साहस से काम लें, वस्तुस्थिति की ओर वास्तविकता की दृष्टि से देखें, सम्मुख उपस्थित विघटन के संकट पर चिंतन-मनन करें, परिस्थितियों से अनवगत उन लोगों के दिशाभ्रष्ट विरोध, जो ऐसा विरोध करने की नीचता दिखाएं, का सामना करें और सुदृढ़ता से इस वर्तमान विकृत ढांचे, को एकात्मक शासन में परिवर्तित कर दें।

शंकराचार्य एवं लिंकन वर्तमान नेतृत्व को प्रेरणा दें

इस प्रकार एक ही झपट्टे में देश को खंडित करने की सभी बातें शांत हो जाएंगी। पृथकता का उमड़ता हुआ प्रवाह, अविश्वास एवं पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाएंगे और एक एकरस समाज के, एक राष्ट्र के सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए आवश्यक परिस्थिति निर्माण हो जाएगी। इसमें संदेह नहीं कि कुछ आक्रोश करने वाले तत्त्वों को छोड़कर संपूर्ण जनता ऐसी योजना का समर्थन करेगी तथा तब हमारे वर्तमान नेता भावी इतिहास में भारत की राष्ट्रीय सुदृढ़ता के सफल निर्माता माने जाएंगे। और भावी संतति उन्हें शंकराचार्य का वर्तमान स्वरूप अथवा अब्राहम लिंकन के भारतीय समकक्ष मानकर उनकी पूजा करेगी।

हमारी पीढ़ी के नेताओं की देशभक्ति एवं चिरंतन भारतीय राष्ट्र में उनका विश्वास आज कसौटी पर है। आज के ऐतिहासिक क्षण उनके साहस, दृढ़निश्चय एवं अपने पुरातन, किंतु अमर राष्ट्र के लिए उत्कट प्रेम का आह्वान कर रहे हैं। इस समय अपनी दृढ़ता और निर्भीकता को व्यक्त करने वाला जो कदम वे उठाएंगे, वह सिद्ध करेगा कि वे शुद्ध स्वर्ण हैं अथवा केवल पानी चढ़ा हुआ मुलम्मा। जो सर्वशक्तिमान सदैव अपनी प्रज्ञा से इस हिंदू-राष्ट्र को अपना सही मार्ग, धर्म का मार्ग, याने संपूर्ण समाज को प्रेममय एकता के बंधन में आबद्ध कर खड़ा कर देने का मार्गनिर्देश करता रहा है, उससे हम यही प्रार्थना करें कि इस कठिन समय में वह हमारे नेताओं का मार्गदर्शन करे, सच्चे ज्ञान से उन्हें स्फूर्त करे तथा हमारे महान् समाज के वैभवशाली पुनरुत्थान के सही मार्ग पर चलने का उन्हें साहस प्रदान करे।

❑❑❑

१९

शाश्वत अधिष्ठान

वृद्धि की आकांक्षा

राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ का कार्य एक अत्यंत छोटे स्वरूप में आरंभ हुआ। धीरे-धीरे, परंतु दृढ़ता के साथ कालांतर में इसने अपने कार्य का विस्तार किया और आज हम देखते हैं कि संघ की शाखाएं देश के प्रत्येक प्रांत में पूर्ण वेग के साथ कार्य कर रही हैं। बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उपस्थित सतत उथल-पुथल और चुनौतियों के बीच निरंतर वृद्धि और स्थिर विस्तार संघ की अचूक विशेषता रही है।

संघ प्रारंभ होने के पंद्रह वर्ष में उसके सामने तब प्रथम परीक्षा का काल उपस्थित हुआ, जब उसके संस्थापक परम पूजनीय डॉ. हेडगेवार का अकस्मात तथा अनपेक्षित देहावसान हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉक्टर साहब ने संगठन को जीवन-प्राण से सींचा था। उन्होंने अपने जीवन को एक जलते हुए दीपक के समान बना दिया था, जो तेल की अंतिम बूंद तक जलता रहा। ऐसा एक अपरिहार्य तथा अनुपम नेता अकस्मात चला गया। तब संगठन अभी बाल्यावस्था में ही था। संघ के अनेक शुभचिंतकों के लिए यह एक आश्चर्य का विषय था कि संघ द्विगुणित गति तथा उत्साह से बढ़ता गया। इसकी स्थिर प्रगति अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् भी घटी नहीं। कुछ लोगों को यह एक आश्चर्यजनक घटना प्रतीत होती है। भ्रमित होकर वे पूछते हैं- 'अब अंग्रेज चले गए हैं और हम स्वतंत्र हो गए हैं, तब संघ के समान एक पृथक् संगठन की क्या आवश्यकता है? चूंकि अब हम स्वतंत्र हैं, इसका क्या प्रयोजन हो सकता है?'

हमारा उत्तर है कि केवल बाह्य परिस्थितियां, जैसे राजनीतिक स्वतंत्रता आज भी सुगठित अवस्था की महत्ता को कम नहीं करती। वस्तुत: केवल एक सुसंगठित तथा शक्तिशाली समाज ही स्वतंत्र, शांतिमय तथा समृद्धिशाली जीवन के फलों का

आनंद ले सकता है। संगठित जीवन का एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए अपने स्वातंत्र्य की रक्षा हेतु उतना ही प्रभावी हथियार है, जितना अपने बंधनों से छुटकारा पाने हेतु एक गुलाम राष्ट्र के लिए। केवल एक सचेत और संगठित राष्ट्र ही आंतरिक ह्रास एवं विध्वंस को रोक सकता है, बाह्य आक्रमणों को परास्त कर सकता है तथा अपनी एकता एवं स्वातंत्र्य को सुरक्षित रख सकता है।

एक स्थायी अधिष्ठान के लिए

यह भी सर्वविदित है कि समाज की एक स्थायी, सचेत, भावात्मक तथा संगठित अवस्था केवल दूसरों के विरोध पर आधारित नहीं रह सकती। इसका कारण अत्यंत सरल है। वे आंदोलन जो बाह्य परिस्थितियों की प्रतिक्रियास्वरूप प्रारंभ होते हैं, उसी समय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जब उनके विरोध का निमित्त समाप्त हो जाता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण भी है। जब विरोध की भावना हमारे मस्तिष्क पर सवार रहती है, तब हमें विवश होकर सतत उन्हीं के बारे में सोचना पड़ता है, जिनका हम विरोध करते हैं और विशेषतया हमें बार-बार उसके दुष्कार्य एवं दुर्गुणों के बारे में मनन करना पड़ता है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि एक व्यक्ति वैसा ही बन जाता है, जैसा वह विचार करता है। निरंतर विचार-प्रक्रियाएं ही व्यक्ति को ढालती हैं। इसलि अंग्रेजों अथवा मुसलमानों के प्रति घृणाके आधार पर अपने समाज की पुनर्रचना का प्रयास करना विघटन एवं विनाश को निमंत्रण देना होगा, क्योंकि इस प्रकार उनके क्रूर अपराधों का निरंतर स्मरण हमारे मस्तिष्कों को दूषित कर देगा। गंभीर चिंतन करने तथा अपने जीवन को तदनुरूप ढालने के लिए क्या हमारे पास भावात्मक, चैतन्यपूर्ण और उदात्त जीवनादर्श नहीं है? क्यों हम अपने हृदयों में एक कुटिल आक्रामक को चिंतन बिंदु के रूप में स्थापित करें?

यह सत्य है कि यदा-कदा हमारे संघ-कार्यकर्ता भी अंग्रेजों तथा मुसलमानों से संबंधित घटनाओं का उल्लेख करते हैं। परंतु वह केवल उस दिशा की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही होता है, जो हम इतिहास से प्राप्त करते हैं, यह स्पष्ट करने मात्र के लिए हम स्वयं ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं। सचमुच इंग्लैंड जैसे छोटे-से देश द्वारा अपने भारत जैसे विशाल देश पर ६००० मील दूर से राज्य करने की यह अनोखी घटना ही थी, जिसने अपने संघ के आदरणीय संस्थापक को उनकी बाल्यावस्था के ८वें वर्ष में ही आश्चर्य में डालकर विचार करने के लिए प्रेरित किया था। फिर गुलामी के मूल कारण तथा उसके निराकरण हेतु सही और भावात्मक कार्य-प्रक्रिया के रूप में उन्होंने संघ की स्थापना की।

प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण के परिणाम

कारण जो भी रहे हों, हमारे अधिकांश नेता अंग्रेज अथवा मुसलमान के विरोध की प्रतिक्रियात्मक भावना के शिकार हो गए। परिणाम यह निकला कि वे अंग्रेजियत और मुसलमानियत से प्रभावित हो गए। उदाहरण के लिए अपने देश में मुसलमानों की बढ़ती हुई हिंसा, लूटपाट तथा राजनीतिक क्षेत्र में उनके तुष्टिकरण को रोकने के लिए कुछ अतिवादी हिंदू संस्थाएं स्थापित हुईं। उन्होंने मुसलमानों द्वारा किए जाने वाले जबरन धर्मांतरण, खून खौलाने वाले कत्लेआम, माँ-बहनों के सतीत्व-हरण, मंदिरों के तोड़ने आदि उन सब हृदय-द्रावक भीषण अत्याचारों से पूर्ण घटनाओं का बार-बार बखान किया, जो मुसलमानों के भारत में कदम रखने से लेकर आज तक जारी हैं।

इस तथ्य को स्पष्ट करने वाला एक प्रसंग है, जो गोहत्या विरोधी आंदोलन के दिनों में मेरे सामने आया। मैं एक अतीव प्रसिद्धि प्राप्त एवं विद्वान हिंदू नेता से मिला, जो अपनी धधकती देशभक्ति के लिए सुपरिचित हैं। हमारी बातचीत के दौरान सहसा उन्होंने पूछा- 'क्या हानि है, यदि एक हिंदू गोमांस खाता है?' मैं उन सज्जन, जिनके प्रति मेरे हृदय में बहुत सम्मान है, से ये शब्द सुनकर सन्न-सा रह गया। ऐसे उद्‌गारों की अभिव्यक्ति, जिसके विचार-मात्र से एक गया-बीता हिंदू भी कांप उठेगा, का क्या कारण हो सकता है? कारण है कि मुसलमानों और उनके दुर्गुणों के सतत चिंतन ने उनके मस्तिष्क पर वैसे ही विचारों की एक गहरी छाप छोड़ दी है और उनको सांस्कृतिक दृष्टि से एक मुसलमान बना दिया है, यद्यपि वे राजनीतिक दृष्टि से हिंदू ही बने हुए हैं।

इस प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति से युक्त वातावरण के कारण ही लोग संघ को भी इसी दृष्टि से देखते हैं। एक बार हम एक जगह अपना कार्य प्रारंभ करने गए हुए थे। नगर के सज्जनों ने हमसे प्रश्न किया- 'हमारे नगर में संघ की क्या आवश्यकता है? यहां तो मुसलमान हैं ही नहीं।' मैंने उत्तर दिया- 'हम यहां हिंदुओं का संगठन करने के लिए आए हैं, मुसलमानों का नहीं। मैं आशा करता हूँ कि आप सब हिंदू हैं। इसमें हमें क्या सरोकार कि यहां मुसलमान रहते हैं अथवा नहीं।'

जीवित समाज का लक्षण

इस प्रतिक्रियात्मक भूमिका के कारण लोग कहते हैं कि अब परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है और क्योंकि अंग्रेज इस देश को छोड़कर चले गए हैं, इसलिए इस प्रकार के संगठनप की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत हम समस्या को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। हम कहते हैं कि हिंदू यहां थे और यहां रहते चले आ रहे हैं। वे

असंगठित थे और अब भी असंगठित हैं। हम वही विघटित, मूक 'हिंदू-समाज' आज भी देख रहे हैं, जो अपने-आपको किसी प्रकार का विरोध व्यक्त किए बिना कुचलवाए जा रहा है। जब वह बोलता है तो इतने स्वरों में बोलता है, जिससे कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। इस प्रकार स्थिति में किंचित् भी परिवर्तन नहीं हुआ है। मान लीजिए एक व्यक्ति संक्रामक रोग के दिनों में विषम-ज्वर से पीड़ित है। क्या उस रोगी की चिकित्सा करने वाला डॉक्टर उस स्थिति में रोगी के प्रति अपनी रुचि समाप्त कर देगा, यदि नगर का स्वास्थ्य अधिकारी यह घोषणा कर दे कि अब यह संक्रामक रोग समाप्त हो गया है? ठीक इसी प्रकार क्या हम यह नहीं देख पाते कि इस महान् एवं प्राचीन समाज के विघटन की पुरानी व्याधि अब भी पीड़ित किए जा रही है? तब हम रोग-मुक्ति के लिए उपयुक्त औषधि देने का कार्य कैसे बंद कर सकते हैं?

इसलिए अपने समाज को सुगठित, संगठित तथा शक्तिशाली बनाना आज भी हमारा उतना ही महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है, जितना वह पहले कभी था। यह हमारा धर्म है कि हम अपने समाज को शक्तिशाली, महान् तथा सुखी बनाएं अपने समाज के लिए यह सहज प्रेम एवं भक्तिभाव, अपने राष्ट्रीय अस्तित्व में यह भावात्मक श्रद्धा हमारे सभी कार्यों के लिए निरंतर प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार का वास्तविक प्रेम बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता, न ही वह उनके कारण उत्पन्न होता है। इसकी जड़ें हमारे हृदय में होती हैं, जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराती रहती हैं। यह हमें सचेत करता रहता है कि हम इस महान् एवं पवित्र मातृभूमि से संबंधित है, इसकी कृतज्ञता का हमारे ऊपर बड़ा ऋण है और हमारी प्रत्येक कृति इसके कार्य हेतु समर्पित होनी चाहिए।

हिंदुत्व, जो हमारा प्रधान अवलंब है, इस प्रवित्र एवं सर्वग्राही प्रेम का पोषण करता है तथा प्रतिक्रिया की भावना से सर्वथा मुक्त है। संघ के हम लोग, जो इस परंपरा में जन्मे तथा पले हैं, केवल अपना कर्तव्य करते हैं। हम प्रतिक्रिया नहीं करते। वास्तव में क्षुद्र एवं भौतिक वस्तुओं की ही ऐसी प्रकृति होती है कि वे क्षणिक गर्मी या सर्दी के प्रति प्रबल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती हैं, परंतु स्वस्थ प्राणी मौसम के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते। वे अपना एक स्थिर तापक्रम बनाए रखते हैं, जिसको मौसम के उग्र परिवर्तन भी बदल नहीं सकते। होता यह है कि जब कभी उनके शरीर प्राकृतिक तापक्रम को बनाए नहीं रख सकते, तब वे निर्जीव होकर गिर पड़ते हैं। इसलिए हम अपने मन:चक्षु के सम्मुख संगठित समाज की कल्पना सदैव बनाए रखते हैं, जो बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तनों के कारण अपने निर्धारित मार्ग से इधर-उधर नहीं होती।

स्वप्न साकार करना

संघ अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रति इस अप्रतिक्रियात्मक, भावात्मक तथा स्थायी श्रद्धा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित है, इसीलिए वह बाह्य वायुमंडल में होते रहने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रहकर शांतिपूर्वक तथा स्थिर गति से उत्तरोत्तर शक्तिमान होता जा रहा है। अपने सामाजिक जीवन की एक नित्य, शक्तिमान तथा वैभवशाली अवस्था की यह कल्पना ही एक स्वयंसेवक के लिए संघकार्य को स्वार्थ की लेश-मात्र भावना से भी रहित जीवन-कार्य के रूप में अपनाने के लिए प्रेरणा के शाश्वत स्रोत का कार्य करती है। वास्तव में स्वयंसेवक को संघ के दैनंदिन कार्य में हर्ष तथा प्रेरणा का स्फुरण अनुभव होता है। वह अपने स्वप्नों की कल्पना को स्वल्प रूप में ही क्यों न हो, वास्तविकता में चरितार्थ होते देखता है। उसे जीवन-कार्य की पूर्ति के लिए और अधिक प्रयत्नशील होने की प्रेरणा मिलती है।

संघकार्य का यह अनोखा लक्षण है, जिसमें 'साधन' और 'साध्य' एकरूप हो जाते हैं। सुसंगठित समाज के निर्माण का हमारा 'साध्य' व्यक्तियों को एकत्रित करने तथा संगठित जीवन के लिए उन्हें संस्कारित करने के प्रत्यक्ष कार्य, अर्थात 'साधन' द्वारा धीरे-धीरे दिन-प्रतिदिन साकार होता जा रहा है। भक्तों के संबंध में हमारे शास्त्रों ने जो उपदेश दिए हैं, यह बात ठीक उसके अनुकूल है। एक भक्त के लिए भक्ति 'साधन' और 'साध्य' दोनों हैं- 'स्वयंफलरूपता'। इसी प्रकार हमारा संगठन-कार्य, जो समाज के प्रति आत्यंतिक भक्ति के कारण उत्पन्न होता है, स्वप्रेरित तथा स्व-आधारित है। अपने स्वीकृत ध्येयपथ पर हमारी पूर्ण एकाग्रता, जो कि शाश्वत शक्तिशाली, आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन के मूलाधार रूप सिद्धांतों के परिपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न होती है, ने ही हमारे इस संगठन को सतत विकासशील और अजेय बनाया है।

एक विरोधी उदाहरण

अब इसके विपरीत एक उदाहरण लें, जो इस दृष्टिकोण को अधिक अच्छी प्रकार से समझने में सहायक हो सकता है। यह एक ऐसे संगठन का उदाहरण है, जिसने अपने समक्ष एक अस्थायी उद्देश्य रखा था। इंडियन नेशनल कांग्रेस, जो आज देश में सबसे पुराना राजनीतिक दल है, ने अपने सामने अंग्रेजों को भारत से निकालने का उद्देश्य रखा था। अब क्योंकि अंग्रेज चले गए हैं, कांग्रेस का उद्देश्य पूरा हो गया है। यथार्थ में इसी कारण महात्मा गांधी जी, जो इस संस्था के लगभग २५ वर्ष तक मुख्य आश्रय-दाता रहे तथा जिनको इसकी कार्य-पद्धति का पूर्ण ज्ञान था, ने अंग्रेजों के चले जाने के तुरंत बाद ही कांग्रेस को भंग कर देने का परामर्श दिया था।

परंतु जैसा हम जानते हैं, मनुष्य को नाम और रूप से लगाव हो जाता है। इसीलिए उनके बहुत से अनुयाइयों को कांग्रेस भंग कर देने का विचार रुचिकर नहीं लगा। कदाचित् राजनीतिक सत्ता का स्वाद भी अपने नेता की आंतरिक इच्छा को झुठला कर, उसी नाम और रूप के साथ चिपके रहने का एक कारण रहा होगा।

परिणाम यह है कि प्राप्ति के लिए कोई भावात्मक लक्ष्य सामने न होने के कारण वह अत्यल्पकाल में ही उन सब आदर्शों से दूर तथा पतित हो गई है, जिनकी घोषणा उसने अंग्रेजों के साथ संघर्ष के समय ही थी। सत्य, अहिंसा, चारित्र्य, देशभक्ति आदि सभी सिद्धांत हवा में विलीन हो गए हैं। यद्यपि घोष वाक्य वही हैं, लेकिन उनका सार पूर्णतया अदृश्य हो गया है।

ऊपर से सच्चाई का ढोंग करते हुए निरा झूठ बड़े ठाठ-बाट के साथ स्वेच्छापूर्वक चल रहा है, उनकी स्वीकारोक्ति के अनुसार सरकार को सन् १९५४ से ही अपनी उत्तरी सीमाओं पर चीनी आक्रमण की जानकारी थी, परंतु उन्होंने वास्तविकता को दबाया तथा उसको अस्वीकार किया और जिन्होंने इसकी चर्चा की, उनकज्ञा उपहास किया। वे देश के सामने 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का आकर्षक चित्र खींचते रहे। क्या यह मिथ्याचार की पराकाष्ठा नहीं है?

जहां तक अहिंसा का संबंध है, निस्संदेह हमारे नेता समस्त संसार को शांति और अहिंसा का उपदेश देते हैं, परंतु स्वदेश में जिनको वे अपना राजनीतिक विरोधी समझते हैं, ऐसे देशवासियों पर अंग्रेजी शासनकाल से भी अधिक गिरफ्तारियां, लाठीचार्ज तथा गोली-वर्षा करते हुए हिंसा कर रहे हैं और जहां तक वाणी द्वारा हिंसा की बात है, इसकी ताक कोई सीमा ही प्रतीत नहीं होती। पं. जवाहरलाल नेहरू ने एक समय देश के सभी राजनीतिक नेताओं से अपनी आलोचनाओं में संयत रहने के लिए सार्वजनिक प्रार्थना की थी और उन्होंने ही उन लोगों, जो उनके राजनीतिक विचारों से भिन्नता रखते थे, की 'गद्दार' कहकर भर्त्सना की थी।

चरित्र की अवनति तो आजकल सामान्य बात बन गई है। भ्रष्टाचार तथा पक्षपात व्यापक हो गए हैं। विभिन्न विभागों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक पृथक् विभाग खोला गया है। किंतु यह अनुभव किया गया कि स्वयं उस भ्रष्टाचार-विरोधी विभाग में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक अन्य विभाग की आवश्यकता है। इस प्रकार यह सब ऐसा ही चलता रहेगा। मेरे एक परिचित व्यक्ति, जो कभी एक बड़े कांग्रेसी कार्यकर्ता थे, मुझसे मिलने आए। वे दुःख प्रकट करने लगे कि चोरबाजारी, तस्करी, भ्रष्टाचार आदि रोकने के लिए इतने अधिक विभाग बनाए रखने के लिए सरकारी धन का अत्यधिक अपव्यय हो रहा है। उन्होंने सुझाव दियाकि इन

बुराइयों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों का सुधार करने का कार्य संघ को ले लेना चाहिए। मैंने उनसे कहा, 'मैं आपके सुझाव का स्वागत करता हूँ। परंतु क्या आप यह बताएंगे कि मैं किससे आरंभ करूं?' मैंने जो कुछ कहा उसे वे भी समझ गए, क्योंकि वे अच्छी प्रकार जानते थे कि उच्चतम व्यक्तियों की नसों में भी यह दोष प्रवेश कर गया है।

नया पागलपन

अब हम देशभक्ति एवं स्वार्थत्याग की उन उदात्त कल्पनाओं की वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं, जिन्होंने अंग्रेज-विरोधी आंदोलन के दिनों में अपने नेताओं को प्रोत्साहित किया था, तो हमें ज्ञात होता है कि उनके अर्थ ही सर्वथा बदल गए हैं। मातृ-भूमि की अखंडता अब उनके लिए सजीव कल्पना नहीं रह गई है। श्रेष्ठ नेताओं ने भी देश को खंडित करने के उद्देश्य से चलाए गए आंदोलनों को आशीर्वाद एवं प्रोत्साहन देना प्रारंभ कर दिया है। श्री सी. राजगोपालाचारी ने सन् १९६५ में जिसको वे तमिलनाडु पर 'हिंदी का थोपना' कहते हैं, कहा है कि इसकी तुलना में वे देश का विभाजन अधिक पसंद करेंगे। त्याग के भाव के स्थान पर पुराने त्यागों का पारिश्रमिक बटोरने की भावना ने घर कर लिया है। सच्चा त्याग कहीं दिखाई नहीं पड़ता। सब ओर त्याग का दिखावा मात्र दृष्टिगोचर हो रहा है। यह तो एक पंडित की कहानी जैसी बात हो गई, जो सत्यनारायण की कथा कहने के बाद पूजा में से एक हीरा चुराकर चलता बना, किंतु दिखावे के लिए धागे का एक टुकड़ा देने पूरा रास्ता वापस चलकर पुनः उस घर में आया और घर के लोगों परअपनी ईमानदारी की छाप बैठा गया।

त्याग की वास्तविक भावना से रहित दिखावे की इस प्रवृत्ति ने हमारी सभी बड़ी योजनाओं को एक मजाक बना दिया है। नाम और ख्याति की इच्छा को सेवा समझा जा रहा है। एक मजेदार उदाहरण है। कुछ वर्ष पूर्व गंगा नदी में बाढ़ आई थी, जिससे काशी का कुछ भाग जलमग्न हो गया। एक मंत्री, जो प्रसंगवश उस समय वहां थे, ने प्रभावित क्षेत्रों को देखने का विचार किया और बाढ़ के पानी के किनारे तक कार में गए। वहां इन्होंने अपने सचिव से पूछा कि फोटोग्राफर कहां है? परंतु वह 'महत्वपूर्ण व्यवस्था' किसी प्रकार नहीं हो पाई थी। कार फोटोग्राफर को लाने के लिए वापस भेजी गई। जब वह आ गया और 'बाढ़-सहायता कार्य' के नाटक के लिए घुटनों तक पानी में खड़े हुए मंत्री जी के दो-एक छाया-चित्र खींच लिए, उसके बाद वे सब बाढ़-पीड़ितों के लिए अपना अधिकतम योगदान करने का संतोष अर्जित कर प्रसन्नतापूर्वक कार में लौट आए।

अस्थिर श्रद्धाएं

वे व्यक्ति, जो किसी समय राष्ट्र के लिए समर्पण की बातें कहा करते थे, अब स्वयं के बड़प्पन की छाया के पीछे दौड़े जा रहे हैं। आत्मसमर्पण का स्थान आत्मअहंकार ने ले लिया है। उनके विचार, शब्द और कार्य सभी अहं-केंद्रित हो गए हैं। कुछ वर्ष पूर्व पंडित नेहरू नागा-पर्वतीय क्षेत्रों के प्रवास पर गए थे। कुछ लोग पृथक स्वतंत्र राज्य की मांग के लिए उन्हें सार्वजनिक सभा में एक स्मृति-पत्र देना चाहते थे, परंतु स्थानीय अधिकारियों ने इसकी अनुमति नहीं दी। विरोधस्वरूप ३००० नागा एक साथ उठ खड़े हुए और जैसे ही पंडित नेहरू भाषण देने वाले थे, वे सभा छोड़कर चले गए। पंडित नेहरू ने इसे निजी अपमान समझा और कहना आरंभ किया कि विदेशी ईसाई मिशनरी इस देश में दूषित राष्ट्रविरोधी षड्यंच रच रहे हैं। इसके पूर्व अब तक वे उनकी 'मानव-सेवा' की गतिवधियों की सब ओर प्रशंसा ही किया करते थे और जब कोई स्थानीय पादरी 'कार्डिनल' बन जाता था, तो इसे वे 'अपने देश का एक बड़ा सम्मान हुआ'-ऐसी घोषणा तक किया करते थे।

संपूर्ण राष्ट्र के लिए स्वार्थरहित निष्ठा का अति श्रेष्ठ तथा आग्रही भाव छोड़कर, इसके स्थान पर छोटे और निम्न-स्तर के उद्देश्यों ने अपने हृदय में घर कर लिया है। दल, भाषा, प्रदेश, संप्रदाय अथवा पंथ के साथ लगाव के बेमेल विरोधी स्वरों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन को चिथड़े-चिथड़े कर दिया है। दुर्भाग्य का विषय यह है कि वे 'उच्चस्तरीय नेता' ही हैं, जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए इस प्रकार की सभी विशृंखलकारी युक्तियां अपनाने में अग्रगण्य रहते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के लिए स्थापित विशेषज्ञ समिति ने यह कहकर कि जिस ढंग से योजना का स्वरूप निर्धारित किया गया है, वह एक प्रकार से उनके सुविचारित मतों के विरुद्ध उन पर राजनीतिक दबाव डालकर उनसे कराया गया है, योजना के पीछे छिपे असली निहित उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।

निरुद्देश्य गति

इस प्रकार हमारा समाज प्रगति की ऊंची बातों के नाम पर लक्ष्यहीन बहता जा रहा है। हम नहीं जानते कि हम कहां जा रहे हैं? क्या आज कोई ऐसी चीज है, जिसे हम अपने राष्ट्रीय जीवन के स्वत्व के रूप में इंगित कर सकते हैं? जीवन की हमारी पद्धति, शिक्षण की हमारी विधि, व्यवहार की हमारी रीति, वेश-भूषा का हमारा प्रकार, मकान, कस्बे तथा नगर-निर्माण के हमारे ढंग तथा हमारी राष्ट्रीय प्रकृति के ऐसे सभी तत्त्वों में इतना भयानक परिवर्तन आ गया है कि हम एक क्षण के

लिए भी यह सोचने हेतु नहीं रुकते कि क्या दूसरों का यह निम्न-स्तर का अनुकरण हमारे राष्ट्र के स्वाभिमान को चोट पहुंचा रहा है, जो हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को गंवा बैठने तथा बौद्धिक दासता में बँधते चले जाने का सुनिश्चित लक्षण है।

हमारे नेताओं ने हमारे राष्ट्र के लिए एक नया ध्वज निर्धारित किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया ? यह प्रवाहपतिता तथा परानुकरणता का एकस्पष्ट प्रमाण है। इस ध्वज का निर्माण कैसे हुआ ? फ्रांसीसी क्रांति के समय फ्रांस ने अपने ध्वज पर 'समता', 'भ्रातृत्व' तथा 'स्वातंत्र्य' इन त्रिरूप कल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने झंडे पर तीन पट्टियां बनाई थीं। इसी प्रकार के सिद्धांतों से प्रेरित अमेरिकी क्रांति ने भी कुछ परिवर्तनों के साथ इसको अपना लिया। इसलिए हमारे स्वातंत्र्य-सेनानियों केलिए इन तीन पट्टियों का विशेष आकर्षण था। अत: कांग्रेस नेइसे अपना लिया। फिर इसे विभिन्न जातियों की एकता का स्वरूप प्रकट करने का अर्थ प्रदान किया गया कि भगवा रंग हिंदुओं का प्रतीक है, हरा मुसलमानों का तथा सफेद अन्य सभी जातियों का। अहिंदू जातियों में मुसलमानों को विशेष स्थान इसलिए दिया गया, क्योंकि उन प्रख्यात नेताओं के मस्तिष्कों में मुसलमान ने विशेष स्थान बना लिया लिया था और उसका नाम लिये बिना उनके विचार में हमारी राष्ट्रीयता पूर्ण नहीं होती थी। जब कुछ लोगों ने कहा कि इससे तो कुछ सांप्रदायिक दृष्टिकोण की गंध आती है, तो एक नया स्पष्टीकरण सामने लाया गया कि 'भगवा' त्याग का प्रतीक है, 'सफेद' पवित्रता का और 'हरा' शांति का। इन सब व्याख्याताओं पर उन दिनों कांग्रेस कमेटियों में वाद-विवाद हुआ। कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण है? यह तो केवल एक राजनीतिज्ञ की जोड़-जाड़ थी, केवल राजनीतिक कामचलाऊ तात्कालिक उपाय था। यह किसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अथवा राष्ट्रीय इतिहास तथा परंपरा पर आधारित किसी सत्य से प्रेरित नहीं था। वही ध्वज आज कुछ छोटे से परिवर्तनों के साथ राज्य-ध्वज के रूप में अपना लिया गया है। हमारा एक प्राचीन तथा महान् राष्ट्र है, जिसका एक गौरवशाली इतिहास है। तब क्या हमारा अपना कोई ध्वज नहीं था? क्या इन सहस्रों वर्षों में हमारा कोई राष्ट्रीय चिह्न नहीं था? निस्संदेह, वह था। तब हमारे दिमागों में यह शून्यतापूर्ण रिक्तता क्यों ?

हमारा संविधान भी पश्चिमी देशों के विभिन्न संविधानों में से लिए गए विभिन्न अनुच्छेदों का एक भारी-भरकम तथा बेमेल अंशों का संग्रह मात्र है। उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसको हम अपना कह सकें। उसके निर्देशक सिद्धांतों में क्या एक भी शब्द इस संदर्भ में दिया है कि हमारा राष्ट्रीय-जीवनोद्देश्य तथा हमारे जीवन का मूल स्वर क्या है? राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र से अथवा पुराने लीग ऑफ नेशन्स के घोषणापत्र से कुछ अपूर्ण सिद्धांतों और कुछ अमेरीकी एवं ब्रिटिश संविधानों की विशेषताओं के कुछ

अंशों को एक-साथ मिलाकर एक खिचड़ी मात्र बना दी गई है। थियोड्र शे ने 'द लीगेसी ऑफ लोकमान्य' (लोकमान्य की देन) नामक पुस्तक में लिखा है- 'आश्चर्य है कि स्वराज्य, धर्मराज्य, तथा जीवन के लक्ष्य के साथ राज्य के लक्ष्य के संयोग जैसी कल्पनाएं संविधान की भूमिका में देखने को नहीं मिलतीं। दूसरे शब्दों में, भारतीय संविधान में भारतीय आदर्शों अथवा राजनीतिक दर्शन की कोई झलक नहीं है।'

हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक चुनाव के पूर्व अथवा प्रत्येक वर्ष ही अनेकों नारों की रचना की जाती है, जो ऐसी विदेशी कल्पनाओं में से चुने जाते हैं, जो बहुत पहले ही असत्य सिद्ध हो चुके हैं। वे कहते हैं कि अब हम 'समाजवाद के सिद्धांत' के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आजकल कांग्रेसी नेता की 'हां' में 'हां' मिलाने तथा यूरोपीय विचारों की गुलामी की इतनी अधिक भावना है कि एक अदना-सा कांग्रेसी कार्यकर्ता भी 'समाजवाद', 'समाज का समाजवादी ढांचा', 'लोकतांत्रिक समाजवाद' और इसी प्रकार के शब्दों को इस हद तक दोहराता है और दावा करता है, मानो सन् १८८५ से ही कांग्रेस की यही सुनिर्धारित नीति चलती आ रही हो।

कभी हम अमेरीका की ओर बह जाते हैं और की रूस की ओर। यह सब हमें नैतिक तथा बौद्धिक विनाश के अतिरिक्त और कहां ले जाएंगा? हम इसलिए बहते चले जा रहे हैं, क्योंकि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं। जिन्होंने अपने आधारस्तंभ को ही खो दिया है, उनको बहना ही पड़ेगा। एक वृक्ष, जो जड़ से उखड़ गया है तथा बाढ़ के प्रवाह में आ गया है, जल की प्रत्येक धारा द्वारा इधर से उधर फेंक दिया जाता है। हमारा संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन अपना जड़मूल ही खो बैठा है और इसलिए बहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। बहने का अर्थ होता है ऊंचे स्तर से निचले स्तर की ओर जाना और अंतत: अथाह सागर में डूब जाना। इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में ही हम आजकल अपने आपको खड़ा पाते हैं।

इतिहास की शिक्षा

इस पतन को रोकने का केवलएक उपाय है और वह है स्वयं में इस चेतना का पुनर्जागरण कि हमारा अपना भावात्मक आधार है। हमारी अपनी जड़ें हैं, जो हमारे राष्ट्रीय आदर्शों एवं आकांक्षाओं की कथा, इतिहास एवं परंपरा की धरती में गहरी बैठी हुई हैं। संघ का सदृश संगठन का भावात्मक एवं जीवमान निर्माण ही अपने समस्त समाज को प्रेममय एवं शाश्वत भ्रातृत्व में समेटने और उनको राष्ट्रीय भवितव्य के प्रति अत्यंत सचेत करने में समर्थ होकर लक्ष्यहीनता से उत्पन्न स्वार्थपरता, मतभेद तथा भद्दे अनुकरण की वर्तमान दुर्गंध को सफलतापूर्वक रोक सकता है।

अत: हम प्रामाणिकता के साथ कह सकते हैं कि संघ की आवश्यकता, जिस समय यह प्रारंभ किया गया था, उस समय से कहीं अधिक आज अनुभव की जा सकती है। वर्तमान अवस्था में किसी प्रकार की संतोष-भावना उचित नहीं है। देश के अंदर तथा बाहर की परिस्थितियां विस्फोटक हैं। हम सुना करते हैं कि सतत जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है। कम से कम अब हमें अपने इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए। पृथ्वीराज, जो पहले कई बार मोहम्मद गोरी के काफिलों को खदेड़ सका था, उस समय परास्त हो गया, जब वह देहली के द्वार पर शत्रु के पहुंच जाने पर भी अपनी नवविवाहिता पत्नी संयोगिता के साथ आमोद-प्रमोद में डूबा रहा।

खतरे का संकेत

क्या हम प्रामाणिकता के साथ कह सकते हैं कि हमारा राष्ट्र इतना प्रबल इच्छा शक्तिसंपन्न तथा सुसंगठित हो गया है कि हम अपने स्वतंत्र एवं समृद्धिशाली अस्तित्व के प्रति आने वाली आपत्तियों का विश्वास के साथ सामना कर सकते हैं? क्या हम अपने युवकों के नेत्रों में पौरुष एवं आदर्शवाद की चमक देख सकते हैं? इसके विपरीत हम अपने युवकों को विदेशी फैशनों की भद्दी नकल करते हुए तथा इंद्रिय विषयोपभोग में लिप्त देखते हैं। एक बार मुझे कांग्रेस द्वारा संचालित शारीरिक शिक्षण का शिविर देखने का अवसर मिला। लड़के तथा लड़कियां दोनों ही कार्यक्रमों में भाग ले रहे थे। मैंने शिविर के आयोजक से पूछा-'क्या यह अच्छा नहीं होता कि यहां लड़कियां नहीं बुलाई जातीं।' उसने निष्कपट भाव से स्वीकार किया कि उस अवस्था में बहुत कम युवक वहां आए होते। लखनऊ में एक युवक सम्मेलन आयोजित किया गया था। वहां अपने मित्रों से उस सम्मेलन का आंखों-देखा विवरण सुनने पर मैंने अनुभव किया कि उस सम्मेलन का कोई शैक्षणिक महत्त्व नहीं था, बल्कि वह भयानक अनैतिकता फैलाने का एक अपवित्र केंद्र मात्र था।

कोई भी राष्ट्र अपने युवकों के ऐंद्रिय विषयों तथा क्लीवता में लिप्त हो जाने पर जीवित रहने की आशा नहीं कर सकता है। यह क्षय तथा विनाश का निश्चित लक्षण है, भले ही कुछ काल विशेष के लिए राष्ट्र कितना भी समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली हो जाए। एक बार एक अमेरीकी संवाददाता यह जानने के लिए मुझसे मिलने आया कि अमेरिका तथा रूस की वर्तमान खींचा-तानी में अपने संघ की सहानुभूति किस ओर है। परंतु हम तो अपने पैरों पर दृढ़ खड़े रहते हैं, अपने आपको किसी भी ओर खिंचने नहीं देते। उसने पूछा-'आपकी आजकल के अमेरिका के बारे में क्या राय है?' मैंने उत्तर दिया-अमेरीका बड़ी तेजी के साथ आत्मविनाश के मार्ग पर जा रहा है। आप जरा

अपने वस्त्रों को देखें। आप एक ढीला-ढाला फैशनेबल वेष पहने हुए हैं। आपकी जेब में जो कंघा है, वह आजकल के सामान्य अमेरिकी की स्त्रैण प्रकृति का परिचायक है। प्रथम विश्वयुद्ध में 'मित्र सेनाओं' का सर्वोच्च सेनाधिकारी एक फ्रांसीसी मार्शल फोश था। उस समय उस राष्ट्र की इतनी पराक्रमयुक्त स्थिति थी कि उन्होंने विकट निश्चय के साथ जर्मनी से मोर्चा लिया और अंततः युद्ध में विजय प्राप्त की। उन्होंने जर्मनी का एक बड़ा हिस्सा भी अपने अधिकार में ले लिया। परंतु विजय के पश्चात् फ्रांसीसी लोग इंद्रियलोलुपता तथा सुखोपभोग के शिकार हो गए। वे मद्यपान, नाच-गाने में लिप्त हो गए, जिसके फलस्वरूप अपने विशाल सैनिक संगठन तथा अपनी भीषण 'मेजीनो रेखा' के होते हुए भी द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन आक्रमण के १५ दिन के अंदर ही फ्रांस का पतन हो गया और फ्रांस के आकस्मिक तथा पूर्ण पुरुषत्व की शक्ति को उखाड़ फेंका गया। युद्ध के पश्चात् वृद्ध फ्रांसीसी जनरल मार्शल पेतां ने कहा- 'फ्रांस की पराजय युद्ध-क्षेत्र में नहीं, बल्कि पेरिस के नृत्य-गृहों में हुई।' मैं प्रामाणिकतापूर्वक आशा करता हूं कि अमेरीका समय रहते जाग उठेगा और अपने तरुण पुरुषत्व के इस आंतरिक क्षय को रोकेगा।

हमारे देश में भी परिस्थिति भिन्न नहीं है। तरुण पुरुषों का आधुनिक फैशन बना है- अधिकाधिक स्त्रैण रूप में दिखाई पड़ना। वेष में, स्वभाव में, साहित्य में और अपने दैनिंदिन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'आधुनिकता' का अर्थ हो गया है 'स्त्रैणता'। 'यौन' हमारे सभी 'आधुनिक' साहित्य का एक सर्वव्यापी विषय-विशेष हो गया है। संसार-भर के देशों के इतिहास ने बार-बार यह प्रकट किया है कि यौन-प्रभावित साहित्य ने ही राष्ट्रों तथा सभ्यताओं के विनाश की निश्चित भूमिका तैयार की है।

यह है, संक्षेप में 'स्वातंत्र्य' काल में हमारे राष्ट्रीय जीवन का आंतरिक चित्र। यह खतरे का संकेत है, जिसके प्रति हम दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते। इन परिस्थितियों में केवल संघ ही एक ऐसा संगठन है, जिसने अपने समाज को एक ऐसे शुद्ध, पवित्र, कल्याणकारी तथा संगठित जीवन में सूत्रबद्ध करने का निश्चय किया हुआ है, जो त्याग एवं पराक्रम की भावना से युक्त हो और जो हमारे प्राचीन तथा गौरवशाली राष्ट्रत्व की भावात्मक तथा स्थायी नींव पर आधारित हो। अपने राष्ट्र की रक्षा तथा पुनर्निर्माण के लिए ऐसे ही संगठन का आसरा लिया जा सकता है और यही है आह्वान अभी तक अपूर्ण इस कार्योद्देश्य का, जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निरंतर विकसित होते हुए तथा निरंतर बढ़ते हुए कार्य के पीछे की प्रेरक शक्ति है।

❑❑❑

२०

आधार-तत्वों का पोषण**

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षा का केंद्र-बिंदु शिक्षक है। अत: यह उचित ही है कि हम इस संदर्भ में कुछ मूलभूत बिंदुओं पर संक्षेप में विचार करें।

हमारी मौलिक अवधारणा

प्रारंभ यही से करें कि आधुनिक संदर्भ में 'शिक्षा' का अर्थ-संकेत क्या है? यह मानव की अंतर्निहित क्षमताओं का प्रकटीकरण है। सूचनाओं का मस्तिष्क में ठूंसना-भर शिक्षा नहीं है। इसका लक्ष्य मानव-मस्तिष्क को कबाड़ी का गोदाम बनाना नहीं है। शिक्षा को सर्वत्र मानव में निहित विविध प्रतिभाओं तथा क्षमताओं की पहचान एवं प्रकटीकरण के आधार-स्तंभ के रूप में ग्रहण किया गया है और इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम भी सामने आए हैं। कला और विज्ञान के विविध क्षेत्रों में महान उपलब्धियों से अलंकृत व्यक्ति तो अन्य अनेक देशों में भी विद्यमान हैं, परंतु हम हिंदू और भी आगे गए हैं। हमारे लिए शिक्षा का सार है व्यक्ति के अंत: व्यक्तित्व का प्रकटीकरण अथवा प्रस्फुटीकरण। जीवन मनोविकारों का पुंज मात्र नहीं है। हमारी मान्यता है कि हमारे भीतर चरम सत्य विद्यमान है। उसी परम सत्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति हमारी शिक्षाप्रणाली का मूल उद्देश्य है। हमारे महान् संतों तथा तपस्वियों ने उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया के संबंध में विस्तृत दिशा-निर्देश दिए हैं, जिन्हें कार्यान्वित करने में शिक्षक की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

ज्ञानकोष का उपयोग करें

शिक्षक का प्रथम कार्य 'यम व नियम' के दस सिद्धांतों को विद्यार्थी के मन में बैठाना है। यम है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्र। पांच नियम हैं- शौच, संतोष,

---

** (शिक्षकों को संबोधित)

तप, स्वाध्याय तथा ईश-प्राणिधान (ईश्वर के प्रति स्वकर्मार्पण)। वास्तव में बाइबिल में वर्णित 'दस आदेश' भी इन पांच नियमों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यदि कुछ विद्यार्थी ही इन यम-नियमों की भावना को आत्मसात कर लें, तो वे अत्यंत स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकते हैं, जिसका अनुसरण कालांतर में अन्य लोग भी करेंगे।

युवा हृदयों को, इन सिद्धांतों की रोचक ढंग से जानकारी कराना आवश्यक है। जब मैं माध्यमिक विद्यालय का छात्र था, तब हमारे एक अध्यापक निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त हमें पुराणों की कथाएं भी अत्यंत रोचक तथा शिक्षाप्रद ढंग से सुनाते थे। मैंने अपने माताजी से भी बहुत कुछ सीखा है। वे 'पढ़ी-लिखी' महिला नहीं थी, अत: मैं अपना धार्मिक साहित्य, यथा-महाभारत, रामायण पढ़कर उन्हें सुनाया करता था और स्वाभाविक रूप से उससे स्वयं भी लाभान्वित होता था।

ऐसी ही कथाएं सदियों से एक राष्ट्र के रूप में हमारी परंपराओं तथा चरित्र का निर्माण करती रही है। वे शिक्षा का असीम भंडार हैं। उदाहरणार्थ- जाबालि की एक कथा है। वह बालक हर परिस्थिति में सत्य पर डटा रहता था। जब उसने एक आचार्य से उसे अपना शिष्य बना लेने का निवेदन किया, तो उन्होंने उसका गोत्र जानना चाहा। बालक ने घर आकर अपनी माँ जाबाला से आचार्य के प्रश्न का उत्तर पूछा। माँ ने कहा- 'सुनो, जब मैं एक व्यक्ति के घर में नौकरानी के रूप में कार्य कर रही थी, तभी तुम मेरे गर्भ में आए थे। अत: मुझे स्मरण नहीं कि तेरे पिता कौन थे। अपने आचार्य को यही बात बता देना।' बालक वापस गया और अपनी माता का उत्तर अक्षरश: अपने आचार्य को कह सुनाया। आचार्य ने कहा- 'तुम शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो, क्योंकि तुममें चरित्र की ऋजुता और सत्य बताने का साहस है।' इसके बाद ही वह बालक 'सत्यकाम जाबालि' कहलाने लगा।

विकृति की शुद्धि कीजिए

आज हममें से अधिकांश लोग ऐसे बहुमूल्य दृष्टांतों और रूपकों के कोष का विस्मरण कर चुके हैं। हमारे अधिकांश नवयुवक यह भी नहीं जानते कि जीवन के सभी पहलुओं के उत्कृष्ट ज्ञान से समृद्ध हमारा कोई प्राचीन इतिहास भी है। आश्चर्य नहीं कि शिक्षा में सकारात्मक एवं स्वस्थ विषय-वस्तु के अभाव में हमारे विद्यार्थी अश्लील व असभ्य साहित्य पढ़ना अपनी अभिरुचि बना लेते हैं। उनकी अध्ययन-प्रणाली उनमें सीखने की इच्छा व गहन प्रयास के अभाव को व्यक्त करती है। स्तरीय लेखकों की पाठ्यपुस्तकों एवं संदर्भ-साहित्य के पठन-पाठन को विदाई दे दी गई है। सरल गाइड व कुंजियों का प्रचलन हो गया है। निजी अध्यापन (ट्यूशन) भी विद्यार्थियों के लिए सफलता का दूसरा सरल उपाय बन गया लगता है। वस्तुत: अच्छे शिक्षक को इसे

अपने सामर्थ्य व कर्तव्यनिष्ठा का अपमान समझना चाहिए, यदि उसके विद्यार्थी को दूसरों से ट्यूशन पढ़ने की जरूरत पड़े। इन सभी संक्षिप्त-मार्गों का दुष्प्रभाव यह हो रहा है कि विद्यार्थियों में समझने की पहल, इच्छा शक्ति एवं क्षमता का निरंतर ह्रास हो रहा है। सामान्यत: यह भी देखा गया है कि ऐसी बातों को शिक्षक स्वयं ही प्रोत्साहित करते हैं। कतिपय शिक्षक तो विद्यार्थियों को ट्यूशन हेतु अपने पास आने के लिए धमकाते हैं। इससे छात्रों का उत्साह भी प्रभावित होता है। उनके मन में यह धारणा स्वत: उत्पन्न होगी कि अपने कर्तव्य को ईमानदारी से करने की आवश्यकता नहीं है। शेष सभी 'संक्षिप्त-मार्गों' के असफल होने पर नैतिकता का यही लोप 'अनैतिक मार्ग' द्वारा सफलता प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त करता है।

पूरे मन से हिंदू बनो

इन विकृतियों को उभरते ही समाप्त कर देना आवश्यक है। युवा हृदयों के मन-मस्तिष्क में महान गुणों का बीजारोपण प्रारंभिक विद्यार्थी जीवन से ही करना चाहिए। यह बीज हमारे पुरातन एवं अर्वाचीन साहित्य के असीम भंडार से प्राप्त होगा, जिसमें हमारे उत्कृष्ट राष्ट्रीय आदर्शों, महान शक्ति-पुत्रों और ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण रहता है। विशेष रूप से हमारे नवयुवकों में यह गौरवानुभूति होनी चाहिए कि वे ऋषि-मुनियों की महान परंपराओं में जन्मे हैं। यदि हम उनकी विरासत के अनुरूप सिद्ध होना चाहते हैं तो हमें हिंदू बनकर रहना होगा, हिंदू बनकर दिखाना होगा। हमें अपने हिंदुत्व की अनुभूति समस्त विश्व को करानी होगी। यह तभी होगा, जब हम स्वयं अपनी राष्ट्रीय परंपराओं एवं प्रथाओं का सम्मन करेंगे। तभी हम विश्व से समुचित सम्मान प्राप्त करने की आशा कर सकेंगे। वास्तव में विश्व हमें आदर्श हिंदू के रूप में देखना चाहता है, न कि पश्चिम की हू-ब-हू नकल के रूप में।

अपने प्रति सच्चे बनें

एक बार एक फ्रांसीसी को मैंने अपने यहां भोजन पर आमंत्रित किया। उसने प्रसन्नतापूर्वक हमारे साथ जमीन पर बैठकर हाथ से भोजन किया, जहां न चम्मच था, न कांटा और न मेज। उसने कहा कि मुझे बहुत आनंद की अनुभूति हुई और टिप्पणी की कि 'आपके पास आने पर हमें आपके रीति-रिवाजों, परंपराओं तथा व्यावहारिक विशेषताओं का अनुभव मिलना चाहिए, अन्यथा इतनी दूर से आपके देश में आने का औचित्य ही क्या है?'

एक बार अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने एक प्रकल्प चलाया। उसके अंतर्गत उत्तर-पूर्वांचल (नेफा) से कुछ विद्यार्थियों को शिक्षा-प्राप्ति के लिए महाराष्ट्र

के पुणे व अन्य स्थानों पर भेजा गया। योजना के अंतर्गत उन्हें विभिन्न परिवारों के साथ रहना था, ताकि वे हमारी संस्कृति को आत्मसात कर हमारी मातृभूमि व समाज से भावात्मक संबंध बना सकें। जब इस प्रकल्प के संयोजक मुझे मिले, तो मैंने उन विद्यार्थियों को पश्चिमी सभ्यता में डूबे हुए परिवारों में न ठहराने का परामर्श दिया। उनका निवास उन घरों में हो, जहां प्रात: और सायं-दोनों समय इष्टदेव के सम्मुख दीप जलाया जाता है, जहां हमारे पर्व व परंपराएं जीवंत हैं और जहां वे हमारी सांस्कृतिक मर्यादा को आत्मसात कर सकें। इन्हीं संस्कारों द्वारा इस विशाल भूमि पर बसे हमारे वृहत् समाज ने सारी उथल-पुथल के बीच भी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की पहचान को कायम रखा और स्वयं को एक अमर राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

बहुत पहले, सन् १८७२ में 'ऐडिनबरा रिव्यू' ने लिखा था कि 'हिंदू पृथ्वी पर सबसे पुरातन राष्ट्र है और यह संस्कृति एवं परिष्कार में अतुलनीय रहा है।' परंतु दुर्भाग्यवश ऐसी पुरातन व महान् जाति के पुत्र विदेशी कुप्रचार के शिकार बनकर अपने पुरातन इतिहास व धरोहर को भूल बैठे हैं। कोई भी समाज अपने अतीत से संबंध विच्छेद कर अपने उज्जवल भविष्य के निर्माण की आशा नहीं कर सकता।

मुख्य अवरोध

दिल्ली-प्रवास के दौरान एक बार श्री मोहम्मद करीम छागलासे भेंट हुई। उस समय वे केंद्रीय शिक्षा मंत्री थे। वे रूस के प्रवास से कुछ ही समय पूर्व लौटे थे। उन्होंने अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए बताया कि वहां के युवक जीवन के हर क्षेत्र में अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा से अनुप्राणित और अध्ययन के प्रति अति गंभीर लगते थे। उन्होंने जिज्ञासावश मुझसे पूछा, 'मुझे यह समझ में नहीं आता कि हमारे युवकों में क्या कमी है? क्यों वे हड़ताल, अनुशासनहीनता और उपद्रवों में संलग्न हैं? परंतु मुझे आभास होता है कि आपके संगठन में युवक अनुशासित एवं समर्पित हैं। क्या आप हमरे नवयुवकों की समस्या का कोई निदान प्रस्तुत कर सकते हैं?'

मैंने प्रति-प्रश्न किया- 'आपका कथन ठीक है, किंतु क्या आपने विद्यार्थियों के समक्ष कोई महान् आदर्श प्रस्तुत किया है? उन्होंने उत्तर दिया- 'मुझे स्वीकार कर लेना चाहिए कि नहीं किया है।' मैंने कहा- 'प्रेरणास्पद उत्तम आदर्श के अभाव मे हम छात्रों सेयह अपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि वे जीवन के मूल्यों के प्रति समर्पण तथा अनुशासन को आत्मसात कर लें। यही ऐसा उच्चादर्शवाद है, जिससे प्रेरित होकर वे अपने उग्र आवेग को संयमित कर अपनी उफनती ऊर्जा को राष्ट्र-निर्माण की रचनात्मक दिशा में मोड़ सकते हैं। इस राष्ट्रीय आदर्शवाद को हृदयंगम करने का कार्य विद्यालयों व महाविद्यालयों में हमारे

सत्य इतिहास के पाठन से प्रारंभ होगा। हमें अपने बच्चों को सिखाना होगा के जिस धरती पर वे जन्मे हैं, उसकी विरासत महान् है और उनके पूर्वजों ने भौतिक व आध्यात्मिक उपलब्धियों के उच्चतम मानदंड स्थापित किए हैं। तभी उन्हें इनसे भी उच्चतर आदर्शों को प्राप्त करने के पुरजोर प्रयास हेतु उत्साह से भरपूर किया जा सकेगा। किंतु हम इसके विपरीत अपने विद्यालयों में बिल्कुल उल्टी शिक्षा दे रहे हैं। हमारे इतिहास के सबसे गौरवशाली काल को 'अंधकार-युग' कहा जाता है। दासता के कालखंडों को महिमान्वित किया जाता है, पर हमारे स्वतंत्रता सेनानियों के प्रेरक योगदान को नहीं। हमारे इतिहास का अधिकांश भाग 'मुगल काल' और 'ब्रिटिश काल' है। यदि हमारे बच्चों को यही शिक्षा दी जाती है कि भूतकाल में हमारा कुछ महान् नहीं था, हम सदैव पराजित राष्ट्र रहे हैं, केवल मुगलों व अंग्रेजों के आगमन के बाद हमारे राष्ट्र का विकास हुआ है, अर्थात् हमारा अतीत किसी गर्व के योग्य नहीं है तथा हमारे पूर्वज किसी प्रतिस्पर्धा के योग्य नहीं थे, तो क्या हम उनसे किसी सार्थक वस्तु की अपेक्षा कर सकते हैं?'

'हां, यदि आप हिंदुओं की अतीतकालीन उपलब्धियों का, आक्रांताओं के विरुद्ध संघर्ष में उनके आत्म-बलिदानी उत्साह और वीरता का उल्लेख ओजस्वी रूप में करेंगे फिर आक्रांता ग्रीक, मुस्लिम अथवा अंग्रेज कोई भी हो, तो आप तुरंत 'सांप्रदायिक' घोषित कर दिए जाएंगे। यही है असली अड़चन और समस्या का मूल मर्म।' श्री छागला एक क्षण शांत रहे, फिर उन्होंने स्वीकार किया, 'हां, ऐसा ही है।'

विपर्यय

इस आत्म-धिक्कारमयी और मूर्ख बनाने वाली शिक्षा का परिणाम क्या है? कुछ वर्ष पूर्व कोई डॉ. चतुर्वेदी जर्मनी जाने वाले थे। उन्हें 'भारत-जर्मन परिषद्' ने आमंत्रित किया था। जैसे ही वे यूरोपीय वेष में हवाई अड्डे पर उतरे, वहां के लोग दंग रह गए। परंतु यह मानकर की ठंड से सुरक्षा के लिए ऐसा किया होगा, उन्होंने अपने मन को सांत्वना दी। वे उन्हें विशेष रूप से सजाई गई सड़कों से ले गए, जिसमें चारों और वेदों के नाम पर तोरणद्वार बने थे। वे एक 'चतुर्वेदी' थे, इसलिए स्वागतकर्ताओं की कल्पना थी कि वे वेदों के अच्छे जानकार होंगे। शुद्ध संस्कृत में उनका स्वागत किया गया। इसके बाद एक भाषण हुआ, वह भी संस्कृत में ही। 'विद्वान' डॉ. चतुर्वेदी ने अंग्रेजी में उत्तर देते हुए जो कुछ कहा, उसका स्वागत भाषण से कोई लेना-देना नहीं था। स्पष्ट है कि वेद-ज्ञान तो दूर, उन्हें संस्कृत का एक शब्द भी नहीं आता था। सारी पोल खुल चुकी थी। फलत: शिष्टाचार के विपरीत आगे के सभी कार्यक्रम रद्द करके उस 'महापंडित' को अगली उड़ान द्वारा वापस जाने के लिए कहा गया।

इसके विपरीत देखिए कि हमारे महापुरुषों ने किस प्रकार का आचरण किया है।

इसके विपरीत देखिए कि हमारे महापुरुषों ने किस प्रकार का आचरण किया है। जब स्वामी रामतीर्थ ने अमरीका के तट पर पदार्पण किया, तब सभी सहयोगी अपना सामान लेकर जाने की जल्दी में थे, परंतु यह भगवा वस्त्रधारी संन्यासी शांत व निश्चिंत होकर इस दृश्य का आनंद ले रहा था। बंदरगाह पर उपस्थित एक अमरीकी ने दौड़ते हुए पूछा 'आप कहां जाएंगे ?आपका सामान कहां है ? आपके पास कोई परिचय-पत्र है?' स्वामी रामतीर्थ ने कहा- 'मेरे पास न कोई सामान है और न ही धन। यहां तक कि परिचय-पत्र भी नहीं है।' उस व्यक्ति ने अति विस्मय से पूछा- 'तब आप विदेश में निर्वाह-व्यवस्था कैसे करेंगे ? क्या यहां आपका कोई मित्र-परिचित नहीं है?' इस पर स्वामी जी मुस्कुराए, स्नेहपूर्वक उस व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखकर पुलकित स्वर से कहा- 'हां, एक है, और वह तुम हो।' इस पर वह अमरीकी अत्यधिक भावुक हो गया और सचमुच में उनका उत्कट मित्र व प्रशंसक बन गया। अमेरिका प्रवास में उसने स्वामीजी के लिए उत्कृष्ट व्यवस्था की।

आधार को न भूलें

प्रेम व बुद्धिमत्ता की ऐसी गहराई शैशव से ही आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करने पर हो सकती है। इसके लिए प्रारंभिक प्राठशाला स्तर से ही उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना आवश्यक है। एक बार मैं नासिक के किसी विद्यालय में गया। वहां गलियारे की दीवार पर सैकड़ों चित्र लगे थे, परंतु वे सभी यूरोप व अन्य देशों के चित्रण करने वाले थे। हमारे इतिहास या महाकाव्यों से संबंधित एक भी चित्र नहीं था। मैंने प्रधानाध्यापक से पूछा, 'ये चित्र हमारी युवा पीढ़ी में उचित भावना का संचार कैसे करेंगे? इनमें हल्दीघाटी, पानीपत इत्यादि से युद्ध-चित्र क्यों नहीं है?' उसने उत्तर दिया-'हमारा दृष्टिकोणअपने देश की सीमाओं में ही बंधा तथा संकीर्ण नहीं होना चाहिए।'अंतर्राष्ट्रीयवाद और इसी प्रकार के अन्य नारे हमारे नवयुवकों के मानस पर सत्यानाशी प्रभाव डालेंगे।

राष्ट्रवाद के ठोस व सुदृढ़ आधार के बिना मानवता एवं अंतर्राष्ट्रीयवाद की बातें करना हमें किसी दीन का नहीं रखेंगी। जहां तक हमारे राष्ट्रीय दर्शन व धरोहर का प्रश्न है, उसने सदैव अपनी परिधि में सारी मनुष्य जाति के सर्वोच्च कल्याण को अंगीकार किया है। हमारे राष्ट्रवाद का उग्रतम रूप भी हमारे बच्चों को मानव-कल्याण के उच्चतम मूल्यों से विमुख नहीं करेगा, प्रत्युत् इन मानव-मूल्यों को सुदृढ़ ही करेगा।

ये हैं कतिपय सामान्य दिशा-संकेत, जिन्हें युवा हृदयों के शिक्षकों को ध्यान में रखना उपादेय रहेगा।

❑❑❑

२१
चुनौतियां अनेक

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य का श्रीगणेश हिंदू जन के संगठित तथा एकीभूत जीवन-रचना के एकमात्र उद्देश्य से हुआ है। निस्संदेह यह एक कठिन एवं श्रमसाध्य कार्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हमें पहले इसके मार्ग में आने वाले अवरोधों व समस्याओं की विवेचना करना आवश्यक है।

शर्म-संकोच क्यों?

सबसे पहली बात जो हमारी आंखों को खटकती है, वह यह है कि हममें से बहुत से हिंदू भाई, जिनमें शिक्षित और सदाशयी हिंदू भाई भी शामिल हैं, स्वयं को 'हिंदू' कहने में संकोच करते हैं। कुछ लोग स्वयं को हिंदू न पुकारने के समर्थन में आपात्रमणीय तर्क देते हैं। मुझे स्मरण है कि किसी ने स्वामी विवेकानंद को उद्धृत करते हुए कहा कि वे समाजवाद और संप्रदायनिरपेक्षता के सूत्रपात के लिए विश्वधर्म की बात करते थे। परंतु वास्तविकता यह है कि विवेकानंद साहित्य में ऐसे असंख्य अनुच्छेद आते हैं, जिनमें वह हमें हिंदू के रूप में गर्व से सिर ऊंचा करने का उद्बोधन देते हैं। उन्होंने हमारा आह्वान किया है कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर उद्घोष करो 'मैं हिंदू हूँ। महर्षि अरविंद ने कहा है कि सनातन धर्म ही हिंदू-राष्ट्र का सार है। अत: स्वयं को 'हिंदू' कहने में लज्जा का अनुभव इन महान् द्रष्टाओं व विचारकों की शिक्षा के सर्वथा प्रतिकूल है।

एक भ्रामक मिथक समाप्त

द्वितीय विषय है हिंदू-समाज का विभिन्न भागों व खंडों में विघटन। जाति, वर्ग, संप्रदाय और भाषागत आधार पर अनगिनत विभाजन हमारे सम्मुख पूर्ण विभाजन का निराशाजनक चित्र उपस्थित करते हैं।

आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व भाग को एकता का सबल सूत्र माना जाता था, परंतु अब यह मान्यता निर्मूल हो चली है। समान भाषा-भाषी लोग भी अलग होकर पृथक राज्य का गठन करना चाहते हैं। मराठी लोगों में यह प्रवृत्ति पहले ही विद्यमान थी। अब आंध्रप्रदेश में पृथक् तेलंगाना हेतु आंदोलन भी इस प्रकार का है।

आंध्रप्रदेश के गठन के दिन से ही तेलंगाना क्षेत्र में यह शिकायत प्रबल होती गई कि तटवर्ती आंध्रप्रदेश के लोग सभी सेवाओं एवं आर्थिक अवसरों पर अपना एकाधिकार कायम कर रहे हैं और 'भूमिपुत्रों' का निष्कासन हो रहा है। यह 'भूमिपुत्र' शब्द किस ओर संकेत करता है? इसका यही अर्थ है कि लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया है कि वे एक छोटे क्षेत्र की संतान हैं, संपूर्ण राष्ट्र की नहीं। यदि यह सब चलता रहा, तो प्रत्येक जनपद की आस्था का केंद्र बन जाएगा। आजकल तेलुगुभाषी लोग केंद्र पर दबाव डाल रहे हैं कि वर्तमान राज्य का विभाजन २-३ भागों में कर दिया जाए। यह विश्वास झूठा सिद्ध हो रहा है कि भाषा-परक राज्य समरस होते हैं।

एकमेव निदान

इस समस्या का एक ही निदान है कि साहसपूर्वक संविधान में उचित संशोधन करते हुए 'एकात्म शासन' की घोषणा की जाए। राष्ट्र एक है, जन एक है, अत: सरकार एवं विधायिका भी एक ही होनी चाहिए। प्रशासनिक सुविधानुसार देश को विभिन्न अंचलों में व्यवस्थित किया जाना चाहिए। ये अंचल कम या अधिक हो सकते हैं। इनकी संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं है। कार्यपालिका के अधिकारों का विभाजन हो सकता है, किंतु विधायिका एक ही होनी चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि लोकतंत्र की भावना की संतुष्टि के लिए अधिक प्रांतों एवं प्रांतीय विधायिकाओं का होना आवश्यक है। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि लोकतंत्र एवं बहु-विधायिका में क्या संबंध है? एक कंद्रीय विधायिका संपूर्ण देश की लोकतंत्रीय भावना को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

छोटी बुराई

तथापि आज जिस प्रकार की स्थिति है, इसमें जो लोग कर्णधार हैं, वे एकात्मक शासन अपनाने में सर्वथा असमर्थ दिखाई देते हैं। अत: यदि वर्तमान संघीय प्रणाली को जारी रखना है, तो यह अनिवार्य है कि इस हेतु सुनिश्चित सिद्धांतों को निर्धारित किया जाए और इसका पालन कठोरता से हो। यदि छोटी-छोटी इकाइयां भी हों और इनका इकमेव आधारभूत तत्त्व भाषा ही न हो, उनका भी स्वागत है। समग्र राष्ट्रहित को दृष्टिगत रखकर बहुभाषी राज्य या समान भाषावाले

एकाधिक राज्य गठित किए जा सकते हैं। छोटी इकाइयां सदैव अहितकर ही होंगी, यह आवश्यक नहीं है। निश्चितरूपेण अहितकर होते हुए भी पूर्व असम प्रांत को छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया गया। अंग्रेजों ने तथाकथित उत्तर-पूर्व सीमांत प्रदेश (नेफा) को शेष असम से पृथक् रखा था। हमारी सरकार भी इसी व्यवस्था को ढोए चली जा रही है। अब उसे नया नाम दिया गया है, जिससे इसके पृथक् अस्तित्व की पुष्टि हो गई है। इसके अतिरिक्त किसी दबाव में आकर अथवा किसी अन्य कारण से शिलांग को चारों ओर से मिलाकर मेघालय तथा मिजोरम की रचना भी की गई। आर्थिक दृष्टि से ये राज्य दिवालिया हैं। यह इनकी विवशता है, क्योंकि वहां की जनसंख्या ही इतनी कम है। असम को अनेक खंडों में विभाजित कर दिए जाने से इस सीमाक्षेत्र में हमारी स्थिति और भी दुर्बल हो गई है, जहां सन् १९६२ में चीनी अतिक्रमण के बाद से निरंतर उपद्रव की स्थिति बनी हुई है।

पीड़ादायक दृश्य

जिस-तिस कारण से हिंसक प्रदर्शनों एवं आंदोलनों के दृश्य कितने पीड़ादायक हैं। विभिन्न विघटनकारी शक्तियां कैसा विनाश ढा रही हैं। एक राष्ट्र से जुड़े होने का भाव लुप्तप्राय हो गया है। यह भावना चतुर्दिक फैल रही है कि दक्षिण के लोगों का उत्तर वालों से कोई साम्य नहीं है। रूडयार्ड किपलिंग ने लिखा था-पूर्व, पूर्व है और पश्चिम, सदैव पश्चिम, जो कभी नहीं मिलेंगे। वे दोनों अब सांस्कृतिक और वैज्ञानिक आधार पर मिल रहे हैं। परंतु हमारे अपने देश में, जहां हम सहस्त्रों वर्षों से एक रहे हैं, अब कहा जाता है 'दक्षिण, दक्षिण है और उत्तर, उत्तर है, इनका मिलना कभी नहीं हो सकता।' यह कैसा निदारुण दुर्भाग्य है।

बहुआयामी संकट

इन विघटनकारी शक्तियों के साथ ही भ्रष्टाचार की घातक बुराई भी सर्वत्र विद्यमान है। चरित्र का गंभीर संकट उत्पन्न हो गया है। हर कोई इसे जानता है और इसकी चर्चा करता है। वास्तव में भ्रष्टाचार की चर्चा इतनी व्यापक हो गई है कि उसने हमारी संवेदनशीलता को कुंद कर दिया है। अब हम इसे देखकर भी उद्वेलित नहीं होते, हमारी आत्मा जागृत नहीं होती।

जब किसी राष्ट्र के चरित्र का अध:पतन होता है, तो स्वतंत्र एवं स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में उसका अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाता है। आज हमारे देश की यही स्थिति है। हमारे कुछ उच्चपदस्थ नेता कहते हैं कि सी.आई.ए. (अमरीकी खुफिया

एजेंसी) हमारे राष्ट्रजीवन को छिन्न-भिन्न करने के प्रयास में संलग्न है। मान भी लें कि ऐसा है , तो भी चाहे अमरीकी हो अथवा रूसी, कोई भी संस्था हमारे लोगों का उसके हस्तक बने बिना हमारे देश में कैसे काम कर सकती है? या तो ऐसे लोग उनके वेतनभोगी हैं अथवा किसी न किसी तरह उनके प्रभाव में हैं।

मधुर विष का आनंद

प्रशंसा भी एक प्रभावकारी तत्त्व है। प्रशंसा के भी कई सूक्ष्म प्रकार हैं। पिछले दिनों प्रकाशित एक समाचार के अनुसार फ्रांस की नगर-नियोजन एवं शिल्पियों की किसी संस्था ने घोषणा की कि चंडीगढ़ विश्व का सर्वोत्तम शहर है। उसे संभवत: सम्मान का प्रमाण-पत्र भी दिया गया था, परंतु उतना ही कहा होता तो आपत्ति की बात नहीं थी। चूंकि फ्रांसीसी वास्तु-विशेषज्ञों व नगर-नियोजकों ने इसकी योजना बनाई थी, अत: उसे सर्वश्रेष्ठ कहना स्वाभाविक है। परंतु उसी सांस में यह कहना कि यह पं. नेहरू की दूरदर्शिता और गतिशील व्यक्तित्व का परिणाम है और ये गुण उनकी पुत्री एवं तत्कालीन प्रधानमंत्री में भी विद्यमान है। परंतु उसी सांस में यह कहना कि यह पं. नेहरू की दूरदर्शिता और गतिशील व्यक्तित्व का परिणाम है और ये गुण उनकी पुत्री एवं तत्कालीन प्रधानमंत्री में भी विद्यमान हैं, चाटुकारिता का कैसा सुंदर व मधुर ढंग है। हम आशा करते हैं कि हमारी प्रधानमंत्री चाटुकारिता से प्रभावित नहीं होंगी। यह किसी प्रशंसा व चाटुकारिता से अभिभूत न होने एवं दृढ़ और संतुलित मस्तिष्क रखने की हमारी महान परंपरा का प्रतीक होगा।

हमें आभास नहीं है कि दूसरों द्वारा और कितने प्रकार की चाटुकारिता से हमारे लोगों को प्रलोभित करने का प्रयास किया जा रहा है ? सामान्यत: मानव-मन दुर्बल होता है और यदि उच्च पदों पर आसीन लोग इस जाल में फंसते हैं, तो हम सबको इससे हानि होना सुनिश्चित है। चाटुकारिता से परास्त हो जाना भी चारित्रिक दृढ़ता में कमी का ही परिचायक है।

क्या इससे भी बढ़कर पतन की सीमा हो सकती है?

समय-समय पर देश में अनेक स्थानों पर अकाल-राहत कार्यक्रमों के संदर्भ में प्राप्त अनुभव चरित्र-पतन के निकृष्टतम उदाहरण हैं। बाढ़ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए सरकार एवं अन्य संस्थाओं द्वारा जुटाई गई सहायता प्रभावित व्यक्तियों तक सदैव नहीं पहुंचती। इन्हें अधिकांशत: मध्यस्थ लोग हड़प लेते हैं। पिछले दिनों पूर्व बंगाल में विस्थापितों के लिए औषधि, ऊनी वस्त्र एवं कंबलों के रूप में विदेशों से भी प्रचुर सहायता-सामग्री आई, परंतु इसका अधिकांश भाग शरणार्थियों तक पहुंचा ही नहीं ओर कोलकाता के बाजारों में बिल गया। प्रशासन ने ऐसे लोगों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की, जो अपने

विपदाग्रस्त भाइयों के कष्ट के मूल्य पर अपना घर भरने के घृणित व्यापार में लिप्त थे। अगर इस कांड की जांच की गई होती, तो संभव है कि भ्रष्ट राजनेताओं के दुष्कृत्य प्रकाश में आ जाते। हमने अपना चरित्र इतना गिरा लिया है कि जब हमारे ही कुछ बंधु तड़प रहे हों, उस समय हममें से कुछ लोग उनकी कीमत पर अपना पेट और मोटा करते रहें। ऐसे भ्रष्ट लोगों के बल पर कोई भी राष्ट्र प्रगति की आशा नहीं कर सकता। यह 'चारित्रिक संकट' राष्ट्र के समक्ष एक विशाल चुनौती बना गया है।

पुरानी समस्या का पुनरोदय

एक पुरानी समस्या ने फिर अपना सिर उठाया है। सर्वविदित है कि स्वाधीनता-संग्राम में मुसलमानों ने 'वंदेमातरम्' के गान पर आपत्ति प्रकट की थी। इस गीत पर, जिसने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हमारे स्वतंत्रता-सेनानियों को अपने प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा दी थी। परिणामस्वरूप हमारे ही नेताओं ने इस सुंदर गीत का अंग-भंग कर इसकी कुछ आरंभिक पंक्तियों के ही गायन की अनुमति दी। मातृभूमि को जगज्जनी की अभिव्यक्ति मानने वाले समर्पित लोगों के अतिरिक्त आज भी अन्य सभी सभाओं में इस अधूरे गीत का ही गायन होता है। कुछ दिन पहले ही कतिपय मुस्लिम 'सज्जनों' ने मुंबई नगर निगम के एक उर्दू विद्यालय में इस आधे-अधूरे गीत के गायन का भी विरोध किया था। इनमें सत्ताधारी दल के कुछ मुसलमान भी थे, जबकि पिछले कई वर्षों से उर्दू, हिंदी, मराठी, गुजराती सभी भाषा-माध्यम के विद्यालयों में 'वंदेमातरम्' गान होता रहा है।

आत्मघाती समर्थन

इस संदर्भ में समस्या यह थी कि सत्ताधारी दल के महासचिव द्वारा भी उक्त विरोध का समर्थन किया गया था। यदि यह समाचार सही है और हमारे 'भाग्यविधाता' यह निर्देश देते हैं कि 'वंदेमातरम्' गान ऐच्छिक होगा, तो यह जनता की राष्ट्रभक्तिपूर्ण भावनाओं के दमन का सुनियोजित प्रयास होगा। इस प्रकार का दमन राष्ट्र के लिए हानिकारक ही होगा। यदि इस घटना को गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया, तो संपूर्ण देश में अहिंदुओं की सांप्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिलना सुनिश्चित है। दुर्भाग्य से उपर्युक्त प्रसंग में किसी राजनेता ने 'वंदेमातरम्' के विरोध की भर्त्सना नहीं की। यहां तक कि मुस्लिम समाज में सुधार के लिए प्रयासरस लोगों ने भी इसका खुले शब्दों में विरोध नहीं किया। मेरे विचार से सत्ताधारी दल सहित सभी राजनैतिक दलों को इसकी तीव्र प्रतिक्रियास्वरूप यह दृष्टिकोण अपनाना चाहिए कि 'वंदेमातरम्' को गाने से

इनकार करनेवालों का उनके दल में कोई स्थान नहीं होगा। इससे यहां बसने वाले सभी समाजों के मध्य 'माता-पुत्र' के संबंध का वातावरण निर्मित करने में सहयोग मिलेगा।

अंतर्निष्ठा का प्रकटीकरण हो

वर्तमान परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि केवल हिंदू ही इस देश को अपनी आराध्य मातृभूमि मानता है। यह भावना इसकी रक्त-शिराओं में प्रवाहित है। पीढ़ियों से वह इसके रजकण की पूजा करता रहा है और प्रत्येक मांगलिक कार्य का शुभारंभ भूमिपूजन से करता है। इसी अंतस्थ श्रद्धाभावना को एक बार पुन: जगाना होगा और संपूर्ण हिंदू-समाज को यह अनुभव कराना होगा कि वे एक भूमि के पुत्र होने के नाते परस्पर भाई-भाई हैं।

आजकल हम रूस, चीन, जापान, अरब, अमरीका आदि अनेक राष्ट्रों के साथ भाईचारे की स्थापना का प्रयास कर रहे हैं, परंतु अपने देश में हम अपने ही भाइयों के विरुद्ध संघर्ष में संलग्न हैं। यह एक बेतुकी परिस्थिति है, जिसमें सुधार करना आवश्यक है। हमें पुन: स्मरण करना होगा कि उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक बसे हम समस्त भारतवासी एक ही माता की संतान हैं, चाहे हम किसी भी पंथ, वर्ग, जाति या भाषा से क्यों न जुड़े हों। हम सभी की नसों में एक ही रक्त प्रवाहित है। इसके साक्षात्कार से ही भारतीय जन की एकात्मता का भाव प्रकट होगा। यह एकात्म प्रतिबद्धता केवल आर्थिक या राजनैतिक सामंजस्य अथवा जोड़-तोड़वाली विचारधाराओं के आधार पर स्थापित करना असंभव है।

अतीत के गौरव का प्रमाण

कुछ लोग हमारी विरासत एवं परंपराओं जैसे प्राचीन तत्त्वों को आज के संदर्भ में कालबाह्य बताकर कूड़ेदान में फेंकने की दुहाई देते हैं। परंतु परिस्थिति से विवश होने पर वे भी अतीत का गुणगान करने लगते हैं। बांग्लादेश के युद्ध के समय हमारी प्रधानमंत्री, जो स्वयं को समाजवादी और पंथनिरपेक्ष मानती थीं तथा दूसरे भी उन्हें ऐसा ही कहते थे, यह घोषित किए बिना नहीं रह सकी कि हमारी पांच हजार वर्ष पुरानी गौरवशाली परंपरा है। प्रसन्नता हुई कि प्रधानमंत्री ने उन वर्षों में संघ द्वारा प्रसारित विचारों को ही व्यक्त किया, मानो वे इसकी सदस्या हों।

सत्य-विमुखता का मूल्य

भारत में हिंदू-समाज ही राष्ट्र है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस सत्य से इनकार हमें विश्व में कोई सम्मान नहीं देगा। फिर भी हमने अहिंदुओं को राष्ट्र की

मुख्य धारा में मिलाने के असफल प्रयास के रूप में इस सत्य को दशकों से अस्वीकार करने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं, इस सत्य कथन को 'राष्ट्रहित का विरोधी' भी बताया जाता है। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि सत्यकथन राष्ट्रहित का विरोधी कैसे हो सकता है।

सत्य तो सत्य ही है। इसे बोलना, व्यक्त करना और अनुभव करना अत्यंत आवश्यक है। इसका पालन होना ही चाहिए, अन्यथा हिंदुओं के मध्य भी वास्तविक राष्ट्रीय एकात्मता को प्राप्त करना कभी संभव नहीं हो सकता। इस बात को वे मुसलमान और ईसाई भी स्वीकार करते हैं, जो प्रबुद्ध एवं देशभक्त हैं तथा इस मनोग्रंथि से पीड़ित नहीं हैं कि हम कभी हिंदुस्थान के बादशाह थे। यह हजारों वर्षों से हिंदूभूमि है और यहां की राष्ट्रीय प्रवृत्ति हिंदू स्वभाव ही है। उन्हें यह भी ज्ञात है कि यह राष्ट्रीय प्रवृत्ति उनके व्यक्तिगत मजहब के विरुद्ध उन्माद नहीं जगाती, परंतु दुर्भाग्यवश ऐसे प्रबुद्ध लोग बहुत कम हैं और उन्हें प्रमुखता भी प्राप्त नहीं होती। संभवत: उनके अपने मजहबवाले भी उनके विचार से सहमत नहीं होते।

हमारा ही दायित्व

यदि एक बार भी हिमालय से कन्याकुमारी और द्वारिका से मणिपुर पर्यंत सभी हिंदू (चाहे वे किसी भी राजनैतिक दल व विचारधारा के हों) एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में संगठित होकर कंधे से कंधा मिलाने का निश्चय कर लें, तो यहां रहने वाले अन्य लोग भी मातृभूमि व राष्ट्रीय अस्मिता का सम्मान करने लगेंगे। और अपनी व्यक्तिगत मजहबी आस्था को अक्षुण्ण रखते हुए वे इस महान् राष्ट्र के उपयोगी घटक भी बन सकेंगे।

इसीलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सदैव इस बात पर बल देता रहा है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के आधारभूत सत्य को पुन: बलवान् बनाकर ही हमारे समाज को, राष्ट्र के लिए एकताबद्ध और समर्पित प्रयास करने की प्रेरणा मिलना संभव है। यह पुनर्जागरण ही विश्व के चतुर्दिक संघर्ष व उथल-पुथल में हमारे राष्ट्र को शक्ति व विश्वास के साथ मस्तक ऊंचा रखने एवं आगे बढ़ने में सहायक सिद्ध होगा।

❑❑❑

२२

राष्ट्रजीवन का अमृत कुम्भ

१. वास्तविकता का संसार

महान तथ्य

इस महान् एवं प्राचीन राष्ट्र के पुत्र हम स्वाभाविक रूप से यह कामना रखते हैं कि हमारा राष्ट्र विश्व में समृद्धि, वैभव तथा प्रतिष्ठा के नवीन शिखरों को प्राप्त करे। यह कामना उचित ही है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तथापि इस कठिन जगत् में जीवन सदैव सुगमता से अथवा निर्विघ्न तो चलता नहीं। न्यायोचित तथा उचित इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी बाह्य जगत् की ओर से आने वाली बाधाओं तथा विरोधों का सामना करना पड़ता है। यदि हमें अपने राष्ट्रीय वैभव के स्वप्न को साकार करना है, तो इस आह्वान के स्वरूप का मूल्यांकन एवं विश्लेषण करना पड़ेगा तथा इसके सफल निराकरण की तैयारी करनी होगी।

जगत् आज जिस अवस्था में है, मनुष्यों के समूहों, जिनको हम 'राष्ट्र' कहते हैं, में बंटा हुआ है। ये राष्ट्र अधिकाधिक सामर्थ्य एवं समृद्धि तथा पृथ्वी के अधिकांश प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए परस्पर स्पर्द्धा में लगे हुए हैं। आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक एक यह मानव-इतिहास का निश्चित लक्षण रहा है। इन सहस्रों वर्षों के काल में घोषणाएं बदलती रही हैं, परंतु यह आधारभूत तथ्य वैसा ही बना है। मुखौटा भले ही बदला हो, परंतु भावना नहीं।

पूर्वकाल में साम्राज्य-भावना अपने निर्लज्ज नग्न रूप में अन्यों पर अपना राजनीतिक जाल फैलाने की चेष्टा करती रही। आज आधिपत्य की भावना ने अन्य चोले धारण कर लिये हैं, जो पूर्वापेक्षा अधिक प्रलोभनकारी तथा खतरनाक हैं। वे देखने में कभी आर्थिक तथा कभी सिद्धांतवादी होते हैं, परंतु संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने की भावना सदैव के समान ही प्रबल बनी हुई है। जब एक राष्ट्र दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है, तो संघर्ष अपरिहार्य है। इसीलिए इस

विस्तृत जगत् मेंहम कभी वास्तविक शांति नहीं देखते। वास्तविकता यह है कि इस संसार में एक के बाद दूसरे युद्ध की संभावना बनी रहती है तथा शांति दो युद्धों का मध्य-काल मात्र होती है। संघर्ष इस मानव-जाति, जैसी आज यह गठित है, कि प्रकृति में ही विद्यमान है।

श्रीकृष्ण जैसे एक महान् पुरुष, जिन्होंने न्यायोचित एवं शांतिपूर्ण समझौता कराने का कोई प्रयास शेष नहीं छोड़ा, भी अपने उद्देश्य में विफल रहे। युद्ध अपरिहार्य हो गया और श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।

(गीता, ११-३२)

(मैं ही विनाशक शक्ति हूँ, जो इन लोगों का संहार करने आई है। तेरे बिना भी ये सब योद्धा, जो विरोधी पंक्तियों में खड़े हुए हैं, मृत्यु को प्राप्त होंगे।)

इसका आशय यही है कि मृत्यु एवं विनाश जगत् की प्रकृति में ही समाविष्ट हैं। मानव-जीवन का यह महान् तथ्य है, जिसे आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

संघर्ष चल रहे हैं। कभी-कभी यथार्थ में शस्त्र टकरा जाते हैं, रक्तपात होता है। फिर किसी अन्य समय 'शीत-युद्ध' होता है, एक देश के कूटनीतिक व्यक्ति दूसरों को कूटनीति द्वारा नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं। युद्धनीति जो भी हो, राष्ट्रों के बीच संबंधों का आधारभूत नियम है कि जंगल का कानून, याने शक्तिमान दुर्बल का भक्षण करते हुए और अधिक शक्तिशाली होता जाता है। यह मत्स्य न्याय का एक नियम है- 'जीवो जीवस्य जीवनम्', बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है तथा बड़ा छोटे को मिटाकर और बड़ा होता जाता है।

वास्तविकता का संसार

यूरोप के इतिहास पर तनिक दृष्टिपात करें। जब यूरोप के देश औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप शक्तिशाली हो गए, तब उनमें से प्रत्येक ने अन्य देशों को हड़पने के लिए अपने आक्रामक हाथ फैलाएं। जब स्पेन शक्तिशाली हुआ, तो उसने अमेरिका पर आक्रमण किया। अपने सामर्थ्य के काल में पुर्तगाल ने विनाश का जाल हमारे देश में गोवा तक फैलाया। जब कभी फ्रांस शक्तिशाली हुआ, उसने यूरोप के छोटे देशों को अपने पैरों तले दबाया। इंग्लैंड का इतिहास सबको भली-भांति परिचित है, जिसने अपने साम्राज्य को पृथ्वी के कोने-कोने तक फैलाया। जर्मनी की कहानी भी भिन्न नहीं

है। इसने अपनी आक्रामक भावना की तृप्ति के लिए संसार को दो बार विश्वयुद्ध में झोंका। जब इटली ने अपने को पर्याप्त शक्तिशाली अनुभव किया, अबीसीनिया को कब्जे में कर लिया। अब रूस ने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एक शक्ति के रूप में उभरकर फिनलैंड, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, बाल्कन राज्यों और आधे जर्मनी को हड़प लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की ठीक नाक के नीचे उसने हंगरी के सहस्रों स्वतंत्रता-सेनानियों का संहार किया और उसे अपनी लौह-एड़ियों के नीचे कुचल दिया। अब रूस अपने अगले शिकार की तलाश में चारों ओर ताक लगाए बैठा है। चीन शक्ति-विकास के सद्य: प्रारंभिक काल में ही कोरिया तथा इंडोचीन में अपने पंजे नग्न कर चुका है। वह तिब्बत पर जमकर बैठा है, लद्दाख तथा नेफा के हिस्सों को हड़प कर चुका है और अब हिमाचल के राज्यों में और अधिक घुसने के लिए सन्नद्ध हैं।

हर बार जब युद्ध छिड़ता है, युद्ध के अधिनायक कहते हैं कि युद्ध भविष्य में सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए है। प्रथम विश्वयुद्ध की भयानकता को देखकर संसार-भर के मनुष्यों ने शांति तथा समस्त युद्धों की समाप्ति के लिए प्रार्थना की थी। परंतु दो दशाब्दियों के अंदर ही संसार एक और अधिक भयंकर विध्वंस और हत्याकांड के रक्तपात से स्नात हो गया और द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पुन: मानवमात्र ने शांति के लिए आशा रखते हुए प्रार्थना की, परंतु अब यथार्थ परिस्थितियां क्या हैं? हर जगह झगड़े चल रहे हैं। संपूर्ण अफ्रीका ज्वालामुखी के उबलते हुए अंतराल के समान है, जिसका हर थोड़े दिनों में विस्फोट होता रहता है। रूस की क्यूबा को अपने मिसाइलों का अड्डा बनाने की छद्म योजना ने संसार को विश्वसंघर्ष के कगार पर खड़ा कर दिया था।

घोषणाएं बदलती हैं, वास्तविकता वही बनी रहती है

तथापि ये संघर्ष एवं रक्तपात विभिन्न परिधानों के आवरणों में किये जाते हैं। आज अधिकांश खतरनाक तथा आक्रमण की षड्यंत्री योजनाएं साम्यवाद की आड़ में ही बनाई जाती हैं। यह स्मरण रखना होगा कि साम्यवाद का जन्म प्रत्येक प्रकार के आधिपत्य के विरुद्ध क्रांति की घोषणा के साथ हुआ था। रूस और चीन में साम्यवादी अपने ही राजाओं तथा जागीरदारों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खड़े हुए थे। उन्होंने उनको समाप्त कर सत्ता ग्रहण कर ली, परंतु अल्पकाल में ही उन्होंने साम्राज्यवाद का वही मार्ग 'संसार के मानवों को साम्राज्यवाद तथा पूंजीपतियों के पंजे से मुक्त करने' की नवीन घोषणा की आड़ लेकर अपनाया। यहां तक कि वे अपनी आक्रमणकारी सेनाओं को 'मुक्तिसेना' के नाम से संबोधित करते हैं।

रूस द्वारा मुक्त किए गए चीन तथा हंगरी, पोलैंड आदि पूर्वी यूरोपीय देशों की कहानी क्या है? बाद में जो चीन गए हैं तथा जो यथार्थता को प्रकट करने का मानसिक संतुलन एवं साहस रखते हैं, उन्होंने असंदिग्ध शब्दों में कहा है कि वहां का सामान्य नागरिक अपने चारों ओर भयभीत अनुभव करता प्रतीत होता था। वह अपने व्यवहार में स्वतंत्र नहीं दिखाई देता था। यह सब इस कारण था कि रूसी अधिकारी और इनके तत्रस्थ स्थानीय एजेंट प्रत्येक विभाग के गुप्त स्थानों पर बैठे वहां के राष्ट्रीय जीवन के थलसेना, जलसेना, वायुसेना, कृषि आदि प्रत्येक क्षेत्र का नियंत्रण कर रहे थे। वे लोगों के सामने नहीं आते, किंतु अपना संपूर्ण वर्चस्व मजबूती से बनाए रखते हैं।

चीन में निस्संदेह ऐसे कुछ लोग थे, जो 'नए चीन', 'बड़ी छलांग' और 'हमारा बड़ा भाई रूस' आदि की प्रशंसा का गान करते रहते थे। अपने भी देश में जब अंग्रेज शासन करते थे, ऐसे कुछ लोग थे जो दुनिया-भर में यह कहते फिरते थे कि अंग्रेजी शासन ईश्वरप्रदत्त है, एक वरदान है। मानो अंग्रेज ईश्वरप्रेरित पैगंबर थे, जो हमारे उद्धार के लिए भेजे गए थे। हमें ऐसे गुलाम सदैव ही दिखाई देंगे, जो अपने स्वामियों की प्रशंसा कर उन्हें आसमान पर बैठा देते हैं। यदि स्वामी कोड़े लगाएगा तो वे स्वामी की शक्ति की प्रशंसा करेंगे और कहेंगे 'उसके पास कितना अच्छा कोड़ा है। वह उसके उपयोग में कितना कुशल है।' अब चीन 'मुक्ति' की वही कहानी तिब्बत में दोहरा रहा है।

अमरीका भी ब्रिटेन के साम्राज्यवादी अत्याचारों के विरोध में खड़ा हुआ था। उसने उसका आधिपत्य समाप्त किया और अपना स्वातंत्र्य स्थापित किया। संभव है वही अमरीका साम्यवाद के बढ़ते हुए संकट की रोक-थाम की दृष्टि से अनेक देशों को आर्थिक सहायता और कभी-कभी सैनिक सहायता देकर, अपने प्रभाव के अंतर्गत ला रहा हैं किंतु जैसा हम जानते हैं कि 'अर्थस्य पुरुषो दासः', जहां कहीं आर्थिक सहायता आती है, वहां किसी न किसी प्रकार की मानसिक दासता का भी निर्माण हो जाता है। अमरीकी सहायता प्राप्त करने वाले सभी गरीब देशों में हम अमरीकी संस्कृति की छाप देख सकते हैं, जो जीवन के प्रत्येक पक्ष में उनके स्वयं के राष्ट्रीय आदर्शों, परंपराओं तथा मौलिकता को क्षीण करती जा रही है।

पारस्परिक मित्रता की मृगतृष्णा

तब संघर्षों से भरे इस संसार में अपनी राष्ट्रीय अखंडता तथा गौरव को बनाए रखने का उपाय क्या है? क्या हम अन्य देशों की मित्रता तथा संधियों पर निर्भर रह सकते हैं? इस संबंध में विश्व-इतिहास की शिक्षा हमें आशा प्रदान नहीं

करती। किन्हीं दो राष्ट्रों के बीच मित्रता अथवा शत्रुता कभी स्थायी नहीं रहती। राष्ट्र अपने स्वार्थों की अनुकूलता के अनुसार अपने मित्रों तथा शत्रुओं को बदलते रहते हैं।

पिछली कुछ शताब्दियों में यूरोप के राष्ट्रों में हुए आपसी संबंधों में परिवर्तन तथा संधियों का एक रोचक इतिहास है। इंग्लैंड तथा फ्रांस शताब्दियों तक कट्टर शत्रु बने रहे। जब नेपोलियन के शासनकाल में फ्रांस, इंग्लैंड के लिए एक चुनौतीस्वरूप खड़ा हो गया, तब इंग्लैंड ने जर्मनी के साथ मित्रता के संबंध निर्माण कर फ्रांस को कुचल डाला। बाद में जब जर्मनी अधिक शक्तिशाली हो गया, तब इंग्लैंड तथा फ्रांस दोनों विश्वयुद्धों में एक साथ हो गए और जर्मनी को कुचल डाला। दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारंभ में रूस तटस्थ बना रहा, किंतु बाद में लूट में हाथ बंटाने के लिए जर्मनी के साथ मिल गया। परंतु बाद में इंग्लैंड तथा फ्रांस के गुट में जा मिला। अमरीका भी अपने स्वातंत्र्य-संघर्ष काल में इंग्लैंड का विरोधी, किंतु फ्रांस का मित्र था। कुछ वर्षों के पश्चात् चित्र बदला और इंग्लैंड पुनः उसका मित्र हो गया। इस पृथ्वी पर राष्ट्रों के बीच 'पारस्परिक मित्रता' का इस प्रकार का इतिहास रहा है। जब तक राष्ट्रों के मस्तिष्कों में स्व-वृद्धि तथा प्रभुत्व की भावना रहती है, हम इससे भिन्न किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते। अतः अन्य राष्ट्रों के साथ मित्रता के रूप में स्थायी सुरक्षा की खोज प्रवंचना मात्र ही होगी।

दानव एवं बौने की मैत्री

आज संसार दो शक्तिगुटों में बंटा हुआ दिखाई देता है। उनके सामर्थ्य एवं वैभव और उनकी तुलना में अपनी दुर्बलता को देखते हुए कुछ लोग एक या अन्य गुट में मिल जाने का परामर्श देते हैं, जिससे कि उसकी शरणदायी छत्रछाया के नीचे मुक्त रूप से सांस ली जा सके। परंतु स्वयं दुर्बल बने रहना और शक्तिमान का एक साथी बन जाना भी खतरे से खाली नहीं है।

एक समय एक दानव तथा एक बौना मित्र बन गए। वे एक जंगल में किसी साहसिक कार्य के लिए चले। वहां उन्होंने डाकुओं के एक गिरोह को लूट की बहुत बड़ी धनराशि आपस में बांटते हुए देखा। दानव ने डाकुओं को मार भगाया, समस्त धनराशि ली और वापस आ गया। दुर्भाग्य से संघर्ष की मारकाट में बौने का एक हाथ कट गया। कुछ दिनों के पश्चात् वे पुनः एक अन्य साहस के लिए निकले। इस बार उनको एक किले पर हमला करना पड़ा, जिसमें किसी अत्याचारी राजा द्वारा बंदी बनाए हुए तथा पीड़ित लोग थे। दानव ने आततायी को मार डाला और इसके पश्चात् लोगों ने कृतज्ञता

की भावना से उसे अपना राजा मान लिया। इस बार बौने की टांग कट गई। दानव को एक विशाल किला तथा अनेक कर्तव्यपरायण प्रजाजन मिले।

बौने ने अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए तथा दानव के सौभाग्य से ईर्ष्या करते हुए सोचा कि अपने लिए भी लाभप्राप्ति हेतु कुछ करना चाहिए। अत: वह एक बार फिर अपनी बैसाखी के सहारे दानव के साथ निकल पड़ा। अवसर की बात थी कि उन्हें दुराचारियों द्वारा घोड़े की पीठ पर एक राजकुमारी लादकर ले जाती हुई दिखाई पड़ी। दानव ने उसे बचा लिया और उसके पिता के पास ले गया। कृतज्ञता के वशीभूत राजा ने राजकुमारी का विवाह दानव के साथ कर दिया और उसे अपना राज्य भी दिया। इस 'दयालुता' अभियान में बौने कीएक आंख भी जाती रही। निष्कर्ष था कि दानव को दो राज्य, पत्नी के रूप में राजकुमारी तथा विशाल धनराशि मिली और उसके मित्र बौने को एक हाथ, एक टांग तथा एक आंख गंवानी पड़ी।

इससे प्राप्त बोध अत्यंत स्पष्ट है। शक्तिमान तथा दुर्बल के बीच मित्रता का एक ही परिणाम होगा कि शक्तिमान दुर्बल को हानि सहन करने के लिए छोड़कर लाभ का स्वयं उपभोग करेगा। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हम ऐसा ही देखते हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अन्यों की भूमि पर युद्ध चलाते रहने की दृष्टि से अपनी सीमाएं अपनी स्वयं की राष्ट्रीय सीमाओं से दूर बनाते हैं और इस प्रकार अपने देश की भूमि को युद्ध के विनाशकारी परिणामों से बचाते हैं। हम रूसी सेनाओं को दूर के देशों में फैला हुआ देखते हैं। अमरीकी सेनाएं भी कोरिया, वियतनाम में लड़ती हुई देखी हैं। इस प्रकार छोटे राष्ट्र बड़ी शक्तियों की सामर्थ्य की परीक्षा हेतु युद्ध-क्षेत्र बन जाते हैं तथा वहां के स्थानीय लोगों का इनके द्वारा युद्ध-बलि के रूप में उपयोग किया जाना स्वाभाविक है।

शांति के लिए शक्ति

इसलिए जब हम विश्व का सही प्रकार से अध्ययन करते हैं, तो हम इस सरल निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बाध्य होते हैं कि हमारे स्वतंत्र तथा समृद्धिशाली राष्ट्रीय जीवन के लिए एकमात्र आधार अजेय राष्ट्रीय सामर्थ्य ही है। एक ऐसा सामर्थ्य, जो आक्रामक शक्तियों के हृदयों में आतंक उत्पन्न करेगा तथा अन्य राष्ट्रों कोहमसे मैत्री-संबंध प्राप्त करने के लिए उत्सुक बनाएगा।

वास्तव में दुर्बल बने रहना अधिक सबल बाहरी शक्तियों को आक्रमण तथा लूट-खसोट के लिए आमंत्रण देना है। चर्चिल ने द्वितीय विश्वयुद्ध को 'अनावश्यक युद्ध' बताया था, क्योंकि इंग्लैंड तथा फ्रांस, जर्मनी को प्रारंभिक स्थिति में ही सुगमता से रोके रख सकते थे तथा युद्ध को बचा सकते थे, यदि उन्होंने साहस तथा ऐसा करने

के लिए आवश्यक शक्ति का परिचय दिया होता। किंतु वे असिद्ध तथा दुर्बल बने रहे और इस प्रकार उन्होंने जर्मनी की युद्ध-भावना को प्रोत्साहित किया। अस्तु, सबल होना ही शांति का यथार्थ मार्ग है।

आज भी हम देखते हैं कि अमरीका तथा रूस समान रूप से शक्तिशाली होने के कारण इनमें से कोई भी विश्वयुद्ध का खतरा उठाने के लिए तैयार नहीं है। दोनों के पास विनाशक मिसाइल हैं तथा दोनों को ही विदित है कि अणु-युद्ध से उनमें से कोई भी जीवित नहीं रह सकेगा। क्यूबा का प्रकरण हमारे लिए अत्यंत शिक्षाप्रद है। रूस ने क्यूबा को गुप्त रूप से अपनी मिसाइलों का अड्डा बनाकर अमरीका की सुरक्षा को आघात पहुंचाने की चेष्टा की। किंतु अमरीका द्वारा तीव्र तथा त्वरित कार्यवाही ने रूस की चेष्टा को रोक दिया तथा संसार को आगामी विश्वव्यापी संघर्ष से बचा लिया।

परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दुर्बल देश सुरक्षित हैं अथवा युद्ध अब होंगे ही नहीं। केवल अंतिम आणविक शक्ति-परीक्षा से बचा जा रहा है और इसे भविष्य के लिए टाला जा रहा है। अन्य सभी बातें पूर्ववत चल रही हैं। हम बहुधा अपने देश के 'बुद्धिमान व्यक्तियों' के ऐसा आश्वासन देते हुए पाते हैं कि किसी विदेशी शक्ति द्वारा हमारे साथ युद्ध का खतरा मोल लेने के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से संपूर्ण मानवता एक आणविक संघर्ष के लपेटे में आ जाएगी। परंतु हमारे लिए यह विश्वास करना अत्यंत बुद्धिहीनता होगी कि अन्य राष्ट्र भी उतने ही युद्ध-भीरु हैं, जितने कि हम। वे युद्ध की नियमानुसार घोषणा किए बिना ही शत्रु प्रदेशों पर आक्रमण कर देते हैं तथा अधिकार कर लेते हैं। युद्ध की घोषणा किए बिना ही पाकिस्तान द्वारा कश्मीर एवं कच्छ में तथा चीन द्वारा लद्दाख एवं नेफा में अपने देश के विशाल भूखंड हथिया लेने का ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने है। इसी प्रकार की कहानी आज भी इंडोचीन तथा अन्य स्थानों में दोहराई जा रही है।

❑❑❑

२२

राष्ट्रीय जीवन का अमृत कुम्भ

२. अन्तिम अनुशास्ति

सच्ची तटस्थता के लिए

आजकल हम अपने देश में 'पक्षनिरपेक्षता', 'गतिशील तटस्थता' आदि के विषय में बहुत कुछ सुनते हैं, मानो यही हमारे विनाश से रक्षा प्रदान करने वाले सिद्धांत हैं। परंतु क्या वास्तव में वह दुर्बल के लिए सहायक सिद्ध हो सकेंगे? यदि किसी आक्रमणकारी शक्ति ने हम पर हमला किया तो उस स्थिति में हम अपना संरक्षण कैसे करेंगे? क्या हमको अपनी रक्षा के लिए किसी एक अथवा दूसरे शक्तिशाली गुट का सहारा नहीं लेना पड़ेगा ? वास्तव में तब यह एक फुटबाल की 'गतिशील तटस्थता' होगी, जो स्वयं केवल 'निष्पक्ष' और 'तटस्थ' ही नहीं है, परंतु 'गतिशील' भी है, क्योंकि उसे बार-बार पैरों से एक ओर से दूसरी ओर ठोकर मारी जाती है। इसके अतिरिक्त व्यापक संघर्ष की स्थिति में बड़ी शक्तियां दुर्बल की तटस्थता की दो कौड़ी की भी चिंता नहीं करेंगी।

प्रथम महायुद्ध में अपनी सेना फ्रांस में ले जाने के लिए जर्मनी ने फ्रांस की खतरनाक पर्वतीय सीमा से जाने के बजाय तटस्थ नीदरलैंड की समतल भूमि का उपयोग किया था। बेल्जियम और हालैंड द्वारा अपनी तटस्थता के आग्रहपूर्ण प्रतिपादन की जर्मनी ने तनिक भी चिंता नहीं की। उसने अपनी सेना को प्रयाण का आदेश देकर उनकी तटस्थता को अपने सैनिकों के बूटों से कुचल दिया। यदि ये देश शस्त्रों से पूरी प्रकार से सज्जित होते, तो जर्मनी को इन देशों को कोपभाजन बनाने का साहस न होता।

इसका एक सुस्पष्ट विरोधी उदाहरण है कि स्विट्जरलैंड ने पूर्ण तटस्थता बनाए रखी। वह देश तुलनात्मक रूप में निर्धन है, परंतु वहां के लोगों के हृदय देशभक्ति के प्रबल उत्साह, राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा स्वतंत्रता की दुर्दम्य भावना से स्पंदित है। अंतर्राष्ट्रीय नियम यह है कि युद्धों में विदेशी सेनाओं तथा शस्त्रों के

आवागमन के लिए तटस्थ देशों का मार्ग के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता। उस युद्ध में एक बार यह देखा गया कि जर्मनी पर बम छोड़ने के लिए जाते हुए अंग्रेजी वायुयान स्विट्जरलैंड के ऊपर से उड़कर जा रहे हैं। इन वायुयानों को स्विट्जरलैंड की वायु सीमा अविलंब छोड़ने की चेतावनी की उपेक्षा की। बिना किसी दुविधा के स्विट्जरलैंड ने उन वायुयानों को मार गिराया। बाद में इंग्लैंड ने एक लंबा विरोध पत्र भेजा, परन्तु स्विट्जरलैंड ने उत्तर दिया कि वह एक स्वतंत्र राष्ट्र है, जो अपनी तटस्थता बनाए रखने के लिए कटिबद्ध है और यदि उसकी संप्रभुता के उल्लंघन का फिर ऐसा ही प्रयत्न हुआ तो उसके फिर वही परिणाम होंगे।

वास्तविकता से दूर भागने का परिणाम

परंतु आज हमारे देश में यह विचित्र धारणा विकसित हो गई है कि हम लोग बिना शक्तिशाली हुए भी सुख और सम्मान के साथ अपना जीवन चला ले जाएंगे तथा यह भी कि मनुष्य की उच्च भावनाओं को अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ को अपील करने से अथवा पंचशील की दुहाई देने से सभी संघर्षों को सुलझाया जा सकेगा। ऐसी सब विकृत धारणाओं को सार्वदेशिक सत्य के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है।

हमारे प्रमुख व्यक्ति सेना को भी 'अंतर्राष्ट्रीयता' और 'विश्वबंधुत्व' का उपदेश देते हैं। एक बार मेरे साथ एक सैनिक अधिकारी तथा एक अन्य सज्जन रेल में यात्रा कर रहे थे। वे उर्दू में बातचीत कर रहे थे। सैनिक अधिकारी ने उनसे कहा– 'आप बहुत अच्छी उर्दू बोलते हैं।' उस सज्जन ने उत्तर दिया– 'हां, मैंने अपने स्कूल–जीवन में उर्दू पढ़ी थी। परंतु अब मैं बड़ा हो गया हूँ, मेरा उर्दू–प्रेम समाप्त हो गया है।' सैनिक अधिकारी ने पूछा 'ऐसा क्यों ?' उन्होंने उत्तर दिया 'जब मैं उर्दू अथवा फारसी पढ़ता हूँ तो उनके संपूर्ण साहित्य में मेरे सामने किसी बुलबुल का, किसी ईरान का, किसी यूफ्रेटिस अथवा टिगरिस का चित्र आता है, परंतु मेरे देश की किसी बात का नहीं।' सैनिक अधिकारी ने कहा– 'आप कितने संकुचित और मध्ययुगीन हैं। अब ऐसा समय है कि हमें देश, राष्ट्र आदि की संकुचित सीमाओं में सोचना छोड़ देना चाहिए। अब तो हमें संपूर्ण संसार के रूप में सोचना है।' अब ऐसा सैनिक अधिकारी युद्ध के लिए जाए, तो क्या वह अपने देश की रक्षा के लिए पूर्ण विश्वास से लड़ सकेगा? किसी भी खण उसके अंदर की 'विश्वचेतना' विद्रोह कर सकती है और वह अनुभव कर सकता है कि 'यह क्या वाहियात बात है? मैं क्यों लड़ूँ? यदि विपक्षी विजयी हो जाए तो इसमें क्या आपत्ति है? आखिर वह भी तो हमारे ही जैसे मनुष्य हैं।' तब हमारी क्या दशा होगी? क्या ऐसी विश्वचेतना हमें विनाश से बचा सकेगी ?

एक समय एक ज्योतिषी था। जैसा हम जानते हैं कि संसार कभी भी समस्याओं से मुक्त नहीं हुआ। यह ज्योतिषी भी बहुत उद्विग्न था। संसार का भविष्य जानने के विचार से वह पृथ्वी को प्रभावित करने वाले ग्रहों की स्थिति देखने के लिए निकला। जब वह अपने गांव से बाहर हुआ तो एक ग्रह के पश्चात् दूसरा ग्रह देखता हुआ अपनी कल्पनाओं और आशंकाओं का ताना-बाना बुनते हुए एक कुए में जा गिरा। ज्योतिषी के भाग्य से कुआं बहुत दिन से उपयोग में नहीं आया था तथा सूखा था। ज्योतिषी अपने बचाव के लिए चिल्लाया। कुछ मनुष्य उस ओर से जा रहे थे। उन्होंने उस ज्योतिषी को बाहर निकाला और आश्चर्य से पूछा, 'पंडित जी ! आप मार्ग से अलग इस कुएं में कैसे गिर पड़े ?' पंडित जी ने इस संसार के हित के प्रति अपनी निष्ठा तथा ग्रहों से संबंधित अपना उद्देश्य विस्तारपूर्वक बताया और अपने कुएं में गिरने का सुबकते हुए वर्णन किया। तब उसको बचाने वालों ने टीका की कि 'पंडितजी, संसार की कुंडली पढ़ने का प्रयत्न करने के पहले यदि आप अपनी कुंडली पढ़ लेते तो यहां गिरने से बच जाते।'

अच्छा हो यदि वे लोग, जो आज अपनी दुर्बलता और अज्ञानता को अंतर्राष्ट्रीयता के जोरदार नाम के आवरण में छिपाना चाहते हैं, उक्त ज्योतिषी की दुर्गति से पाठ सीखें तथा उन अंतर्राष्ट्रीय हलचलों को प्रारंभ करने के पूर्व, जिन्हें कार्यान्वित करने की उनके पास कोई शक्ति नहीं है, अपने राष्ट्र को व्यवस्थित कर लें। जब कि संसार सत्ता-राजनीति से ही संचालित हो रहा है और शक्ति का चारों ओर बोलबाला है। ऐसा दिखाई देता है कि वे लोग जो 'विश्वबंधुत्व' अथवा ऐसी ही अन्य बातें करते रहते हैं, सचमुच नहीं जानते कि वे क्या बोल रहे हैं? विश्व-राजनीति का आज यही एकमेव तथ्य है कि निजी स्वार्थों तथा निजी हित-संरक्षण द्वारा ही विभिन्न राष्ट्र अस्तित्व में हैं। जो इस बात की उपेक्षा करते हैं, वे काल्पनिकता के फेर में वास्तविकता को दांव पर लगा रहे हैं।

एक बार मैं कुछ वयोवृद्ध लोगों के मध्य बोल रहा था। मैंने राष्ट्र की स्थिति का विश्लेषण कियातथा अपना मत प्रकट किया कि यदि हम अपना स्वयं का आंतरिक ह्रास नहीं रोकेंगे और शक्तिशाली नहीं होंगे, तो हमारा राष्ट्र के नाते अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। तुरंत ही एक अति बुद्धिमत्तापूर्ण टीका हुई- 'क्या हुआ यदि हम राष्ट्र के नाते जीवित न रहे? तब भी हम मानव के नाते जीवित तो रहेंगे ही।' मैंने कहा-'हम लोग तो मृत्यु के बाद भी जीवित रहेंगे। हमारी राख अथवा हमारे समाधिस्थ शव तो रहेंगे ही। क्या विज्ञान ने पदार्थ का अविनाशत्व सिद्ध नहीं किया है?'

आत्मसम्मोहन का परिणाम

'अंतर्राष्ट्रीयता', विश्व-एकता' आदि वर्तमान प्रिय लगने वाली धुन ने हमारे देश को इस हास्यास्पद और संकटमय स्थिति तक पहुंचा दिया है। हम लोग इन नारों से पूर्णतया इतने सम्मोहित हैं कि हम 'विश्वशांति', 'अंतर्राष्ट्रीयता' आदि का मुखौटा धारण करने वाली विदेशी शक्तियों के आक्रामक उद्देश्यों तक को समझने में असमर्थ हो गए हैं। वे यहां आकर 'अंतर्राष्ट्रीय शांति-सम्मेलनों' का संचालन करते हैं, जबकि वे अपने देशों में विश्व-संहारक प्रक्षेपणास्त्रों का निर्माण करते रहते हैं। उनकी सब चालों का यही अर्थ है कि वे हमको अपने गुट में खींच लेना चाहते हैं, जिससे वे हमको उन भावी युद्धों, जिनकी वे योजना कर रहे हैं, मैं युद्ध-बलि के रूप में प्रयोग करें। वे भी सचमुच में 'शांति' चाहते हैं। पर कैसी शांति ? स्वयं को स्वामी और दूसरों को दास बनाकर वे आराम से सोना चाहते हैं कि दास आपस में न झगड़ें और स्वामी की निद्रा भंग न करें। हम इन विचित्र सिद्धांतों के शिकार बने हुए स्वयं धोखा खाते रहते हैं और 'प्रगतिशील' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय' दृष्टिकोण पर अपनी पीठ थपथपाते रहते हैं। क्या हम अपने लोगों को नहीं देखते, जो यह जानते हुए भी कि ये साम्यवादी तौर-तरीके पत्थर के नुकीले छोर के समान साम्यवादी विस्तारवाद के लिए प्रयुक्त होने वाले हैं, इन तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय शांति सम्मेलनों में सम्मिलित होते रहते हैं।

'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' ओर 'पंचशील' जैसे नारे तथा कागजी समझौते, जिनमें हमारे नेता दिन-रात उलझे हुए हैं, हमारे देश के विरुद्ध संसार के स्वार्थी लुटेरे देशों के छिपे गर्हित उद्देश्यों की पूर्ति में केवल छद्मावरण बनाने में प्रयुक्त होते हैं। जैसा हम जानते हैं कि पंचशील सिद्धांत के प्रति विश्वास-प्रदर्शन में चीन सबसे अधिक चिल्लाने वाला था। चीन की यह कहकर अत्यधिक प्रशंसा की जाती रही कि पिछले दो हजार या उससे भी अधिक वर्षों से, जब से उसने बौद्धमत स्वीकार किया है, चीन हमारे महान पड़ोसी और मित्र के रूप में है। हमारे नेताओं ने घोषणा की कि वे 'किसी भी मूल्य पर' चीन के साथ मित्रता बनाए रखने के लिए कृतनिश्चय हैं। एक समय हमने इसी प्रकार से 'किसी भी मूल्य पर' इस देश के मुसलमानों की मित्रता संपादित करने का भी निश्चय किया था। राष्ट्र की अखंडता और सम्मान की दृष्टि से हमें इस विषय में कितना मूल्य चुकाना पड़ा? यह सर्वज्ञात है। चीन के संबंध में भी वही इतिहास दुहराया गया।

दुश्चिह्नों की उपेक्षा

हम यह भूल गए कि पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन बौद्ध मतावलंबी चीन मर चुका है। रूसी जादूगर ने उसके शव में एक आत्मा का प्रवेश कराकर उसे एक दानव बना दिया है। आज हम उसका दानवी नृत्य अपनी सीमाओं पर देख रहे हैं। जब उसने तिब्बत को हड़पा और पंडित नेहरू ने उसका हल्का-सा विरोध किया, तो रुखाई के साथ उनकी भर्त्सना करते हुए कहा गया कि वह उनके 'आंतरिक मामले' में अपनी टांग न अड़ाएं। हमारे स्वर्गी प्रधानमंत्री इस राष्ट्रीय अपमान को चुपचाप पी गए। तब से ही हम दो राष्ट्रों के बीच शाश्वत मित्रता तथा भ्रातृत्व की ऐतिहासिक उस संधि के नाम पर की गई चीन की दोस्ती और पंचशील की गरिमा बनाए रखने के लिए हम ऊंची उठ रही कीमत चुकाते चले आ रहे हैं? उस संधि पर दो देशों के महान प्रधानमंत्रियों के हस्ताक्षर जब हो रहे थे, इसी समय लद्दाख में चीन द्वारा बनाए गए फौजी रास्तों पर उनके सैनिकों से भरे ट्रक धड़धड़ाते बढ़े आ रहे थे और हमारे हिमालय क्षेत्र के बड़े-बड़े भू-भागों पर कब्जा कर रहे थे।

गांधी जी के शिष्य तथा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा. जे.सी. कुमारप्पा ने अपनी रूस और चीन की यात्रा के पश्चात् उन दिनों स्पष्ट चेतावनी दी थी कि उनकी (चीन और रूस की) दृष्टि में पंचशील की संधि उस कागज के टुकड़े के बराबर भी मूल्य नहीं रखती, जिस पर वह लिखी गई है। परंतु साम्यवादी चीन के आक्रमण के सर्वग्रासी भय के सुस्पष्ट चिह्नों के प्रति हमारे नेता आंखें बंद कर अपने स्वप्नलोक में विचरण करते रहे। हमारे देश में साम्यवादियों ने चीन के एक नए मानचित्र की प्रतियां बांटी, जिसमें हिमालय के सभी क्षेत्रों लद्दाख, नेपाल, सिक्किम, भूटान तथा नेफा (तिब्बत से बाहर निकलती हुई चीन की आक्रामक मुट्ठी की पांच उंगलियों के पांच प्रतीक) तथा बर्मा के भाग चीन की सीमा के अंतर्गत दिखाए गए थे। हमारी सरकार ने इन मानचित्रों का वितरण रोका तक नहीं।

जब खुश्चेव हमारे देश में आया और कश्मीर में था, तब उसने घोषणा की 'जब कभी तुम पर विपत्ति आए, तब इन पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ जाओ और सहायता के लिए पुकारो। दूसरी ओर से हम सदा तुम्हारी सहायता के लिए दौड़कर आने को प्रस्तुत रहेंगे।' उस घोषणा का यह रहस्य हम न भूलें कि उनके अनुचर यहां हैं, जो कभी भी उन्हें सहायता के लिए पुकार लेंगे।

इसके अतिरिक्त जब खुश्चेव और बुल्गेनिन का संपूर्ण देश में अभूतपूर्व जय-जयकार से स्वागत हो रहा था और उन्हें विश्व-शांति के दूत के रूप में

अभिनंदित किया जा रहा था, उस समय हमारे देश में एक रूसी समाचार-चलचित्र प्रदर्शित हो रहा था। वह चलचित्र मास्को के दृश्य से प्रारंभ होता है, जिसमें व्याख्याकार घोषित करता है- 'भावी संसार की राजधानी मास्को।' यदि मास्को ऐसी राजधानी बने तो क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि संपूर्ण संसार को रूस के अधीन होना पड़ेगा?

धोबी का गधा

हम लोग अभी अपने को इस भ्रम से मुक्त करने में समर्थ नहीं हुए कि हमारी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा इन निस्सार सद्उक्तियों के कारण बढ़ी है। परंतु तथ्य यह है कि हमारा ही एक अंग पाकिस्तान हमको धृष्टतापूर्वक अपमानित करने, हमारे सैनिकों और सेनाधिकारियों को अपहृत करने, हमारे वायुयानों को गिराने तथा अभी भी वहां रहने वाले हिंदुओं के नियमित रूप से जातीय विनाश करने का एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने देता। अब तो उसने हमारे देश पर आक्रमण भी कर दिया है। एक छोटा-सा देश लंका पीढ़ियों से वहां रहने वाले हमारे लाखों बंधुओं को बाहर भगा रहा है। बर्मा ने भी वही मार्ग अपनाया है। हमने आक्रांता के नाते कश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष उपस्थित किया और यह विश्व-संसद हमारी 'महती अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा' के कारण हमारे साथ आक्रामक की बराबरी का व्यवहार कर रही है। यह दावा किया जाता है कि चीन में बंदी बनाए हुए ग्यारह अमरीकी वायुयान-चालकों को मुक्त कराने में हमारे प्रभाव का उपयोग हुआ, कोरिया में हमारी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, आदि। तब फिर उन सब मामलों में, जहां हमारे राष्ट्रीय सम्मान और अखंडता को गंभीर संकट उपस्थित हैं, इस 'महती अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा' का उपयोग क्यों नहीं हुआ? अथवा हमारी यह 'प्रतिष्ठा' धोबी के उस गधे के समान है, जिसे दिन-भर तो मालिक के कार्य के लिए बोझा ढोना पड़ता है और शाम को अपनी जरूरतें स्वयं पूरी कर लेने के लिए खदेड़ दिया जाता है।

हमारे नेता बहुधा दुहराते हैं कि हमारी शांति और पक्षनिरपेक्षता की नीति के कारण सब बड़े राष्ट्र हमारे मित्र हैं और हमारा आदर करते हैं। वह उस आर्थिक सहायता की ओर इंगित करते हैं, जो हमें अमरीका और रूस से प्राप्त हो रही है। परंतु वही अमरीका हमारे शत्रु पाकिस्तान को नवीनतम शस्त्रों से सज्जित कर रहा है। क्या यह मित्रता का चिह्न है कि एक ओर तो हमें बलि के बकरे के समान आर्थिक सहायता से पुष्ट किया जाए और दूसरी ओर हमारे ऊपर आक्रमण करने वालों को शस्त्र दिए जाएं? रूस, जिसने भारत के साथ 'मित्रता' की तुलना में चीन के साथ

'बंधुत्व के अटूट बंधन' की घोषणा की है तथा जो प्राय: चीन की आक्रामक योजनाओं के पीछे संचालक शक्ति के रूप में काम करता रहा है, के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

अपनी सरलता के कारण हम संसार के राज्यों की घोषणाओं और राजनीतिक चालों को सत्य समझते हैं और यह सोचकर स्वयं ही प्रसन्न होते हैं कि हमारा संसार की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि एक उदाहरण ही देना हो तो कुछ वर्ष पूर्व श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की अध्यक्षा निर्वाचित किया किया गया था। परंतु हमारे देश को यह 'महान सम्मान' प्रदान करने के पीछे कौन सा हेतु छिपा था? इसी समय शेख अब्दुल्ला का कश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाने के देशद्रोहपूर्ण षड्यंत्र प्रकट हुआ था। उसे पद से हटाकर कैद किया गया था। उस घृणित षड्यंत्र को प्रोत्साहित करने की संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधियों की कुमंत्रणा भी पूरी तरह से प्रकाशित हो गई थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के ये एजेंट जिनके इशारों पर कार्य कर रहे थे, वह आंग्ल-अमरीकी गुट अपना चेहरा बचाने के लिए उत्सुक थे और कश्मीर में अपना पैर जमाए रखकर बिना किसी बाधा के अपने षड्यंत्रों को चलाए रखने के लिए हमारे देश को किसी प्रकार समझौते की मन:स्थिति में तैयार करना चाहते थे। इसके लिए हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की बहन को संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता का महान सम्मान प्रदान करने के अतिरिक्त और कौन-सा अधिक अच्छा साधन हो सकता था? यह एक चातुर्यपूर्ण खुशामद के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, परंतु अपनी सरलता में हमने इसे अपना वास्तविक सम्मान समझा।

वर्तमान के लिए शिक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमने अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और प्रगति के आलंब के रूप में उच्च स्वर से घोषित जिन विविध धारणाओं को स्वीकार किया है, उनका इस संसार की कठोर वास्तविकता में कोई मूल्य नहीं है। दुर्भाग्य से बार-बार अपने हाथ जला लेने पर भ हम इन ईप्सित विचारों के प्रति अपना मोह नहीं छोड़ पाते। यह केवल अभी से नहीं, अपितु शताब्दियों से हमारे समाज के ऊपर एक अभिशाप रहा है। जब चंगेज खां इस देश पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था, उसे ज्ञात हुआ कि हमारे पूर्वी-पश्चिमी राज्य के बहुत से लोग बौद्ध हो गए हैं। अत: उसने बौद्ध बनने का ढोंग कर आक्रमण कर दिया। यहां के बहुत से बौद्ध यह देखकर कि वह उनका धर्म-बंधु है, उसका स्वागत करने गए। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म की 'अहिंसा' के आवरण में चंगेज खाँ मानव-सिरों के पर्वत-सदृश ऊंचे ढेर खड़े कर सका।

संसार शक्ति का पुजारी

कम से कम अब तो हम इस सत्य को स्वीकार कर लें कि वास्तविक राष्ट्रीय सम्मान तथा वास्तविक शांति के लिए अजेय राष्ट्रीय शक्ति निर्माण करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हैं। तभी यह संभव है कि जिन महान् सिद्धांतों का हम संसार को उपदेश देते हैं, उन्हें महत्त्व तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। संसार दुर्बल तत्वज्ञान, चाहे वह कितना ही उदात्त क्यों न हो, सुनने को तैयार नहीं है। एक पुरानी घटना है जो हमारे कई प्रमुख समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई थी। हमारे महान् राष्ट्रीय कवि रवींद्रनाथ ठाकुर जापान गए थे। वे हिंदू-दर्शन की श्रेष्ठता पर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देने वाले थे, परंतु सभा-भवन कुछ अध्यापकों को छोड़कर खाली रहा। यह सोचकर कि यह दृश्य प्रतिष्ठित अतिथि के लिए अपमानजनक होगा, एक अध्यापक ने कुछ विद्यार्थियों, जो बहुत दूर खड़े थे, को भाषण सुनने के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया। विद्यार्थियों ने दृढ़ता के साथ यह कहकर मना कर दिया कि 'हम गुलाम राष्ट्र का दर्शन नहीं सुनना चाहते।'

संसार केवल शक्तिशालियों की पूजा करता है। पिछले युद्ध के पूर्व जब इंग्लैंड शक्तिशाली था, हमारे लोग अंग्रेजों का अनुकरण और उनकी प्रशंसा करते थे, परंतु जब युद्ध के काल में कुछ समय ऐसा लगा कि जर्मनी जीत जाएगा, तो वे लोग हिटलर और नाजीवाद की उपासना करने लगे। हम ऐसे व्यक्तियों से परिचित हैं जो आजकल हिटलर और नाजीवाद की निंदा सबसे अधिक जोर-शोर से करते हैं, परंतु उन दिनों समादर की भावना से गुप्त रूप से अपने रेडियो से जर्मनी के समाचार सुना करते थे। जर्मन आक्रमण के दो सप्ताह के भीतर फ्रांस का पतन सुनकर वे कितने प्रसंन्न हुए थे। अब वही लोग अमरीका अथवा रूस की उपासना करते हैं, क्योंकि ये वही देश हैं, जिन्होंने जर्मनी की सैनिक-शक्ति को चूर-चूर कर दिया तथा जो आज विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र हैं। आज बहुत से व्यक्तियों का साम्यवाद के प्रति जो आकर्षण है, वह प्रमुख रीति से साम्यवाद के पृष्ठपोषक रूस और चीन की पाशविक शक्ति के कारण है। यही संसार का ढंग है। दुर्बल के स्वर की कोई तनिक भी चिंता नहीं करता। बहुत पूर्व हमारे पूर्वजों ने घोषित किया था कि निर्धनों और दुर्बलों की इच्छाएं हवा में महल बनाने के समान है-

'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।'

सामर्थ्य ही पुण्य और दुर्बलता ही पाप है

किसी भी स्थिति में दुर्बल को कष्ट भोगना पड़ता है। कितना भी ऊपरी तालमेल अथवा हेरफेर इसे बचा नहीं सकता। दुर्बल रहना संसार का सबसे जघन्य

पाप है, क्योंकि इससे स्वयं हमारा विनाश होगा और दूसरों की हिंसा की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि अपने शरीर की विनाश से रक्षा करना सर्वोच्च धर्म का एक अंग है। शारीरिक संरक्षण का एकमात्र आधार शक्ति है। विश्वामित्र के विषय में बताया जाता है कि एक बार बड़े अकाल के समय उन्हें कई दिनों तक भोजन नहीं मिला। एक दिन उन्होंने एक चांडाल के घर में एक मृत कुत्ते की सड़ती हुई टांग पड़ी देखी। विश्वामित्र ने झपटकर उसे ले लिया और परमात्मा को भोग लगाकर उसे खाने को सिद्ध हुए। चांडाल विस्मय से बोला- 'अरे ऋषि ! तुम कुत्ते की टांग कैसे खा रहे हो?' विश्वामित्र ने उत्तर दिया- 'संसार में तपस्या और सत्कर्म करने के लिए मुझे पहले जीवित रहना और शक्तिशाली होना आवश्यक है।'

परंतु पिछले कुछ दशकों में हमारे देश में जो विचार रहा है, उसमें शक्ति को पापपूर्ण और गर्हित माना जाता रहा है। 'अहिंसा' के गलत अर्थ लगाने के कारण राष्ट्र के मस्तिष्क की विवेचन-शक्ति समाप्त हो गई है। हम लोग शक्ति को 'हिंसा' मानने लगे हैं तथा अपनी दुर्बलता को गौरवास्पद समझने लगे हैं।

एक बार एक साधु ने कहा 'अहिंसा' शब्द ही हिंसा के अस्तिवाचक भाव में 'अ' लगाकर 'हिंसा' से निकली हुई एक नकारात्मक अभिव्यक्ति है।' जो हिंसा करने में पर्याप्त समर्थ है, परंतु जो संयम, विवेक और दया के कारण ऐसा नहीं करता, केवल उसी व्यक्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि वह अहिंसा का आचरण करता है। मान लो कोई तगड़ा व्यक्ति सड़क पर जा रहा है और उससे कोई टकरा जाता है। यदि वह बलवान व्यक्ति दया करके कहे- 'ठीक है, तुमने मेरे प्रति जो अनुचित कार्य किया है, उसके लिए मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ', तब हम कहते हैं कि इस बलवान व्यक्ति ने अहिंसा का व्यवहार किया है, क्योंकि यद्यपि वह प्रहार करने में और सिर तोड़ने में समर्थ है, परंतु उसने स्वयं को नियंत्रित किया।

मान लो एक पतला-दुबला मच्छर जैसा व्यक्ति जा रहा है, कोई उसके कान खींच लेता है और यह 'मच्छर' सिर से पैर तक कांपता हुआ कहता है, 'महाशय! मैं आपको क्षमा करता हूँ' तो कौन उसका विश्वास करेगा? कौन कहेगा कि वह अहिंसा का पालन कर रहा है? वह उस व्यक्ति के समान है, जो डाकुओं को अपना घर लूटने से रोकने में असमर्थ होने पर जोर-जोर से 'वसुधैव कुटुंबकम्' की घोषणा करता है। लोग कहेंगे कि वह कायर और ढोंगी है, उसमें कुछ करने का साहस नहीं है तथा बड़ी-बड़ी सद्उक्तियों से केवल अपनी दुर्बलता छिपा रहा है। हमारे देश का वायुमंडल इस प्रकार के भ्रमों और आत्मप्रवंचनापूर्ण सद्उक्तियों से भरा पड़ा है। केवल अपनी कायरता को

छिपाने के लिए नैतिक अधिकार का दंभ लेकर 'शांति' और 'अहिंसा' जैसे बड़े-बड़े शब्दों का धूल के बादलों जैसा बवंडर खड़ा किया जाता है।

नपुंसक और अहिंसा

ऐसी विपरीत धारणाओं के कारण ही हम चारों ओर हानि सह रहे हैं। प्रतिदिन हम देखते हैं कि हमारी सीमाएं संकुचित होती जा रही हैं। कोई भी मातृभूमि की अखंडता और सम्मान को बचाने की मन:स्थिति में नहीं है। प्रत्येक राष्ट्रीय अपमान को 'शांति' के आवरण में ढक दिया जाता है। दिन-प्रतिदिन हमारे ऊपर अपमान लादे जा रहे हैं। शत्रुओं द्वारा हमारे लोगों को गोलियों से मार दिया जाता है और पंडित नेहरू के जन्मदिन पर चीन ग्यारह सैनिकों के शव भेंट में देता है। हम यह कहकर कि हम शांति के पुजारी हैं, यह सब निगल जाते हैं। महाभारत में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपमान निगल जाता है वह न पुरुष है न स्त्री है।

एतावानेव पुरुषो यदमर्शी यदक्षमी।
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्।।

(महाभारत, उद्योग पर्व १३३-३२)

(वही पुरुष है, जो न सहन करता है और न क्षमा करता है। क्षमा करने वाला तथा सहन कर लेने वाला न तो स्त्री है और न पुरुष है।)

श्रीकृष्ण का आदर्श

हमारा दर्शन हमें बताता है कि मनुष्य को तभी विनम्र होना चाहिए, जब वह दूसरों को विनीत करने में समर्थ हो। किसी व्यक्ति को तभी क्षमाशील होना चाहिए, जब वह इतना शक्तिशाली हो जाए कि वह अपने को अपमानित करने वाले को नष्ट कर सके। व्यक्ति को तब दूसरों की सेवा करनी चाहिए, जब वह इतना योग्य हो कि सारा संसार स्वेच्छा से उसकी सेवा करने को प्रस्तुत हो। श्रीकृष्ण हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने बचपन से ही एक के पश्चात् एक अनेक दुष्ट राक्षसों को समाप्त किया और फिर गीता में अहिंसा का उपदेश दिया। उन्होंने ही कंस का वध किया, उग्रसेन को गद्दी पर पुन: प्रतिष्ठापित किया, परंतु स्वयं अतिथि राजाओं का स्वागत करते हुए राजसभा के द्वारपाल रहे। फिर उन्होंने ही युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भोजन के पश्चात् पत्तल उठाने का छोटा-सा सेवा-कार्य स्वयं स्वीकार किया, जबकि उनको अग्रपूजा का सम्मान प्रदान किया गया था। हमारे दर्शन का ऐसा ही संदेश है।

हमारे सभी महान् पुरुखों, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आचार के मानदंड प्रस्थापित किए हैं, ने आदर्श का व्यावहारिकता के साथ तथा मानव-कल्याण के सर्वोच्च सिद्धांतों का

व्यावहारिक संसार की आवश्यकताओं के साथ सदा मेल बैठाया है। जब राम और रावण का युद्ध बहुत प्रबल रूपमें चल रहा था, उस समय की एक घटना रामायण में वर्णित है। रावण के पुत्र मेघनाद को मारने के पश्चात् लक्ष्मण उसका सिर शिविर में ले आए थे। मेघनाद की पत्नी सुलोचना अपने पति के शरीर के साथ सती होना चाहती थी। अपने पति का सिर लौटाने की प्रार्थना करने के लिए वह राम के शिविर की ओर गई। राम के पक्ष के सैनिकों ने रावण के शिविर से एक सुंदर स्त्री को अपनी ओर आते देखकर समझा कि आने वाली नारी स्वयं देवी सीता होंगी। प्रसन्नता और हर्षोद्घोष से वे चलितचित्त होकर अपने हथियार डाल देने को तैयार हुए। परंतु जब श्रीराम को इस उत्तेजना का और उसके पीछे के कारण का ज्ञान हुआ, तब उन्होंने शांतिपूर्वक कहा- 'मत भूलो कि अपने दसों सिर और बीसों भुजाओं के साथ रावण अभी भी अच्छी प्रकार से जीवित है। रावण के मृत शरीर पर चलकर ही हम लंका में प्रवेश कर सकते हैं और सीता को मुक्त कर सकते हैं। तब तक सीता-दर्शन का स्वप्न मत देखो। किसी भ्रम में मत रहो।' मनुष्य के मनोविज्ञान की पूर्ण जानकारी होने के कारण उन्होंने रावण के स्वभाव का ठीक प्रकार से आकलन किया। इस कारण ही वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि राक्षस की दुष्प्रवृत्ति इतनी गहरी जमी हुई है कि उसमें किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन नहीं आ सकता। उनके अचूक रामबाण से ही संकट मिट सकता है। राम द्वारा मानव-जीवन के सर्वोच्च मानदंडों को बनाए रखना और शक्ति के अंतिम प्रामाण्य होने का विश्वास, उसी एक चरित्र के ऐसे दो पक्ष थे, जिसने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम (आदर्श मानव) बना दिया।

महाभारत में कुरुक्षेत्र की रणभूमि में 'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ' का उद्घोष कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के पुरुषार्थ का आह्वान किया। यह ठीक है कि अर्जुन कायर नहीं था। वह जन्मजात योद्धा था, परंतु अपने गुरुजनों और पूज्यों को अपने विरोध में खड़ा देखकर उसका मन अपने कार्य के औचित्य के विषय में संदेहों से भर गया था। वह रणक्षेत्र से भागना नहीं चाहता था। इसके विपरीत अपने शस्त्र अलग कर वह वैराग्य की भावना से अपने शत्रुओं के हाथों मरना चाहता था।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।

(गीता, १-४६)

(यदि हाथ में शस्त्र धारण किए धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ बिना शस्त्रवाले तथा प्रतिकार न करने वाले को रण में मार डालें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा।)

हमारे नेताओं के मनों में भी आज उसी प्रकार का संभ्रम उत्पन्न हो गया है। 'अप्रतिकार' और 'शांति' आदि शब्दों को उच्च स्वर से घोषित किया जा रहा है। वास्तव में दोनों की मानसिक स्थितियों में बड़ा अंतर है। अर्जुन अपने अंतरतम से वीर था, जबकि आजकल हमको सुनाई देने वाला 'अप्रतिकार' जैसे शब्दों का गंभीर प्रतिपादन हमारी कायरता को छिपाने के आवरण के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सही दर्शन

आज के संसार में कोई चाहे अथवा न चाहे, संघर्ष उत्पन्न होना अवश्यंभावी है। क्या हमारे धर्मात्मा बने रहने से दूसरों की दुष्प्रवृत्तियां नष्ट हो जाएंगी ? क्या इस प्रकार के सुस्पष्ट रीति से विवेकशून्य मूढ़-विश्वासों को मानने से बढ़कर कोई दूसरी आत्म-प्रवंचना हो सकती है? वास्तव में वह बकरा, जिसे बलिवेदी पर शांतिपूर्वक ले जाया जाता है, अप्रतिकार की मूर्ति है। तनिक-सा भी विरोध प्रकट किए बिना वह कसाई के छुरे के नीचे अपना सिर रख देता है। कसाई एक क्षण भी यह अनुभव नहीं करता कि ऐसे निर्दोष 'अहिंसक' प्राणी को नहीं मारना चाहिए। परंतु कोई भी व्यक्ति यज्ञ में व्याघ्र की बलि देने का विचार करने का भी साहस नहीं करता। केवल उसी दुर्बल, सीधे, 'अहिंसक' बकरे को बलि के लिए पसंद किया जाता है। मनुष्य भी उसका मांस स्वाद के साथ खाते हैं। कहा गया है-

अश्वं नैव गजं नैव व्याघ्रं नैव च नैव च।
अजापुत्रं बलि दद्यात् देवो दुर्बलघातक: ।।

(घोड़ा नहीं, हाथी नहीं, व्याघ्र तो कदापि नहीं, बकरा ही बलि दिया जाता है। देवता भी दुर्बल का ही विनाश करते हैं।)

'अप्रतिकार' की प्रवृत्ति का यही परिणाम है। यह ठीक है कि बिना उत्तेजना के हमको हिंसा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, पर साथ ही साथ हमें दूसरों को भी अपने विरोध में हिंसा का व्यवहार नहीं करने देना चाहिए। अपने प्रति हिंसा करने देना भी हिंसा है, अत: अधर्म है। एक श्रेष्ठ जैन साधु ने अहिंसा का महत्त्व बताते हुए कहा- 'यदि तुम्हें नष्ट करने पर तुली हुई किसी पाशविक शक्ति से तुम्हारा सामना हो और अहिंसा के नाम पर तुम अपने संरक्षण का कोई प्रयत्न न करो, तो तुमने उस दुष्ट शक्ति को हिंसा में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। इस प्रकार तुम उस अपराध के प्रोत्साहनकर्ता बन गए हो। प्रोत्साहक भी अपराध का उतना ही दोषी है, जितना कि वास्तविक अपराधी।' उन्होंने आगे कहा- 'कोई कार्य हिंसात्मक है अथवा अहिंसात्मक, यह निर्णय करने का एकमात्र मापदंड उसके पीछे का हेतु है, न कि वह कार्य स्वयं।'

जो वास्तव में महान् पुरुष हुए हैं, उनकी शिक्षाओं ने ऐसे सब मामलों में हमारा सदैव सही मार्गदर्शन किया है। तुकाराम जैसे एक बड़े दयालु संत ने भी दया की परिभाषा की है-

'दया तिचें नांव भूतांचें पालन आणिक निर्दलन कण्टकांचे'

(प्राणियों का पालन और कंटकों, अर्थात् दुष्टों का विनाश ही दया है।)

श्रीकृष्ण ने सुस्पष्ट रीति से तथा सदा के लिए घोषित कर दिया है कि धर्म की स्थापना का अर्थ दुष्टों का विनाश (**'विनाशाय च दुष्कृताम'**)। श्रीकृष्ण स्वयं इस सिद्धांत के मूर्त रूप थे। उन्होंने युद्ध टालने तथा शांति प्रस्थापित करने का निस्संदेह उपदेश दिया तथा उसके लिए संपूर्ण शक्ति लगा दी, परंतु उन्होंने दूरदृष्टि से स्पष्ट रूप से समझ लिया कि उनकी स्वयं की श्रेष्ठतम शक्ति ही अंतिम रूप से निर्णायक है। जब वह दुर्योधन के पास समझौते की बात करने के लिए जाने वाले थे, उस समय यह सोचकर कि दुष्ट प्रकृतिवाला दुर्योधन कहीं श्रीकृष्ण ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उस स्थिति में तो धर्मराज बिना युद्ध के ही राज्य प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि तब दुर्योधन और उसके साथियों के दल को वह स्वयं नष्ट कर देंगे। शत्रुओं का सामना करते समय शक्ति की भूमिका के संबंध में यही यथार्थ विचार है। आवश्यकता न होने पर अथवा न्याय और सम्मानपूर्ण समझौता संभव होने पर भी सदैव शक्ति-प्रयोग की बात करना और वैसा ही व्यवहार करना अमानुषिक तथा क्रूरतापूर्ण है, परंतु सदा समझौते की बात करना और जब अन्याय तथा अपमानों को दूर करने का कोई अन्य मार्ग न हो, उस समय भी शक्ति का प्रयोग न करना कायरता और नपुंसकता है।

अत: इस संसार की कठोर वास्तविकताओं का जीवन व्यतीत करते हुए महान् व्यक्तियों ने जैसा संदेश दिया था, उसे हमें ठीक से समझना है। कठोर वास्तविकता यह है कि आज का जैसा संसार है, वह एक ही भाषा शक्ति की भाषा समझता है। केवल अपरिमित शक्ति के दृढ़ आधार पर ही राष्ट्र का उत्कर्ष होता है और उसकी यशस्वी स्थिति बनी रह सकती है।

अपराजेय राष्ट्रीय संकल्प-शक्ति की आवश्यकता

राष्ट्रीय शक्ति का वास्तविक तथा अक्षय स्रोत है संपूर्ण जाति का सुगठित, समर्पित तथा अनुशासित जीवन। अंतत: जीवन के विविध क्षेत्र, समाज की अंतर्निहित शक्ति की विविध अभिव्यक्तियां हैं। राजनीतिक सत्ता इस प्रकार की एक अभिव्यक्ति

है, सैनिक शक्ति एक दूसरी अभिव्यक्ति है। परंतु राष्ट्र की सु-अनुशासित, प्रखर देशभक्तिपूर्ण और शौर्यपूर्ण स्थिति ही शक्ति का अपरिहार्य भंडार है।

यह सच ही कहा गया है कि बंदूक नहीं, उसके पीछे जो हृदय है, वही लड़ता है। बिना शक्तिशाली देशभक्तिपूर्ण हृदय के कितने भी शस्त्रास्त्र देश को नहीं बचा सकेंगे। जिसे लोग 'हिंदू-मुस्लिम दंगा' कहते हैं, वह अनिवार्य रूप से एक 'मुस्लिम दंगा' होता है, क्योंकि मुसलमान ही सदैव पहले प्रहार करता है और हिंदू उसकी चोट सहता है। ऐसे ही समय की एक घटना है। उस दंगे में एक हिंदू अपने घर की ऊपरी मंजिल पर एक भरी हुई बंदूक लेकर बैठ गया। कुछ मुसलमान गुंडों ने उसके घर पर आक्रमण किया, परंतु दरवाजे मजबूती से बंद थे, अत: वे अंदर नहीं घुस सके। तब उनमें से एक ने अपने हाथ की छोटी कुल्हाड़ी घुमाते हुए ऊपर बैठे व्यक्ति को धमकाकर कहा कि वह बंदूक फेंक दे, अन्यथा उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएंगे। भयभीत होकर उस सज्जन ने बंदूक गिरा दी। वह उसी बंदूक से मार डाला गया। अत: एक निर्भय लौह-हृदय मनुष्य के द्वारा ही शस्त्रों का प्रयोग और स्वयं की रक्षा हो सकती है। यही बात राष्ट्र के संबंध में भी है।

इन्हीं व्यावहारिक और मार्ग-निर्देशक सिद्धांतों के आधार पर ही हमारा समाज पुन: एक महान् राष्ट्र के रूप में खड़ा हो सकता है। अत: हमारे संपूर्ण प्रयत्न हमारे लोगों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कर सुसंगठित राष्ट्रनिर्माण करने की दिशा में होने चाहिए। इस पृथ्वीतल पर स्वतंत्र और तेजस्वी राष्ट्रीय जीवन का यही अंतिम प्रामाण्य है।

❑❑❑

२३

विजय के उपासक

पुण्य तिथियां

हमारे महापुरुष हमारे राष्ट्रीय जीवन के उद्देश्य तथा राष्ट्रीय गौरव की प्राप्ति के मार्ग पर दीपस्तंभ के समान विद्यमान हैं। हमारी भावी पीढ़ियां इस मार्ग का सफलतापूर्वक अनुसरण करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी स्मृति तथा उदाहरण राष्ट्र के मस्तिष्क में सदैव जागृत रहे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विचारों और कर्मों में निपुण इन व्यक्तियों के जीवन और कृतियों की शिक्षाएं अपने वास्तविक स्वरूप में ही प्रस्तुत की जाएं। वास्तव में इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर हमारी राष्ट्रीय परंपरा में अति प्राचीनकाल से हमारे प्राचीन राष्ट्र-सेनानियों के जन्म और मृत्यु की पुण्य तिथियों को मनाने का महत्त्व रहा है।

महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान

दुर्भाग्य से इन महान् पूर्वजों द्वारा स्थापित आदर्शों के स्मरण की इस परंपरा में एक बड़ी विकृति प्रवेश कर गई है। हमारे समाज के लोग

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।

(गीता, १०-४१)

(जो-जो भी जीव ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त हैं, उन सबको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझ।) गीता के इस श्लोक में पूर्ण विश्वास रखते हुए ऐसी महान् आत्माओं की अलौकिक शक्ति में परमात्मा की अभिव्यक्ति का चिह्न, दैवी तेज की एक झलक देखते हैं। यहां तक तो ठीक है।

परंतु इसके कारण यह भ्रमपूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ है कि ऐसे सब महापुरुष महामानव हैं, सामान्य मनुष्य ही पहुंच के बहुत ऊपर हैं। सर्वसाधारण व्यक्ति स्वयं

को परिस्थितियों का दास मानकर इन महापुरुषों को देवता की श्रेणी में ढकेलकर अपने कर्त्तव्यों से पलायन का एक सुरक्षित मार्ग ढूंढने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह अपने व्यावहारिक प्रतिदिन के जीवन में उनका अनुसरण करने के उत्तरदायित्व, जिसके कारण उसे बहुत सी अग्निपरीक्षाओं और आपत्तियों को झेलना पड़ेगा, से स्वयं को मुक्त कर लेता है। वह अपनी दुर्बलता और असहायता से परमात्मा की प्रार्थना भी करता है कि परमात्मा आएं, उसका उद्धार करें और इन संकटों का सामना करने के कष्टों से उसे बचा लें। जहां तक उसका अपना प्रश्न है, वह चाहता है कि वह घर पर आराम से बैठे और परमात्मा की कृपा से सब ठीक हो जाए।

इसके साथ आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह पागलपन सवार है कि व्यक्ति को कम से कम उत्तरदायित्व और खतरा उठाते हुए अधिक से अधिक लाभ और आनंद प्राप्त हो। हमें कहीं भी पौरुष की भावना नहीं दिखाई देती, जिसके कारण व्यक्ति कहे 'हाँ, मैं एक मनुष्य हूँ। चाहे जैसी परिस्थिति आ पड़े, उसकी चिंता न करते हुए मैं मनुष्योचित प्रयत्न करूंगा और संपूर्ण शक्ति लगाकर, अपने कर्तव्यों की पूर्ति करूंगा।' यही कारण है कि धनी परिवार में उत्पन्न व्यक्ति बहुत भाग्यशाली माना जाता है, क्योंकि उसे बिना किसी प्रयत्न के सभी आराम और उपभोग के साधन प्राप्त हो जाते हैं। उसे अपने खाने-पीने की चिंता नहीं करनी पड़ती। उसका प्रत्येक छोटा काम करने के लिए उसके इशारे पर चलने वाले नौकर होते हैं, जिसके कारण वह संपूर्ण समय निकृष्ट कोटि के भोग-विलास में निमग्न रहने के लिए मुक्त हो जाता है। अत: अपने जीवन में असहायता के कारण अथवा उपभोग के इस प्रकार के उन्माद के कारण सामान्य मनुष्य स्वाभाविक रूप से चाहता है कि उसे स्वयं कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। वह चाहता है कि 'परमात्मा पृथ्वी पर आए और मुझे विपत्तियों के भंवर से मुक्त कर किनारे पर लगा दे। वह मेरे ऊपर सुख-सुविधाओं की वृष्टि कर दे तथा अपना अवतारी जीवन समाप्त कर अपने स्थान को लौट जाए।'

इस प्रकार की मनोवांछित आशाएं लेकर सामान्य मनुष्य आपत्ति के समय परमात्मा की प्रार्थना करता है और उसका सहारा लेता है, मानो सर्वशक्तिमान प्रभु उसकी प्रार्थनाओं से दयार्द्र होकर और इन 'संतों' की रक्षा के लिए अपनी इस प्रतिज्ञा की पुन: पूर्ति करेगा-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। (गीता, ४-८)

(सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूँ।)

इस विषय में संघ के संस्थापक हंसी में कहा करते थे- 'इसके विपरीत मैं तो परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह अभी जन्म न ले, क्योंकि संपूर्ण समाज को आलस्य और स्वार्थ, अर्थात अधर्म में डूबा देख वह अधर्म का विनाश करने की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसे पूरी तरह नष्ट कर देंगे। इसलिए पहले हम लोग साधु बनें, जिसका अर्थ है कि समाज के लिए परिश्रम और त्याग का जीवन बिताएं और तब सर्वशक्तिमान परमात्मा को पुकारें। तभी वह हमारी रक्षा और दुष्टों का विनाश करेगा।'

परंतु साधारण व्यक्ति ऐसा अनुभव करते हैं कि इन महान् 'अवतारों' का स्मरण करने और उन्हें परमात्मा के व्यक्त रूप के नाते पूजने में ही इनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। उन्हें कुछ और करने की इच्छा नहीं है। हमारे समाज के लोगों ने श्री रामचंद्र को विष्णु का अवतार माना और कई शताब्दियों से उनकी पूजा कर रहे हैं, परंतु हममें से अधिकांश ने ऐसा उनके पुरुषोचित गुणों को स्वीकार करने और अपने अंदर का 'राम' प्रकट करने के लिए नहीं किया। हमारे संस्थापक इस संबंध में एक रोचक घटना सुनाते थे। एक बार एक वयोवृद्ध सज्जन, जो घर पर प्रतिदिन 'अध्यात्म रामायण' का पाठ किया करते थे, से बात करते हुए उन्होंने ऐसे ही पूछ लिया कि श्रीराम के कौन-से गुण ने उन्हें सबसे अधिक आकर्षित किया है और उसे अपने जीवन में अनुकरण करने की उन्हें प्रेरणा दी है। इन शब्दों को सुनकर वह सज्जन आगबबूला हो गए और बोले- 'क्या निरर्थक बात है? क्या तुम सोचते हो कि हम मनुष्य एक देवता के गुणों का अनुकरण कर सकते हैं? पाठ तो इसलिए किया जाता है कि मुक्ति के लिए हमें पुण्य प्राप्त हो। हम और अधिक क्या चाहते हैं?

यही दृष्टिकोण श्रीकृष्ण के प्रति रहा है। हमने गीता को एक ईश्वरीय धर्मग्रंथ माना, उसके सब श्लोकों को रटा, उनका पाठ किया, उसकी अतिशय प्रशंसा की, परंतु एक बार भी यह नहीं सोचा कि अपने दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में पालन करने योग्य मानव-कर्तव्यों का यह सबसे महान् ग्रंथ है। हम देखते हैं कि यह विचित्र धारणा हमारे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों और श्रेणियों के लोगों के मस्तिष्क में जमी हुई है।

हम वर्तमान काल का ही उदाहरण लें। लोकमान्य तिलक बहुत बड़े कर्मयोगी तथा एक प्रमुख राष्ट्रीय नेता थे, परंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके महानर जीवन और उनके श्रेष्ठ गुणों का अनुकरण करने की चिंता न तो उनके अनुयायियों ने ही की और न जन साधारण ने। उन्होंने उनकी विवेकपूर्ण राजनीतिक परंपराओं को चालू रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने उनकी प्रतिमाएं खड़ी कीं, थोड़े से

विद्यालय प्रारंभ किए, उनके नाम से कोष-संग्रह किया, उनकी जन्मतिथियां मनाईं और मुक्त भाव से उनके प्रति अपनी शाब्दिक श्रद्धांजलियां अर्पित की। इतना करके वे संतुष्ट हो गए कि इन्होंने लोकमान्य के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। तिलक के कुछ सरल-हृदय भक्तों ने तो इन्हें चतुर्भुज भी बना दिया और उनकी पूजा की, जिससे उनका अर्थ था कि तिलक तो परमात्मा के अवतार थे और वे स्वयं केवल तुच्छ मनुष्य हैं, फिर वे भला ईश्वरत्व की ऊंचाई तक पहुँचने की आशा कैसे कर सकते हैं? उनका जीवन तो केवल खाने, पीने, पैसे कमाने, बच्चों का पालन-पोषण करने और अंत में एक दिन मर जाने के लिए है।

प्रयत्न परमेश्वर

अपनी जान बचाने की इस प्रवृत्ति के कारण लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं। साधारण मनुष्य जब विपत्तियों से घिर जाता है, तब वह हतबुद्धि और भयभीत हो जाता है। और क्या करे? यह न समझ सकने के कारण वह परमात्मा की शरण लेता है और रोता-बिलखता हुआ परमात्मा से पुनः अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। निराशा के उस अंधकार में उसे परमात्मा के सिवाय आशा की कोई और किरण दिखाई नहीं देती। कभी-कभी हम महान् संतों और विद्वानों को भभ इस प्रकार विलाप करते देखते हैं। यदि इन परिस्थितियों में कोई महापुरुष उपस्थित हो जाता है तथा अपने पौरुष, धैर्य और बुद्धिमत्ता से घटनाचक्र में परिवर्तन कर देता है, तो लोग उसे भी देवता की श्रेणी में डाल देते हैं, परंतु यह तो कोरी दुर्बलता ही है, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति ऐसे महापुरुषों को मानवों की कोटि से बाहर ढकेल देता है।

हमें अपने समाज के व्यक्तियों की इस विकृत मनोवृत्ति को बदलना है। उसके स्थान पर पौरुष और उद्यम की दृष्टि प्रस्थापित करनी है। स्वामी रामदास ने कहा है- 'यत्न तो देव जाणावा' (प्रयत्न ही परमात्मा है)। हमें मानव-प्रयत्न के रूप में व्यक्त परमात्माकी शरण लेनी चाहिए। यह कर्मभूमि है, मानव के उद्योग की भूमि। यह असामान्य सामर्थ्यशाली व्यक्तियों के रक्त और पसीने से पवित्र हुई मिट्टी है। यहीं पर हमारी अंतर्निहित शक्तियां और गुण प्रस्फुटित होते हैं तथा हमारे प्रसुप्त देवत्व का जागरण होता है। इसी यथार्थ विश्वास से मानव-उद्योग के पथ पर बढ़ने की हमें प्रेरणा मिली चाहिए। हम उन महान् आत्माओं की पूजा करें और उनके प्रति श्रद्धा का भाव रखें, परंतु देवता जैसी निरी पूजा के रूप में नहीं, अपने सदृश मनुष्यों के रूप में, जो व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इतनी ऊंचाई तक पहुंचे हैं। जब

रावण सीता को हर ले गया, तब श्री रामचंद्र जी ने उसी प्रकार विलाप किया था और उसी प्रकार रोए थे, जैसा हममें से कोई भी पारिवारिक जीवन में विपत्ति आने पर करेगा। ऐसा कर उन्होंने संसार के सम्मुख घोषित कर दिया कि वे भी अन्य किसी के समान ही मनुष्य हैं। यद्यपि वह हमारे समान ही खाते-पीते थे, सोते और चलते थे तथा एक मनुष्य की सामान्य भावनाओं का अनुभव करते थे, तथापि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण महान् व्यक्तिगत परिश्रम द्वारा संपादित मानवता के उच्चतम आदर्श की ओर बढ़ने का हमें संकेत करता है।

हमारे महान् संतों और भक्तों ने निस्संदेह भगवान की प्रार्थना पर बहुत बल दिया है। परंतु उन्होंने जीवन में अकर्मण्यता का उपदेश कभी नहीं दिया। जो अकर्मण्य रहकर परमात्मा के नाम पर रोते रहते हैं, ऐसे भक्तों की सदैव बहुत खिल्ली उड़ाई गई है। हमारे सभी महापुरुषों ने समाज में पौरुष और कर्तव्य की भावना भरने का निरंतर प्रयत्न किया है। हमारे समक्ष वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मानवीय प्रयत्न और उपलब्धि के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में उपस्थित हैं। हम उन सब कर्मवीरों की संतान हैं। उनका रक्त हमारी नसों में बहता है। वे आकाश से बने-बनाए महापुरुष के रूप में नही टपक पड़े थे। उन्होंने अपने परिश्रम, बुद्धिमत्ता, धैर्य, त्याग और ऐसे ही अन्य पुरुषोचित गुणों के बल पर महानता संपादित की थी। हम ऐसा विश्वास क्यों न रखें कि हम भी कम से कम कुछ मात्रा में अपने जीवन में उन्हीं गुणों को प्रकट कर सकते हैं। यदि हमें एक महान राष्ट्र के नाते खड़े होना है तो यह सबसे अधिक आवश्यक है कि जब भी हम पूर्व के महान् व्यक्तियों के जीवन और कार्यों की ओर देखें, तो हम इस सही दृष्टिकोण को अपनाएं।

विजयशाली की पूजा

अब हम यह देखें कि अपनी इस भूमि में किस प्रकार के श्रेष्ठ जीवनों की पूजा की गई है। क्या कभी हमने ऐसे व्यक्तियों को आदर्श माना है, जो जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं? हमारी परंपरा ने उन्हीं की पूजा और आराधना करना सिखाया है, जो अपने जीवन-उद्देश्य में पूरी तरह सफल सिद्ध हुए हैं। जो व्यक्ति परिस्थितियों का दास है, वह हमारा आदर्श कभी नहीं रहा। हमारा आदर्श वह वीर रहा है, जो परिस्थिति का स्वामी बन जाता है, मात्र अपनी योग्यता और चरित्र के आधार पर परिस्थिति में परिवर्तन ला देता है और अपने जीवन की आकांक्षाओं को प्राप्त करने में पूर्ण सफल हो जाता है। ऐसी ही महान् आत्माओं की पूजा करने का आदेश हमें हमारी संस्कृति देती है, जिन्होंने अपने आत्मतेज से अपने चारों ओर के

घोर अंधकार को नष्ट कर प्रकाश भर दिया, निराश हृदयों में विश्वास उत्पन्न किया, मृतप्राय लोगों तक में प्राण फूंके और सफलता एवं प्रेरणा के जीवंत लक्ष्य के प्रति श्रद्धा को बनाए रखा।

श्रीरामचंद्र जी हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने अपने शौर्य, बुद्धिमत्ता और इच्छाशक्ति के आधार पर रावण जैसे बलवान अत्याचारी, जिसने सारे संसार को दास बना लिया था तथा तैंतीस करोड़ देवताओं को कैद कर लिया था, का विनाश किया। उन श्रीकृष्ण के पूर्ण सफल जीवन के रूप में एक और महान् आदर्श हमारे सामने आता है, जो चाहते तो अपने शरीर और बुद्धि की अतुलित शक्तियों के आधार पर एक अजये सम्राट् के रूप में अपना अभिषेक करा सकते थे, परंतु उन्होंने वैसा करना अस्वीकार कर दिया। ऐसे ही सफल जीवन सदैव हमारी पूजा के केंद्र रहे हैं। यह स्पष्ट है कि जो जीवन में असफल रहे हैं, उनमें अवश्य कोई कमी रही होगी। जो पराजित हो चुका है, वह दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता है और उन्हें सफलता की ओर कैसे ले जा सकता है? हवा के प्रत्येक झोंके से कंपित ज्योति हमारा पथ कैसे प्रकाशित कर सकती है? केवल ऐसा ही जीवन, जो चारों और प्रचंड तूफानों और वर्षा के बीच एक ऊंचे प्रकाश स्तंभ के रूप में सीधा, बिना मंद पड़े खड़ा रहता है और अंधकार को निरंतर दूर करता रहता है, हमारी जीवन-नौका को सफलता के किनारे पर पहुंचा सकता है।

बलिदानी महान्, पर आदर्श नहीं

जब कोई समाज सभी प्रकार की विपत्तियों से निरंतर आक्रांत रहता है और उसे पूर्ण निराशा का सामना करना पड़ता है, तब उसमें विभिन्न प्रकार की मानसिक ग्रंथियां उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो संकटों के बोझ से दब जाते हैं औरअसहायतापूर्वक दैवी सहायता की प्रतीक्षा करते हैं। परमात्मा जब उनकी प्रार्थनाएं सुनता दिखाई नहीं देता और विपत्तियां उन्हें अधिकाधिक घेरती जाती हैं, तब कुछ लोग क्रुद्ध होकर इस निराशापूर्ण परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न करते हैं, परंतु इच्छित परिवर्तन करने की उनके पास पर्याप्त शक्ति नहीं होती। यह अवश्य है कि वे असंतोष से जलते रहते हैं, परंतु अनुभव करते हैं कि परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से वे बहुत दुर्बल हैं।

उनके हृदय की प्रज्ज्वलित अग्नि केवल अपने भाग्य पर विलाप करने वाले शांत और असहाय द्रष्टा के रूप में नहीं बैठने देती। इस असहनीय दारुण परिस्थिति में आक्रोश करते रहने की तुलना में शूरतापूर्वक मृत्यु का वरण करना अधिक अच्छा

समझते हैं। उनके चारों ओर अंधकार और निराशा, अज्ञान और निंदा का नग्न नृत्य होता रहता है। उन्हें किसी आशा की किरण, किसी एक भी व्यक्ति, जो उनके आह्वान का प्रत्युत्तर दे, का सहारा नहीं होता। दुर्बल हृदयवाले हिम्मत हार जाते हैं और केवल प्रतीक्षा करते रहते हैं, परंतु जिनके अंदर अग्नि है, वे यह स्वीकार नहीं करते और बलिदान की चमक प्रकट करते हुए अपने-आपको नष्ट करना अधिक पसंद करते हैं। साधारण व्यक्ति ऐसी मृत्यु की चमक से चकाचौंध हो जाता है और कहता है- 'कैसा जोशीला व्यक्ति था। टूट गया, पर झुका नहीं।' लोग उसे 'शहीद' कहते हैं और उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति को छोड़कर अन्य सब संस्कृतियों ने ऐसे बलिदान की उपासना की है तथा उसे आदर्श माना है, ऐसे सब बलिदानियों को राष्ट्रनायक के रूप में स्वीकार किया है। ईसा मसीह को वे एक महान् आत्मा इसलिए कहते हैं कि वे एक शहीद थे और उन्होंने अपना जीवन बलिदान कर दिया था, परंतु हमने भारतीय परंपरा में इस प्रकार के बलिदान को सर्वोच्च आदर्श नहीं माना। निस्संदेह ऐसे व्यक्ति, जो अपने-आपको बलिदान कर देते हैं, श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और उनका जीवन-दर्शन प्रमुखतया पौरुषपूर्ण है। वे सर्वसाधारण व्यक्तियों, जो चुपचाप भाग्य के आगे समर्पण कर देते हैं और भयभीत एवं अकर्मण्य बने रहते हैं, से बहुत ऊंचे हैं। फिर भी हमने ऐसे व्यक्तियों को समाज के सामने आदर्श के रूप में नहीं रखा है। हमने ऐसे बलिदान को महानता का सर्वोच्च बिंदु, जिसकी आकांक्षा मनुष्य करें, नहीं माना है, क्योंकि अंततः वे अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफल हुए और असफलता का अर्थ है कि उनमें कोई गंभीर त्रुटि थी।

'अवतारों' का संदेश

जिस प्रकार हम व्यक्ति के जीवन में निराशा के परिणामस्वरूप आत्म-विनाश को आदर्श नहीं मानते, उसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर आत्मबलिदान की भी प्रशंसा नहीं करते। वास्तविक महानता तो जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने में है। हमारी संस्कृति में केवल ऐसे ही व्यक्तियों की पूजा की गई है, जिन्होंने अपनी असामान्य योग्यता और साहस के द्वारा गरजते हुए समुद्री तूफान और बवंडरों की छाती पर चढ़कर विजय प्राप्त की और अंत में परिस्थितियों के प्रतिकूल प्रवाह को अपने पक्ष में करने में समर्थ हुए। वे अपने समय के निर्माता थे, उसकी निर्मिति मात्र नहीं। यह उन सभी महापुरुषों के विषय में है, जिन्हें हमारी राष्ट्रीय परंपरा में अवतार समझा गया है। उदाहरण के लिए- 'दशावतारों' की कथा लो। जब भी हमारा

समाज संकटों और भीषण दुर्घटनाओं की पकड़ तथा व्यामोह में था और परमात्मा का नाम लेता हुआ केवल अशक्त बना रोता था, उस समय एक अति विशाल व्यक्तित्व प्रकट हुआ, जिसने अपने असीम त्याग की भावना, तपस्या, बुद्धि और कार्य-शक्ति से सभी शत्रुओं का दमन कर विजय का प्रतीक बन गया। उन्होंने भले ही कोई भी रूप अपनाया हो-मत्स्य, वराह अथवा भिक्षु के वेष में छात्र का, वे अपना पवित्र जीवनकार्य पूरा करने में सफल रहे।

ऐसे हैं हमारे राष्ट्र-पुरुष, विजय के मूर्तिमंत प्रतीक। हमारी दिव्य वीरपूजा का प्राण 'विजय की संकल्प-शक्ति' है। यही वे आत्माएं हैं, जो अपने जीवन में एक क्षण के लिए भी अंतिम विजय को अपनी आंखों से ओझल नहीं होने देंगी और न ही संकटों का सामना पड़ने पर डगमगाएंगी, अपितु आगे, और आगे निरंतर बढ़ती जाएंगी। अपने साधनों को इस ढंग से योजित करेंगी कि कार्यपूर्ति के लिए आवश्यक ऊंचाई तक खड़ी हो सकें और अंत में अपनी आंखों में गौरवशाली सफलता के दर्शन करें।

राजपूतों के हौतात्म्य से शिक्षा

हमें अपने इतिहास में यह दृष्टिगत होता है कि राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रक्रिया में हुतात्मा वीरों को भी अनिवार्य तथा सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ है। कोई यह नहीं कह सकता कि उनका बलिदान व्यर्थ गया। हमारे देश में स्वतंत्रता के लिए बलिदान होने वाले वीरों की संख्या कम नहीं है। यह हो सकता है कि उनमें विजयशाली होने की योग्यता न हो, परंतु यह सत्य है कि उनमें त्याग की आवश्यक भावना थी तथा स्वधर्म और स्वसमाज के लिए हंसते हुए मृत्यु का आलिंगन करने की शूरता थी। इस व्यक्तिगत बलिदान के अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे समाज में वीरों के पूरे के पूरे समूहों ने अपने आपका, जिसे वे योद्धा का कर्तव्य समझते थे, क्षात्रधर्म की मर्यादा बनाए रखने के लिए सामूहिक बलिदान किया।

राजपूतों का इतिहास इस प्रकार की रोमांचकारी घटनाओं के स्फुलिंग के प्रकाश से आलोकित है। चारों ओर क्रूर शत्रुओं से घिरे होने और आशा की कोई किरण न रहने पर हिंदू वीरता और पराक्रम के इन उत्कृष्ट उदाहरणों ने अपनी माताओं और बहनों, पत्नियों और पुत्रियों को जौहर की ज्वाला में कूदते देखा। फिर केसरिया बाना धारण कर अपनी चमकती तलवारों के साथ शत्रुसेना में घुस पड़े- कभी न लौटने के लिए। उन्होंने पराजय और अपमान के घृणित जीवन की तुलना में सम्मानपूर्ण बलिदान को अधिक अच्छा समझा। राजपूतों ने पराक्रम और आत्म-बलिदान के इन महान् कार्यों के द्वारा हमारे इतिहास में चकाचौंध तथा विस्मयपूर्ण श्रद्धा उत्पन्न

करने वाला एक पृष्ठ लिख दिया है। अनुपम वीरता के ऐसे ज्वलंत क्षण, मृत्यु के खिलवाड़ करने की ऐसी उल्लासपूर्ण वृत्ति, विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। यह ठीक ही है कि हम ऐसी आत्माओं के विषय में अभिमान और आदर की भावना रखें, परंतु यह सत्य है कि ये वीर रणक्षेत्र में मृत्यु का एकमात्र विचार लेकर घुसे थे, विजय की इच्छा लेकर नहीं। वे केवल वीरतापूर्ण मृत्यु प्राप्त करने के विचार से प्रेरित थे।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राडः योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः।।

(विदुर नीति १-६६)

(योगयुक्त संन्यासी और रण में सामना करते हुए मरने वाला वीर संसार में सूर्यमंडल को भेदकर एक-सी आध्यात्मिक परमगति को प्राप्त होते हैं।)

जब युद्ध के लिए आह्वान होता था, तब राजपूत योद्धा इसी विश्वास से अनुप्राणित हो प्रसन्नतापूर्वक, मृत्यु की तनिक भी चिंता न करते हुए शत्रु दल पर धावा बोल देते थे।

जैसी इच्छा, वैसा ही परिणाम। यदि विजय की इच्छा सर्वोपरि है, तो विजय प्राप्त होती है। जो केवल मृत्यु की कामना करता है, उसे अवश्य मृत्यु मिलती है। जो केवल मृत्यु की आकांक्षा करता है, उसे यदि हम अमृतकुंड में भी डाल दें, तो वह अवश्य ही उसमें डूबकर मर जाएगा। उसे कोई बचा नहीं सकता। कामनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के नीचे बैठने वाला व्यक्ति जो इच्छा करता है, वह पाता है। इसी प्रकार योद्धा के नाते अपना कर्त्तव्य पूर्ण करने वाला वीर जो भी प्रबल कामना करता है, भगवान उसे वही वरदान देते हैं। राजपूतों का बलिदान निस्संदेह रीति से असाधारण पराक्रम और स्वाभिमानी तथा निडर वृत्ति का परिचायक है, परंतु साथ-ही-साथ वह एक गलत और आत्मघाती आकांक्षा का प्रतीक है। वह हमारे भारतीय शौर्य की गाथाओं का एक स्मरणीय, परंतु दुःखद अध्याय है।

प्रतिक्रिया नहीं, क्रिया

क्षात्रधर्म की एक गलत धारणा के ही कारण इन वीरों ने बलिदान की आकांक्षा लेकर स्वयं को नष्ट कर दिया। यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। परिस्थितियों की मार न सह सकने के कारण सामूहिक रूप से क्रोधावेश में भर जाना और उसके बोझ से नष्ट हो जाना हमारा आदर्श नहीं हो सकता। इस प्रकार के भावुकतापूर्ण स्वाभिमान धारण करने वाले वर्ग में वैसी शांत और स्थिर संकल्पशक्ति नहीं हो सकती, जो परिस्थितियों की किंकर्त्तव्यविमूढ़ करने वाली कशमकश में भी अनुद्विग्न बनी रहे।

केवल ऐसी संकल्प-शक्ति ही अंतिम विजय की ओर ले जा सकती है। एक प्रतिक्रियात्मक मस्तिष्क, जो छोटा-सा आघात होने पर भी संतुलन खो बैठता है, निकृष्ट कोटि का होता है। एक पशु, जिसमें तर्क करने की शक्ति नहीं है, केवल प्रतिक्रियात्मक जीवन व्यतीत करता है। उसमें शांतिपूर्वक सोचने और कार्य करने की शक्ति नहीं होती, जिसके द्वारा वह प्रतिकूल परिस्थितियों से प्राप्त प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर कार्य नहीं करते। वे परिस्थितियों पर विजयी हो सके, परन्तु बुद्धिमान और परिपक्व व्यक्ति केवल परिस्थितियों को अपना दास बनाने दृढ़शक्ति लेकर साहसपूर्वक कार्य करते हैं। मनुष्य बोलकर अपनी स्वयं की इच्छा व्यक्त करता है, जबकि एक निष्प्राण पहाड़ी से केवल प्रतिध्वनि निकलती है। कुत्तों के भौंकने की नकल बच्चे करते हैं, प्रौढ़ व्यक्ति नहीं। एक निर्बुद्धि प्राणी दुर्बल प्रतिक्रिया व्यक्त कर स्वयं को ही नष्ट कर लेता है। मरना या मारना समझदार व्यक्ति के लिए कभी भी आदर्श नहीं हो सकता। उसका दृष्टिकोण रचनात्मक होता है। वह अपने सुविचारित मार्ग, जो उसे अंतिम विजय की ओर ने जाता है, पर चुपचाप बढ़ता जाता है। ऐसे ही हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने विजय की आराधना की तथा जीवन का अपना उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त किया।

वास्तविक धर्म

हमारे एक सर्वोच्च आदर्श श्रीराम विजय के इस दर्शन के एक ज्वलंत उदाहरण हैं। स्त्रियों का वध करना क्षात्रधर्म के विपरीत माना जाता है। उसमें शत्रु के साथ खुले लड़ने का आदेश भी है। फिर भी श्रीराम ने ताड़का राक्षसी का वध किया और बालि पर पेड़ के पीछे से प्रहार किया, क्योंकि श्रीराम को दुष्टों का नाश कर धर्मराज्य की पुनर्स्थापना करने के अपने परम कर्तव्य का ज्ञान था। एक स्त्री का वध करना पापपूर्ण है, परंतु व सिद्धांत राक्षसी के लिए लागू नहीं किया जा सकता। युद्ध करने की विधि भी शत्रु की प्रकृति के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। यही क्षात्रधर्म की सही कल्पना है और श्रीराम ने उसका अनुसरण किया। उस काल में श्रेष्ठ गुरु थे, जो सही धारणाएं सिखाते थे और ऐसे पराक्रमी शिष्य थे, जो उनका अनुसरण करते थे।

यही स्थिति श्रीकृष्ण और अर्जुन के विषय में है। महाभारत का महायुद्ध प्रारंभ होने के ठीक पूर्व अपने विरोध में भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों और स्वजनों को खड़ा देखकर अर्जुन का उत्साह ठंडा पड़ गया। उसने अपना धनुष फेंक दिया। उसे भ्रमित होते देख श्रीकृष्ण ने यह कहकर उसे जागृत किया- 'तुम्हारा नाम ही विजय नहीं है। तुम्हारा कर्तव्य रणक्षेत्र में विजय प्राप्त करना है। फिर स्वयं को तुम इस प्रकार क्यों भ्रमित

करते हो? तुम्हारा सर्वप्रमुख कर्तव्य अधर्म तथा उसके समर्थकों, चाहे वे कोई भी क्यों न हो, को नष्ट कर साधु तथा न्यायी पुरुषों का वर्चस्व प्रस्थापित करना है।।'

युद्ध के बीच जब कर्ण कीचड़ में फंसे हुए अपने रथ के पहिये को निकालने के लिए उतरा, तब श्रीकृष्ण ने उस पर बाण छोड़ने का अर्जुन को आदेश दिया। कर्ण ने अर्जुन से यह कहकर धर्म की दुहाई दी कि नि:शस्त्र और बिना रथवाले प्रतिपक्षी पर प्रहार करना अधर्म है। तब योगिराज श्रीकृष्ण गरजकर बोले, 'अरे कर्ण ! तुमने आज तक धर्म के कौन-से आदेशों का पालन किया है, जो आज तुम हमें धर्म की शिक्षा देने चले हो? तुम्हारा धर्म कहां गया था, जब तुम सबने नि:शस्त्र बालक अभिमन्यु को घेर लिया और उसकी निर्लज्जतापूर्वक हत्या कर दी थी? तुम्हारा धर्म कहां अदृश्य हो गया था, जब तुमने एक निस्सहाय स्त्री द्रौपदी का खुली सभा में अपमान किया था? मैं एक ही धर्म की रक्षा करना जानता हूँ और वह है धर्मराज।' चूंकि श्रीकृष्ण ने यह सही दृष्टिकोण रखा था और इससे अर्जुन की संकल्प-शक्ति को दृढ़ बनाया था, इसीलिए वह युद्ध में लड़ सका और धर्म के पक्ष को विजयी बना सका।

विजय की इच्छा-शक्ति का तत्त्वज्ञान

तत्त्वज्ञान रहा है अधर्म की शक्तियों पर धर्म की शक्तियों की विजय का, जिसकी शिक्षा सहस्राब्दियों से दी गई है और जिसके अनुसार आचरण किया गया है। आज भी पाप की दानवी शक्तियां, विश्व-सहारक शस्त्रास्त्र लेकर विश्व के रंगमंच पर शान के साथ चलती दिखाई देती है और मानवता के भविष्य के लिए संकट उत्पन्न कर रही हैं। हम केवल अपने तत्त्वज्ञान, जो हमारी विजय की इच्छा-शक्ति को दृढ़ीभूत करता है, के ही बल पर समस्त संसार को अधर्म की इस नई चुनौती का सामना करने की प्रकरणा दे सकते हैं। कई बार पश्चिम के सुविख्यात विचारक भी भविष्य के संबंध में निराश हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, बर्ट्रेंड रसेल, जो पश्चिम के एब बड़े दार्शनिक माने जाते हैं, ने साम्यवादी शक्तियों से संघर्ष की अवस्था में आणविक महाविध्वंस की संभावना उपस्थित देखकर कहा 'मरने की अपेक्षा हम लाल (साम्यवादी) हो जाएं।' यह कैसा दार्शनिक है, जो पौरुष का नहीं, निराशा का उपदेश देता है। वास्तव में साम्यवादी यही चाहते हैं कि उनके आक्रमण के प्रति मानसिक विरोध समाप्त हो। हमारे तत्त्वज्ञान ने और हमारे विचारकों ने तो अधर्म की शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में निराशा का उपदेश कभी नहीं दिया। अधर्म की शक्तियों पर धर्म की शक्तियों की अंतिम विजय का विश्वास हमारे रक्त में दृढ़मूल है। राक्षसों का नाश करना और मानवधर्म का साम्राज्य स्थापित करना अति

प्राचीनकाल से हमारी परंपरा रही है। वस्तुत: मनुष्य का वास्तविक पुरुषत्व राक्षस के ऊपर अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित करने में है। क्या हम नहीं जानते कि अपने प्रारंभिक दिनों में मनुष्य जंगली शिकारी जानवरों, यद्यपि वे शारीरिक दृष्टि से कहीं अधिक भयानक और शक्तिशाली थे, से परास्त नहीं हुआ? उसने उन्हें जीत लिया और अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित की। साम्यवादी भी आज विनाश की भीषण शक्तियों से संपन्न दिखाई दे सकते हैं, परंतु मनुष्य में अंतर्जात अच्छाई की शक्ति कहीं अधिक प्रबल है, जो दुष्ट शक्तियों को अवश्य एक दिन पराजित कर देगी। मानव-इतिहास का सही अध्ययन यही बताता है और दर्शन के हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी हमें यही शिक्षा दी है।

अत: हम अपना संपूर्ण ध्यान और शक्ति अधर्म की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के अंतिम लक्ष्य पर केंद्रित कर उस मार्ग पर चलने का निश्चय करें। धर्म की शक्तियों की अंतिम विजय की कसौटी पर हमको बाह्यत: अच्छे या बुरे लगने वाले प्रत्येक कार्य की परीक्षा करनी चाहिए। केवल वही अच्छा और सराहनीय है, जिसके द्वारा पुण्यात्माओं और धर्मात्माओं को विजय प्राप्त होती है। विजयी व्यक्तियों और महापुरुषों के उदाहरण तथा शिक्षाएं अपने सही स्वरूप में विजय की आवश्यक संकल्प-शक्ति की हमें प्रेरणा दे सकती हैं और धर्मस्थापना के, अर्थात् सारे संसार में धर्म की प्रतिष्ठापना, जो युगों से हमारे राष्ट्रीय जीवन का उद्देश्य रहा है, के मार्ग में वे हममें सही विवेक जागृत कर सकती हैं।

❑❑❑

२४

विजय के लिए संघर्ष

१. समुचित उपाय

विश्वासघात

लोगों का कहना है कि चीन द्वारा हमारे देश पर आक्रमण २० अक्टूबर १९६२ से ही हुआ है। यद्यपि हमारी सरकार तो चीन के इस आक्रमण पर अकस्मात सहसा जागी-सी प्रतीत होती है, फिर भी चीन का यह ताजा अतिक्रमण अनपेक्षित कदापि नहीं है। जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया और वहां बलात् कब्जा कर लिया था, तभी यह स्पष्ट हो चुका था कि हमारे प्रति चीन के इरादे सद्भावनापूर्ण नहीं है। एक ओर रूस और दूसरी ओर समुद्र से घिरे चीन को अपनी विस्तारवादी भूख के लिए निर्बल स्थान तिब्बत ही दिखाई दिया। अंग्रेजों ने भारत और चीन के बीच एक 'संघात-सह राज्य' (बफर स्टेट) के नाते तिब्बत का स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखा था, किंतु अंग्रेजों द्वारा संपादित इस कार्य को नष्ट करने के उत्साह में हमारे वर्तमान सत्ताधारियों ने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। अब चीन हमारे भू-प्रदेश में घुस पड़ा, उसने हमारे क्षेत्र की १२००० वर्गमील की भूमि अवैध रूप से हथिया ली। इस तथ्य को हमारे नेताओं ने ही स्वीकार किया है। इन घटनाओं और तथ्यों के प्रकाश में हम चीन पर विश्वासघात करने का दोष लगाएं, यह कठिन है। वर्षों से हमारे देश की ओर चीन की कार्यवाहियां खुले रूप से शत्रुता की रही हैं।

इस वर्तमान संकट का मुकाबला करने के लिए प्रभावी उपाय-योजना सोच सकने के पूर्व हमें अपने मस्तिष्कों को पूर्व-निर्धारित विचारों के जालों से साफ कर लेना होगा और शत्रु के वास्तविक स्वभाव तथा उसकी तैयारियों की व्यापकता का ठीक-ठीक निर्धारण कर लेना होगा।

---

* अक्टूबर १९६२ के चीनी आक्रमण के पश्चात्

पूर्व चेतावनी की उपेक्षा की गई

सबसे पहले हमें यह ध्यान में रखना होगा कि चीन सदा से विस्तारवादी देश रहा है। यह उसके रक्त में है। डेढ़ सौ वर्ष से अधिक काल पूर्व नेपोलियन ने सावधान करते हुए कहा था- 'इस पीले दैत्य को न उठने दो, अन्यथा यह मानवता के लिए एक गंभीर संकट सिद्ध होगा।' सत्तर वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानंद ने विशेष रूप से सावधान किया था- 'अंग्रेजों के भारत छोड़ने के पश्चात् शीघ्र ही चीन भारत पर आक्रमण करेगा।'

हम संघ के लोग भी आठ वर्ष से स्पष्ट शब्दों में सावधान करते आ रहे थे कि चीन ने हमारे देश के सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कितने ही स्थानों पर अतिक्रमण किया है। उस समय कोई हम पर विश्वास करने को तैयार नहीं था। एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक पत्र के संपादक ने तो यहां तक कहा कि हम एक पागल की तरह बात करते हैं। अब हमारे नेता कहते हैं कि उन पर यह आकस्मिक आघात हुआ है।

अब तो चीन के विस्तारवादी रक्त के साथ-साथ साम्यवाद का नशा भी है, जिसकी विचारधारा अत्यंत आक्रामक, विस्तारवादी और साम्राज्यवादी होती है। इस प्रकार साम्यवादी चीन दो आक्रामक प्रवृत्तियों का विस्फोटक सम्मिश्रण है, जो इस कहावत को चरितार्थ करता है-

अपि च कपि: कापिशायन मदमत्त:

(एक तो वानर दूसरे मदिरा पिए हुए)। अत: यदि हम कम्युनिस्ट चीन की इस आक्रामक वृत्ति को केवल उसकी जातीय प्रकृति का लक्षण ही मानते रहेंगे और उसकी वर्तमान साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव भी उसका कारण है, ऐसा नहीं मानेंगे, तो हम अपने को भ्रम में रखते हुए उसका सामना करने की अपनी तैयारी में गलत पग उठाएंगे।

पीले संकट का स्वरूप

कुछ लोग कहते हैं कि चीन का यह आक्रमण 'ईश्वरीय वरदान' है, 'आवरण से ढका आशीष' है, जिसने हमारे लोगों को राष्ट्रीय एकता में आबद्ध कर दिया है। निस्संदेह लोगों ने समय की पुकार का उत्तर अत्यंत उत्तमता से दिया है और शत्रु को खदेड़ने के लिए अविचल निश्चय के साथ एक पुरुष के समान खड़े हो गए हैं, किंतु वे नहीं जानते कि अपने इस निश्चय के साथ एक पुरुष के समान खड़े हो गए हैं, किंतु वे नहीं जानते कि अपने इस निश्चय को किस प्रकार व्यक्त करें और उन्हें करना क्या है? जैसा वे अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए किया करते थे, उसी प्रकार उन्होंने जूलूस निकाले, प्रदर्शन किए, पुतले जलाए और

प्रस्ताव पारित किए। किंतु हमें यह बात भली प्रकार समझनी चाहिए कि यह शत्रु, जिसका सामना हम इस समय कर रहे हैं, नितांत भिन्न प्रकार का है। अंग्रेस सभ्य लोग थे, जो सामान्यतया कानून का पालन करते थे, किंतु चीनी जाति एक भिन्न प्रकार की समस्या है। उनमें सौजन्य, दया अथवा मानव-जीवन के प्रति सम्मान जैसे सामान्य मानवोचित गुणों तक का अभाव है। तथ्य यह है कि एक बार माओ-त्से-तुंग ने स्पष्ट रूप से अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी कि वह संसार में एक ऐसा युद्ध देखना चाहता है, जिसमें सभी आधुनिक आणविक अस्त्रों का पूर्ण और खुलकर प्रयोग हो। उसका तर्क था कि अमरीका, रूस तथा यूरोप के अन्य सभी देशों के अधिकतर जनों का पूर्ण विनाश हो जाएगा। यदि उस उपद्रव में चालीस करोड़ चीनी भी समाप्त हो गए, तब भी संसार पर शासन करने के लिए उनके पास पच्चीस करोड़ बचे रहेंगे। उनके लिए यह अत्यंत साधारण तर्क है। उन्हें मानव-जीवन की हानि की कोई चिंता नहीं है। उनके लिए यह घास के समान है, जो काटी जाती है और पुन: लगाई जाती है। कोरिया में भी यही अनुभव हुआ है। जब वे आक्रमण करते हैं, तब सैनिक एक के बाद दूसरे रेले की तरह आते हैं। जब एक सैन्य टुकड़ी समाप्त कर दी जाती है तो उसके स्थान पर दूसरी लगा दी जाती है।

कहा गया है कि मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही हो जाता है। चीनियों के लिए कहा जाता है कि वे द्विपादों में मनुष्य को नहीं खाते तथा चतुष्पादों में केवल मेज को ही छोड़ते हैं। वे चूहे, बिल्ली, सुअर, कुत्ते, सांप, तिलचट्टा आदि सब कुछ खा लेते हैं। ऐसे लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनमें मानवोचित गुण होंगे। अत: जो कला सुसभ्य अंग्रेजों की विरुद्ध प्रयोग में लाई गई थी, उसे चीनियों के साथ व्यवहार में लाने से कोई लाभ नहीं। उन्हें 'धोखेबाज', 'अधम' आदि कहकर उनको दोष देने से भी कोई लाभ नहीं। इस प्रकार की गालियां दुर्बलों द्वारा व्यक्त अभिशाप मात्र होती हैं, जो घूंसे के बदले में घूंसा नहीं मार पाते, अत: अपने शत्रु को गाली देकर अपने मन को समझा लेते हैं। हमें ऐसे निम्नकोटि के विचारों के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

हमें यह भी स्मरण रहे कि आज संपूर्ण चीन एक सशस्त्र शिविर है। प्रत्येक वयस्क शस्त्रास्त्र चलाने में प्रशिक्षित है। उनके हमसे श्रेष्ठतर हैं। उनके नेता गत कई शताब्दियों से भी अधिक काल से लगातार खूनी युद्ध के वातावरण में पैदा हुए और पले हैं।

फिर भी हम इन प्रतिकूल तत्त्वों को ठीक कर सकते हैं, यदि मन लगाकर दृढ़तापूर्वक सही दिशा में प्रयास करने के लिए आगे बढ़ें।

इच्छाशक्ति दृढ़ बनाएं

एक राष्ट्रव्यापी सुनिश्चित एवं संगठित प्रयास के लिए सबसे पहली आवश्यकता है, फौलादी आकांक्षा की। एक लंबे और कटु संघर्ष की संभावना है। कष्टों एवं बलिदानों के लिए हम सभी का आह्वान होगा। हम सभी इन कठिनाइयों का सामना दृढ़ता एवं प्रसन्नता के साथ करें। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपनी मातृभूमि के लिए उपासना की जो भावना हमारे हृदयों में इतने समय से सुप्त रूप से पड़ी हुई है, वह अब उद्दीप्त होगी तथा स्वार्थ एवं ईर्ष्या के घने अंधकार को बहिष्कृत करेगी। राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दान देने के लिए इतने लोग आगे आ रहे हें कि उन्हें देखकर प्रोत्साहन मिलता है। मैं आशा करता हूँ कि अधिकाधिक लोग इससे भी अधिक देंगे। शारीरिक दृष्टि से योग्य सभी व्यक्तियों को सेना में सेवा करने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा उनकी माताओं को इस परीक्षा में उन्हें आशीर्वाद देकर विदा करना चाहिए। जब महाभारत-युद्ध के पूर्व पांचों पांडव अपनी माता कुंती से मिलने गए, तब उसने यह कहते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'तुम सब युद्ध में जाओ और अपनी संपूर्ण शक्ति इस धर्मयुद्ध में लगा दो, क्योंकि इसी अवसर के लिए क्षत्राणी पुत्रों को जन्म देती है।' इस समय भी प्रत्येक माता को इसी प्रकार के पराक्रम को जाग्रत करने वाले ओजस्वी भाव व्यक्त करने चाहिए।

यह स्मरण रहे कि आधुनिक युद्धों में एक संपूर्ण राष्ट्र दूसरे संपूर्ण राष्ट्र से युद्ध करता है। इसमें सभी का योगदान होना चाहिए। ये युद्ध केवल सेनाओं में ही नहीं हुआ करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, वैज्ञानिक एवं उद्योगपति से लेकर श्रमिक एवं कृषक पर्यंत सभी को राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना से परिश्रमपूर्वक अधिकाधिक कार्य करना होगा तथा वैयक्तिक एवं दलीय झगड़ों और अधिकारों के अन्य सभी विचारों को इस काल के लिए अलग रखना होगा।

नेतृत्व परीक्षा पर

दूसरी आवश्यकता है एक ऐसे नेतृत्व की, जिसके संकल्प में वज्र के समान दृढ़ता हो, जो वर्तमान संकट में भीति के कारण शांतिवार्ता के लिए न झुके। किंतु हमारे कुछ चोटी के नेता शांति की भावनाओं में इतने विवेकभ्रष्ट हो गए हैं कि युद्धबंदी के लिए चीनियों की घोषणा मात्र से ही उनके पैर उखड़ गए हैं। वे सोचते हैं कि किसी भी मूल्य पर शांति मोल ले लेनी चाहिए। 'किसी भी मूल्य पर शांति को मोल लेने' की इस प्रवृत्ति के कारण ६० वर्ष पूर्व हमारे देश का विभाजन हुआ था। उसके पश्चात् भी इसी प्रवृत्ति के कारण हमने एक-तिहाई कश्मीर भी खोया। अब

बेरुबाड़ी जा रहा है। वर्तमान संकट में कम से कम अतीत के इन दु:खद प्रसंगों की शिक्षाओं से हमारी आंखें खुल जानी चाहिए।

अतएव जनमत को शिक्षित और संचालित कर समाज की सामूहिक इच्छा को जागृत करना हमारा कर्तव्य है, जिससे कि हमारे नेतागण आक्रांताओं से कोई अपमानजनक समझौता न कर सकें। शत्रु को तिब्बत से निकाल बाहर किए बिना युद्धबंदी स्वीकार करना सामरिक दृष्टि से भयंकर भूल होगी। कश्मीर में युद्धबंदी का जो अनुभव हुआ है, वह हमारे लिए पर्याप्त चेतावनी होनी चाहिए। समय से पूर्व युद्धबंदी हमारी सेना एवं जनता का केवल उत्साह भंग करेगी। वास्तव में इससे उनके महान् बलिदान व्यर्थ हो जाएंगे। यदि हमारे नेता राष्ट्र के संघर्ष को आवश्यकतानुसार उत्कटता से नहीं चला सकते, तो उन्हें चाहिए कि दृढ़तर तत्त्व से निर्मित लोगों के लिए स्थान खाली करें। प्रतिभा और मेधा शक्ति पर कुछ व्यक्तियों का ही एकाधिकार नहीं होता, चाहे वे व्यक्ति वर्तमान काल के कितने ही प्रभावशाली तथा लोकप्रिय क्यों न हों। योद्धाओं की अमर जाति की माता–भारत में पराक्रमी एवं सामर्थ्यवान नेताओं का अभाव कभी नहीं रहा।

हम अपनी ओर से पीछे हटना और प्रयत्नों का शैथिल्य कभी सहन नहीं कर सकते। यदि हम चीनियों को अपने भू–प्रदेश पर जमे रहने देते हैं तो हम उन्हें स्वस्थ होने का समय तथा और अधिक विस्तार के लिए आधार प्रदान करते हैं। इससे भविष्य के लिए हमारे राष्ट्र की सुरक्षा संकट में पड़ जाएगी। इसलिए हम सबका यह कर्तव्य है कि इस निर्णायक समय पर यह देखते रहें कि हमारे नेता फिसल न जाएं। हम उन्हें सावधान करते हुए साहस देते रहें, जिससे कि वे अपने महान् देश के सम्मान एवं प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए पराक्रमी पुरुषों की भांति कार्य करें।

शत्रु की घात–नीति से सावधान

चीनियों द्वारा युद्धबंदी की घोषणा से हमारे देश की जनता पर हुए उत्साह–भंग के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार सावधान करना और भी अधिक आवश्यक हो गया है। शत्रु की यह चाल है कि हममें झूठी सुरक्षा की भावना निर्माण कर उत्साह को ठंडा करते हुए हमारे युद्ध–प्रयत्नों को शिथिल कर दे और भी हमें असावधान पाकर और अधिक शक्ति से पुन: आक्रमण कर संपूर्ण देश पर अधिकार कर ले।

एक अन्य बात भी है, जिसका प्रभाव हमारे लोगों के मनोधैर्य पर विपरीत होता है। अब तक सुरक्षा–प्रयत्नों के लिए हम जो कुछ कर रहे हैं, वह केवल धन–संग्रह मात्र है। आरंभ में लोगों ने स्वयंस्फूर्ति व स्वेच्छा से धन दिया। यह अच्छा था,

क्योंकि इससे देशप्रेम की इच्छाशक्ति को जगाने एवं मूर्तरूप में प्राप्त कराने में सहायता ही हुई, किंतु बाद में सरकार नरे यह धन एकत्र करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। जन-उत्साह का प्रथम आवेश ठंडा भी हो रहा है। संपूर्ण देश से निश्चित और विश्वसनीय सूचनाएं प्राप्त हो रही हैं कि जनता से धन प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक तंत्र द्वारा सभी प्रकार के दबाव डाले जा रहे हैं। यह एक प्रकार से अवैध धनापहरण से कम नहीं है। जब सरकार इस प्रकार से दबाव डालने की युक्तियों पर उतर आती है, तो जनता के यह सोचने की संभावना रहती है कि 'यदि हमें इस प्रकार धमकाया जा रहा है, तो हमारे अपने शासन और विदेशी शासन में अंतर क्या रहा ?' इससे लोगों की स्वयंस्फूर्तता नष्ट होकर उनका उत्साह भंग होगा।

वास्तविक मितव्ययिता

यदि हम वास्तव में अपने आर्थिक साधनों को जुटाने का गंभीरता से विचार कर रहे हैं तो इसके लिए अन्य स्वस्थ उपाया हैं। प्रथम बात तो यह है कि संकटकाल घोषित हो जाने से अब हमें कुछ काल के लिए राज्य विधानमंडलों को भंग कर देना चाहिए। इससे करोड़ों रुपए वार्षिक की बचत होगी। केंद्र में एक दृढ़ निर्वाचित संसद् जनतंत्र की मांगों की भली-भांति पूर्ति कर सकती है। दूसरे, मद्य-निषेध कानून को समाप्त करो। इसका अर्थ मद्य की बुराइयों को न्यून समझना कदापि नहीं है। इसके विपरीत मदिरा के दैत्य को गहरा गाड़ देना चाहिए, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते, किंतु मद्यनिषेध की इस वर्तमान नीति ने अन्य अनेक सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया है, जो अब तक हमारे देश में नहीं थीं। मद्यासक्त लोगों को मद्य विपुल मात्रा में प्राप्त होता है, किंतु उसके लिए उन्हें अवैध उपाय अपनाने पड़ते हैं। फिर ऐसे लोग भी हैं, जो यह अवैध व्यापार चलाते हैं और उसमें सहायक होता है भ्रष्टाचारी अधिकारियों का संपूर्ण वर्ग, जो इस निषेध के द्वारा लाभान्वित होता है। वास्तविकता यह है कि निहित स्वार्थों वाले ये ही व्यक्ति मद्य-निषेध को चालू रखना चाहते हैं। यह जनता की नैतिकता को नष्ट करता है। यही वह नैतिक पक्ष है, जिसके कारण हम कहते हैं कि 'निषेध समाप्त करो।' शिक्षा एवं मनोरंजन की स्वस्थ आदतों तथा संस्कारों द्वारा हम इस मद्यपान की बुराई को दूर कर सकते हैं, कानून बनाने से नहीं। इसके द्वारा सरकार को राजस्व की अच्छी आय भी होगी।

इस आपातकालीन अवस्था का सामना करने के लिए जिन विशाल साधनों की आवश्यकता है, वह भी प्रत्येक क्षेत्र में जितना भी अधिक से अधिक संभव हो, मितव्ययिता करके ही जुटाए जा सकते हैं। किंतु दुर्भाग्य से आज

हमारे देश के उत्तरदायी व्यक्तियों को मितव्ययिता सबसे छोटा गुण प्रतीत होता है। हां, निस्संदेह सामान्यजन को वे मितव्ययता का उपदेश देते हैं। किंतु वे स्वयं जिस प्रकार से फिजूलखर्ची करते हैं, उससे कोई भी यह समझेगा कि वास्तव में वे इस बात को अल्प मात्रा में भी अनुभव नहीं करते कि देश के समाने कोई भयंकर संकट भी है। वे तो अपनी वर्तमान सत्ता की कुर्सियों को मजबूत करने में आंतरिक स्पर्द्धाओं में, अपने ही अनचाहे साथियों को निकालने में तथा इसी प्रकार की अन्य क्षुद्रताओं में इतने व्यस्त हैं कि देश की सुरक्षा के अपरिहार्य महत्त्व की सुदृढ़ तैयारी जैसी बातों पर विचार करने के लिए उनके पास समय ही नहीं है।

आलोचना का स्वागत

जब हम ये सब बातें कहते हैं, तो हमारे बड़े नेता हमें सावधान करते हैं कि इस संकटकाल में हमें उनकी आलोचना करने से विरत होना चाहिए। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि प्रामाणिक देशभक्ति की भावना से की गई आलोचना से उन्हें घबराना क्यों चाहिए ? क्या वे हमसे केवल यही आशा करते हैं कि उनके सभी कार्यों को शत-प्रतिशत ठीक मान लिया करें ? क्या ऐसी चापलूसी देशहित में होगी ? यदि उनकी सभी नीतियां और कार्य ठीक हैं, तो दूसरों को उनकी आलोचना का अवसर ही नहीं मिलेगा। यदि इसके विपरीत वे गलत हैं, तो हम उनकी आलोचना करने और उनका सुधार करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हैं। उन्हें भी जनता की आवाज को नम्रतापूर्वक सुनना और उसका सम्मान करना चाहिए। हमारे नेताओं का आलोचना से शीघ्र कुपित हो जाना ही यह संकेत देता है कि आलोचना के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश होने की संभावना है।

प्रामाणिक आलोचना का दमन जनता की आवाज का गला घोंटने से कम नहीं होगा, जो हिटलर और स्टालिन के अत्याचारी शासन का स्मरण कराने वाला होगा। किंतु यह स्मरण रहे कि इस प्रकार का अनियंत्रित शासन अल्पकालीन हुआ। उनके विदा होते ही इतिहास ने उन्हें क्षमा नहीं किया और विश्वास ने उनकी पूर्णरूपेण भर्त्सना की। एक और बात है, जैसे ही व्यक्ति सत्ता के उच्च स्थान पर पहुंचते हैं, वे जनता की आलोचना के विषय बन जाते हैं। हमारे नेताओं को इंग्लैंड से शिक्षा लेनील चाहिए, जो दो विश्वयुद्धों की अग्निपरीक्षा में से गुजरा, किंतु जिसने जनता की आवाज को एक बार भी नहीं दबाया और नागरिक-स्वाधीनताओं को बराबर अक्षुण्ण बनाए रखा।

सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के समय हमारे सुयोग्य गृहमंत्री ने राजनीतिक दलों के विरुद्ध राज्यसभा में बहुत बातें कहीं तथा इसके बाद ही कांग्रेस द्वारा इस आशय का एक 'गुप्त' परिपत्र प्रसारित किया गया कि जो लोग सरकार और पंडित नेहरू की आलोचना करते हैं, उन्हें देशद्रोही बताकर उनसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। निस्संदेह आचार्य रंगा के आपत्तिसूचक पत्र के उत्तर में नेहरू ने कहा था कि यह शब्दावली अनुचित थी। किंतु ध्यान दीजिए, उन्होंने केवल 'अनुचित' कहा, 'असत्य' नहीं। क्या ऐसे प्रभाव से जनता में पक्षभेद उत्पन्न नहीं होंगे–एक ओर कांग्रेस तथा दूसरी ओर शेष सभी। इतने पर भी वे कहते हैं कि दूसरे लोगों की आलोचना नहीं करनी चाहिए, वरन् एकता के लिए कार्य करना चाहिए। एक बड़े कांग्रेसी नेता ने कहा कि दूसरे सभी राजनीतिक दलों को कठोर नियंत्रण में रखना चाहिए, अन्यथा वे लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं और अगले निर्वाचनों में कांग्रेस की विजय को दुरूह बना सकते हैं। इस पर एक स्थानीय कांग्रेसजन इस विचार को सहन न कर सका और उसने खुले रूप से प्रत्युत्तर दिया 'यदि चीनी आ गए तो अगला निर्वाचन होने की संभावना ही कहां है?'

जो व्यक्ति देश के कर्णधार हैं, उन्हें इस प्रकार की अप्रजातांत्रिक बातें बंद करनी चाहिए। युद्ध में रत नेतृत्व के लिए यह अयोग्य होगा। वे अपने को राष्ट्रीय नेता समझें, एक ही दल का नेता नहीं। हम अपने को यह बात पुन: स्मरण दिलाएं कि हमारा सबका एकमात्र शत्रु चीन है तथा पारस्परिक विरोध, संदेह एवं स्पर्धा के वशीभूत हो जाना हमें शोभा नहीं देता। हम आशा करें कि हमारे सभी नेता जनता के मनाधैर्य का निर्माण करने वाले सभी मामलों में अपना उदाहरण प्रस्तुत कर अवसर के अनुरूप सिद्ध होंगे।

व्यक्तिपूजा का संकट

कुछ लोग हमारे सुयोग्य प्रधानमंत्री के प्रति इस प्रकार की स्पष्ट एवं मैत्रीपूर्ण चेतावनियों को उनके प्रति प्रेम और सम्मान के अभाव का सूचक मानने की भूल करते हैं। वे पूर्णतया भ्रम में हैं। वे चापलूसी को ही सम्मान मान बैठे हैं। हम प्रधानमंत्री का सम्मान करते हैं और उन्हें विश्व का एक महान व्यक्तित्व मानते हैं, किंतु हम उनकी चापलूसी नहीं कर सकते, उन्हें भूलों से परे नहीं मान सकते। यह उनके लिए भी भला नहीं होगा। कम्युनिस्ट तथा इसी प्रकार के अन्य लोग उच्च स्तर से कहते रहते हैं कि हमें नेहरू के हाथ मतबूत करने चाहिए। स्पष्ट है कि यह केवल उनकी चापलूसी करके अपने प्रच्छन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हैं। किंतु हम

कहते हैं कि हम नेहरू के हृदय को मजबूत बनाएं। यदि हम यह करते हैं तो अपने आप उनके हाथों को मजबूत बनाते हैं।

इस प्रकार की 'व्यक्तिपूजा' हमारी संस्कृति और परंपराओं के लिए पराई ही नहीं, वरन् हमारे राष्ट्रीय हितों के लिए भी अति हानिकारक होगी। पानीपत के तृतीय युद्ध में हिंदू सेना के मुख्य सेनापति सदाशिवराव भाऊ किसी कारण हाथी से उतरकर घोड़े पर सवार हो गए। देख न सकने के कारण सैनिकों ने उन्हें मरा हुआ समझ लिया और धैर्य छोड़कर भाग खड़े हुए। यह इसलिए हुआ कि सदाशिवराव का व्यक्तित्व ही एकमात्र ऐसा केंद्र था, जिससे संपूर्ण सेना प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करती थी। दूसरी ओर शिवाजी के पश्चात् बीस वर्ष तक महाराष्ट्र में कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं था। संभाजी पकड़ा गया, यातना देकर उसकी हत्या कर दी गई। शाहू मुगलों का बंदी था। राजाराम को पृथक् करके जिंजी में घेर लिया गया था, किंतु प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार युद्ध करता रहा, मानो स्वराज्य तथा शिवाजी की आत्मा ने उसमें जन्म ग्रहण कर लिया हो। उनसे लड़ते-लड़ते बीस वर्ष के पश्चात् पराजित एवं भग्नहृदय औरंगजेब मर गया। इस प्रकार का महत् अंतर है व्यक्तिपूजा और आदर्श के प्रति समर्पण में।

लाल प्रवंचना

तृतीय बात यह है कि हमें अपने देश के आंतरिक संकट से अत्यंत सावधान रहना चाहिए। जैसा हमें ज्ञात है, अपने बीच में पर्याप्त संख्या में ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि चीनी सेना 'मुक्तिसेना' है। उनके कुछ चोटी के लोगों ने तो यहां तक खुलकर कहा है कि आक्रांता चीन नहीं, वरन् भारत है। आज भी सीमा-क्षेत्रों में कम्युनिस्ट यह जोरदार प्रचार कर रहे हैं कि धर्मराज्य की स्थापना के लिए चाऊ-एन-लाई के रूप में पृथ्वी पर श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है। उन्होंने चंदा भी किया है और जनता से कहा है कि इन रसीदों को सुरक्षित रखें तथा चीनियों के आने पर उन्हें दिखाएं, जिससे वे मित्र के रूप में पहचाने जाएंगे। इस प्रकार के दल को हमारे प्रधानमंत्री द्वारा शत-प्रतिशत राष्ट्रीय होने का शुद्ध प्रमाणपत्र दिया जा चुका है।

एक सूचना के अनुसार कम्युनिस्टों ने असम में भी तोड़-फोड़ करने का प्रयत्न किया है। देश के अन्य भागों में भी वे ऐसा ही करने का प्रयास कर सकते हैं, किंतु आश्चर्य इस बात का है कि इन पर तो निगाह ही रखी जाती है और न नियंत्रण। उल्टे प्रतीत यह होता है कि हमारी सरकार और जनता इनी चालबाजियों में फंस जाती है। कहा जाता है कि इनका दल पीकिंगवादी तथा मास्कोवादी-दो गुटों में विभक्त हो गया है, इसमें फूट पड़ गई और दोनों ही एक-दूसरे के कटु विरोधी हैं। स्मरण रखिए कि इनमें भारतवादी गुट एक भी नहीं है। जिसे कम्युनिस्ट-

कला का स्वल्प भी ज्ञान है, वह इस कल्पित कथा में कभी विश्वास नहीं करेगा। यह तथाकथित फूट जनता को छलने की एक चाल मात्र है। उनकी योजना यह है कि एक गुट तो प्रधानमंत्री तथा उनकी नीतियों का साथ देता रहे, जिससे वे अपने को सामान्य जनता के विश्वास में स्थानप्राप्त करा सकें ओर इस आवरण के पीछे दूसरा गुट गुप्त रूप से शस्त्रास्त्रों का संचय करके गुरिल्ला युद्ध में प्रशिक्षित हो जाए, ताकि कुछ ही महीनों में वे संपूर्ण देश में, विशेष रूप से असम और बंगाल में विद्रोह करने के लिए सुसज्ज हो सकें तथा प्रशासन को भंग कर संपूर्ण देश पर चीनियों के आक्रमण को सुलभ बना सकें। वास्तव में यही हो रहा है। गुरिल्ला-युद्ध की शिक्षा दी जा रही है।

चीनी पहेली

हमें इससे चीनियों की आकस्मिक एवं अनपेक्षित युद्धबंदी के पीछे जो कारण है, इसका संकेत प्राप्त होता है। वे जिस समय वास्तविक रूप से विजेता थे, उसी समय उन्होंने युद्धबंदी की घोषणा करके समस्त विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। यह एक अद्‌भुत कृत्य था कि विजयी स्वेच्छा से युद्ध रोक दे तथा शांति का अति उदार संकेत करे। इस रहस्य को समझने के लिए विविध सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। एक सिद्धांत है कि चीनियों ने यह अनुमान लगाया था कि इस देश के लोगों को एक-दूसरे से कलह करना इतना रुचता है कि उनके झगड़े तथा विभेद उसी प्रकार चलते रहेंगे और उनसे लाभ उठाकर वे सरलता से देश को जीत सकेंगे। किंतु उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आक्रांता को निकाल बाहर करने के लिए संपूर्ण देश एक व्यक्ति के समान खड़ा हो गया। चीनियों केलिए यह अनपेक्षित था। अतएव उन्होंने अपने आक्रमण को रोक देना ही अच्छा समझा।

दूसरा सिद्धांत है कि चीनियों को यह आशा नहीं थी कि भारत के लिए अमरीका आदि मित्र देशों से शस्त्रास्त्र तथा अन्य प्रकार की सैन्य-सहायता इतने कम समय में प्राप्त हो सकेगी। वास्तव में जिस क्षिप्रता और क्षमता से अमरीकी सहायता हमारे लिए आई, उसकी हृदय में प्रशंसा करनी ही चाहिए। इससे चीनी विस्मयाभिभूत हो गए और एक भीषण प्रत्याक्रमण के भय से वे और आगे बढ़ने से विरत हो गए।

कुछ लोग, लो चीन तथा रूस की प्रत्येक बात की प्रशंसा करते रहते हैं, कहते हैं कि चीनी केवल उसी भू-भाग पर अपना अधिकार जमाने आए थे, जिसे वे अपना बताते थे। उन्होंने मैकमहोन सीमा रेखा को स्वीकार नहीं किया था। वे कहते

हैं कि वास्तविक सीमा कहीं और दक्षिण में है, इसलिए वे उस सीमा तक आए, जिसे वे ठीक समझते थे। एक प्रकार से उन्होंने अपने अधिकार को व्यक्त किया और लौट गए। यह कहना चीनियों को पर्याप्त प्रशंसा देना है।

गहरी चाल

तथापि एक और तथ्य उपेक्षित ही रह गया है। चीनियों के आक्रमण के काल में बंगाल के कम्युनिस्ट दल द्वारा विप्लव करने की एक योजना थी, जिसके अनुसार वे उतने व्यापक परिमाण में व्यवस्था भंग कर देना चाहते थे कि प्रशासन ही भंग हो जाता, अराजकता छा जाती और उस अवस्था का लाभ उठाकर चीनी हिमालय से लेकर कोलकाता तक सरलतापूर्वक अपने को सुस्थिर बना लेते। किसी कारणवश यह योजना विफल हो गई या यह हो सकता है कि कम्युनिस्ट तैयार नहीं थे, अथवा उनके हृदय की शक्ति ने अंतिम क्षण पर उन्हें धोखा दिया अथवा जनता अत्यंत सावधान होकर उनके विरुद्ध हो गई, जिससे उनमें उस योजना को आगे बढ़कर क्रियान्वित करने का साहस नहीं रहा। कारण कुछ भी हों, तथ्य यह है कि वे आक्रांता चीनियों ने सोचा कि उन्हें ओर अधिक उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने कुछ काल के लिए आक्रमण बंद कर दिया। जब हम इस तथ्य के अंशों को यहां कम्युनिस्टों की वर्तमान चाल के साथ देखते हैं, तो हमारे सामने एक ज्वालामुखी की विभीषिका का पर्याप्त सही और स्पष्ट चित्र उभरता है, जो चीनियों की वर्तमान युद्धबंदी की दृश्य रूप ऊपरी शांति के नीचे शनैः-शनैः उबल रहा है।

हरा संकट

हमारी आंतरिक व्यवस्था में एक अन्य संकट का स्थान सशस्त्र पाकिस्तानी पंचमांगी हैं, जो संपूर्ण देश में सामरिक महत्त्व के स्थानों पर मोर्चाबंदी किए हुए हैं। विविध प्रकार के घातक शस्त्र सीमांत क्षेत्रों में बसे हुए मुसलमानों को बांटे जा रहे हैं। संभवतः वे अनुभव करते हैं कि उनके लिए विद्रोह करने का यह स्वर्णिम अवसर है, जिससे वे हमारे नेताओं को घुटने टिकाकर पहले की भांति एक और भूखंड दे डालने के लिए बाध्य कर दें। सच बात तो यह है कि चीनी उर्वषीयम् क्षेत्र में चौकी के बाद चौकी पर अधिकार करते जा रहे थे, तब संपूर्ण देश में इस प्रकार के पाकिस्तानी तत्त्व बहुत हर्षित हुए थे। वे कहा करते थे 'तुम्हारे प्रति ठीक ही हो रहा है।' अभी हाल में ही हुई पाक-चीन की अपवित्र मैत्री के कारण वे और भी ढीठ हो गए हैं। जिस समय

जनता और सरकारी अधिकारी तेजपुर तथा अन्य क्षेत्रों को खाल कर रहे थे, उस समय केवल मुसलमान ही वहां रुके थे। वे कहते थे कि पाकिस्तान और चीन में गुप्त समझौता हो गया है कि असम को दोनों परस्पर बांट लेंगे, उत्तरी भाग चीन और दक्षिणी भाग पाकिस्तान का होगा, अत: वे सुरक्षित हैं। वे लोग सन् १९४६-४७ की भांति पूर्ण रूप से उन्मत्त हो गए थे और 'पाकिस्तान-जिन्दाबाद' तथा 'हंस के लिए है पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिंदुस्तान' के नारे लगाया करते थे। उन्होंने खाली किए हुए हिंदू घरों और दुकानों को लूटा। इसलिए सभी नागरिकों, जिनमें विचारवान मुसलमान भी सम्मिलित हैं, का यह कर्तव्य है कि इस प्रकार के पंचमांगी मुसलमानों से विशेष रूप से सावधान रहें तथा आंरभ से ही इन पर दृष्टि रखें, ताकि उन्हें आंतरिक शांति और व्यवस्था भंग करने का अवसरही न मिले। हमारे सुरक्षा-सिद्धांतों की यह सबसे बड़ी और पहली आवश्यकता है।

इस प्रकार के विध्वंसकारी तत्त्वों के साथ व्यवहार करते समय एक मार्गदर्शक सिद्धांत है कि उन्हें भी शत्रु जैसा ही मानकर कठोरतापूर्वक उनका दमन करना। महाभारत में एक अत्यंत बोधप्रद घटना है। जब राजा जनमेजय ने तक्षक के द्वारा अपने पिता परीक्षित के मारे जाने का बदला लेने के लिए सर्प यज्ञ किया, तब तक्षक ने भागकर इंद्र की शरण ली। तब जनमेजय तक्षक के साथ इंद्र को भी इस सर्वग्रासी अग्नि में आहूत करने के लिए उद्त हो गया तथा यह उच्चारण करके आहुति देने लगा-

'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा।'

इस प्रकार के कठोर उपाय ही शत्रु के संभाव्य इस्तकों के हृदयों में भीति उत्पन्न कर सकते हैं और उनसक निष्ठावान नागरिकों के समान व्यवहार करा सकते हैं।

तुष्टिकरण से भूख बढ़ती है

इसके बाद हमें अपने पड़ोसी देशों के साथ अपने संबंधों पर विचार करना होगा। विशेषतया वे विचार वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में होने चाहिए। जब हम इस प्रकार की कठित स्थिति में हैं, तब हमारा पड़ोसी पाकिस्तान हमें सता सकता है, क्योंकि नेहरू के शब्दों में पाकिस्तान का जन्म घृणा और रक्तपात से हुआ है। यह भी संभावना है कि हमारे नेता उसे संतुष्ट करने के लिए और अधिक देते जाएं तथा कश्मीर के मामले में समझौता कर लें। राजाजी और जयप्रकाश नारायण ने तो यह प्रार्थना ही की है कि किसी भी मूल्य पर पाकिस्थान के साथ शांति बनाए रखना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कश्मीर देकर भी, जिससे चीन

के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा बनाया जा सके। किंतु क्या इससे समस्या का समाधान होगा? इन तत्त्वों से संबंधित पूर्व इतिहास क्या बताता है? उनके हृदयों को जीतने के लिए अगणित प्रयोग किए गए थे। उनकी पीठें थपथपाई गईं और उन पर सुविधाओं की वर्षा की गई। अंत में हमने उन्हें अपनी मातृ-भू के भाग भी दे दिए। इतने पर भी वे संतुष्ट नहीं हुए। इन्होंने कश्मीर पर आक्रमण किया। उन्हें प्रसन्न करने के लिए हमने एक-तिहाई कश्मीर दे दिया। हमने उन्हें अपनी लागत से बनाई हुई नहरों का पानी दिया। इस सबके सिवाय उन्हें लगभग ८५ करोड़ रुपया भी दिया।

किंतु बदले में उन्होंने हमें क्या दिया? विभाजन की शर्तों के अनुसार हिंदुओं द्वारा पाकिस्तान में छोड़ी हुई संपत्ति के लिए उनकी ओर से मुआवजा दिया जाना चाहिए था। वह संपत्ति अरबों रुपए की थी। किंतु अब तक हमें एक पाई भी नहीं मिली। प्रत्येक वस्तु, जिसकी वे मांग करते हैं, हम देते चले आ रहे हैं। किंतु क्या हमें उनसे कोई चीज लेने में सफलता मिली है? यदि हम उन्हें अधिकाधिक देते हुए चुप रहने को कहेंगे, तो क्या वे और कुछ मांगने से रुकेंगे? यदि हम उन्हें कश्मीर दे देते हैं, तो वे असम और तत्पश्चात् बंगाल मांग सकते हैं। हम उन्हें जितना ही देते हैं, उनकी भूख उतनी ही बढ़ती जाती है। इसलिए यह इकतरफा व्यवहार रुकना ही चाहिए। पाकिस्तान के साथ वार्ता के लिए एक ही आधार है- चीन, भारत और पाकिस्तान दोनों के लिए समान संकट है। अतएव दोनों कंधे से कंधा मिलाकर उस शक्तिशाली शत्रु का सामना करने के लिए खड़े हों।' वार्ता के लिए केवल यही आधार होना चाहिए। यदि हम उन्हें तुष्ट करना आरंभ करते हैं, तो उसका अंत नहीं होगा।

मित्रों को पहचानो

अब हम पाश्चात्य देशों के साथ अपने संबंधों के विषय को लें। तटस्थ नीति में वैसे कोई दोष नहीं है। इसके विपरीत हमारी मूर्खता रही है कि हम वास्तव में पूर्ण तटस्थ नहीं रहे। हमारा झुकाव कम्युनिस्ट गुट की ओर अधिक रहा है। जब इंग्लैंड और फ्रांस ने स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर मिस्र पर आक्रमण किया था, तब हम प्रथम थे, जिन्होंने उसकी कठोरतम शब्दों में भर्त्सना की थी। किंतु जब चीन ने तिब्बत की हत्या कर डाली, तब हमने विरोध का एक शब्द भी नहीं कहा। जब रूसी टैंक हंगरी में घूम-घूम कर उनका स्वातंत्र्य-विद्रोह कुचलने लगे, तो हमने उसे न्याय्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यदि हम सच्चाई से निष्पक्ष रहे होते और जनतंत्र

के प्रति अपना समान प्रेम प्रकट किया होता, तो पश्चिम हमें विश्वसनीय मित्र के रूप में देखता। तथापि जब हमने कष्ट पड़ने पर उनकी ओर देखा, तब वे हमारी सहायता के लिए दौड़े आए। हमारे प्रति मित्रता की सभी स्पष्ट प्रतिज्ञाओं के होते हुए भी रूस ने हमारे लिए चार मिग हवाई जहाज, जो हमें बहुत पहले प्राप्त होने चाहिए थे, निश्चित समय के इतने पश्चात् भेजे कि हमारा संकटकाल व्यतीत हुए कई मास हो चुके थे। इससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि वे हवाई जहाज पानी के जहाज द्वारा भेजे गए, आकाशमार्ग से नहीं। उनकी उड़ान के विषय में हमने अब तक नहीं सुना है। मुझे नहीं मालूम कि सरकार उन घटनाओं को 'तटस्थता' कहती है या किसी 'गुट के साथ संबद्धता'।

हम केवल आशा ही कर सकते हैं कि सरकार समस्या को वास्तविक दृष्टिकोण से देखेगी और हमारे राष्ट्र को पूर्णरूपेण शस्त्रसज्जित बनाने के मार्ग में आडंबरपूर्ण घोषों तथा रूढ़ सिद्धांतों की बाधा नहीं आने देगी। हमें जहां से भी मिले, शस्त्रास्त्र लेना चाहिए। यदि जर्मनी प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व-दिवस तक इंग्लैंड से बंदूकें मोल ले सकता था और फ्रांस द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व दिवस तक जर्मनी को टैंक बेच सकता था तथा जर्मनी के विरुद्ध सभी देश, जिनमें रूस भी सम्मिलित है, इस युद्ध के मध्य अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त कर सकते थे, तो हमें उन देशों से शस्त्रास्त्र लेने में क्यों लज्जा आती है, जो हमें शस्त्र देने के लिए इच्छुक हैं, फिर वे देश कोई भी क्यों न हों?

विश्वसनीय प्रहरी को दृढ़ करो

हमारी उत्तरी सीमा पर एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिसे हमें सशक्त करना चाहिए। वह है नेपाल। अनंत काल से नेपाल हमारी राष्ट्रीय जीवन-पद्धति से एकात्म रहा है। वह एक सर्वसत्ताधारी राज्य है और हमारे लिए यह विषय प्रसन्नता का है। आकार में वह छोटा है, इसलिए यह देखना हमारा कर्त्तव्य है कि उसे कुचलकर उसका अस्तित्व न मिटा दिया जाए। चीन जैसी बड़ी और शक्तिशाली सत्ता के दबाव में नेपाल ने अपने दुर्बल क्षणों में ल्हासा-काठमांडू मार्ग का प्रस्ताव मान लिया है। हमारा यह कर्तव्य है कि इस बात पर दृष्टि रखें कि नेपाल की स्वतंत्रता एवं प्रभुसत्ता सुरक्षित बनी रहे। हम दोनों के सामने समान संकट है। हमें नेपाल की प्रभुसत्ता का सम्मान करना चाहिए और अपने निष्कपट भावों के प्रति उसके मन में विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उसके विद्रोहियों ने हमारे देश में शरण प्राप्त की है। यह नेपाल के हृदय में अत्यंत चुभने वाली बात है। इसके कारण उस देश में एक जोरदार भारत-विरोधी

प्रचार उत्पन्न हो गया है। हमें उन विद्रोहियों को नियंत्रित करना चाहिए और परंपरागत मैत्री के बंधों की पुनर्स्थापना करनी चाहिए।

हमारी पावन मातृभूमि की रक्षा हमारी आंतरिक एवं बाह्य सभी नीतियों की प्रथम कसौटी हो। यदि इसके लिए हमें अपनी सीमाओं को पार करना आवश्यक हो, तो इसमें हम जरा भी संकोच न करें। आज दलाईलामा हमारे बीच हैं। तिब्बती-जन अपने देश में चीनी सेनाओं से अभी तक लोहा ले रहे हैं। तिब्बत की मुक्ति के लिए यह तथ्य हमारे पक्ष में है। दलाईलामा को हम उसकी अपनी देशांतर सरकार की स्थापना करके तिब्बत की स्वतंत्रता की घोषणा करने दें। हम उसे अपने देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चलाने के लिए सभी आवश्यक सहायता दें। बिना स्वाधीन एवं मैत्रीपूर्ण तिब्बत के हमारी संपूर्ण उत्तरी सुरक्षा केवल उपहास मात्र है। किंतु हमारे प्रधानमंत्री कहते हैं कि यह पग 'स्पष्ट मूर्खता' है। यह समझने में हम असमर्थ हैं कि वे इस प्रकार के उदात्त कार्य का विरोध क्यों करते हैं, जिससे दलित जनों की स्वाधीनता-प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है और जो हमारे राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से भी सर्वाधिक अपरिहार्य है। वास्तव में हमारे स्वर्गीय सम्मान्य राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद ने ठीक ही कहा था कि शत्रु के प्रदेश में युद्ध को बिना ले जाए हम अपनी सीमाओं की रक्षा की आशा नहीं कर सकते। इसके लिए तिब्बत को मुक्त कराना प्रथम सैनिक पग है।

❑❑❑

२४

विजय के लिए संघर्ष

२. समुचित तत्वज्ञान

विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य

अपने संपूर्ण आंतरिक साधनों को संचालित करने, सब प्रकार की आंतरिक विरोधी शक्तियों को समाप्त करने, शत्रु के पूर्णतया विनाश तक युद्ध करने तथा इस पीली आपदा को पृथ्वी पर से मिटाने के लिए शक्ति का जो महान् और अक्षय भंडार हमें निर्माण करना है, वह है हमारे समाज के विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य का। इसके अभाव में कितनी भी बाह्य सहायता एवं सज्जा व्यर्थ होगी।

वास्तविक विभीषिका

हम जानते हैं कि चीन में जनतांत्रिक शक्तियों में चारित्र्य का अभाव ही कम्युनिस्ट क्रातिकारियों द्वारा उनके पराभव का एक प्रमुख निर्णायक कारण था। अमरीका ने इस जनतंत्र की रक्षा के लिए अपनी पूरी शक्ति से प्रयत्न किया। अमरीका ने उसे करोड़ों डालर की सहायता दी, विपुल नवीनतम शस्त्रास्त्रों तथा युद्ध-सामग्री से वहां की सेना को सुसज्जित किया, जिससे वह कम्युनिस्ट विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन कर सके। किंतु इतिहास हमें बताता है कि सेना के अधिकारी तक क्षुद्र धन-लाभ के लिए अमरीका से प्राप्त हुए शस्त्रास्त्रों को विद्रोहियों के हाथों बेच देते थे। परिणाम यह हुआ कि विद्रोही अच्छी तरह से शस्त्र-सज्जित हो गए और राष्ट्रीय सेना पराजित हुई।

अपने यहां भी चरित्रहीनता के इस प्रकार के अगणित उदाहरण हैं। जैसे यह सर्वविदित है कि असम में पाकिस्तानी षड्यंत्र चल रहा है। अनेक पाकिस्तानियों ने पूर्वी बंगाल से असम में घुसपैठ की और अब भी कर रहे हैं। वे वहां बस गए हैं। असम को मुस्लिम बहुल क्षेत्र बनाकर बाद में उसे पाकिस्तान में मिला लेने का यह एक षड्यंत्र है, किंतु हमारी सरकार इस तथ्य का सामना करना नहीं चाहती। हम सन् १९५० से सावधान करते आ रहे हैं तो भी इसने अपनी आंखें नहीं खोली हैं। अब

वह पूछती है कि 'इन पाकिस्तानियों को पहचाना कैसे जाए?' असम में कुछ लोग आगे आए और उन सभी पाकिस्तानियों के नाम, पते आदि के साथ एक सूची तैयार की, जो हाल के वर्षों में अवैध रूप से घुस आए थे। वह सूची सरकार को भेज दी गई, सरकार ने इस सूची पर विचार करने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया। इस अधिकारी ने जांच कर जो वृत्त प्रस्तुत किया, उसमें लिखा 'यह संपूर्ण सूची मिथ्या है। बहुत थोड़े ही पाकिस्तानी आए हैं।' उसने इस प्रकार की सूचना क्यों दी? बाद में यह ज्ञात हुआ कि उसने बहुत बड़ी घूस लेकर इस प्रकार का वृत्त दिया था।

भारत के संबंध में इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध मजदूर नेता लार्ड एटली ने एक लेख में लिखा है कि हमारे देश का शासन-तंत्र अंदर तक बिल्कुल भ्रष्ट हो चुका है। वे कहते हैं कि ऐसे ही देशों का उन्मूलन करने में कम्युनिस्ट सफल हो जाते हैं। एशिया के एक देश में एक प्रमुख व्यक्ति से उन्होंने प्रश्न किया था कि क्या उसके देश में कम्युनिस्टों द्वारा उन्मूलन का भय तो नहीं? इस पर उस व्यक्ति ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया था- 'हमारा शासन भ्रष्ट नहीं है। अत: हमें ऐसा कोई भी भय नहीं।' इंग्लैंड जैसे परिपक्व राष्ट्र के एक प्रख्यात राज्यमर्मज्ञ की इस चेतावनी पर हमें अपने देश के घातक आंतरिक ह्रास पर गंभीरता से विचार करने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

मूल व्याधि

इसलिए चरित्रहीनता का यह संकट अतीव गंभीर विषय है। हमें इससे जूझना है, केवल शब्दों के द्वारा अथवा दूसरों की आलोचना मात्र से नहीं, वरन् इसके मूल तक पहुंचकर। केवल आलोचना से कुछ नहीं होगा। यदि हम 'क', 'ख' अथवा 'ग' को गालियां देते हैं, तो इससे हमारे व्यवहार में कैसे सुधार होगा? इसके विपरीत यह हममें दूसरों को गालियां देने का एक दुर्गुण उत्पन्न कर देगा। तब हम इस अनैतिकता के दैत्य से स्वयं को किस प्रकार मुक्त कर सकेंगे?

यह सर्वविदित है कि व्यक्ति के जीवन में जिस मात्रा में स्वार्थ का प्रभाव होता है, वह उसी मात्रा में दुश्चरित्र और भ्रष्ट हो जाता है। स्वार्थ जितना अधिक होगा, उसकी पूर्ति के लिए उतने ही अधिक निकृष्ट उपाय काम में लाने की ओर व्यक्ति का झुकाव बढ़ता जाता है। यदि कोई आदमी नि:स्वार्थ है, तो वह बुरे कार्य नहीं करेगा और उसके चरित्र में विकृति उत्पन्न नहीं होगी। वह एक प्रामाणिक पुरुष बनेगा।

आज स्वार्थ बढ़ गया है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो कुछ है, वह उससे अधिक की आकांक्षा करता है। उसे इस बात की चिंता नहीं होती कि जिन उपायों से उसे पैसा प्राप्त होता है, वे उपाय भले हैं या बुरे। प्राय: वे बुरे ही रहते हैं, इसीलिए

चरित्र के अभाव का संकट है। अत: हमें मनुष्य के स्वार्थ को नियंत्रित करना है। यह अतीव कठिन कार्य है। सामान्य व्यक्ति में कुछ स्वार्थ रहना स्वाभाविक ही है। सब साधु तो हैं नहीं, सबने कौपीन धारण करके अपने परिवारों को त्यागा नहीं है। यह संभव भी नहीं है। जहां तक संपूर्ण समाज का संबंध है, वह इसके लिए हितावह भी नहीं होगा। अपने शरीर एवं अपने परिवार की धारणा के लिए तथा उन्हें आधुनिक युग के अनुरूप कम से कम कुछ आनंद देने के लिए थोड़ा स्वार्थ बना रहेगा। अत: हमें उस व्यक्ति को बुरा नहीं समझना चाहिए, जो सामान्य सुख-सुविधा का जीवनयापन करना चाहता है, किंतु उसकी यही सीमा है। यदि कोई व्यक्ति इस सीमा का उल्लंघन करता है और स्वार्थपरता में इतना अधिक लिप्त हो जाता है कि उससे संपूर्ण समाज के हितों को हानि पहुंचती है, तो वह निश्चित रूप से निंदनीय है।

नैतिकता ऊपर से नीचे की ओर

इस स्वार्थ को रक्तपिपासु बनने से रोकने के लिए मान लीजिए कि सब लोगों को उपदेश और भाषण दें, तो क्या इससे लाभ होगा ? क्या सदाचार समितियां और जनता में सामूहिक प्रतिज्ञाएं यह चमत्कार कर सकेंगी ? सदाचार पर इस प्रकार के भाषणों और प्रतिज्ञाओं से कभी किसी व्यक्ति के चरित्र में सुधार नहीं हुआ है। इतना ही नहीं, सदाचार पर भाषण देने वाले और प्रतिज्ञाएं कराने वाले अनेक व्यक्ति ऐसे हैं कि हमें उनके जीवन की ओर देखना तक नहीं चाहिए।

एक बार मैं एक साधु से मिला। उसने मुझसे कहा कि वह सरकारी कार्यालयों में लिपिकों तथा निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को चरित्र-संबंधी व्याख्यान दिया करता है कि किस प्रकार वे भ्रष्टता आदि से बचें। मैंने कहा, 'आप अपने उद्देश्य में किस प्रकार सफल होंगे ? आप एक चपरासी को उपदेश देते हैं जो घूस में केवल कुछ पैसे ले रहा होगा। क्या आप यह अनुभव नहीं कर सकते कि चपरासी एक दरिद्र आदमी है, जो अपने परिवार के सदस्यों को दो बार भोजन भी देने में असमर्थ है। यदि ऐसी दशा में वह थोड़ी-सी घूस लेने के लिए बाध्य हो जाता है, तो हमें उस पर दया आ सकती है, यद्यपि उसके कृत्य को हम न्याससंगत नहीं कह सकते। इसलिए आप ऊपर को जाइए और उच्चपदस्थ लोगों को यह उपदेश दीजिए। देखिए कि क्या उनमें सुधार हो सकता है?' तब उस साधु ने कहा- 'वे ऊपर के लोग तो भले हैं।'

मैंने कहा- 'मैं आपको एक उदाहरण दूंगा। एक सज्जन हमारे राजनीतिक नेताओं की आकाशगंगा के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं। देश उनकी पूजा करता है और उनसे प्रेम करता है। गत निर्वाचनों के पूर्व निर्वाचन के लिए एक थैली भेंट करने के

लिए उन्हें एक नगर में आमंत्रित किया गया। बड़े-बड़े व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने एक समिति गठित की और विशाल धन-राशि एकत्रित की। एक बड़े समारोह में उन सभी व्याख्यानों, जिनमें उस व्यक्ति और दल की अत्यंत प्रशंसा की गई थी, के बीच वह थैली उन्हें भेंट की गई। उत्तर देने के लिए वे उठे और उन्होंने कहा- 'मैं जानता हूँ कि ये सभी लोग, जो यहां एकत्र हुए हैं, खूब कालाबाजारी करते हैं और जो धन मुझे दिया गया है, वह पाप से पैदा हुआ है। इसको छूना भी पाप है। मुझे लगता है कि इस प्रकार के सभी कालाबाजारी करने वालों को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाने चाहिए और उन्हें फांसी पर भी लटका देना चाहिए।' यह सब वे अत्यंत उच्च नैतिकता के स्वर में बोले और थैली को चुपचाप जेब में रखकर चले गए। सौभाग्य से वह साधु भी इस घटना को जानता था। मैंने उससे कहा 'पहले इस प्रकार के उच्चपदस्थजनों के पास जाइए और उनका सुधार कीजिए।'

यदि ऊपर के नेता नैतिक दृष्टि से उन्नत हों, तब नैतिकता समाज के निम्नतम स्तर तक शनैः-शनैः पहुंचेगी और उसका परिणाम सामान्य जन के उत्तम चरित्र की निर्मिति के रूप में होगा। आप यह निर्माण नीचे से ऊपर की ओर नहीं ले जा सकते। चरित्र-निर्माण का प्रारंभ सदैव ऊपर से ही होना चाहिए। इसी प्रकार दूसरी ओर भौतिक सुख प्रदान करने का प्रारंभ नीचे से ही होना चाहिए। जो लोग हमारे समाज-जीवन में निम्न स्तर पर हैं और रात-दिन शारीरिक परिश्रम करते हुए भी एक ऐसा जीवन यापन कर रहे हैं, जो हमारे समाज की प्रतिष्ठा के लिए अपमानजनक है, उन्हें हम भोजन दें। जो लोग उच्च स्थानों पर हैं, यदि वे बिना भोजन के रहते हैं तो मैं चिंता नहीं करता। समाज की रचना एवं उसका शक्ति-संपादन इस प्रकार करना चाहिए कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नीचे से ऊपर की ओर हो तथा नैतिकता समाज में ऊपर से नीचे की ओर अवतीर्ण हो।

जीवंत आदर्श

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि हमारे राष्ट्रजीवन के अति उच्च स्तर पर भी चरित्र और नैतिकता का अभाव है। जीवन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित जन मेधावान एवं शिक्षित हैं। वे नैतिकता और अनैतिकता के भेद को जानते हैं। वे नैतिकता पर अति उत्तम उपदेश दे सकते हैं। ऐसी दशा में हम शब्दों के द्वारा भला उन्हें क्या सिखा सकते हैं? ऐसे लोगों को केवल उपदेश देने से हमें कोई लाभ नहीं होगा। क्या कानून बनाकर हम अपने लोगों का नैतिक मानदंड उन्नत कर सकते हैं? नशाबंदी को ही लीजिए। बहुत से राज्यों में यह कानून लागू है, किंतु इन सभी राज्यों

में अवैध शराब बनाना एक फलता-फूलता घरेलू उद्योग हो गया है। अत: सदाचार की वृद्धि के लिए केवल कानून बनाने का साधन भी व्यर्थ है।

वास्तव में स्वार्थपरता पर नियंत्रण के लिए केवल एक ही मार्ग है। मानव को एक आदर्श प्रदान करो, जिसके लिए वह कार्य करे, जिये और मरे। उसे अपने आदर्शों पर जो श्रद्धा है, उसके आधार पर वह व्यक्ति अपने स्वार्थों के मोह पर नियंत्रण करने में सक्षम होगा और श्रेष्ठतर चरित्र का निर्माण करेगा। अन्य कोई मार्ग नहीं है। लोगों को एक उच्च एवं पवित्र आदर्श दो। ऐसा आदर्श जो स्वाभाविकत: उनके हृदयों के तारों को झंकृत करता हो, उनके रक्त को स्फुरित करता हो और जो उनमें पीढ़ियों से विद्यमान हो। तब एक सामान्य मनुष्य भी स्वयं में श्रद्धा एवं चरित्र के उदय की अनुभूति करने में समर्थ होगा। अपने पवित्र हिंदू-राष्ट्र के वैभव एवं उसकी महानता की अनुभूति ही इस प्रकार का आदर्श है।

'मैं इस महान् हिंदू राष्ट्र की संतति हूँ। अनेक पीढ़ियों से मेरे महान् पूर्वजों ने इसे महानतम एवं उदात्ततम राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इसे पृथ्वी पर आदर्श मनुष्यों का आदर्श राष्ट्र बनाने के स्वप्न देखे हैं। मैं भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिऊंगा और परिश्रम करूंगा।' यही है वह स्वाभाविक प्रेरणा, जो हमने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त की है। हम इसे अपने रक्त में अनुभव करते हैं। यदि वह स्वाभाविक एवं उदात्त लगन जाग्रत हो जाए, तो हमारे देश के लोग स्वार्थों के आकर्षणों से परे हो सकेंगे तथा दैनिक जीवन में विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य को व्यक्त करने में समर्थ होंगे।

प्रेरणादायी कल्पना

राष्ट्रीय संकट के वर्तमान समय में भी हम आदर्श के इस तत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि कुरुक्षेत्र के युद्ध-क्षेत्र में जब युद्ध के नगाड़े बज रहे थे, तूर्यों की ध्वनि हो रही थी और अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा था, उस समय श्रीकृष्ण ने उसे धर्म के लिए निष्काम कर्म करने का शाश्वत एवं प्रेरणादायी संदेश और शिक्षा दी थी तथा उसे अद्वितीय पराक्रम और विजय के लिए प्रवृत्त किया था। जब कोई वीर आदर्श की कल्पना से प्रेरित होता है, तभी वह अपने जीवन की श्रेष्ठतम योग्यताओं को उस लक्ष्य के लिए आगे बढ़कर प्रकट कर देता है। उसके मस्तिष्क में उन जीवन-मूल्यों की स्पष्ट कल्पना होनी चाहिए, जिनके लिए उसे लड़ना है और आवश्यक होने पर मृत्यु को भी वरण करना है। आर्थिक योजनाओं एवं व्यापारिक वैभव की बातें कष्ट सहन करने तथा बलिदान के लिए आत्मा को उत्साहित नहीं कर

सकतीं। मातृभूमि के प्रति 'बर्फीला', 'जहां कोई आदमी तक नहीं रह सकते', 'घास का तिनका भी जहां नहीं उगता' आदि प्रकार के रुक्ष और असम्मानजनक उद्‌गार नागरिकों के उत्साह का हनन ही करेंगे। यदि ऐसे भू-भाग पर शत्रु कब्जा कर लेगा तो वे इस बात पर परिस्थिति का कोई अंतर भी नहीं आंक सकेंगे। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि अपनी पवित्र मातृभूमि के लिए भक्ति का शाश्वत और प्रेरणादायी आह्वान तथा हमारे राष्ट्रीय आदर्श उस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय पर उत्कीर्ण हों।

अतीत एवं आधुनिक काल के हमारे सभी पराक्रमी स्वातंत्र्य-सेनानी हिंदूराष्ट्र की जीवंत कल्पना से प्रेरित थे। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हमारे जनसमुदाय को कर्तव्य का आह्वान देने के लिए यही थी एकमात्र प्रभावी एवं एकत्रित करने वाली पुकार। जब-जब यह कल्पना धुंधली या ओझल हुई, हमारे देशवासी निष्क्रियता एवं दासता में पुन: वापस जा पड़े।

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम का पाठ हमारे सामने है। इस क्रांति के महान् नेताओं ने पहली ही चोट में दिल्ली पर अधिकार कर मुगल बादशाह, जो अंग्रेजों के हाथ का एक उपकरण मात्र हो गया था, को मुक्त किया था। उन्होंने उसे स्वतंत्र सम्राट के रूप में पुन: सिंहासनासीन कर स्वतंत्रता-संग्राम का नेता घोषित किया। यह इसलिए किया गया क्योंकि उस वर्ग की सहायता भी प्राप्त हो जाए, जो वर्ग उस समय तक दिल्ली के तख्त के प्रति वफादार था। किंतु इस पग ने हिंदू जनता के हृदय में संदेह उत्पन्न कर दिया कि वही अत्याचारी मुगल शासन, जो गुरु गोविंदसिंह, छत्रसाल, शिवाजी तथा उसी प्रकार के अन्य देशभक्तों के पराक्रमी यत्नों के द्वारा नष्ट हो चुका था, एक बार पुन: पुनरुज्जीवित होकर उन पर छलपूर्वक लाद दिया जाएगा और वह अंग्रेजी शासन से भी बहुत बड़ी दु:खद घटना होगी। हिंदू मस्तिष्क, जो नानासाहब पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई तथा कुंवरसिंह जैसे सेनानायकों की ओर देखकर हिंदू-स्वराज की आशा से स्फूर्त था, की युद्ध करने की प्रेरणा समाप्त हो गई। इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि उस क्रांति की अंतिम असफलता के निर्णायक कारणों में से वह भी एक कारण था।

जब जनसमुदाय उस पुरातन राष्ट्रीय आदर्श से स्फूर्त होता है, तभी उन्हें इतना उन्नत करना संभव है कि वे नि:स्वार्थता, बलिदान एवं पराक्रम के लिए उठ खड़े हों तथा उनमें देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक सजीव राष्ट्रीय एकात्म भावना का उदय होकर एक अपराजेय राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण हो जाए। जब हम यह कर लेंगे, तब एक नहीं दस चीन हमारे सामने नत होंगे।

स्वप्नदृष्टाओ, जागो

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण से संबंधित हमारी वैचारिक धारणाओं में एक और भी गंभीर प्रतिरोध है, जिसे हमें साफ करना है। इस संपूर्ण काल में हमारे नेताओं के लिए शक्ति का विचार करना भी निंदनीय और अवांछनीय बात रही है। हमारे नेतृत्व की मानसिक दशा शक्ति के विचार के प्रति एक प्रकार से प्रतिकूल ही थी। उन्हें पुण्यशील सद्उक्तियों में पूर्ण विश्वास था। अभी हाल में भी हमारे कुछ उत्तरदायित्व नेताओं ने एकपक्षीय नि:शस्त्रीकरण की बातें की थीं, जो एकपक्षीय आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। कम से कम सन् १९५४ से हमारे नेता स्वयं की ही स्वीकारोक्ति के अनुसार, चीन के नग्न आक्रमण के तथ्य से परिचित रहे हैं, किंतु वे पंचशील के स्वप्नलोक में विचरण करते रहे। उन आठ वर्षों में हम अपने देश को बहुत अच्छी प्रकार से शस्त्र-सज्जित कर अपनी सुरक्षा को अभेद्य बना सकते थे। किंतु आज हमारे पास एक छोटी-सी सेना है, उसकी भी उपेक्षा, कम शस्त्रास्त्र तथा उनसे भी कम कारतूस। बमवर्षक, युद्ध के हवाई जहाज, टैंक, सैन्य परिवहन आदि का उत्पादन नितांत उपेक्षित रहा है। हमारे पास पर्याप्त दूरी तक मारने वाली एक भी विमान-मारक तोप नहीं है और हम नि:शस्त्रीकरण की बातें कर रहे हैं। जब हमारे पास हथियार ही नहीं, तो हम नि:शस्त्र कैसे हो सकते हैं?

आपने पत्रों में अवश्य पढ़ा होगा कि हमारी ऑर्डिनेंस फैक्टरियों में 'काफी क्रॅशर' तथा 'प्लास्टिक के थैले' बनते रहे। उन्होंने एक ट्रक भी बनाया, जिसमें सामान्य ट्रक के समान सामर्थ्य भी नहीं था, पर इसका नाम 'शक्तिमान' रखा। उस 'शक्तिमान' का पहला नमूना उसकी प्रथम परीक्षा में ही जवाब दे गया। किंतु अब प्रतीत होता है कि हमारे जवानों के इतने मूल्यवान प्राणों की कीमत पर हमारे नेताओं ने शिक्षा ग्रहण कर ली है। हमारे प्रधानमंत्री ने स्पष्टत: स्वीकार किया कि चीन ने हमें अपनी ही निर्मित स्वप्न-संसार से जगाकर वास्तविकता के संसार में लाकर खड़ा कर दिया है। 'हम बिना शक्ति के जीवित नहीं रह सकते। यदि अवसर आएगा तो हम लाठियों से भी लड़ेंगे।' हमारे गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी कहा 'अब हम और अधिक असावधान नहीं रहेंगे।' इसका अर्थ तो यही होता है कि हम अब तक ऊंघ रहे थे। यह कुछ संतोष का विषय है कि देर से ही क्यों न हो, उन्हें इस सत्य का अनुभव तो हुआ कि इस संघर्षमय संसार में शक्ति को ही मान्यता प्राप्त होती है। संसार तो शक्ति की ही भाषा समझता है। हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि उनकी इस वर्तमान अनुभूति का जीवन स्वल्पकालीन न हो।

सत्य तो यह है कि यह जीवन का एक प्राथमिक सिद्धांत है, जिसे हमारे पूर्वजों ने बहुत काल पूर्व ही अनुभव किया था। मनुस्मृति कहती है-

दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगत् भोगाय कल्पते। (७-२२)

(समाज की धारणा शक्ति के भय से ही होती है)। वे इसी सत्य के प्रकाश में जीवित भी रहे। यद्यपि उन्होंने मानव भ्रातृत्व के उच्चतम दर्शन का उपदेश दिया और उसे व्यवहार में लाए, फिर भी इस संसार के इन कठोर सत्यों की उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की, जिनमें उन्हें रहना और काम करना था। कभी-कभी हम अपने नेताओं को यह कहते सुनते हैं कि हम परंपरा से शांतिप्रिय और अहिंसक रहे हैं। यह सत्य है, किंतु वह शांति सम्मान का मूल्य चुकाकर नहीं ली गई थी, वह श्मशान की शांति नहीं थी। सच यह है कि अपमानित होने पर मूक समर्पण करना पौरुषहीनता का हीन कृत्य माना जाता था। हमने भूतकाल में पराक्रम और शूरता के श्रेष्ठतम मापदंड स्थापित किए हैं। विश्व जिनकी कल्पना तक नहीं कर सकता- ऐसे कुछ सर्वश्रेष्ठ सेनापति तथा विजेता उत्पन्न किए हैं, जिन्होंने धर्माधिष्ठित शांति की स्थापना के लिए संघर्ष किया, संहार किया और अविराम भीषण संग्राम चलाते रहे।

आत्मघात का दर्शन

हम सचमुच ही यह देखकर आश्चर्यचकित हैं कि आज की संकटग्रस्त अवस्था में भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, जो इसी पुराने ढंग पर विचार करते और उपदेश देते हैं। अब भी वे तर्क देते हैं 'हम शांति और अहिंसा को मानने वाले हैं। यदि चीनी आते हैं तो हम उनके सामने केवल शांति सेना के रूप में खड़े हो जाएंगे। वे क्या करेंगे ? आखिर लड़ने के लिए भी तो दो की आवश्यकता होती है। यदि हम नहीं लड़ते तो वे किसके साथ लड़ेंगे?' सचमुच, यह एक मजेदार तर्क है, विशेषतया जिनमें लड़ने की हिम्मत ही नहीं है, उन्हें जंचनेवाला है।

यह सत्य है कि लड़ने के लिए दो की आवश्यकता होती है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि दोनों ही लड़ने वाले होने चाहिए। यह पर्याप्त है कि एक चोट करता हो और दूसरा चोटों को सहन करता हो। फिर यदि हम शांतिपूर्ण बने रहे और दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते रहे तो क्या यह आवश्यक सिद्धांत है कि दूसरे भी हमारे साथ इसी प्रकार का व्यवहार करेंगे ? क्या संसार का हमारा यही अनुभव है।

एकपक्षीय सौजन्य की भवितव्यता

हम अपना ही एक उदाहरण देखें। जब पहले-पहल इस्लाम का जन्म हुआ और गुजरात के राजा को व्यापारियों से ज्ञात हुआ कि अरब देश में एक नवीन मत का

उदय हुआ है। उसे उसके विषय में जानने की उत्कंठा हुई और उसने अपने व्यापारियों से उस धर्म के किसी विद्वान को लाने के लिए कहा, जिससे उसके विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त हो सके। कुछ मौलवी गुजरात आए और हमारे पंडितों ने उनसे शास्त्रार्थ किए। उन्हें ज्ञात हुआ कि यह एक ऐसा मत है, जो मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना के लिए प्रेरित करता है, यद्यपि इसमें दर्शन जैसी कोई वस्तु नहीं है। अतएव पंडितों और राजा ने कहा– 'कोई चिंता नहीं है। यदि तुम मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना का मार्ग दिखा सकते हो, परंतु तुम्हारा कोई दर्शन नहीं, तो भी तुम्हारा मत अच्छा है। हम इसके शुभचिंतक हैं। इस नवीन मत के द्वारा, जिसका प्रचार तुम्हारे संस्थापक पैगंबर ने किया है, अरब के लोग ईश्वराभिमुख हों।' अर्थात् हमने इस धर्म, उन मौलवियों तथा उस संस्थापक का सम्मान किया। हमने यह नहीं कहा कि वह बेकार की चीज है, जिसे नष्ट कर देना चाहिए। कोई हिंदू यह कभी नहीं कहेगा।

एक दूसरा उदाहरण है। दक्षिण में मदुरै राज्य में अरब देश का एक मुसलमान व्यापारी था। वह अच्छा, चरित्रवान और सद्गुण संपन्न व्यक्ति था। अत: राजा ने इसे अपना मंत्री बना लिया। आज भी कुछ मुसलमान मंत्री बन गए हैं, किंतु आज वे मुसलमानों के वोट प्राप्त करने के लिए बनाए गए हैं। राजा के सामने यह विचार नहीं था, क्योंकि वह सहारे के लिए मुसलमानों के वोटों पर निर्भर नहीं था। उस व्यक्ति के गुणों का सम्मान करने के लिए ही उसे मंत्री बनाया गया था। हमने मुसलमानों के प्रति इस प्रकार से सम्मान, प्रेम तथा भ्रातृ–भावना के साथ व्यवहार किया है, किंतु उन्होंने हमारी इस भावना का प्रतिदान कैसे किया? विनाश, अपहरण तथा सब प्रकार के बर्बर अत्याचारों की घटनाओं से भरा हुआ इनका १२०० वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। आज हमारे देश में मुसलमानों की इतनी बड़ी जनसंख्या उनके द्वारा संपूर्ण देश में किए गए घातक विनाश के परिणामों में से एक है। केवल भग्न पड़े खंडहर ही नहीं, वरन् टूटे हुए समाज के ये टुकड़े भी उनके द्वारा किए गए विध्वंस के इसी प्रकार साक्षी हैं। इस्लाम मत तथा मुसलमानों के प्रति अच्छे व्यवहार से हमें मिला केवल हमारे पवित्र स्थानों का अपवित्रीकरण एवं हमारे समाज के कई लोगों पर उनकी गुलामी।

वास्तविकता का सामना करो

चीन का ही मामला लीजिए। दो सहस्त्र वर्षों से अधिक काल से, जब से बौद्ध प्रभाव ने चीन में प्रवेश किया था, इन दो देशों के विद्वानों के बीच नियमित साहचर्य एवं भ्रातृभाव रहा। हमारे वर्तमान नेताओं ने मानो इसी सूत्र को पकड़कर

'हिंदी-चीनी, भाई-भाई' का उद्घोष किया। उन्होंने इस नीति का पालन तिब्बत के प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्व का परित्याग करने तक किया। केवल इतना ही नहीं, एक प्रकार से हमने सर्वभक्षी चीन के सामने थाली में रखकर तिब्बत भेंट कर दिया। वास्तव में हमने तिब्बत के साथ विश्वासघात किया। सत्य तो यह है कि चीन ने हमारे साथ विश्वासघात नहीं किया, क्योंकि इसमें हमारे विश्वास का कभी प्रश्न ही नहीं था। इसके विपरीत हमने तिब्बत के उस विश्वास के साथ धोखा किया, जो उसने हमारे ऊपर किया था। हमने एक बड़ा पाप किया है। ईश्वर ही जाने हमें इसका किस प्रकार से प्रायश्चित करना होगा ? हमने यह पाप केवल चीन को 'भाई' कहकर पुकारने के लिए ही किया। इस सीमा तक हमने चीन के साथ भ्रातृभाव की स्थापना की, पर हमारे इस भ्रातृभाव का उत्तर उसकी ओर से कैसे दिया गया? हमारी सीमाओं पर आक्रमण के द्वारा। अस्तु, इस वास्तविक संसार में इस प्रकार के एकपक्षीय भले व्यवहार से कोई फल निकलता प्रतीत नहीं होता।

अब हम चीनियों के चरित्र की ओर दृष्टिपात करें और सोचें कि जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, क्या यह सच है कि हमारे चुप रहने पर वे हमें घास की तरह नहीं काट डालेंगे। जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में सत्ता ग्रहण की, तो उन्होंने अपने शासन के प्रति विरोध को समाप्त करने के लिए अनेक लोगों का संहार कर डाला। उन दिनों के समाचार के अनुसार उन्होंने लगभग ९६ लाख लोगों को समाप्त कर दिया था। क्या कोई समझदार व्यक्ति विश्वास करेगा कि जो लोग अपनी सत्ता की प्यास बुझाने के लिए अपने ही देशवासियों की, एक ही रक्त-मांस से बने हुए लोगों की, लगभग एक करोड़ संख्या में हत्या कर सकते हैं, उनकी सेनाएं हमारे देश में आकर बिना हमारी हत्या किए इसलिए लौट जाएंगी कि हम लड़ने से इनकार करते हैं?

अतएव हमें इस बात को भली-भांति समझ लेना चाहिए कि इस संसार की ऐसी निर्दयी चुनौतियों का सामना करने के लिए तथा विजय प्राप्त करने के लिए शक्ति चाहिए। एक ठोस अजेय राष्ट्रीय शक्ति ही हमारी सहायता कर सकती है।

सैनिकों की शक्ति का उद्गम

इस प्रकार के सभी गंभीर संकटों के अवसर पर आघात को प्रसन्नतापूर्वक और साहस के साथ सहन करने के लिए हमारी सेनाओं को अगले मोर्चे पर रहना होगा। विशेषतया युद्ध-क्षेत्र में हमारे सैनिकों का अतुलनीय पराक्रम एवं वीरता हमारे हृदय को विश्वास, गर्व और आनंद से भर देते हैं। किंतु जब ऐसा सैनिक घूमकर पीछे देखता है, तब उसे क्या दिखाई देना चाहिए ? क्या अपने स्वार्थों और सत्ता के आपसी झगड़ों में

उलझा हुआ विघटित एवं देशभक्तिशून्य समाज उसे देखने को मिलना चाहिए। सैनिक को वह देखने को मिलता है तो क्या उसे युद्ध करने के लिए तथा अपना जीवन अर्पण करने के लिए प्रेरणा मिलेगी? उसे सुसंगठित, देशभक्तिपूर्ण समाज अपने पीछे खड़ा देखने के लिए मिलना चाहिए। वह ऐसा विश्वास अनुभव करे कि जो कुछ भी सेना की आवश्यकता होगी, कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैला हुआ लौह इच्छाशक्ति से संपन्न सुसंगठित समाज उसे पूर्ण करने के लिए सदैव उद्यत है। यदि मनुष्यों की आवश्यकता है, मनुष्य आएंगे। यदि अन्य विविध आवश्यक वस्तुओं की आवश्यकता होगी तो उन सभी की पूर्ति की जाएगी, चाहे समाज के अन्य लोगों को कितनी ही कठिनाई क्यों न उठानी पड़े। संपूर्ण समाज हमारे पीछे है, यह विश्वास प्रत्येक सैनिक को यह अनुभूति देगा कि उसकी शक्ति, उसका धैर्य तथा उसकी युद्ध करने की योग्यता सौ गुनी बढ़ गई है और तब वह विजयी होकर आएगा।

सामर्थ्य से मित्रों की प्राप्ति

जब विरोध के सामने हम अविचल भाव से खड़े होने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं, तभी मित्र हमारी सहायता के लिए दौड़कर आते हैं। यदि हम स्वयं ही सामना करने के लिए अयोग्य और पर्याप्त दृढ़ नहीं हैं तो वे क्यों सहायता करेंगे? यदि वे सहायता करने के इच्छुक भी हों, तो किसकी और कैसे सहायता करेंगे? इस समय भी जब हमने अपने सहारे खड़े होने का अत्यल्प ही प्रयास किया, तो हमें कई ओर से सहायता प्राप्त हुई। उस अमरीका से भी सहायता आई, जिसके लिए हमारे नेताओं ने कभी अच्छा शब्द भी उच्चारण नहीं किया था। जिस इंग्लैंड की स्वेज के मामले में हमने कटु आलोचना की थी, उससे भी सहायता आई। पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य बहुत से देशों से सहायता प्राप्त हुई। अब हम उनके प्रति कम से कम कृतज्ञता के एक-आध शब्द का उच्चारण तो करें।

वरदान, किंतु कब ?

चीनी आक्रमण के कारण हमारे राष्ट्रजीवन की जो अनेक स्वस्थ प्रवृत्तियां गतिशील हो गईं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए हम प्राय: सुनते हैं कि यह आक्रमण के रूप में एक वरदान है। यह सत्य है कि विदेशी आक्रमण एक राष्ट्र को इस बात के लिए स्वर्णिम अवसर प्रदान करता है कि वह अपने को स्वार्थपरता, आंतरिक कलह, विघटनतात्मक खिंचाव आदि विनाशकारी प्रवृत्तियों से मुक्त करे तथा स्वयं को एक संगठित एवं शुद्ध एकात्म रूप में पुन: प्रस्तुत करे। आसन्न संकट की भावना राष्ट्र में व्यक्तियों को अन्य क्षुद्र भावों से ऊपर उठने के लिए प्रोत्साहित करती हैं और अति विशाल राष्ट्रीय व्यक्तित्व के सजीव अंगों के रूप में सर्वोपरि राष्ट्रहित में अपने हितों को विलीन करने की प्रेरणा प्रदान

करती है। किंतु उस सबकी उपलब्धि एवं स्थायित्व तभी हो सकता है, जब इस महान अवसर, जो हमें मिला है, को ग्रहण करने की इच्छा और बुद्धिमत्ता तथा इससे लाभान्वित होने की योग्यता हममें हो। अपनी इस सिद्धता के बिना वरदान भी केवल एक झटका एवं व्यर्थता से अधिक कुछ सिद्ध नहीं हो सकता।

एक बार धन की देवी लक्ष्मी एक भिखारी के सामने प्रकट हुई और उसे वरदान देकर सोने की वर्षा को ग्रहण करने के लिए कहा। किंतु उसने उससे यह भी कहा कि यदि सोना भूमि पर गिरेगा, तो मिट्टी हो जाएगा। भिखारी ने अत्यंत उत्कंठा से थैले को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर फैला दिया। लक्ष्मी ने उसके थैले को इतने सोने से भर दिया कि कई पीढ़ियों तक उसका परिवार पर्याप्त वैभव से संपन्न रहे। किंतु वह भिखारी लालची था, उसने लक्ष्मी से मुट्ठी-भर सोना और देने की प्रार्थना की। लक्ष्मी ने एक मुट्ठी और डाल दी तथा अंतर्ध्यान हो गईं। किंतु बोझ के कारण थैला फट गया और संपूर्ण सोना भूमि पर गिर कर मिट्टी हो गया। सर्वशक्तिमान के वरदान का उपभोग करने के लिए भी योग्यता एवं शक्ति की आवश्यकता होती है।

जड़ों का पोषण

यही बात उन राष्ट्रों के विषय में भी है, जिन्हें विदेशी आक्रमणों का 'वरदान' मिलता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म इसलिए हुआ कि वह हमारे समाज में इस प्रकार की इच्छा एवं योग्यता उत्पन्न करने के कार्य का निर्वाह करे, जो इस कठिनाई को एक 'अवसर' में परिवर्तित कर दे। संघ अपनी पूरी शक्ति के साथ जनशक्ति को जागृत एवं संचालित करने में जुटा हुआ है। जीवनदायी आदर्श, सद्गुण एवं चरित्र के संस्कार देते हुए संघ का यह कार्य कर रहा है, क्योंकि सशक्त भावात्मक एवं अमर राष्ट्रजीवन के लिए जनशक्ति की अनिवार्यता होती है। हमें विश्वास है कि अपने संगठन का प्रत्येक स्वयंसेवक इस समय अग्र पंक्ति में खड़ा होगा, जब जनसाधारण के कार्य एवं बलिदान करने का समय आता है। साथ ही हम एक गुट के रूप में आगे नहीं आना चाहते, क्योंकि युद्ध-काल में किसी गुट या दल के पौरोहित्य की आवश्यकता नहीं होती। अपने बलिदानों और कष्टों का प्रचार करना भी अत्यंत अनुचित होगा, क्योंकि माता की वेदिका पर अपना सर्वस्व, यहां तक कि अपने स्वामित्व की अत्यंत प्रिय वस्तुएं भी समर्पण कर देना भूमि के प्रत्येक पुत्र का प्रथम एवं सर्वोपरि कर्तव्य होता है। यही है वह जीवनी शक्ति, जिसे हम संघ के द्वारा उसके आरंभ से ही समाज में निविष्ट करते आ रहे हैं।

❑❑❑

२५

युद्धरत राष्ट्र

१. नवीन युग का आह्वान

स्वाभिमान, राष्ट्र का जीवन-प्राण

पाकिस्तान के साथ हुए अभी हाल के युद्ध ने बिजली की तरह इधर से उधर तक हमारे सम्पूर्ण देश में एक लहर उत्पन्न कर दी है तथा हमारे लक्षावधि देशवासियों के हृदयों एवं मस्तिष्कों को एक नवीन उद्देश्य और नवीन विश्वास के साथ ऐसा स्फूर्त कर दिया है, जैसा कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने के पश्चात् गत अठारह वर्षों में किसी वस्तु ने नहीं किया था।

जब से अंग्रेजों ने इस देश को छोड़ा है तब से हम एक ओर तो पाकिस्तान और दूसरी ओर चीन के बढ़ते हुए लूट तथा आक्रमणों के शिकार बन गये थे। अनेकों बार उनके हाथों किए गए अपमानों एवं तिरस्कारों को हमें पी जाना पड़ा और विशेष रूप से १९६२ में चीन के हाथों हमें जो अपकीर्तिकर पराजय मिली, वह हमारे लोगों के उत्साह के लिए ह्रासकारी थी। लोगों के मस्तिष्क में गम्भीर संदेह और आशंकाएं प्रविष्ट होना प्रारम्भ हो गया था कि क्या हमारा देश आक्रमणकारी के भीषण आक्रमण से अपनी अखण्डता एवं प्रभुसत्ता की रक्षा करने में समर्थ भी है? अपने महान राष्ट्र को इस प्रकार सम्पूर्ण संसार की दृष्टि में दया एवं उपहास का विषय बनते हुए देखकर, लोगों के हृदयों में अत्यन्त वेदना थी।

कोई आश्चर्य नहीं कि आक्रमणकारी को ध्वंसक आघात देने, विजयी होने एवं सफल प्रत्याक्रमण भी करने की क्षमता के इस वर्तमान अनुभव ने राष्ट्र की म्लान भावनाओं को एक नवीन जीवन प्रदान किया है। देशभक्तिपूर्ण एव एवं स्वाभिमान के अभूतपूर्व उद्वेलन से राष्ट्र की नाड़ी की गति में तीव्रता आ गई है। निश्चय ही यह पहला और सबसे अधिक महत्व का पाठ है जो इस युद्ध ने हमें पढ़ाया है।

राष्ट्र के सम्मान की भावना तथा स्वाभिमान राष्ट्र के स्वातन्त्र्य के जीवन-प्राण होते हैं। यही वह उद्गम है, जिससे हमें अपने राष्ट्र के अक्षय सामर्थ्य की उपलब्धि हो सकती

है। आज हम जो चारों ओर पुनरुत्थान देखते हैं वह इसलिए है कि हमने अपनी पवित्र मातृभूमि की स्वाधीनता और सम्मान के लिये कमर कस खड़े होने का निर्णय ले लिया है। उसने हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्तरतम तारों को स्पर्श कर लिया है एवं इस देश के मनुष्योचित श्रेष्ठत्व को उसके अतीत गौरव में उपस्थित कर दिया है।

प्रतापी पुरुष बनाम पैटन टैंक

हमारी महान् मातृभूमि के अंचल में उत्पन्न एवं पोषित हुई संतानों का अदम्य शौर्य एवं पुरुषार्थ एक बार पुन: सिद्ध हो गया। अभेद्य समझे जाने वाले पैटन टैंकों को जिस प्रकार हमारे जवानों ने दियासलाई की खाली डिबियों की भांति चूर-चूर कर दिया तथा शत्रु के बहुप्रशंसित कवचधारी सैन्य दलों को संहार का दृश्य बना दिया, उसे देखकर बहुतों को, यहां तक कि उसके पाश्चात्य स्वामियों तक को आश्चर्यचकित हो गम्भीरता से विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। उन्होंने विशेषज्ञों की एक समिति इस विध्वंस के कारणों को जानने के लिए नियुक्त की है, क्योंकि इस घटना से उनके शस्त्रास्त्रों तथा उनकी स्वयं की भी प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है। किन्तु उन्होंने इस सामान्य तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि अन्तिम विश्लेषण में महत्व मनुष्य का होता है, यंत्र का नहीं। हमारे श्रेष्ठ मनुष्य शत्रु के श्रेष्ठ यंत्रों से अति श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। हमारे मनुष्यों के अति श्रेष्ठ गुणों और श्रेष्ठतत्व में मुझे कभी कोई सन्देह नहीं था। वे इससे भिन्न हो भी कैसे सकते हैं ? वे तो उन माताओं के पुत्र हैं जो अत्यन्त पवित्र एवं मृत्यु को भी ललकारने वाली है, जो शत्रु का स्पर्श सहन करने की अपेक्षा अपने को जौहर की ज्वालाओं में स्वेच्छापूर्वक भस्म कर लेना श्रेयस्कर समझती हैं।

कल्पना चूर-चूर हो गई

केवल शारीरिक वीरता में ही नहीं वरन् युक्ति एवं रणनीति में भी हमारी सेना ने अपनी परम्परागत श्रेष्ठता प्रकट की तथा शत्रु की सभी आक्रामक योजनाओं को विफल कर दिया। बहुतों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारी सेनायें युद्धबंदी और तथाकथित अन्तरराष्ट्रीय सीमा को पार करती हुई शत्रु के अधिकार में रहे लाहौर तथा अन्य क्षेत्रों में बढ़ती चली गई। उन्हें आशा थी हमारी सेनायें अपनी ही सीमाओं के भीतर रहते हुए रक्षात्मक युद्ध करेंगी। किन्तु कोई भी व्यक्ति जो युद्ध नीति का प्रथम सिद्धान्त भी जानता है, अपने प्रदेश को युद्ध-क्षेत्र बनाकर कभी बर्बादी को निमंत्रण नहीं देगा। देश की स्वतंत्रता एवं समग्रता के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध सदैव आक्रान्ता के शिविर के बहुत अन्दर ही लड़ा जाना चाहिए। सफल युद्ध-नीति का यही सार है। यह कथन सत्य

२५

युद्धरत राष्ट्र

१. नवीन युग का आह्वान

स्वाभिमान, राष्ट्र का जीवन–प्राण

पाकिस्तान के साथ हुए अभी हाल के युद्ध ने बिजली की तरह इधर से उधर तक हमारे सम्पूर्ण देश में एक लहर उत्पन्न कर दी है तथा हमारे लक्षावधि देशवासियों के हृदयों एवं मस्तिष्कों को एक नवीन उद्देश्य और नवीन विश्वास के साथ ऐसा स्फूर्त कर दिया है, जैसा कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने के पश्चात् गत अठारह वर्षों में किसी वस्तु ने नहीं किया था।

जब से अंग्रेजों ने इस देश को छोड़ा है तब से हम एक ओर तो पाकिस्तान और दूसरी ओर चीन के बढ़ते हुए लूट तथा आक्रमणों के शिकार बन गये थे। अनेकों बार उनके हाथों किए गए अपमानों एवं तिरस्कारों को हमें पी जाना पड़ा और विशेष रूप से १९६२ में चीन के हाथों हमें जो अपकीर्तिकर पराजय मिली, वह हमारे लोगों के उत्साह के लिए ह्रासकारी थी। लोगों के मस्तिष्क में गम्भीर संदेह और आशंकाएं प्रविष्ट होना प्रारम्भ हो गया था कि क्या हमारा देश आक्रमणकारी के भीषण आक्रमण से अपनी अखण्डता एवं प्रभुसत्ता की रक्षा करने में समर्थ भी है? अपने महान राष्ट्र को इस प्रकार सम्पूर्ण संसार की दृष्टि में दया एवं उपहास का विषय बनते हुए देखकर, लोगों के हृदयों में अत्यन्त वेदना थी।

कोई आश्चर्य नहीं कि आक्रमणकारी को ध्वंसक आघात देने, विजयी होने एवं सफल प्रत्याक्रमण भी करने की क्षमता के इस वर्तमान अनुभव ने राष्ट्र की म्लान भावनाओं को एक नवीन जीवन प्रदान किया है। देशभक्तिपूर्ण एव एवं स्वाभिमान के अभूतपूर्व उद्वेलन से राष्ट्र की नाड़ी की गति में तीव्रता आ गई है। निश्चय ही यह पहला और सबसे अधिक महत्व का पाठ है जो इस युद्ध ने हमें पढ़ाया है।

राष्ट्र के सम्मान की भावना तथा स्वाभिमान राष्ट्र के स्वातन्त्र्य के जीवन–प्राण होते हैं। यही वह उद्गम है, जिससे हमें अपने राष्ट्र के अक्षय सामर्थ्य की उपलब्धि हो सकती

है। आज हम जो चारों ओर पुनरुत्थान देखते हैं वह इसलिए है कि हमने अपनी पवित्र मातृभूमि की स्वाधीनता और सम्मान के लिये कमर कस खड़े होने का निर्णय ले लिया है। उसने हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्तरतम तारों को स्पर्श कर लिया है एवं इस देश के मनुष्योचित श्रेष्ठत्व को उसके अतीत गौरव में उपस्थित कर दिया है।

प्रतापी पुरुष बनाम पैटन टैंक

हमारी महान् मातृभूमि के अंचल में उत्पन्न एवं पोषित हुई संतानों का अदम्य शौर्य एवं पुरुषार्थ एक बार पुन: सिद्ध हो गया। अभेद्य समझे जाने वाले पैटन टैंकों को जिस प्रकार हमारे जवानों ने दियासलाई की खाली डिबियों की भांति चूर-चूर कर दिया तथा शत्रु के बहुप्रशंसित कवचधारी सैन्य दलों को संहार का दृश्य बना दिया, उसे देखकर बहुतों को, यहां तक कि उसके पाश्चात्य स्वामियों तक को आश्चर्यचकित हो गम्भीरता से विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। उन्होंने विशेषज्ञों की एक समिति इस विध्वंस के कारणों को जानने के लिए नियुक्त की है, क्योंकि इस घटना से उनके शस्त्रास्त्रों तथा उनकी स्वयं की भी प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है। किन्तु उन्होंने इस सामान्य तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि अन्तिम विश्लेषण में महत्व मनुष्य का होता है, यंत्र का नहीं। हमारे श्रेष्ठ मनुष्य शत्रु के श्रेष्ठ यंत्रों से अति श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। हमारे मनुष्यों के अति श्रेष्ठ गुणों और श्रेष्ठतत्व में मुझे कभी कोई सन्देह नहीं था। वे इससे भिन्न हो भी कैसे सकते हैं ? वे तो उन माताओं के पुत्र हैं जो अत्यन्त पवित्र एवं मृत्यु को भी ललकारने वाली है, जो शत्रु का स्पर्श सहन करने की अपेक्षा अपने को जौहर की ज्वालाओं में स्वेच्छापूर्वक भस्म कर लेना श्रेयस्कर समझती हैं।

कल्पना चूर-चूर हो गई

केवल शारीरिक वीरता में ही नहीं वरन् युक्ति एवं रणनीति में भी हमारी सेना ने अपनी परम्परागत श्रेष्ठता प्रकट की तथा शत्रु की सभी आक्रामक योजनाओं को विफल कर दिया। बहुतों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारी सेनायें युद्धबंदी और तथाकथित अन्तरराष्ट्रीय सीमा को पार करती हुई शत्रु के अधिकार में रहे लाहौर तथा अन्य क्षेत्रों में बढ़ती चली गई। उन्हें आशा थी हमारी सेनायें अपनी ही सीमाओं के भीतर रहते हुए रक्षात्मक युद्ध करेंगी। किन्तु कोई भी व्यक्ति जो युद्ध नीति का प्रथम सिद्धान्त भी जानता है, अपने प्रदेश को युद्ध-क्षेत्र बनाकर कभी बर्बादी को निमंत्रण नहीं देगा। देश की स्वतंत्रता एवं समग्रता के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध सदैव आक्रान्ता के शिविर के बहुत अन्दर ही लड़ा जाना चाहिए। सफल युद्ध-नीति का यही सार है। यह कथन सत्य

ही है कि "रक्षा का सर्वोत्तम उपाय आक्रमण होता है।" हमारी सेनाएं हमारे देश के लिए विजयश्री एवं अपने लिए जो अमर कीर्ति प्राप्त कर सकी हैं, उसका कारण यही है कि उन्होंने इस सर्वकालिक प्रतिष्ठा प्राप्त सिद्धान्त का अनुसरण किया।

अंग्रेजों ने हमारे सम्बन्ध में बड़े प्रयासपूर्वक एक कपोल-कल्पना की रचना की थी, जिसमें दुनिया का तथा अपने भी अनेक देशवासियों का विश्वास था कि हम लोग दब्बू और दुर्बल हैं और सदैव किसी न किसी आक्रान्ता और लुटेरे की दया पर ही जीवित रहे हैं, जिसने भी हमें कुचलना चाहा, कुचला। इस उपर्युक्त कल्पना को इन थोड़े से दिनों में ही हमारे जवानों ने चूर-चूर कर दिया है। इसी कल्पना ने गांधीजी से यह भी कहलाया था कि "सामान्य हिन्दू कायर और सामान्य मुसलमान उद्दण्ड है।" वास्तव में वह समाज जो राम, कृष्ण, प्रताप, शिवाजी और रणजीत सिंह को जन्म दे सकता है, वीर्यवान् एवं पराक्रमी होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता। हमारे राष्ट्रीय इतिहास को विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के सभी महान राष्ट्रीय वीरों को या तो पौराणिक बता दिया गया है अथवा स्थानीय सामन्त। हमारे समाज के कुछ अंशों को लड़ाकू जातियों की संज्ञा देकर अब तक हमारे राष्ट्रीय चारित्र्य की वास्तविक पराक्रमी प्रकृति को भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया गया है। हमारे पराक्रमी जवानों ने इस दुष्ट प्रचार की असत्यता को प्रकट कर दिया गया है। हमारे पराक्रमी जवानों ने इस दुष्ट प्रचार की असत्यता को प्रकट कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि इस भूमि के प्रत्येक पुत्र की धमनियों में उन्हीं अप्रतिम पूर्वजों का रक्त प्रवाहित है। उन्होंने संसार के समक्ष भारतमाता की वह शक्तिमयी मूर्ति उपस्थित कर दी है जो संसार की समस्त दुष्ट शक्तियों के विनाश के लिए अपनी लाखों भुजाएं उठाये हुए हैं।

हम अपनी महान सेना के सभी पदों पर प्रतिष्ठित उन सभी महान हुतात्माओं को साभार श्रद्धांजलि समर्पित करें, जिनके शौर्य एवं बलिदान के द्वारा यह महान दिवस हमारे देश को प्राप्त हुआ है। उनकी मृत्यु के कारण यह दिन हमारे लिए शोक का न हो। जिन्होंने युद्ध करते हुए युद्ध-क्षेत्र में अपने जीवन का बलिदान किया है, वे इसके पश्चात् निश्चय ही परम सुख की अवस्था को प्राप्त होंगे? इस प्रकार की श्रेष्ठ आत्माहुति के लिए भला किसी को शोक क्यों करना चाहिए? इसके विपरीत उनकी पावन-स्मृति हमारे लिए सतत प्रेरणादायी होनी चाहिए? जिससे कि हम सब उनके अतिश्रेष्ठ बलिदान की भावना एवं अपनी पवित्र मातृभूमि की स्वाधीतनता की सुरक्षा के ज्वलन्त संकल्प को दृढ़तापूर्वक मनसा ग्रहण करें।

अनिनादित वीरगाथा

उन सीमा क्षेत्रों में शत्रु की चुनौती की जैसी प्रतिक्रिया सामान्य मनुष्य ने व्यक्त की है वह भी कम प्रेरणादायी नहीं है। लोग वहां अपने स्थानों पर डटे रहे। सुरक्षा की द्वितीय पंक्ति के रूप में दिन-रात अथक रूप से काम करते हुए हमारे वीर युवकों की कहानी, अपने प्राणों के ऊपर आए हुए संकट की चिंता न करते हुए हमारे जवानों के लिए आवश्यक चीजें सीधे मोर्चे तक तुरन्त पहुंचाने वाले सैकड़ों ट्रकचालकों का सतत परिश्रम, जिनकी सेवा-भावना, कष्ट सहिष्णुता, त्याग-बलिदान तथा मृत्यु पर न गीत बने, न दुःख व्यक्त किया गया और न उन्हें इसके लिए कोई सम्मान ही मिला-एक ऐसी वीरगाथा है जो किसी भी युद्ध-साहित्य के उत्कृष्टतम पृष्ठ का भूषण बन सकती है। उनके सम्बन्ध में एक सेना अधिकारी ने अत्यन्त भावना-पूर्ण शब्दों में कहा था- "हम सैनिकों को कम से कम यह तो सन्तोष है कि यदि हमारी मृत्यु हो जाएगी तो हुतात्मा के रूप में हमारा नाम होगा और सरकार हमारे परिवारों को पेंशन देगी। किन्तु इन नागरिकों को, जो हमारे कन्धे से कन्धा भिड़ाए हुए शत्रु की गोलियों का सामना कर रहे हैं, उनमें से किसी को किसी वस्तु की आशा नहीं है। वास्तव में उनकी आत्म-बलिदान की भावना हम लोगों की भावना से बढ़कर है।"

नेतृत्व का नया स्वरूप

हमारी सरकार राष्ट्र के मनोधैर्य को इतनी प्रेरणादायक ऊंचाई तक कैसे पहुंचा सकी? इसका कारण है आक्रमणकारी के प्रति उनकी नीतियों में आया हुआ एक स्वस्थ परिवर्तन। आक्रमणकारी के सामने आत्मसमर्पण न कर आत्मसम्मान की रक्षा की नीति ग्रहण की गई। उनके साहस एवं पौरुष से सम्पूर्ण राष्ट्र में गर्व और प्रसन्नता छा गई। राष्ट्रसंघ तथा अन्य शक्तिशाली देशों के भांति-भांति के दबाव पड़ने पर भी हमारे प्रधानमंत्री का यह दृढ़ भाव कि राष्ट्र की स्वाधीनता और सम्मान से समझौता नहीं करेंगे था चीन के तीन दिन के 'अल्टीमेटम' के उत्तर में उनका यह दृढ़निश्चयी कथन कि इस प्रकार की धमकियों से हम भयभीत नहीं होंगे, वरन् अपनी सम्पूर्ण शक्ति से युद्ध करेंगे- ऐसी बातें हैं जिससे राष्ट्र का हृदय फौलाद के समान दृढ़ हो गया।

राष्ट्र का स्वहित, मार्गदर्शक दिशा

दूसरी शिक्षा हमें यह प्राप्त हुई कि अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता और सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए हमारी आन्तरिक अथवा बाह्य सभी राष्ट्रीय नीतियों में प्रबुद्ध राष्ट्रीय स्वहित, एक सर्वाधिक महत्व की मार्गदर्शक दिशा मानी जानी चाहिए। वर्तमान अनुभव ने इस बात को पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया है कि हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा न तो

ऊंचे-ऊंचे उद्घोषों से संभव है और न विश्व संस्थाओं की 'सद्भावना' अथवा अन्य देशों की मैत्री से। इनमें से समय पर पड़ने पर हमारी रक्षा के लिए कोई नहीं आयेगा। अपनी स्वतन्त्रता के लिए केवल हमें ही पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करना पड़ेगा। अब से इस नये दृष्टिकोण के अनुसार हमें अपनी सभी नीतियों की पुनर्रचना करनी चाहिये।

इस दृष्टिकोण से हम पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों पर विचार करें। हमारी सरकार ने अब इस पूर्वाशा से युद्धबन्दी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है कि उस अविनेय आक्रमणकारी पड़ोसी के साथ कोई सम्मानपूर्ण स्थायी समझौता हो जाएगा। जहां तक हमारे शूरवीर सैनिक इतने बलिदानों के साथ पहुंच चुके हैं उस रेखा पर दृढ़तापूर्वक बने रहने का हमारी सरकार का निश्चय एक ऐसी बात है जिसे सुरक्षित और विश्वसनीय होना चाहिये। जो क्षेत्र हमारे प्रत्यक्ष अधिकार में आ चुका है, उस सीमा को युद्धबन्दी की सीमा घोषित कर देनी चाहिये। इसी पद्धति से राष्ट्रसंघ ने भी युद्धबंदी रेखा का उस समय निर्णय किया था जब १९४७ में पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया था। हमें राष्ट्रसंघ को स्पष्ट कह देना चाहिये था कि वह उसी मापदण्ड को इस समय भी उपयोग में लाये जिसका उपयोग उस समय किया था। हमें अपनी वर्तमान स्थिति से एक इंच भी पीछे हटने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यद्यपि मैं अनुभव करता हूँ कि ऊ-थाँत के दिल्ली आने तथा युद्धबन्दी समझौता स्वीकार करने से पूर्व हमें अपनी सेना को विजय अभियान में आगे बढ़ते हुए लाहौर, रावलपिंडी तथा कराची पर अधिकार कर लेने और सम्पूर्ण कश्मीर को विमुक्त कर लेने की अनुमति प्रदान करनी चाहिए थी। तब हमारी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ होती और जैसा कि होना चाहिये सभी मामले सुलझ जाते। हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बहुत उच्च हो जाती।

उद्देश्यों में स्पष्टता

वर्तमान संघर्ष में हम प्राय: अपने केन्द्रीय शासन के नीति-निर्धारकों को यह घोषणा करते हुए पाते हैं कि उनका उद्देश्य केवल शत्रु के युद्ध साधनों को नष्ट कर देने का है, उसके प्रदेश पर अधिकार करने का नहीं। आज निस्सन्देह हमारीसेनाओं ने पाकिस्तान के युद्ध-तंत्र पर ध्वस्त कर देने वाला आघात किया है। शत्रु के टैंक, जैट विमान तथा रडार पर ध्वंसकारी भारी मार की गई है। किंतु पाकिस्तान निश्चय ही अपनी हानि की पूर्ति करेगा और अपने को पुन: शस्त्रसज्जित करेगा क्योंकि युद्ध साधनों का अर्थ जहां तक युद्ध सामग्री संग्रह से है, वह एक ऐसी वस्तु है कि कितनी ही बार पुन: निर्माण की जा सकती है।

उदाहरण के लिये, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी के युद्ध स्थानों को

पूर्णतया नष्ट कर दिया गया। किन्तु दो दशाब्दों में ही जर्मनी ने एक भीषण युद्ध-यंत्र निर्माण कर लिया और दुनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध में झोंक दिया।

इस मामले में पाकिस्तान की युद्ध-साधना-शक्ति अमेरिका तथा इंग्लैंड जैसे देशों द्वारा दिया गया उपहार मात्र ही है, जो अपनी भौगोलिक, सामरिक नीति के अन्तर्गत पाकिस्तान को ज्यादा अनुकूल समझते हैं। हम वृत्तपत्रों में पढ़ते भी हैं कि पाकिस्तान के लिए युद्ध की सामग्री टर्की, ईरान तथा उसी प्रकार के अन्य देशों से शीघ्र पहुंचाई जा रही है। यह स्पष्ट है कि ये देश अमेरिकन शस्त्रास्त्रों को पाकिस्तान पहुंचाने के केवल परोक्ष मार्ग हैं। ऐसी परिस्थिति में पाकिस्तान के युद्ध साधनों के विनाश का अर्थ है, अमेरिका और इंग्लैंड दोनों ही के सम्मिलित युद्ध साधनों का विनाश। इस प्रकार के लक्ष्य की अव्यावहारिकता नितान्त स्पष्ट है।

मूल पर आघात करो

युद्ध-साधनों को नष्ट करने की नीति मानव प्रकृति के मूल तथ्य की उपेक्षा करती है। कोई व्यक्ति हिंसा अथवा अतिक्रमण केवल इसलिए नहीं करता कि उसके पास शस्त्रास्त्र हैं वरन् इसलिए करता है कि वह अपनी दुष्ट प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित होता है और जब तक वह दुष्ट प्रवृत्ति बनी हुई है, वह बार-बार अपने को अस्त्रसज्जित करेगा ही तथा दूसरों के लिए एक विभीषिका सिद्ध होगा। संसार भर के आक्रामक राष्ट्रों का इतिहास इसी तथ्य का समर्थन करता है।

अब, इस दुष्ट प्रवृत्ति का उच्छेद कैसे किया जाए? हम अपने वर्तमान नेताओं को प्राय: यह कहते हुए सुनते हैं कि उनका दुष्ट मनुष्यों से कोई झगड़ा नहीं है वरन् केवल उनकी दुष्ट मनोवृत्ति से झगड़ा है। किन्तु दुष्ट मनोवृत्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो स्थूल हो और पकड़ कर नष्ट की जा सके। दुष्ट वृत्तियां निश्चित रूप से दुष्ट व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्तियों के गुट के रूप में प्रकट होती हैं और उन्हें मिटाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि दुष्ट लोगों को, जो उनके आधार हैं, हम मिटा दें। यदि मनुष्य से उसकी दुष्ट प्रकृति को अलग कर देना सम्भव होता तो राम ने, जिसके अन्य गुणों के लिए उन्हें बड़ा सम्मान था, उस रावण की दुष्ट वृत्ति का ही नाश किया होता और उसे भला जीवन व्यतीत करने के लिये बचा लिया होता। और, फिर श्रीकृष्ण को भी कंस को मारने तथा पाण्डवों के द्वारा कौरवों को संहार कराने की आवश्यकता न होती। किन्तु यह नहीं हुआ।

जैसी कि कथा है, जब श्रीराम दशशीश रावण के शीश काटते थे और उसके धनुषों को भी बार-बार तोड़ते थे, अर्थात् उसके युद्ध-साधनों को नष्ट करते थे तो

उसके एक दूसरा शीश उत्पन्न हो जाता था और वह दूसरे धनुष को लेकर पूर्ववत् युद्ध करना आरम्भ कर देता था। जब राम ने रावण के हृदय में जो उसकी दुष्ट प्रकृति का स्थान था, आघात किया तभी वह राक्षस गिरा और उसके आतंकवादी शासन का अन्त हुआ। यह कथा इस तथ्य का स्मरण दिखाने वाली है कि यदि हम बुराई से छुटकारा चाहते हैं तो हमें उसके आधार दुष्ट व्यक्तियों का इस संसार से अनिवार्यत: उच्छेद करना होगा।

पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा सार्थक करो

तथापि, इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरे के देश को लेने के लालच में पड़ रहे हैं, क्योंकि पाकिस्तान निश्चय ही हम लोगों के लिए विदेश नहीं है। पाकिस्तान अभी हाल में ही राजनीतिक चालबाजियों द्वारा गढ़ा गया है। अनन्तकाल से वे क्षेत्र हमारी मातृभूमि के अविभाज्य अंग थे। लाहौर में ही पवित्र रावी के तट पर पंडित जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस ने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रतिज्ञा की थी। ऐसी दशा में लाहौर तथा पाकिस्तान के अन्य भागों में हमारे ध्वज का फहराना दूसरों के भू-भाग हड़पना कैसे कहा जा सकता है? वास्तव में हमारे स्वतन्त्रता युद्ध का सफल अन्त तभी माना जा सकता है जब हम उन क्षेत्रों को विमुक्त कर लेंगे जो अभी तक शत्रु के अधिकार में हैं।

जैसे ही हम यह कहते हैं, बहुत से लोग भयाभिभूत से होकर कह उठते हैं कि "वहां रहने वाले मुसलमानों का क्या होगा?" किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि यह हिन्दू और मुसलमानों के बीच कोई धार्मिक युद्ध नहीं है। वास्तव में पाकिस्तान का तानाशाह अपने ही सहधर्मियों पर अत्याचार कर रहा है, विशेषतया उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान तथा पूर्व बंगाल में उसने उन्हें द्वितीय श्रेणी का नागरिक बना दिया है। उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के लोग तथा उनके नेता खान अब्दुल गफ्फार खां सदैव भारत के साथ रहे हैं। उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध बलात् पाकिस्तान के साथ मिलाया गया है। पूर्वी बंगाल के बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमानों के, जो पाकिस्तान में सम्पूर्ण राजतन्त्र पर अधिकार किए हुए हैं, पैरों के नीचे कराहते हुए पहले ही से विद्रोह में उठ खड़े हुए हैं।

अत: भारत के द्वारा उन भागों का पुन: एकीकरण एक स्वागत योग्य बात होगी और उन लोगों की मुक्ति का एक कार्य। धर्म से वे मुसलमान हुआ करें किन्तु इस एकीभूत जनतान्त्रिक भारत में वे उसी प्रकार सुखी और सम्मानित नागरिक के नाते रह सकेंगे जैसे कि अन्य मुसलमान पहले से ही यहां रह रहे हैं और सभी प्रकार

के नागरिकता के अधिकारों एवं सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं। इतिहास साक्षी है इस तथ्य का कि धार्मिक उदारता के पालन में भारत ने सदैव सभी धार्मिक गुटों का स्वागत किया है और उन्हें स्वाधीन, सम्मानित एवं सुरक्षित जीवनयापन के लिए आश्वस्त किया है। विजयनगर और मराठा साम्राज्य में भी, जो मुसलमानों द्वारा ध्वंस से हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए उदित हुए थे, मुसलमान विश्वास एवं उत्तरदायित्व के उच्चतम पदों पर रहे थे।

राष्ट्रसंघ अपने सही रूप में

राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए तथाकथित विश्व संस्थाओं के कथनों को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के धोखे से हमें बचना चाहिए। आज इस प्रकार की सभी 'विश्व-संस्थाओं' और 'विश्व-मतों' की पूर्णरूप से कलई खुल चुकी है। राष्ट्रसंघ तथा कामनवैल्थ पाकिस्तान के स्पष्ट पक्षपाती सिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने उसी घृणित भूमिका की पुनरावृत्ति की है जैसी कि १९४८ में आक्रान्ता और आक्रान्त को समान बताकर की थी। राष्ट्रसंघ बड़ी शक्तियों की सत्तार्थक राजनीति का अखाड़ा है, यह एक बार पुन: सिद्ध हो चुका है। जब पाकिस्तान ने अपने सशस्त्र विध्वंसकों को कश्मीर में सहस्रों की संख्या में भेजा अथवा जब पाकिस्तानी सेनाएं छम्ब-रजौरियां क्षेत्र में अन्तरराष्ट्रीय सीमा को पार करती हुई भारत में घुस आईं तब तक राष्ट्रसंघ ने कुछ कहने के लिए अपना मुंह तक नहीं खोला, किन्तु जैसे ही हमारी सेनाओं ने अपनी सुरक्षा कार्यवाही के लिए पाकिस्तान के लाहौर क्षेत्र में प्रवेश किया कि वही राष्ट्रसंघ विश्वशान्ति के लिए संकट का भय जताता सचेत हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि पाकिस्तान अपने आक्रामक मन्तव्यों में सफल हो जाता तो राष्ट्रसंघ अथवा अन्य शक्तियां जो अब विश्व-शान्ति के नाम पर चीख रही हैं, उस सब मामले पर अत्यन्त शान्ति के साथ सोती रहतीं। सम्भवत: अमेरिका को इंग्लैण्ड ने बड़े प्रेम से यह आशा भी की होगी कि उनके प्रतिनिधि पाकिस्तान को सहज सफलता प्राप्त होगी और कुछ दिनों में वह टहलता हुआ दिल्ली पहुंच कर उस पर अधिकार कर लेगा।

भविष्य में भी, पाकिस्तान घुसपैठियों को भेजने का प्रयत्न पुन: कर सकता है तथा राष्ट्रसंघ से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इससे कुछ अधिक अच्छा व्यवहार करेगा। अपने देश के नीति निर्धारणकर्त्ताओं की कौन कहे, कोई साधारण बुद्धिमान मनुष्य भी उस राष्ट्रसंघ पर लेशमात्र विश्वास नहीं करेगा जिसने अपने को उस गरिमायुक्त नाम के नितान्त अयोग्य सिद्ध कर दिया है, जिसे कि वह धारण किये हैं। सत्य तथा न्याय की

नितान्त उपेक्षा ही नहीं, वरन् आक्रान्ता के साथ जो सक्रिय अव्यक्त अनुज्ञा इस संस्था ने प्रदर्शित की है, वह अत्यन्त अशोभनीय है। पाकिस्तान द्वारा किये गए अठारह वर्ष पुराने आक्रमण के स्पष्ट तथ्य के प्रति अपनी आंखें बन्द कर राष्ट्रसंघ ने शांन्ति और न्याय के नाम पर कुछ कहने का अपना अधिकार निश्चित रूप से खो दिया है।

मैत्री का नियम

संसार के सबसे बड़े धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र तथा सर्वाधिक शान्तिप्रिय देश के विरुद्ध मजहबपरस्त बर्बर सैनिक अधिनायकवाद को बढ़ावा देने की अमेरिका की नीति अत्यन्त शोचनीय है। सामान्यतया हमारे पाश्चात्य 'मित्रों' ने जिस ढंग से हमारे प्रति व्यवहार किया है, और वैसे ही रूस भी है जो अब तक पाकिस्तान को आक्रान्ता कहकर निन्दा करने के विषय में मौन है, इस सब से यही सिद्ध होता है कि संसार में अब तक दुर्बल बने रहने के कारण ही आज हम मित्रविहीन हैं। क्योंकि दुर्बल अपने मित्रों के लिए सदैव एक दायिता तथा भार के समान होता है, उपयोगी नहीं। स्वाभाविक है कि अपने स्वार्थों के लिए दुर्बल का अनुचित उपयोग कर लेने के हेतु को छोड़कर अन्य किसी भी कारण से सबल दुर्बल की मित्रता करने की इच्छा नहीं करता। एक बार हम शक्तिसम्पन्न हो लें और पचास करोड़ के शक्तिशाली दृढ़ इच्छासम्पन्न राष्ट्र के बल पर सभी नीतियों का निर्धारण हमारे प्रबुद्ध राष्ट्रीय हितों के अनुकूल करने का निश्चय कर लें, तो वे सभी राष्ट्र जो पाकिस्तान की मदद से भारत को नीचा दिखाने की और दोनों कमजोर देशों में अपना प्रभुत्व बनाये रखने की आशा लिये पाकिस्तान की सहायता कर रहे हैं, स्वत: अपने ही हितों के लिये भारत के साथ मित्रता के सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिए बाध्य हो जायेंगे।

तथ्य को प्रमाणित करना

अभी हमने राष्ट्रीय हित के पथ को न छोड़ने की इच्छा और दृढ़ता का जो थोड़ा-सा प्रदर्शन किया है, उसी से विश्व के शंकालु तथा साम्राज्यवादी षड्यंत्रकारी कश्मीर के मामले में फिर से सोचने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। हमारी ओर से जहां तक वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति का सम्बन्ध है भारत के साथ कश्मीर को सम्बद्ध करने के लिये वे सब उसी समय पूर्ण हो चुकी थीं जब कश्मीर के महाराज ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे और जनता की प्रतिनिधि संस्था नेशनल कान्फ्रेंस ने उसका पूर्णतया समर्थन किया था। यह तर्क प्राय: दिया जाता है कि भारत के साथ हैदराबाद और जूनागढ़ को सम्बद्ध करने में शासक की स्वीकृति के वैधानिक औचित्य की हमने चिन्ता नहीं की

थी। यद्यपि यह सही है कि इन रियासतों के नवाब भारत में विलय के विरुद्ध थे, किन्तु वहां की जनता इसके पूर्णतया पक्ष में थी। सच तो यह है कि उसने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। किन्तु कश्मीर के मामले में जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि केवल महाराजा ही नहीं वरन् जनता ने भी अपनी प्रतिनिधि संस्था के माध्यम से असंदिग्ध रूप से भारत में सम्मिलित होने की इच्छा को घोषित कर दिया था। इसलिये किसी भी पहलू से देखा जाय, भारत के साथ कश्मीर का विलय अपरिवर्तनीय है और इस विषय पर अब कोई वार्ता नहीं हो सकती।

इसलिये हमें मध्यस्थ शक्तियों से दृढ़तापूर्वक कह देना चाहिए कि अब तो १९४७ में पाकिस्तान ने कश्मीर का जो भाग अन्याय और बलपूर्वक अधिकार में कर लिया है केवल उसे मुक्त कराने का प्रश्न ही शेष रहता है। अन्य किसी विवाद में हमें नहीं पड़ना चाहिए। राष्ट्रसंघ से इस आश्वासन की भी हमें आवश्यकता नहीं है कि पाकिस्तान अब आगे से आक्रमण नहीं करेगा। अतीत में इस प्रकार के सभी आश्वासन व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं। इस समय भी उसके सभी बड़े-बड़े आश्वासनों के रहते हुए भी राष्ट्रसंघ सशस्त्र घुसपैठियों का अथवा नियमित पाकिस्तानी सेना का काश्मीर में प्रवेश रोकने में असफल रहा है। और, यदि भविष्य में ऐसे आश्वासन की पूर्ति में विदेश सैन्य टुकड़ियों को यहां तैनात करने की बात जुड़ी हो तो अपने जैसे महान देश के लिये इससे बढ़कर दूसरी अपमान की बात क्या हो सकती है कि हम अपनी सीमाओं की रक्षा के लिये अपनी भूमि पर विदेशी सैन्य टुकड़ियों के खेमे गाड़ने दें? इस समय संकल्प में शैथिल्य का कोई भी लक्षण प्रदर्शित करना और विदेशी शक्तियों को एक बार पुन: सत्ता-राजनीति की चालबाजियों के लिए अवसर देना हमारी जनता के अतिश्रेष्ठ मनोधैर्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालेगा तथा युद्ध-क्षेत्र में हमारे जवानों के असीम कष्टों एवं बलिदानों से जो लाभकारी परिणाम प्राप्त हुए हैं, उन्हें नष्ट करना होगा। हमने जो कुछ सेना के मोर्चे पर पाया है, उसे कूटनीति के मोर्चे पर नहीं गंवा देना चाहिए।

इस संबंध में मेरे विचार से हमारे प्रधानमंत्री को वार्ता के लिए ताशकन्द जाना स्वीकार नहीं करना चाहिए था, क्योंकि रूस ने भारत और पाकिस्तान को एक साथ बुलाकर आक्रान्ता और आक्रान्त दोनों को एक स्तर प्रदान किया है। आखिर वहां वार्ता के लिए है भी क्या? पाकिस्तान के साथ जिसका कि युद्ध का रुख बराबर बना हुआ है और जो बलपूर्वक एक समझौता थोपना चाहता है, वार्ता करने से कौन-सा लाभदायक उद्देश्य सिद्ध होगा। जब तक पाकिस्तान यह सत्य स्वीकार नहीं कर लेता

कि काश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है, तब तक इस प्रकार की वार्ताओं से कुछ नहीं निकलेगा। और, यदि कुछ निकला भी तो वह हमारे हितों के विरुद्ध ही होगा।

एक बार सदा के लिये निर्णय कर डालो

पाकिस्तान द्वारा नवीन आक्रमण का भय अब भी है। वह वर्तमान युद्धबन्दी को छद्मावरण में बदलकर अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने के प्रयत्न में लगा है। यद्यपि भारी कीमत चुकाकर ही, तथापि पाकिस्तान ने हमारे शस्त्रास्त्र, हमारी रणनीति, हमारी शक्ति और हमारी कमजोरियों का भी गहरा अनुभव प्राप्त कर लिया है। इस अनुभव से वह अवश्य शिक्षा ग्रहण करेगा, अपनी सभी त्रुटियों की पूर्ति करेगा तथा अधिक सशक्त और अधिक योजनाबद्ध आक्रमण के लिए सज्जित होगा। युद्ध-प्रिय राष्ट्र सदैव युद्ध के पश्चात् के मध्यान्तर-समय को और भी बड़े भावी युद्ध के लिए तैयारी करने में लगाते हैं। वास्तव में पाकिस्तान पहले ही से अपने शस्त्रास्त्रों की हानि की पूर्ति बड़ी तीव्र गति से कर रहा है। वह अपनी आक्रामक स्थिति में बना हुआ है और निर्भीकता से युद्धबन्दी का उल्लंघन कर रहा है। युद्धबन्दी के पश्चात् उसने हमारी सैकड़ों वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया है। हमारे लोगों का संहार, पशुओं का अपहरण, फसलों का काटना, हत्याएं तथा गोलाबारी बराबर चालू है। यह स्थिति हमारे लिए अत्यन्त अपमानकारक है। यह असह्य है। इसे अधिक समय तक ऐसा ही नहीं चलने देना चाहिए। इस विषय में कुछ अन्तिम निर्णय हो जाना चाहिए। इस मामले का सदा-सदा के लिए निपटारा हो जाना चाहिये।

पूर्व की अपेक्षा बड़े युद्ध का स्वागत करो

चीन और पाकिस्तान के दुष्ट सम्मिलन से हमें अनावश्यक रूप से भयभीत नहीं होना चाहिए। हम निश्चय ही दोनों आक्रान्ताओं को परास्त कर सकते हैं। हमारी सेना युद्ध की दृष्टि से उत्कृष्ट स्थिति में है। उनका मनाधैर्य उच्च कोटि का है। वास्तव में यह अत्यन्त इष्ट होता यदि चीन अपनी अन्तिम चेतावनी के अनुसार हमारे देश पर आक्रमण कर देता। इससे हमारी युद्धरत सेनाओं को चीन को धूल चटाने का तथा उस पराजय के कलंक एवं अपमान को धो डालने का स्वर्ण अवसर मिल जाता जो चीन से हुए गत युद्ध के समय हमारे नाम के साथ जुड़ गया था। हमारी भारतीय पराक्रम की अतिश्रेष्ठ उच्चता को संसार ने एक बार पुनः देखा होता। आखिर पाकिस्तान के समान क्षुद्र शक्ति मात्र से ही युद्ध करने में क्या कौतुक है।

अन्तरराष्ट्रीय मोर्चे पर भी चीन के साथ ऐसा कठोर युद्ध अत्यन्त लाभकारी प्रभाव डालने वाला हुआ होता। उसके अपने ही हित की दृष्टि से रूस भारत जैसे बड़े देश को चीन के

अधिकार में चले जाने का अवसर कभी नहीं देता। इस विचार ने रूस को उकसाया होता कि वह भारत द्वारा चीनी आक्रमण का प्रतिरोध करने के कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हो। अमरीका भी भारत-पाकिस्तान सम्बन्धी वर्तमान नीति में विचार करने के लिए बाध्य होता। कारण स्पष्ट है कि पूर्ण रीति से चीन के शिविर में गये हुए पाकिस्तान की स्वयं सहायता करके एशिया में सबसे बड़ी शक्ति के रूप में चीन के उदय होने की सम्भावना का संकट अमेरिका स्वीकार नहीं करता। वह अन्त में कदाचित् इसी निष्कर्ष पर पहुंचता कि आगे चलकर पाकिस्तान की अपेक्षा, जो केवल फूला हुआ सैनिक अधिनायकवाद ही है, भारत जैसा सबसे बड़ा लोकतन्त्री देश उसके लिए अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है। इससे उसे अब तक की अपनी त्रुटिपूर्ण विदेश नीति में सुधार करने का अवसर भी मिला होता। वर्तमान युद्ध से मिली हुई यह शिक्षा कि पाकिस्तान जैसे कठपुतली देश, कितना ही शस्त्रसज्जित क्यों न हो, भारत जैसे बड़े एवं वीर्यवान् राष्ट्र को धमका नहीं सकता, उसे अपनी नीतियों की पुन: रचना के लिए प्रवृत्त करने में एक बड़ा कारण होती। सशक्त एवं स्वातंत्र्य प्रेमी भारत इस प्रकार से चीन के विरुद्ध दो विशाल आणविक शक्तियों की मिलन भूमि बन जाता। सम्पूर्ण मानवता के लिए चीन की समान विभीषिका के विरुद्ध उन दोनों का खड़ा हो जाना विश्वशान्ति के हित में एक सर्वाधिक वांछनीय घटना होती।

इस प्रकार का पूर्ण युद्ध (टोटल वार) वर्तमान युद्ध के समान सीमित नहीं रहता। इसमें हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति को समान भाव से युद्ध प्रयासों में सक्रिय भाग लेना पड़ता और यह अवस्था राष्ट्रीय मस्तिष्क के लिए महान शोधक सिद्ध होती। अंग्रेजों की गुलामी के लम्बे कालखण्ड ने एवं परवशता के जीवन ने हममें आलस्य, स्वार्थपरता, संकीर्णता आदि अनेक दुर्गुणों को उत्पन्न कर दिया है। दीर्घकालीन युद्ध की अग्नि में ये सभी दुर्गुण और दुर्बलताएं भस्म हो गयी होतीं तथा एकात्म एवं पराक्रमी राष्ट्रभाव का शुद्ध स्वर्ण और अधिक दैदीप्यमान कांति के साथ प्रकट हो जाता। युद्ध के कारण उपस्थित होने वाली अस्थायी कठिनाइयां हम पर आ सकती हैं, फिर भी उपर्युक्त कारणों से हमें पूर्ण और इससे भी बड़े युद्ध का स्वागत करना चाहिये। यद्यपि परम्परा से हम युद्धप्रेमी नहीं वरन् अपरिहार्य शान्तिप्रेमी रहे हैं फिर भी हमें इस प्रकार के युद्ध के लिए वास्तव में प्रार्थना करनी चाहिए, क्योंकि स्वतन्त्रता और सम्मानयुक्त शान्ति के लिए यही मूल्य हमें चुकाना है और यह मूल्य हम जितने ही शीघ्र चुका देते हैं, उतना ही अच्छा है।

❑❑❑

२५

युद्धरत राष्ट्र

२. चुनौती का सामना

स्वतन्त्रता का मेरुदण्ड : स्वावलम्बन

किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, वर्तमान परिस्थिति हमारे लोगों के लिए एक चुनौती भी है और अवसर भी। अपने राष्ट्रजीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता की उपलब्धि प्राप्त करना एक बहुत बड़ी चुनौती है, जिसका सामना करने के लिए हमें आह्वान मिला है।

राष्ट्रीय जीवन का यह महान सत्य कि प्रत्येक स्वाधीन एवं उन्नतिशील राष्ट्र का मेरुदण्ड स्वालवम्बन होता है, जैसा प्रबल रूप से आज हमारे सामने आया है, वैसा कभी नहीं आया था। सुरक्षा सम्बन्धी हमारी आत्मनिर्भरता इसका प्रथम एवं सर्वाधिक महत्व का क्षेत्र है। इसके लिए हमें अपने निजी युद्ध साधनों का निर्माण करना चाहिए और विदेशी सहायता पर निर्भरता से स्वयं को मुक्त करना चाहिए। सरकार को चाहिए कि सभी उद्योगपतियों, वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों का आह्वान करे तथा उनके सहयोग से यथाशीघ्र ऐसे आयुधों का निर्माण करे जो शत्रु को प्राप्त करने वाले आयुधों से श्रेष्ठतर हों। कम्युनिस्ट चीन के पास अणुबम होने से उसका बनाना हमारे लिए भी अत्यावश्यक हो गया है। यह हमारी अन्तिम विजय की प्राप्ति की क्षमता के सम्बन्ध में जनता तथा सेना के मस्तिष्क में विश्वास उत्पन्न करेगा। सिद्धांत एवं तात्विक निषेधों को बाधास्वरूप इसके मार्ग में नहीं आने देना चाहिए।

प्रत्येक श्रमिक और वैज्ञानिक

और भी, हम सभी कृषक, श्रमिक, उद्योगपति तथा वे लोग जो जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में कार्य करते हैं, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि के लिए तथा अपने देश को प्रतिदिन रोटी के लिए भी प्राप्त अन्य देशों की तुच्छ निर्भरता से

देश को मुक्त करने के लिए दृढ़ संकल्प प्रयत्न करें। प्रत्येक कारखाना और क्षेत्र अधिकतम उत्पादन करके दिखाए। हम आवश्यक वस्तुओं की कमी अथवा अपर्याप्तता को सहन नहीं कर सकते।

विशेषतया वैज्ञानिकों के लिए युद्ध एक बड़ी चुनौती उपस्थित करता है। प्रख्यात आविष्कारों में से अधिकतर युद्ध की गम्भीर एवं तनावपूर्ण स्थिति में ही वैज्ञानिकों द्वारा उपलब्ध किए गए हैं। कहा है कि आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इंग्लैण्ड ने रडार का आविष्कार किया और उसी समय अणुबम का भी विस्फोट हुआ है। हमारे वैज्ञानिक किसी अन्य देश के बड़े से बड़े वैज्ञानिक की तुलना में मेधा-शक्ति और मौलिकता में किसी भी प्रकार कम नहीं। वे समय की चुनौती स्वीकार करें और इस प्रकार के अनुसंधान एवं आविष्कारों को सामने लाएं कि जिनकी सूचना मात्र से शत्रुओं के छक्के छूट जाएं तथा जो शान्तिकाल में राष्ट्रीय सम्पन्नता के साधनों में परिवर्तित हो सकें।

पेट की चुनौती

इसके पश्चात् आता है अन्न का क्षेत्र, जिस पर हमें सर्वाधिक और शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देना चाहिए। जैसा कि सर्वविदित है, हमारे देश के सामने अन्न की कमी की बढ़ती हुई समस्या है। अनाज की आपूर्ति की समुचित और शीघ्र व्यवस्था की मांग करते हुए आन्दोलन तथा प्रदर्शन आये दिन होते रहते हैं। प्राय: यह विक्षोभ हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है। यह सत्य है कि आज विक्षोभ जनता के असन्तोष को प्रकट करने का एक माना हुआ ढंग हो गया है। यदि जनता चुपचाप बैठी रहे और मौन रहकर कष्ट सहन करती रहे तो सरकार भी सोती रहती है और जनता के कष्टों के प्रति निर्दय हो जाती है। अशोभनीय विक्षोभों को टालने के लिए हमारी सरकार समय रहते चेतती ही नहीं। कोल्हापुर का सुस्पष्ट उदाहरण हमारे सामने है। उस नगर में अन्न के लिए आन्दोलन हुए। भूखी भीड़ ने लूट और दंगे किये। कहा जाता है कि यदि अनाज एक सप्ताह पूर्व कोल्हापुर पहुंच जाता तो ये दंगे नहीं होते। किन्तु दंगा और लूट के बाद ही वहां अनाज शीघ्रता से पहुंचाया गया।

प्रश्न है कि क्या स्थायी समाधान प्राप्त करने के लिए आन्दोलन सहायक होंगे? उत्पादन और वितरण खाद्य समस्या के दो पक्ष हैं। कुछ सीमा तक ये आन्दोलन दूसरे पक्ष अर्थात् वितरण पर ध्यान देने के लिये सरकार पर दबाव डाल सकते हैं किन्तु क्या किसी ने उत्पादन की मूल समस्या के विषय में गम्भीरता से विचार कर, उसके लिये स्थायी हल प्राप्त करने का प्रयत्न किया है?

रुपये का आत्मघाती सम्मोहन भंग करो

उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि लाखों एकड़ हमारी उर्वरा भूमि में धनार्जन करने वाली फसलें की जाती हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की लीजिये- उत्तम गेहूँ तथा चावल उत्पन्न करने वाली भूमि का पर्याप्त भाग आज गन्ने की खेती के काम में आता है। परिणाम यह है कि जो उत्तरप्रदेश गेहूं का निर्यात करता था, अब पंजाब या अन्य किसी स्थान से बिना गेहूं मंगाये जीवन धारण नहीं कर सकता था। महाराष्ट्र में अंगूर उगाने की स्पर्द्धा चल रही है। उसका अधिकतर भाग मदिरा बनाने के काम में आता है। आन्ध्र में तम्बाकू की खेती को प्रोत्साहन देने और उसके विकास के लिए अलग विभाग खोला गया है। मूंगफली इस प्रकार की एक धनोत्पादक फसल है। हमें इस प्रवृत्ति को रोकना चाहिए और उन भूमियों को अन्नोत्पादन के लिए पुन: काम में लाना चाहिए। यदि हमें बाहर से कुछ आयात करना ही पड़े तो करें, किन्तु गेहूं के स्थान पर शक्कर का, यदि आकस्मिक घटनावश जैसा कि इस समय है, आयात बन्द हो जाय तो अधिक से अधिक शक्कर का आयात बन्द होगा। हम बिना शक्कर के नहीं मरेंगे, किन्तु गेहूं और चावल के अभाव में निश्चय ही मर जाएंगे। आज, हमें ज्ञात है कि हमारे नेता पी.एल. ४८० के अनुसार अमेरिका के गेहूं का आयात करने के लिए कितनी दौड़धूप कर रहे हैं। वे अनुभव करते हैं कि उस ऋण के बिना-वह ऋण ही है, सहायता नहीं तो हम जीवित नहीं रहेंगे।

लोग धनोत्पादक फसलों के लिए क्यों उत्सुक रहते हैं? यह इसीलिए है कि हमने दैनंदिन जीवन में रुपये को अनुचित महत्व दे रखा है। रुपया तो केवल विनिमय का माध्यम और साधन है। दुर्भाग्यवश उसी साधन को हमने अपना स्वामी बन जाने दिया है। यदि यह मुद्रासंग्रह अभिमुख दृष्टि हमारे जीवन पर अधिकतर किये रहती है तो हम ग्रामवासियों से किस प्रकार यह आशा कर सकते हैं कि वे अपने को तथा नगर निवासियों को भी खिलाने के लिये पर्याप्त अन्न का उत्पादन करें। बिना अनाज के हम जीवित कैसे रह सकते हैं? निश्चय ही हम रुपयों को खाकर नहीं जी सकते।

सम्पूर्ण देश के कृषकों के मस्तिष्क में यह विचार भलीभांति स्थापित कर देना चाहिये कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए 'अन्न' में आत्मनिर्भरता अत्यावश्यक है। उन्हें अपनी देशवासी जनता को भोजन उपलब्ध कराने के लिए पर्याप्त अन्नोत्पादन करने के पवित्र कर्त्तव्य का अनुभव करा देना चाहिये। उसके बाद अगर वे चाहें तो दूसरी धन अर्जन करने वाली फसलें भी उगा सकते हैं। सरकार तथा जनता को इस प्रकार के सभी उपाय काम में लाने चाहिए, जिससे हमारा देश इस सबसे बड़ी आवश्यकता में आत्मनिर्भर हो जाए।

विदेशों पर निर्भरता का मूल्य

ज्यों-ज्यों समय बीतता है, हमारे सामने अविलम्ब स्वालम्बन की आवश्यकता दु:खदायक रीति से अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है। जब पानी के अभाव में अपने देश की फसलें कुम्हला रही हों, उस समय पाकिस्तान के लिये पर्याप्त मात्रा में नहरी पानी छोड़ते रहने का सरकारी निर्णय और जब एक-एक पैसा हमें अपनी सुरक्षा में लगाना हो, तब करोड़ों रुपया इस प्रकार देते जाना, इस विषय के आश्चर्यजनक उदाहरण हैं। यह स्पष्ट है कि हम विश्व बैंक के दबाव के समक्ष झुक गए हैं, क्योंकि आर्थिक सहायता के लिए हम उस पर निर्भर हैं। यह कहावत कि- 'भिखारी अपनी आवश्यकताओं पर चयनकर्ता नहीं होते' ऋणी लोगों पर लागू होती है। वही बात हम पर पूरी तरह से घटित हो रही है। इतने वर्षों तक अपनी आर्थिक व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने की ओर ध्यान न देने की यही कीमत है जो हम चुकाते जा रहे हैं। विगत अठारह वर्षों से सतत खाद्यान्न की, धन की और लगभग सभी वस्तुओं की भीख मांगने की इस आदत ने हमारे स्वावलम्बन और मनुष्यत्व के भाव को चाट लिया है और हमें निरीह दास की कोटि में ला उपस्थित किया है। इस समय हमारे नेताओं के लिये सभी बाहरी दबावों के प्रतिरोध करने का तथा पाकिस्तान को एक पाई अथवा एक बूंद पानी भी देने से इनकार करने का अवसर उपलब्ध था, क्योंकि यह सब उसकी आक्रामक भूख को ही बढ़ाने में सहायक होगा। तथाकथित नहरी पानी के अन्तर्गत दिया हुआ हमारा वचन उसी समय स्वत: निरस्त हो चुका जिस समय पाकिस्तान ने हमारे देश पर आक्रमण कर दिया। वास्तव में हमारे नेताओं को पाकिस्तान से हमारे सभी नुकसानों की पूरी-पूरी भरपायी की मांग करना चाहिए थी जो उसके स्वेच्छाचारी आक्रमण से हमें हुए हैं और उस सब देय धन को भी मांगना चाहिए था जो विभाजन के बाद के गत १८ वर्षों में विविध समझौतों के अन्तर्गत हमें मिलना चाहिए था। यद्यपि इस प्रकार के कठोर निर्णय से हमारे लिए कुछ तात्कालिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने की संभावना थी किन्तु उसके बाद अपनी आर्थिक व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने के नवीन निश्चय से राष्ट्र में सुदृढ़ता आ जाती।

हम इस तथ्य को भलीभांति समझ लें कि राष्ट्रीय सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा का लक्ष्य 'मोहक सरल छोटे रास्तों' से प्राप्त होने वाला नहीं है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रत्येक राष्ट्र को आत्मविश्वास और बलिदान के कठोर मार्ग से ही जाना पड़ा है।

उज्ज्वल उदाहरण

हमारे देशवासियों को देशभक्ति के इस व्यावहारिक पहलू की शिक्षा देने की आवश्यकता है। देश-हित की केवल इच्छा ही पर्याप्त नहीं। हमें यह भी जानना चाहिए कि राष्ट्रीय कल्याण की अपनी आकांक्षाओं को किस प्रकार अच्छे से अच्छे ढंग से अपने व्यवहार एवं तदनुसार क्रिया में व्यक्त करें।

इंग्लैण्ड एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है कि जब परिस्थिति की मांग हुई तो किस प्रकार उन्होंने देश-भक्ति की अपने जन्मजात भावना को व्यावहारिक कार्य स्वरूप प्रदान किया। जब प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया तो इंग्लैण्ड को भारत जैसे देशों से भोजन सामग्री का आयात कठिन हो गया। खाद्य सामग्री लाते हुए जहाज जर्मनी द्वारा टारपीडो किये जाने लगे। इंग्लैण्ड को उस समय पेट भरने की चुनौती का सामना करना पड़ा, जिससे कि उनकी सभी युद्ध योजनाओं को छिन्न-भिन्न करने वाला संकट उत्पन्न हो गया। उन्होंने कृषि-योग्य भूमि का छोटे से छोटा टुकड़ा भी जोत डालने की एक सर्वकप योजना बनाई। उन्होंने किस प्रकार की फसल किस परिमाण में उत्पन्न की जा सकती है, उसका अनुमान लगाया और अपने को खाद्य उत्पादन के कार्य में जुटा दिया। एक वर्ष तक उस खाद्य मोर्चे पर नियमित तथा व्यवस्थित रूप से कार्य करते हुए वे इतने आत्मनिर्भर तो हो ही गये कि अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इस प्रकार युद्ध की एक बड़ी चुनौती का सामना उन्होंने सफलतापूर्वक किया। कृषि-योग्य भूमि की कमी होते हुए भी इंग्लैण्ड ने यह चमत्कार किया था। इसके विपरीत हमारा देश कितना विशाल और उर्वर है। सच में हमारा देश भूमि की उर्वरता के लिए प्रसिद्ध है। तो भी हम इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में असमर्थ है : इस चुनौती का सामना करने के लिए अपने राष्ट्र की इच्छाशक्ति को रचनात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करने और उपयोग में लाने की आवश्यकता है।

राष्ट्र के मनोबल का निर्माण

और तब हम आते हैं, राष्ट्र के मनोधैर्य को उच्चतम स्थिति में बनाये रखने के सर्वाधिक महत्व के प्रश्न पर। सुरक्षा, खाद्य तथा औद्योगिक उत्पादनों आदि में आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बन की उपलब्धि के हेतु तात्कालिक और दूरगामी योजनाओं के अनुसार कार्य करने के लिए हमारे प्रत्येक देशवासी की इस प्रकार की तैयारी अपेक्षित है कि वह वर्षों तक अपना 'खून-पसीना और आंसू' देने के लिए उद्यत रहे।

राष्ट्रीय चेतना का उत्कट आविर्भाव ही देशवासियों में ऐसी स्वार्थ-त्याग की स्वयंस्फूर्त एवं आनन्दमयी भावना का नित्य स्रोत खोल सकता है। इसलिये आज दिखाई पड़ने वाले इस ओजस्वी मनोबल को स्थायी बनाये रखने के लिये इस क्षण की अत्यधिक महत्ता इसी में है कि हर एक क्षेत्र में हमारे राष्ट्रीय प्रयत्नों में जागरूकता भर उठे।

प्रत्येक व्यापारी

इस विषय में व्यापारी वर्ग को भी महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। युद्धकाल में वस्तुओं की कमी हो जाती है, मांगे बढ़ जाती हैं तथा अधिक लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। विशेष रूप से उन क्षेत्रों में जहां शत्रु से सीधा संघर्ष होता है, जीवन और सम्पत्ति का विनाश उपस्थित होने पर समाज-विरोधी तथा बेईमान व्यापारियों को लोगों के प्राणों से व्यापार करने का अवसर मिल जाता है। १९६२ में चीनी आक्रमण की छाया में जब लोग ब्रह्मपुत्र को पार कर तेजपुर से भागने लगे तो रिक्शाचालकों और मल्लाहों तक ने एक व्यक्ति को ले जाने का ५० रु. से १०० रु. तक भाड़ा लिया। इस प्रकार की घटनाएं अभी हाल में जामनगर में भी हुईं। प्राणहारी संकटकाल में अपने भाइयों की सहायता के लिए दौड़ने के स्थान पर उनकी कठिनाइयों से अनुचित लाभ उठाना और उन्हें अधिकाधिक निचोड़ना मानव दु:ख से सौदा करने एवं नर-भक्षण से किसी भी तरह कम नहीं है। आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ाना भी इससे कम गर्हित नहीं है। व्यापारी-वर्ग इस प्रवृत्ति से सावधान रहे और ध्यान रखे कि इस भीषण काल में ऐसा महत्वपूर्ण क्षेत्र लोगों के मनोबल को कमजोर करने वाला संकट न बन जाय।

प्रत्येक ग्राम

प्रत्येक ग्राम और नगर चतुर्दिक मनोधैर्य बनाये रखे तथा शैथिल्य का अल्पतम लक्षण भी प्रदर्शित न होने दे। कहीं ऐसी एक भी घटना घटित नहीं होनी चाहिए, जिसका घातक परिणाम युद्ध के मोर्चे पर लड़ रहे हमारे जवानों के मन पर पड़े। आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था को भंग करने वाले तथा युद्ध विजय के प्रयत्नों को नष्ट करने वाले तत्वों पर कठोर दृष्टि और नियन्त्रण रखना चाहिये। कोई कारण नहीं है कि हम आत्मसंतोषी विश्राम-भावना की गोद में जा पड़ें। स्वातन्त्र्य का मूल्य सत्ता जागरूकता है। नागरिक सुरक्षा से सम्बन्धित सभी कार्य साथ ही समाज-विरोधी तत्वों के सम्बन्ध में सावधानी व जागरूकता पूर्णरूप से लगातार बनी रहनी चाहिए जिससे कि घुसपैठियों की सहायता से पंचमार्गियों को ऐसा अवसर ही न मिले कि वे अन्दर से देश की सुरक्षा में गड़बड़ी पैदा कर सकें।

प्रशासन

इस विषय में सरकार का विशेष दायित्व है। प्रशासन को न केवल आन्तरिक विध्वंसकारी तत्वों पर कठोरता बरतने के लिये अत्यधिक सतर्क और दृढ़ रहना चाहिए वरन् जब जहां ऐसी घटनाएं हों तब उनके प्रति की गई कठोर कार्यवाहियों को जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित भी करना चाहिए।

गुजरात के मुख्यमंत्री बलवन्तराय मेहता जिस विमान से यात्रा कर रहे थे, उसे पाकिस्तान द्वारा गोली मारकर गिराना और उनको मार डालना इस सम्बन्ध में एक उदाहरण है। जनता के मस्तिष्क में इस प्रकार के गम्भीर सन्देह उत्पन्न हो गये हैं कि क्या हमारी सीमाओं के अन्दर से ही पाकिस्तानी भेदियों ने ट्रान्समीटर के द्वारा इसकी सूचना पहले ही नही दे दी थी ? लोग निश्चित रूप से यह जानते हैं कि हमारे सम्पूर्ण देश में इस प्रकार के ट्रान्समीटर कार्य कर रहे हैं। आज तक सरकार ने लोगों की इस शंका का समाधान नहीं किया है कि क्या ऐसी घटनाओं में शत्रु-चरों का हाथ है, और क्या वे पकड़े गये तथा दण्डित हुए हैं ? आन्तरिक शत्रुओं को दण्डित करने से सम्बन्धित किसी आधिकारिक सूचना के अभाव में अपने सुरक्षा संयोजनों की अभेद्यता के विषय में लोगों के मन में गम्भीर सन्देह बने रहना स्वाभाविक है। इससे प्रशासन में जनता का विश्वास गम्भीर रूप से हिल जायेगा जो इस समय गम्भीर और दुःखद स्थिति होगी। यदि सरकार ने उन अपराधियों का पता लगा लिया है, तो उसे जनता को सूचित करना चाहिए जिससे हमारे आन्तरिक सुरक्षा संयोजनों की शक्ति का विश्वास होगा और सरकार के साथ सहयोग करने के उनके उत्साह में और भी वृद्धि होगी।

धन नहीं राष्ट्र को प्राथमिकता

सरकार जो कुछ भी करे उसमें बिना भूले सर्वोपरि विचार इस बात का रहना चाहिए कि उसके प्रत्येक कार्यकलाप से लोगों का दृष्टिकोण राष्ट्रोन्मुख बने। पाकिस्तानी छतरीधारी को पकड़वाने वाले को सरकार द्वारा पांच सौ रुपये का पुरस्कार देने का निर्णय घोषित करना उस भावना को समझने की नितान्त असमर्थता प्रकट करता है, जो ऐसे संकटकाल में राष्ट्र को कर्तव्य करने की प्रेरणा देती है। धन का प्रलोभन देने के स्थान पर उन्हें लोगों में देशभक्ति की सहज चेतना को जागृत करना चाहिए था और अपने राष्ट्र को अन्दर से विध्वंस करने वाले धोखेबाज शत्रु का पता लगाने के लिए उनका आह्वान करना चाहिए था। यदि धन ही प्रेरक होता तो विध्वंसक की सहायता करने वाले को पाकिस्तान द्वारा एक हजार रुपए प्रदान करना हमारे प्रशासन

के पांच सौ रुपये के दान को निरर्थक कर देगा और उसे देशद्रोही बना देगा। वास्तव में शत्रु के छतरीधारी सैनिक, अपने दुष्ट प्रयोजनों में सहयोगी के रूप में हमारे लोगों को मोल लेने के लिए, बहुत-सा धन अपने साथ लाते रहे हैं। इसलिए धन पर आधारित प्रेरणा हमारे लोगों में राष्ट्र के बजाय धन की लालसा जगाएगी तथा इसका परिणाम जो कुछ प्रशासन चाहता है, उससे नितान्त विपरीत होगा।

आत्मसात करने का मार्ग

जैसा कि इस अवसर पर देखा गया है, उत्कट राष्ट्रीय चेतना एवं पराक्रम के जागरण ने सम्पूर्ण देश में फैले हुए पाकिस्तान समर्थक शक्तिशाली तत्त्वों को नियंत्रित रखा था और एक सीमा तक प्रभावहीन भी कर दिया था। अतीत में उन्होंने देश को पर्याप्त कष्ट दिया है। विगत दिनों में उन्होंने देश में बहुत उपद्रव किये हैं। अब भी समय-समय पर जो दंगे भड़क उठते हैं, हिंसा-लूटपाट की घटनाएं होती हैं तथा इस वर्तमान संकटकाल में भी उनमें से कुछ भी संदेहास्पद कार्यवाहियां हमें यह कहने के लिए बाध्य करती हैं कि आज तक उन्होंने राष्ट्रजीवन की मुख्यधारा के साथ समरस होने से इनकार किया है।

इस संबंध में यहां के मुसलमानों के लिए यह लाभदायक होगा कि ईरान, टर्की आदि देशों के अपने सहधार्मियों के उदाहरण का अनुसरण करें। जब उन पड़ोस के देशों में अरब से आकर इस्लाम फैला तो वहां के लोगों ने इस्लाम पंथ को स्वीकार कर लिया किन्तु अपनी भाषा, संस्कृति और जीवन-रचना को बनाये रखा। हिन्देशिया में, जो मुख्यत: एक मुस्लिम देश है, बच्चे अपनी शिक्षा राम और सीता के पाठ से आरम्भ करते हैं। परन्तु इस देश में यहां के मुसलमानों ने अपने पूर्वजों, अपनी भाषा, रीति-रिवाज तथा इस प्रकार के सभी राष्ट्रीय परम्पराओं से प्राप्त तत्त्वों को अमान्य कर दिया। कुल परम्परा का उनका यही विस्मरण देश के विभाजन का कारण बना।

आज जो परिवर्तन उनमें दृष्टिगत हो रहा है, वह इस परिस्थिति से भी उत्पन्न हो सकता है, जिसमें भारत ने अपने शौर्य और धैर्य को प्रकट करके प्रमाणित कर दिया है कि वह दुष्टता करने वालों को कितनी अच्छी प्रकार से दण्डित कर सकता है। फिर भी हम यही आशा करें कि वह परिवर्तन उनके सच्चे हृदय-परिवर्तन के कारण हुआ है और समय बीतते वे अनुभव करेंगे कि कभी वह भी हिन्दू ही थे और इस देश के प्रति निष्ठावान रहना, प्रामाणिकतापूर्वक इसकी सेवा करना, अपने देशवासियों के सुख-दु:ख में भागीदार होना तथा इस देश की परम्पराओं का समादर

करना उनका कर्तव्य है। हम अपनी ओर से सजग और दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न बने रहें, जिससे कि इस प्रकार के सभी अस्थिर तत्व राष्ट्रीयता की मुख्य धारा में मिलना ही अपने स्वयं के हित में मानने लगें।

महान् शोधक

राष्ट्रीय चेतना एवं मनोधैर्य को उद्दीप्त रखने के लिए अत्यन्त सजग रहने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसे हम चिरकालिक राष्ट्रीय एकता के प्रश्न के द्वारा भलीभांति समझ सकते हैं। आज नि:संदेह हम अपने राष्ट्रीय मानस को सामूहिक प्रयत्न एवं स्वार्थ-त्याग की अति श्रेष्ठ भावना से युक्त देख रहे हैं। कल तक स्वार्थपरता, दलीय विवाद, सत्ता के लिए कलह और आन्तरिक झगड़े हमारे राष्ट्रीय जीवन को खण्ड-खण्ड किए हुए थे। सैकड़ों बहाने लेकर पृथकता की भावना अपना कुत्सित सिर उठा रही थी। आज हमारे पराक्रमी जवानों की यज्ञीय चिताओं की पवित्र ज्वालाओं में वह सब भस्म हो रहा है। केरल और मद्रास से लेकर पंजाब और बंगाल तक से आये हुए, युद्ध क्षेत्र में कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खड़े हुए, अपने सुखों और दु:खों को साथ-साथ अनुभव करते हुए अपने देश की रक्षा के लिए साथ-साथ युद्ध करते और मरते हुए हमारे जवानों के प्रेरणादायी दृश्य ने एक अविभाज्य मातृभूमि की प्रतिमा को-महान भारतमाता को-आंखों के सामने खड़ा कर दिया है। हमारी अन्तर्निहित राष्ट्रीय एकता के शाश्वत स्रोत एक बार पुन: खुल गये हैं और सम्पूर्ण देश अपनी सभी विविधताओं के साथ एकीभूत, एक महाकाय सामूहिक व्यक्तित्व-विराट् पुरुष की भांति उठकर खड़ा हो गया है। यह दृश्य उन लोगों की दृष्टि को विस्मयापन्न करके चकाचौंध करने वाला है जो हमारे समाज-जीवन की रचना विशेष को नहीं समझ सकते।

एकता-प्रासंगिक और स्थायी

किन्तु क्या हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह स्थिति चिरकालिक होगी? क्या सभी विघटनकारी प्रवृत्तियां और बुराइयां जो हमारे समाज के मर्मस्थानों को कुरेद रही थीं, अब अतीत की वस्तुएं हो गई हैं?

अक्टूबर १९६२ के चीनी आक्रमण के पश्चात् का हमारा अनुभव इस सम्बन्ध में हमारे लिए एक शिक्षा है। उस आक्रमण के साथ हमारा देश एक पुरुष के रूप में उठकर खड़ा हो गया था और उसने उद्देश्य एवं क्रिया का अद्वितीय ऐक्य प्रकट किया था। किन्तु चीनियों की एक पक्षीय युद्धबन्दी की घोषणा करने और वापस लौट जाने के पश्चात् यह राष्ट्रीय भावना कितने समय तक टिकी रही ? यही दिखाने के लिए कि

वह कितनी अल्पकालिक थी, केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। अभी हाल में ही (जनवरी, १९६५) मद्रास में एक आन्दोलन छेड़ा गया था, जो अपनी ही भाषाओं में से एक भाषा हिन्दी के प्रति घृणा और एक विदेशी भाषा अंग्रेजी के प्रति व्यामोह से प्रेरित था। करोड़ों की राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। अंग्रेजी भाषा प्रेमी समुदाय के एक प्रमुख नेता ने तो यहां तक घोषित कर दिया कि अब से उत्तर और दक्षिण के लोगों का एक साथ रहना असम्भव है, तथा एक ही मार्ग है कि उत्तर और दक्षिण में देश का विभाजन कर दिया जाय। चीनी आक्रमण के समय राष्ट्रीय एकता के लिए दिए गए भाषण और लोगों से कराई गई प्रतिज्ञाएं दो वर्ष में ही कहां लुप्त हो गईं?

वर्तमान आपात्कालीन अवस्था में भी जो भाषा हम सुन रहे हैं, वह हमारी पुरानी आदतों के पुन: प्रकट होने की द्योतक है। पंजाबी सूबे का विवाद जिसका विस्फोट सन्त फतेहसिंह के अनशन और आत्मदाह की अन्तिम चेतावनी के रूप में हुआ था, अभी पाकिस्तान आक्रमण के कारण उनके वापस ले लेने से कुछ काल के लिए दब गया था। किन्तु जैसे ही युद्धबन्दी घोषित हुई, पुराना झगड़ा पुन: सजीव हो उठा और पंजाब जो मातृभूमि की रक्षा के लिए आत्माहुति करने वालों के रक्त से अब तक गीला है, परस्पर कलह के संघर्ष में कूद चुका है।

वास्तव में इस प्रकार की पुरानी दु:स्थिति में जा पड़ने की यह प्रवृत्ति हमारे भूतकालीन इतिहास में भी हमारी सफलता को असफलता में बदलने वाला गम्भीर कारण रही है। हमारा समाज कुम्भकर्ण के समान है जो थोड़ी देर के लिए जागता था, खूब भोजन करता था और पश्चात् पुन: गहरी नींद में सो जाता था। विजय के पश्चात् आराम, तुष्टि और शैथिल्य का भाव, और वही पुराने कलह तथा विघटन की बार-बार पुनरावृत्ति शत्रु को पुन: पूर्व की अपेक्षा बड़ा आघात करने और हमें पराजित करने का अवसर देगी। १८५७ में हमारी पराजय के मुख्य कारणों में से एक यह भी था कि हमारे स्वातन्त्र्य-युद्ध के योद्धाओं को आरम्भिक सफलताओं ने सन्तुष्ट कर प्रयत्नों के प्रति शिथिल कर दिया था। नाना साहब, तात्या टोपे आदि कुछ चोटी के नेताओं को छोड़कर शेष स्थानीय नेता तथा क्रान्ति के सामान्य सैनिक शिथिल हो गये थे और उन्हें जो अनुकूल स्थिति मिल गई थी उससे लाभ उठाकर उन्होंने पूर्ण विजय करने के लिए आगे बढ़कर प्रबल प्रयास नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों को विद्रोह के पहले धक्के को सहकर सांस लेने का समय मिल गया और उन्होंने स्वतन्त्रता की शक्तियों को ध्वस्त करने वाला प्रहार करने के लिए अपनी सेनाओं को संचालित किया।

इसलिये शत्रु आ चढ़ने के क्षणों में उमड़ पड़े जोशीले भावावेश के बजाय कहीं अधिक गहरी और भावात्मक भूमि में राष्ट्रीय चेतना तथा एकता की जड़ें जमानी होती हैं। इस प्रकार की चिरस्थायी राष्ट्रीय एकता एवं भक्ति की जड़ों के लिए हमारी खोज कहां होनी चाहिए ?

सभी 'वाद' अपने उदात्ततम रूप में

वर्तमान संकटकाल से समाज में त्याग एवं कष्टसहिष्णुता की भावना का आह्वान करने तथा आक्रान्ता को निकाल बाहर करने के सम्मिलित प्रयत्न के लिए हमारे नेताओं द्वारा भांति-भांति से अपीलें की गई हैं। वे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता तथा समाजवाद के नाम पर की गई हैं। लोकतन्त्र की सर्वोत्तम भावना को जो व्यक्ति को वाणी, विचार एवं कर्म करने की स्वतन्त्रता का अधिकार देती है, अति प्राचीन हिन्दू परम्पराओं में जितनी मान्यता प्राप्त हुई है और व्यावहारिक जीवन में उसका जितना पालन हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। यदि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं होना चाहिए और सभी पंथों का समानरूपेण सम्मान होना चाहिए तो यह भी हिन्दू-परम्परा का ही दूसरा नाम होगा। वास्तव में हिन्दू-परम्परा तो निरी सहिष्णुता की पाश्चात्य कल्पना से कहीं बढ़-चढ़कर है। वह तो सभी पंथों को समानभावेन पवित्र मानकर उनका सम्मान करती है। यदि समाजवाद का अर्थ है कि आर्थिक विषमताओं को दूर करना तो फिर भी यह केवल हिन्दू दर्शन तथा व्यवहारशास्त्र ही है जो सामाजिक तथा आर्थिक न्याय प्राप्त करा देने की अचूक गारंटी प्रदान करता है। मनु की घोषणा है कि सम्पत्ति पर मनुष्य का अधिकार प्रतिदिन के भोजन की आवश्यकता की पूर्ति तक सीमित है जो इससे अधिक संगृहीत करता है, वह चोर है और उसे दण्डित करना चाहिये।

सारांश यह है कि ये सब विचारधाराएं हमारे देशवासियों को युगों से उनके रक्त में भिदी हुई हिन्दू परम्परा और राष्ट्रीयता के नाम से दी जा सकती है और कहीं अधिक अच्छे ढंग से दी जा सकती है। और इसी में निहित है प्रेरणा का वास्तविक स्रोत, जो हमारे लोगों में स्वार्थ-त्याग एवं पराक्रम के सभी परम्परागत गुणों को प्रेरित कर सकता है तथा राष्ट्र के वर्तमान परीक्षाकाल में जो कुछ अपेक्षा की जाय, उसे उनके प्रसन्नतापूर्वक और स्वयं स्फूर्ति से पूरा करा सकता है।

जितना शीघ्र राष्ट्रजीवन के इस मूल तथ्य को हम अनुभव कर लेंगे, उतना ही हमारे लिए अच्छा है। प्रेरणा का वास्तविक एवं चिरकालिक स्रोत राष्ट्रीयता की विशुद्ध भावना में ही प्राप्त हो सकता है। हम सबकी महान् और पवित्र जननी भारतमाता

के लिए जाज्वल्यमान प्रेम की भावना, एक ही माता के पुत्र होने के नाते एवं एक अविभाज्य भ्रातृत्व की चेतना और अपने राष्ट्र के वैभवशाली अतीत में अपने अनुपम सांस्कृतिक उत्तराधिकार में गर्व तथा अपनी भारतमाता को विश्व राष्ट्रों के मध्य उसके पुरातन वैभव एवं सम्मान के साथ देखने की आकांक्षा ही सतत एवं सशक्त प्रेरणा के रूप में कार्य कर सकती है। इस प्रेरणा से इस देश के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे व्यक्ति भी एक साथ खड़े होकर उनमें जो कुछ श्रेष्ठतम है, देश-हित में प्रस्तुत कर सकते हैं। केवल यही हमारे लोगों की अजेय शक्ति को, जो इतनी विपुल मात्रा में प्रदर्शित हुई है, वर्तमान संकटकाल में पूर्णतया क्रियाशीलता बनायेगी तथा अजेय एवं एकात्म भारतमाता के प्रेरणादायी उस स्वरूप की उन्हें अनुभूति कराएगी, जिसके एक हाथ में कमल अर्थात् उत्तम जनों को वरदान देने की शक्ति तथा दूसरे हाथ में वज्र अर्थात् दुष्टों का संहार करने की शक्ति होगी और जो होगी साक्षात् ब्रह्म तेज एवं क्षात्र तेज की मूर्ति।

❑❑❑

२६

शिक्षाएं विस्मृत न हों !

वर्तमान युद्ध ने अपने देश को राष्ट्रभक्ति के उत्साह एवं एकता की प्रेरणापूर्ण मनोदशा में ढालने के लिए एक प्रकार की अग्नि परीक्षा में डाल दिया है। इससे एक बार पुन: प्रमाणित हो गया है कि हमारा राष्ट्र आन्तरिक रूप से एक है। हमारे चिन्तन में जो अनेक मकड़जाल लग गये थे, वे जैसे इस युद्ध से साफ हुए हैं, वैसे अब तक अन्य किसी प्रकरण से नहीं हुए थे।

यहां से अंग्रेजों के जाने के बाद हमारा प्रबल विश्वास था कि विश्व में सभी के प्रति शांति एवं सद्भावना के लक्ष्य से प्रेरित हमारी प्रतिबद्धता को सब ओर से सही प्रतिसाद मिलेगा। गत २५ वर्षों में अनेक बार हमें कड़वें घूंट पीने पड़े हैं, जिससे विश्व के बईमानी-भरे एवं निर्जज्जतापूर्ण अनैतिक दृष्टिकोण ने हमारा मोहभंग कर दिया है। हमने प्रयत्न करके विश्वास के साथ अपने अन्तर्मन में वर्षों से एक प्रिय आशा संजो रखी थी कि दुनिया में हमारे कुछ मित्र भी हैं, जो हमारे समान ही उत्कृष्ट आदर्शों के लिए विख्यात हैं तथा हमारे ऊपर आक्रमण होने पर वे हमारी सहायता के लिए दौड़े चले आयेंगे। वर्तमान संकट ने हमारी उस आशा को मिट्टी में मिला दिया है।

एक विशुद्ध अनुभव

एक और भी हृदय-विदारक अनुभव हमें हुआ है। हमारा राष्ट्र लोकतान्त्रिक राष्ट्र है- विश्व का विशालतम लोकतन्त्र - परन्तु किसी लोकतन्त्र ने हमारा खुला समर्थन करने अथवा पाकिस्तान के पाशविक सैनिक अधिनायकवाद की दो टूक भर्त्सना करने का साहस नहीं किया।

हममें से अनेक का यह भी प्रबल विश्वास था कि उच्च मानव मूल्यों की दुहाई देने वाला अमरीका सदैव हमारा सच्च मित्र बना रहेगा, क्योंकि हम दोनों ही समान आदर्शों के लिए प्रतिबद्ध हैं। परन्तु पाकिस्तान का निर्लज्ज समर्थन कर उसने हमारी मोहभ्रमपूर्ण निर्भरता को जबरदस्त आघात पहुंचाया है। युद्ध से पहले अपने

न्यायोचित एवं मानवतावादी उद्देश्य के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए हमारी (तत्कालीन) प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सारे विश्व की यात्रा की। यात्रा से वह अधिक समझदारी और वैचारिक स्पष्टता के साथ लौटीं। उन्होंने बड़ी कटुता के साथ टिप्पणी की, ''विश्वशक्तियों ने केवल शाब्दिक सहानुभूति से आत्म-संतोष कर लिया है और उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान से आये लाखों शरणार्थियों की दुर्दशा के मूल कारण पर रत्तीभर भी ध्यान नहीं दिया।''

जिसकी लाठी उसकी भैंस

संयुक्त राष्ट्र संघ के इस सामर्थ्य के प्रति भी हमारा विश्वास पूर्णतया गलत सिद्ध हो गया है कि वह न्याय कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र ने न्याय, सत्य एवं मानव-मूल्यों के सिद्धान्तों की पूरी तरह धज्जियां उड़ाकर पाकिस्तान के समर्थन एवं भारत के विरोध का रवैया अपनाकर अपने आप को चन्द स्वयंभू महाशक्तियों की आखेटस्थली बनाकर मानवता के साथ विश्वासघात किया है। हमारी (तत्कालीन) प्रधानमंत्री ने ठीक ही कहा कि कश्मीर में एक बार अपनी उंगलियां जलने के बाद हम संयुक्त राष्ट्र संघ से किसी भी समस्या का समाधान पाने का जोखिम अब और नहीं उठा सकते।

कच्छ-न्यायाधिकरण के सम्मुख हमारे परामर्शदाता वकील तथा हमारे देश के सबसे बड़े कानूनविद से उनके एक वकील मित्र ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय पर कुछ बोलने का आग्रह किया। प्रख्यात् न्यायविद् ने कहा कि लम्बे भाषण का समय नहीं है, परन्तु दो वाक्यों में इसका सार यों दिया जा सकता है- पहला अन्तर्राष्ट्रीय कानून है ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' और दूसरा ''सौ झूठ बराबर एक सच''। (डॉ. गोयबल्स का कुख्यात सिद्धान्त)।

जिस विश्व में हम रह रहे हैं उसकी वास्तविकता यह है। हमें अपनी नीतियों का निर्धारण तथाकथित विश्व जनमत की अनावश्यक चिन्ता से ग्रस्त एवं प्रभावित होकर नहीं, वरन् अपने जाग्रत राष्ट्रीय हित के अनुरूप करना चाहिए। जब तक हम विश्व-हस्तक्षेप की चिन्ता से ग्रस्त रहेंगे और अपने विवेक से व्यवहार करने में घबराये रहेंगे, तब तक दुनिया हस्तक्षेप करती ही रहेगी। इस बार यही नया व बहुमूल्य अनुभव हमने प्राप्त किया है।

दुष्प्रवृत्ति को नेस्तनाबूद करें

अब पाकिस्तान को लें। उसकी निरी अमानुषिक एवं लूटमार-प्रवृत्ति का पूरी तरह पर्दाफाश हो चुका है। यह हमारे विरुद्ध पाकिस्तान का चतुर्थ आक्रमण है। हमारे राष्ट्र के

प्रति घृणा उसकी नस-नस में है, क्योंकि उसका जन्म ही रक्तपात व घृणा के मध्य हुआ है। रक्तपात और घृणा के बिना वह जीवित नहीं रह सकता। १९४७ में अपने जन्म के तुरन्त बाद ही उसने आक्रमण द्वारा कश्मीर का लगभग २/५ भाग हड़प लिया, पुनः १९६५ में कच्छ पर हमला किया और फिर उसके एक भाग पर काबू कर लिया। बचे-कुचे कश्मीर को हड़पने के लिए १९७१ में आक्रमण किया। तत्पश्चात् हमारे विरुद्ध अपनी कुत्सित चालों की पूर्ति हेतु उसने चीन से सांठगांठ की।

केवल इतना ही नहीं पाकिस्तान ने हम पर अनेक बार आक्रमण किये, अपितु अपने आविर्भाव काल से ही उसने अभागे अल्पसंख्यकों (हिन्दुओं) को निकृष्टतम अमानुषिक उत्पीड़न एवं मजहबी वर्चस्व से त्रस्त कर मानव झुण्डों के रूप में सीमा पार हमारे देश में धकेल दिया। उसने पूर्वी बंगाल में अपने नवीनतम कुकृत्यों द्वारा लगभग एक करोड़ लोगों को उजाड़ कर अतुलनीय नरसंहार किया। इससे मानवता के विरुद्ध जघन्य अपराध के रूप में सारे संसार में जलील होना पड़ा।

पूर्वजों का हितोपदेश

पाकिस्तान के बारम्बार अतिक्रमण, मानवता के विरुद्ध अपराध और उन सबके प्रति आज तक हमारी प्रतिक्रिया के ढंग ने हमें एक ठोस सबक सिखाया है कि यदि हम सुरक्षात्मक रुख अपनाकर अपने बचाव का प्रयास करते हरेंगे, तो यह निरर्थक ही नहीं होगा, अपितु भविष्य में और बड़ी मुसीबतों को निमन्त्रण देने जैसा भी होगा। इसके विपरीत हमें अपने पापी शत्रु का पूर्ण विनाश करना चाहिए। इसका उद्देश्य हमारी सीमा विस्तार की आकांक्षा नहीं, बल्कि उसकी मानव-विरोधी अपराधी प्रवृत्ति एवं भविष्य में हमारी सुरक्षा के लिए खतरे को सदा के लिए समाप्त करना है। हमारे पूर्वजों ने उपदेश दिया है कि अग्नि शेष, रोगशेष, ऋणशेष और शत्रुशेष को पनपने का अवसर नहीं देना चाहिए। उनके सूक्षतम अंशों तक का पूर्ण विनाश आवश्यक है अन्यथा यह शेष चिंगारी ही कालान्तर में विकसित हरेक सर्वभक्षक अग्नि का रूप धारण कर लेगी। हमारे स्वतंत्रता संग्राम के अनेक वीरों ने इस बुद्धिमत्तापूर्ण चेतावनी को अनसुना करते हुए क्षात्र-धर्म के मिथ्या अर्थ को अपनाकर बन्दी राजाओं व सेनापतियों को क्षमादान कर अपने बन्धन से मुक्त कर दिया। इतिहास साक्षी है कि उन शत्रुओं ने पुनः समर्थ होकर हम पर आक्रमण किये और हमारे योद्धाओं को समाप्त कर दिया।

युद्ध के प्रति उचित दृष्टिकोण

यह निर्विवाद सत्य है कि पाकिस्तान एक कृत्रिम राजनैतिक रचना है, जिसे विदेशी शासकों द्वारा हम [illegible] वर्तमान विघटन

उसके अप्राकृतिक स्वरूप का तथा अपने ही विभिन्न भागों में परस्पर आत्मीयता हेतु आवश्यक तत्वों के अभाव का प्रमाण है। पश्चिमी पाकिस्तान में भी मतभेदों की दरार इतनी चौड़ी हो चुकी है कि उसके और चार राज्यों में विभाजित होने का खतरा उत्पन्न हो गया है।

दुष्प्रवृत्ति के दमन को प्राय: युद्ध-लिप्सा की संज्ञा दी जाती है। परन्तु बुराई के विरुद्ध संघर्ष और न्याय एवं मानवमूल्यों की रक्षा की तुलना युद्ध-मनोवृत्ति से करना भ्रामक है। युद्धोन्माद हमारे रक्त में नहीं है। हमारा दर्शन पूर्ण शक्ति के साथ संघर्ष करने का समर्थक है परन्तु युद्धोन्माद-प्रवृत्ति से विरत रहने को कहा गया है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने का आदेश दिया, किन्तु युद्ध-ज्वर रहित होकर लड़ने के लिए अर्जुन को ललकारा-**युध्वस्व विगतज्वर:**। उन्होंने स्वधर्म (दृढ़ कर्तव्य) भाव से संघर्ष करने के लिए आह्वान किया था- **''स्वधर्मपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।''**

जनसमर्थन का मेरुदण्ड

युद्ध-काल में जन सामान्य से अपेक्षित दायित्वों का विवेचन करना भी आवश्यक है। हमें अपने विचारों व भावनाओं को इस बात पर केन्द्रित करना चाहिए कि हम अपनी पूर्ण शक्ति को संचित कर किस सर्वोत्तम ढंग से सरकार व सेना के उत्साहवर्द्धन के कार्य में लगा सकते हैं। सर्वविदित है कि आज के युद्ध केवल सीमा पर ही नहीं लड़े जाते, बल्कि किसी न किसी रूप में पूरे देश को ही इसमें लिप्त हो जाना पड़ता है। अत: सम्पूर्ण समाज का मनोबल ऊंचा बनाए रखना ही नितान्त आवश्यक है। शत्रु-समर्थकों द्वारा देश के भीतर विद्रोह का खतरा ही वास्तविक है। उसे आरम्भ में ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह कार्य केवल पुलिस तन्त्र द्वारा ही नहीं, अपितु सतर्क समाज द्वारा भी सम्भव है। नागरिक सुरक्षा, रक्तदान, घायल सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं, जिनकी सुचारु व्यवस्था करना तत्काल आवश्यक है।

एक सैनिक का प्रेरक-तत्व

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है सम्पूर्ण समाज द्वारा दैनिक जीवन में मितव्ययिता एवं आत्मबलिदानी उत्साह का प्रदर्शन एवं सब प्रकार की शान-शौकत व विलासिता से सख्त परहेज। विशेषतया यदि देश के युवक-युवतियां ऐसे गम्भीर युद्धकाल में भी अत्याधुनिकता एवं वासनानंद में लिप्त रहेंगे और हमारा समाज तुच्छ विवादों एवं

राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता में फंसा रहेगा, तो क्या एक सैनिक ऐसे राष्ट्र द्वारा अपने प्राणोत्सर्ग-हेतु प्रेरित किया जा सकेगा? दूसरी ओर क्या उसे यह दृढ़ विश्वास नहीं दिलाया जाना चाहिए कि सभी देशवासी उसकी सभी आपत्तियों-विपत्तियों व अग्निपरीक्षाओं में उसके साथ हैं? और, यदि संयोग से रणभूमि में उसका प्राणोत्सर्ग हो गया, तो क्या उसके परिवार की देखभाल व भरण-पोषण का दायित्व समाज वहन करेगा और उन्हें किसी प्रकार का भौतिक कष्ट नहीं उठाने दिया जायेगा? क्या समाज द्वारा उसकी शूरवीरता एवं पराक्रम की प्रशंसा उसे रणभूमि में सौ-गुना पराक्रम प्रदर्शन करने को उद्यत नहीं करेगी ?

शिक्षाओं को न भूलो

अन्ततः वर्तमान अग्नि-परीक्षा में भारी मूल्य चुकाकर प्राप्त हुआ सबक हमें विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। प्रथमतः राष्ट्रीय एकता व उत्साह का ज्वार अपने तुच्छ राजनैतिक स्वार्थों के कारण बिखरने नहीं देना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रीय भाव से जागृत एवं एकरस समाज ही प्रखर शक्तिशाली एवं वैभव सम्पन्न बन सकता है। द्वितीयतः कठोर परिश्रम का वातावरण बनाये रखना आवश्यक है। प्रत्येक क्षेत्र में उत्कृष्ट उत्पादन में भारी वृद्धि होनी चाहिए, ताकि देश पूर्ण आत्मनिर्भर बन सके। अतः हमारे समक्ष सर्वोच्च प्राथमिकता का कार्य आत्मबलिदानी, अनुशासित, पौरुषवान् एवं प्रखर राष्ट्र-भाव से ओत-प्रोत व्यक्तियों का निर्माण करना है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वस्तुतः इसी ध्येय हेतु मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पित है।

❑❑❑

२७

नीलगगन में पल-पल फहरे अपनी विमल पताका !

(विदेशस्थ हिन्दुओं के प्रति) *

विदेशों में बसे अपनी भाई-बहिनों को ध्यान में रखने की पहली बात यह है कि वे अपने दैनन्दिन व्यवहार में राष्ट्रीय स्वाभिमान का उत्कट भाव जाग्रत बनाये रखें। इसके लिए पूर्वजों द्वारा हमारे लिए छोड़ी गयी गौरवशाली विरासत का प्रखर बोध सदैव अपने मन में रखना आवश्यक है। आज भी भारत के गौरव के जीवन्त प्रमाण यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

विश्व की अपेक्षाएं

दक्षिण अमेरिका के मैक्सिको से लेकर सुदूर पूर्व प्रशान्त सागर के छोटे द्वीपों तक हमारे हिन्दू धर्म प्रचारकों ने चतुर्दिक यात्राएं करके हमारी पुरातन प्रज्ञा का सौरभ सर्वत्र बिखेरा है। उन्होंने भेषज शास्त्र, गणित, कला एवं संस्कृति के क्षेत्रों में विशिष्ट उपलब्धियों के फलों का उपहार सर्वत्र दिया है। परन्तु इन सबसे ऊपर है स्थायी आध्यात्मिक मूल्यों का उपदेश एवं आचरण, जिसने मानव-मन पर गहनतम प्रभाव अंकित किया है।

स्याम (थाईलैण्ड) ने अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् संसद के प्रथम अधिवेशन में ही सर्वसम्मति से भगवान् मनु की प्रतिमा को अधिष्ठाता देवता के रूप में प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया। स्यामी भाषा के शिलालेख पर अंकित है : "मानवता के प्रथम एवं महानतम विधिवेत्ता भगवान मनु।" इण्डोनेशिया में भी स्थानीय मुसलमानों ने हिन्दू परम्पराओं को आत्मसात् कर लिया है। उनके नाम,

* प्रवासी भारतीयों को संबोधित

लोकगीत, नाटक, राष्ट्रीय प्रतीक इत्यादि सभी पर हमारे रामायण जैसे महाकाव्यों की छाया अंकित है।

आदर्श राजदूत

यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति राजदूत बनकर विदेश जाता है, तो वह अपनी जन्मदात्री राष्ट्रीय संस्कृति, जीवन-मूल्यों व राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि होता है। उसके व्यवहार व कसौटी पर ही विश्व उसके देश के लोगों, मूल्यों व महानता को कसता है। हमारे जैसे प्राचीन एवं महान् देश के सन्दर्भ में तो यह और भी अधिक सत्य है। यदि हमारा व्यवहार उच्च सांस्कृतिक मानदण्डों के अनुरूप न होकर, उन्हीं देशों का निर्जीव प्रतिबिम्ब मात्र बन जाए, तो उनकी दृष्टि में हमारी राष्ट्रीय छवि भी गिर जाएगी। राष्ट्र के प्रति आदर व श्रद्धा का अभाव हमारे देश व प्रवासी भारतीयों दोनों को ही अपूरणीय क्षति पहुंचाएगा। यह तभी संभव है, जब उनका व्यवहार हमारे धर्म व संस्कृति की सम्यक् भावना से अनुप्राणित हो। इससे वे आदर्श हिन्दू के रूप में डटे रह सकेंगे, अपने राष्ट्र की प्रेरक छवि प्रस्तुत कर सकेंगे और वहां के निवासियों से वैसा ही प्रतिवाद पा सकेंगे।

हां ! कैसा दुर्भाग्य !

किन्तु इस संदर्भ में मिलने वाली सूचनाएं प्राय: बहुत दु:खद होती हैं। वहां जाकर सभी अपनी अस्मिता को पूर्णरूपेण खो चुके लगते हैं। उनके आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान सभी बदल जाते हैं। अपने धर्म, सांस्कृतिक धरोहर एवं इतिहास के सम्बन्ध में उनका अज्ञान पर्वताकार हो जाता है। परिणामस्वरूप वे वहां के ऐसे विद्वानों के चंगुल में फंस जाते हैं जो जानबूझ कर हमारे जीवन के विषय में भ्रामक सिद्धान्त एवं व्याख्याएं प्रसारित करते रहते हैं। जो कुछ भी स्वकीय है, उसके प्रति उनके मन में एक प्रकार की घृणा बढ़ने लगती है और विदेशी रीति-रिवाज उन्हें अनुकरणीय एवं महनीय प्रतीत होने लगते हैं। वे उनके उन्मुक्त समाज और भौतिक वैभव के भोंडे प्रलोभनों के आगे प्राय: परास्त हो जाते हैं और अपनी संस्कृति व राष्ट्रीयता को पूर्णतया विस्मृत कर देते हैं। कुछ तो वहां बसने तक निश्चय कर लेते हैं।

स्व-संस्कारों का महत्व

अत: यह आवश्यक है कि हमारे हिन्दू भाइयों ने यहां जो अच्छे संस्कार आत्मसात् किए हैं, वे विदेशस्थ भारतवासियों को राष्ट्रीय स्वाभिमान, अतीत की चतुर्दिक उपलब्धियों के बोध और अपने प्रवास-कालीन ध्येय को प्रदीप्त रखने-हेतु नियमित रूपेण परस्पर

मिलना चाहिए। केवल विशेष कार्यक्रमों अथवा अवसरों पर एकत्र होना पर्याप्त नहीं है। हमारे शास्त्रों में नृत्य, गीत और वाद्यों का उल्लेख है, परन्तु वे तभी उपयोगी होते हैं, जब वे सुनिश्चित संस्कार देने के लिए सुनिर्धारित रूप में प्रयुक्त होते हैं। संगीत व नृत्य का संगम-मात्र 'संस्कृति' नहीं हो सकता। सांस्कृतिक मूल्य-रहित मनोरंजन निश्चित रूप से मात्र सामाजिक गिरावट का कारण बनेगा। यदि सामान्य जीवन में हिन्दू-मान्यताओं की पुन: स्थापना का बोध गहन व अनवरत रूप से जीवित रखना है, तो समुचित संस्कारक्षम कार्यक्रमों वाले सम्मेलनों का आयोजन अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त घर में भजन एवं श्लोकादि का दैनन्दिन गान भी करना चाहिए, विशेषकर बालक-बालिकाओं को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनके शुद्ध गायन का अभ्यास करना चाहिए। जहां कहीं भी हमारे मंदिर हैं, वहां हिन्दुओं को पवित्र अवसरों पर एकत्र होकर हवन एवं सत्संग जैसे आयोजनों की आदत डालनी चाहिए।

समय-समय पर विद्वानों एवं आध्यात्मिक गुरुओं की प्रवास-अवधि में उनसे निकट सम्पर्क रखते हुए उपयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन उल्लिखित उद्देश्यों की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकता है।

अच्छाइयों को आत्मसात् करें

दु:ख का विषय है कि विदेश-प्रवास पर जाने वाले हमारे देशवासी वहां के अनावश्यक आकर्षणों के वशीभूत होकर वहां के जीवन की वास्तविक बातों की गहराई में जाने का प्रयास नहीं करते। इस धरती पर कोई भी समाज सद्गुणों से एकदम शून्य नहीं होता, न ही उसमें केवल सभी सद्गुण ही होंगे। हमें उनके गुण-अवगुणों में भेद करते हुए उनका तटस्थ विश्लेषण करते हुए अपने भी सशक्त व दुर्बल बिन्दुओं का मूल्यांकन करना चाहिए। तभी हम दोनों पद्धतियों के उत्कृष्ट तत्वों का सुन्दर परिपाक प्राप्त कर सकेंगे।

विदेशों में बसे हमारे प्रतिभावान् नवयुवकों को ऐसे तुलनात्मक अध्ययन को हाथ में लेकर उनके निष्कर्षों से अपने अन्य बन्धुओं को भी अवगत कराना चाहिए।

सभी देशों में ऐसे धर्मपरायण व्यक्ति होते हैं जो अनुकरणीय होते हैं। हम उनके उदाहरण का अनुसरण कर सकते हैं। ताजा उदाहरण अमरीका के एक महान सन्त का है, जो अत्यन्त पूज्य पवित्र थे। सभी प्राणियों के प्रति ऐसी निष्ठा व स्नेह रखेते थे कि जब वह अपने हाथ तालाब में डुबोकर बैठते थे, उस समय मछलियां निडर होकर उनके चारों तरफ तैरती व खेलती रहती थीं। सभी जीवों के साथ ऐसा अद्भुत तादात्म्य-भाव था उनमें।

ऐसे रत्नों का चयन करो

विदेशी साहित्य में बहुत से ऐसे प्रेरक तत्व विद्यमान हैं, जिन्हें हम अपना सकते हैं। हमारे बहुत से उदात्त विचारों की गूंज उनके काव्य, दर्शन में सुनाई पड़ती है। ले हण्ट की अत्यन्त मर्मस्पर्शी रचना 'अबू बेन आदम' का स्मरण आता है-

अबू बेन आदम (उसका वंश युग-युग तक चले)
एक रात्रि शान्त नीरव, गहन निद्रा से जगा
और अपने कक्ष-फैली चांदनी में दृश्य देखा
पुष्प-पुञ्जों में लिली सी प्रभा-मण्डित लग रहा
देवदूत, स्वर्णपत्रों पर दिखा लिखता हुआ
गहन शान्ति ने अबू को हौसला था यों दिया
कक्ष-स्थित देवदूत से विनत हो यह कहा
''लिख रहे हो क्या महोदय?'' पूछने पर सिर उठा
तरफ उसकी देख उसने, मधुर स्वर में यह कहा-
''नाम उनके लिख रहा हूं, ईश जिनको प्यारा है''
अबू ने पूछा, ''मेरा भी नाम है इसमें ?'' -''नहीं है''
पाकर यह उत्तर अबू ने फिर कहा
नम्र प्रार्थना से भरा स्वर ही रहा
''नाम मेरा लिखो उनमें, ईश-भक्त जिन्हें प्यारे''
देवदूत ने लिखा और अन्तर्धान हो गया
निशा अगली में पुनः द्युतिमान होकर आ गया
अरु दिखाये नाम, जिनको प्यार ईश्वर का मिला था
सुखद था आश्चर्य, सर्वोपरि नाम उसका ही लिखा था

स्थानीय लोगों की भावना समझें

फिर, वहां की स्थानीय जनता के प्रति ठीक दृष्टिकोण एवं व्यवहार-शैली का महत्वपूर्ण पहलू भी है।

हमारे प्रवासी बन्धुओं को अपने व्यवसाय एवं रोजगार का दायित्व निभाते हुए यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उनका लक्ष्य धन का अर्जन एवं संचय मात्र नहीं है। उन्हें वहां के स्थानीय नागरिकों की समस्याएं समझते हुए, उनकी अपेक्षाओं की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए। अपने उपार्जन में से कुछ राशि उनके कल्याण हेतु एवं उन्हें हिन्दुत्व के महान् मूल्यों व सिद्धान्तों से उद्‌बोधित करने हेतु

सुरक्षित रखनी चाहिए। इसके साथ-साथ रहन-सहन के अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा यह उदात्त आदर्श स्थापित करना चाहिए कि हम किसी महान् व पुरातन संस्कृति के अनुगामी हैं।

आंख खोलने वाला अनुभव

यदि पारस्परिक व्यवहार के इन आधारभूत तत्वों की उपेक्षा की गयी, तो हमें अपयश तो मिलेगा ही, हमारे समक्ष विविध कठिनाइयां भी उपस्थित हो सकती हैं। सम्भवत: इसी एक कारण से पूर्व अफ्रीकी देशों में बसे हिन्दुओं को पिछले दिनों भारी कठिनाइयां उठानी पड़ी हैं। अफ्रीकी राष्ट्रीय नागरिकों द्वारा गोरे उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्ष में हमारे अधिकांश हिन्दुओं ने उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप सक्रिय सहानुभूति नहीं दिखाई। उन्होंने स्थानीय जनता के कल्याण व शिक्षा प्रसार हेतु अथवा उन्हें हिन्दुत्व के दर्शन कराने हेतु अपनी कमाई में से कुछ भी व्यय नहीं किया। वहां की वैचारिक शून्यता को भरने का काम ईसाई एवं इस्लामिक मिशनरियों द्वारा किया गया। हमारी इन सभी कमियों का दुष्परिणाम यह हुआ कि जब अफ्रीकी स्वतंत्र हो गये, तो उन पर ईसाई एवं मुसलमानों के प्रचार का आधिपत्य था और हिन्दुत्व तथा हिन्दुओं के प्रति उनकी सहानुभूति शीघ्र समाप्त हो गयी। अत: संसाधन व शक्ति के महत्वपूर्ण पदों से हिन्दुओं को हटाने का उपक्रम प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप भारी संख्या में हिन्दुओं को अपनी जीवन भर की कमाई सम्पत्ति को छोड़कर उन देशों से भागना पड़ा। यह अनुभव समस्त प्रवासी हिन्दुओं के लिए एक नेत्रोन्मीलक दृष्टान्त बन सकता है।

विश्व धर्म-प्रचारक बनें

संक्षेप में, यदि हमारे प्रवासी बन्धुओं को उन देशों में सुखी, सम्पन्न व सम्मानजनक जीवन जीना है तथा भारत की और अधिक उज्ज्वल छवि प्रस्तुत करनी है, तो उन्हें अपने चिन्तन एवं जीवन शैली में आमूल-चूल परिवर्तन करने होंगे। ऐसा करने के लिए हमें अपने हृदयों को इन सर्वोच्च दृढ़ विश्वासों से सदैव धड़काते रहना होगा कि हम विश्व-कल्याण का ध्येय वहन करने वाले महान राष्ट्र हैं कि इससे हमारे ऊपर अपने धर्म में सन्निहित सत्यों को सम्पूर्ण मानवता को समझाने का पवित्र दायित्व स्वत: आ पड़ता है कि विश्व के समक्ष उपस्थित विभिन्न बुराइयों व चुनौतयों का सफल सामना हिन्दुत्व के सर्वसमावेशी, वैज्ञानिक, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है। यदि इस परम जीवन दृष्टि को सतत् ध्यान में रखा जाये, तो हमारे समक्ष हर वस्तु स्फटिकवत् स्पष्ट हो जाएगी।

प्रवासी मित्रों से मंत्रणा

प्रश्न–कुछ मित्रों का मत है कि विदेशों में रहते हुए अपनी मातृभाषा का आग्रह बड़ा बोझिल लगता है। उनका कहना यह भी है कि वह उनके दैनन्दिन जीवन में भी अधिक उपयोगी नहीं होती। इस विषय में हमारा क्या दृष्टिकोण होना चाहिए?

उत्तर–यह अत्यन्त आवश्यक है कि विदेश में भी हम अपने परिवार में अपनी भाषाओं का ही उपयोग करें। सामान्यत: दीर्घकाल से विदेशों में रहने वाले भारतीय अपने स्वदेश प्रवासकाल में अपनी मातृभाषा भी धारा प्रवाह रूप से नहीं बोल पाते। वे अपने मित्रों व सम्बन्धियों से भी अंग्रेजी में बातचीत करें, यह अच्छी स्थिति तो नहीं कही जा सकती।

इस सम्बन्ध में क्रान्तिकारी रामलाल का उदाहरण अनुकरणीय है। वह अनेक वर्षों तक निष्कासित रूप से अमरीका में रहे। एक बार जब वह गुप्तरूप से भारत आए, तो हमने उनसे आग्रह किया कि वह स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करें। हमारे आश्चर्य की सीमा न रही जब हमने उन्हें शुद्ध मराठी में भाषण करते देखा, जबकि उनकी मातृभाषा हिन्दी थी। वह अपनी उत्कट राष्ट्र–भक्ति एवं क्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही ऐसा कर सके। यदि हम भी इस प्रखर राष्ट्र–भावना को मन में संजो लें, तो हम अपनी भाषाओं का संरक्षण उन देशों में भी कर सकते हैं। यह अपनी पारम्परिक हिन्दू–पद्धति को जीवित रखने के लिए भी अति आवश्यक है।

प्रश्न–हमारे बच्चे हमारी भाषाओं से जल्दी ही दूर हो जाते हैं, और उच्चारण भी त्रुटिपूर्ण हो जाता है। क्या इसका कोई निदान है ?

उत्तर– उन्हें निरन्तर श्लोक, स्तोत्र व धर्मग्रन्थ पाठ सिखाने चाहिए।

प्रश्न– उनकी नैतिक शिक्षा कैसी हो ?

उत्तर– हिन्दू–संस्कृति के मूलतत्वों एवं महान् सिद्धान्तों से परिपूर्ण तथा हिन्दू नामों से युक्त कथाएं तैयार कीजिए। इसके लिए हमें रामायण व महाभारत समृद्ध भण्डार के रूप में सुलभ हैं।

प्रश्न–हम एक मन्दिर का निर्माण कराना चाहते हैं?

उत्तर–यह उत्तम है। परन्तु किसी एक देवी–देवता के मन्दिर की अपेक्षा 'ओ३म्' या 'प्रणव' को समर्पित मन्दिर का निर्माण श्रेयस्कर होगा, क्योंकि इन्हें हिन्दुत्व के सभी सम्प्रदाय मानते हैं।

प्रश्न–प्रवासियों की एक समस्या यह है कि उनमें से अधिकांश का अविवाहित और एकाकी जीवन है। विदेशी समाज उन्हें सरलता से अपनाता नहीं है। सिनेमा अथवा दूरदर्शन का सामान्य मनोरंजन उन्हें उबाऊ लगता है। वे एकाकी ही अनुभव करते रहते हैं।

उत्तर–अपनी संस्कृति, इतिहास, साहित्य एवं दर्शन से संबंधित अपनी भाषाओं का पुस्तकालय बनाना इसका एक हल हो सकता है। उनका उपयोग कर हमारे बन्धु समय का सदुपयोग कर सकते हैं।

प्रश्न–कुछ बन्धुओं का मत है कि हमारे संन्यासियों द्वारा विदेशी प्रवास के समय धर्म प्रचार में 'हिन्दू' शब्द पर आग्रह हमारी छवि को बिगाड़ता है।

उत्तर–इस सोच में पराभूत मनोवृत्ति तथा हीन भाव का ही प्रकटीकरण होता है। स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी अभेदानन्द दोनों ने ही विदेशों में धर्म-प्रचार किया, किन्तु उन्होंने स्वयं को हिन्दू-अग्रणी कहने में कभी लज्जा का अनुभव नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट एवं निर्भय होकर सत्य का प्रतिपादन किया। उन्होंने ईसाई मत का आदर करते हुए भी उसके नाम पर होने वाले गलत कार्यों की डटकर आलोचना की। इस कारण पश्चिमी जगत् द्वारा भी उनको प्रशंसा व सम्मान दोनों प्राप्त हुए। परन्तु आज वैसी स्थिति नहीं है। आज अनेक संन्यासी उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए वहां जाते हैं और इस प्रक्रिया में अपने विचार व मान्यताओं को ही विरल कर देते हैं। इस कारण वे विदेशियों की दृष्टि में अपना सम्मान ही खोते हैं।

प्रश्न–ब्रिटेन के कुछ मुसलमान हमारे साथ मिलकर कार्य करना चाहते हैं। क्या हम उन्हें उत्साहित करें?

उत्तर– यदि वे हिन्दू संस्कृति को अपनी संस्कृति के रूप में मानें, तो ठीक है। उनकी उपासना पद्धति कुछ भी हो सकती है, परन्तु, उन्हें हिन्दू विरासत व इतिहास को तो स्वीकार व अंगीकार करना ही होगा।

❑❑❑

२८

अस्पृश्यता का उपचार

अस्पृश्यता रोग की जड़ जनसामान्य के इस विश्वास में निहित है कि यह धर्म का अंग है और इसका उल्लंघन महापाप होगा। यह विकृत धारणा ही वह मूल कारण है, जिससे शताब्दियों से अनेक समाज-सुधारकों एवं धर्म-धुरंधरों के समर्पित प्रयासों के बाद भी वह घातक परंपरा जनसामान्य के मन में आज भी घर किए बैठी । गुरुनानक, आचार्य रामानुज, बसवेश्वर, शंकरदेव, स्वामी दयानंद, नारायण गुरु, गांधीजी और वीर सावरकर सरीखे अनेक महापुरुषों ने हिंदू-समाज के मस्तक पर लगे इस कलंक को मिटाने का अथक प्रयास किया है। फिर भी यह कलुषित दाग अभी विद्यमान है। आज भी तथाकथित उच्च जातीय लोग उन तथाकथित अस्पृश्यों को अपने समान मानने के लिए तैयार नहीं है। समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है कि राजस्थान के एक गांव में एक हरिजन युवक को इस कारण पीट-पीटकर मार डाला गया, क्योंकि उसने मूंछें बढ़ा रखी थीं, जो केवल क्षत्रियों का ही 'विशेषाधिकार' माना जाता है। हमारे धर्माचार्य भी ऐसे आचरण की निंदा नहीं करते, क्योंकि गलती से वे भी कुप्रथाओं को 'धर्म' मान बैठे हैं।

एक अविस्मरणीय आयोजन

मिथ्या धर्मधारणा से उत्पन्न इस सामाजिक बुराई में यह अंतर्निहित है कि जनसामान्य की दृष्टि में अधिकाधिक धर्म-प्रवक्ता के रूप में मान्य परंपरागत मठाधीशों को ही इस अधार्मिक आचरण का निदान प्रस्तुत करने हेतु प्रस्तुत होना चाहिए। इस दिशा में सन् १९६९ में विश्व हिंदू परिषद् के उडुपी (कर्नाटक) सम्मेलन में एक सही शुरुआत की गई। इसमें शैव, वीर शैव, मध्व, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख आदि समस्त हिंदू संप्रदायों का प्रतिनिधित्व हुआ था। सम्मेलन में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर संपूर्ण हिंदू जगत् का आह्वान किया गया कि वे श्रद्धेय आचार्यों व धर्मगुरुओं के निर्देशानुसार अपने समस्त धार्मिक व सामाजिक अनुष्ठानों से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करें।

धर्माचार्यों का आदेश-निर्देश

पूज्य धर्माचार्यों का ऐतिहासिक निर्देश इस प्रकार है, 'समस्त हिंदू-समाज को अविभाज्य एकात्मता के सूत्र में पिरोकर संगठित करने एवं स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना व प्रवृत्ति से प्रेरित विघटन को रोकने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व-भर के हिंदुओं को अपने पारस्परिक व्यवहार में एकात्मता एवं समानता की भावना को बरकरार रखना चाहिए।' निस्संदेह इस प्रस्ताव की स्वीकृति को हिंदू-समाज के इतिहास में क्रांतिकारी महत्व का कदम माना जा सकता है। यह एक विकृत परंपरा पर सच्ची धर्मभावना की विजय का स्वर्णिम क्षण था।

गलत दृष्टिकोण

इस प्रकार के प्रस्ताव को जबरन मनवाना नितांत प्रति-प्रभावकारी सिद्ध होगा। केवल सकारात्मक एवं आग्रहात्मक तरीके ही सुखद परिणाम ला सकते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व समाचार-पत्रों में यह प्रकाशित हुआ कि एक प्रमुख सामाजिक नेता ने कुछ अहिंदुओं और कथित अस्पृश्यों को लेकर काशी के विश्वनाथ मंदिर में बलपूर्वक घुसने का प्रयास किया। यह भी प्रकाशित हुआ कि पुजारियों के प्रतिरोध के कारण वह प्रयास विफल हो गया। इस घटना के कुछ दिन बाद मेरा काशी-प्रवास हुआ। मैं पुजारियों से मिला और उनसे पूछा कि उन्होंने उनके प्रवेश का विरोध क्यों किया ? उनका उत्तर था, 'देखिए, यहां प्रतिदिन हजारों भक्तों का तांता लगा रहता है। वे सभी गर्भगृह में प्रवेश करते हैं, पवित्र शिवलिंग का स्पर्श करते हैं और अपनी श्रद्धा-भेंट अर्पित करते हैं। किसी ने आज तक उनकी जाति, संप्रदाय के विषय में पूछताछ नहीं की, परंतु जब वह नेता अपने प्रचार के ताम-झाम के साथ सारी दुनिया को यह दिखाने आया कि दीन-दलितों के उत्थान हेतु किसी मसीहा का जन्म हुआ है और हम सब अपराधी हैं, तो स्वाभाविकरूपेण हमने स्वयं को अपमानित अनुभव किया और उनको उसी भाषा में उत्तर देने का निर्णय किया।'

वास्तव में यही बिंदु है, जहां हमारे अति उत्साही समाज-सुधारकों ने गलती की है। जोर-जबरदस्ती, समाज के एक वर्ग की मिथ्या निंदा, प्रचार, ढोंग इत्यादि तरीके विपरीत परिणामकारी होते हैं। ऐसे निदान तो रोग से भी बदतर सिद्ध होते हैं।

आशंका सही निकली

वास्तव में 'हरिजन' शब्द का राग अलापना एवं उस पर बल देते रहना अलगाव की उस भावना को समाप्त करने में सहायक नहीं है, जिससे उस वर्ग के

हमारे बंधु शिकार हुए हैं। एक बार गांधीजी से भेंट होने पर मैंने यह आशंका व्यक्त की कि 'हरिजन' शब्द चाहे जितना भी पवित्र क्यों न हो, किंतु इसका नवीन प्रचलन अलगाववादी चेतना को जन्म देगा और सामाजिक एकता के लिए घातक निहित राजनीतिक स्वार्थ-समूहों का निर्माण करेगा। किंतु गांधी जी इससे आशंकित नहीं दिखे। दुर्भाग्यवश तब से यह खाई पटने के बजाय वर्ष-प्रतिवर्ष और चौड़ी होती जा रही है। इससे उत्पन्न मतभेद राजनैतिक मंचों पर भी जा पहुंचा है।

असत्य और दुष्प्रेरित

ऐसा लगता है कि इस समस्या को एक और दुष्ट आयाम प्रदान किया गया है। गत कुछ वर्षों से समाचार-पत्रों में सवर्ण हिंदुओं द्वारा हरिजनों पर हमलों के समाचार छापने की अचानक बाढ़-सी आ गई है। मेरा दृढ़ संदेह है कि ऐसे समाचार-संकलन किसी कुत्सित प्रोत्साहन का परिणाम है। अनेक बार मूल घटना ही सही नहीं होती। महाराष्ट्र के एक गांव में किसी हरिजन की बलि का मामला प्रकाश में आया। घटना की छानबीन से पता चला कि अंधविश्वासी ग्रामीणों का मानना था कि वह युवक जादू-टोने का अभ्यास करता था, जिसके फलस्वरूप फैली महामारी से अनेक बच्चों की मृत्यु हो गई थी। यह भी प्रकाशित हुआ कि युवक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था कि वह एक ओझा था। बलि की व्यवस्था करने वालों में उसका चाचा प्रमुख था। इस प्रकार इस घटना में हरिजन-सवर्ण संघर्ष का प्रश्न ही विद्यमान नहीं है, किंतु समाचार-पत्रों ने इस प्रकरण पर हरिजनों के प्रति सवर्णों के अमानवीय व्यवहार की वीभत्सता का रंग चढ़ाकर प्रस्तुत किया।

उत्तरप्रदेश की ऐसी ही एक घटना और भी अधिक आंखें खोलने वाली है। यह समाचार जोर-शोर से प्रकाशित हुआ कि किसी गांव में सवर्ण हिंदुओं ने हरिजनों पर आक्रमण कर उनके घर जला दिए हैं। परंतु जांच से ज्ञात हुआ कि उस गांव में हरिजनों के अलावा केवल मुसलमान ही रहते थे और तथाकथित उच्च जाति का एक भी परिवार वहां नहीं रहता था। स्पष्ट है कि मुसलमानों द्वारा हरिजनों पर किए गए हमले को 'सवर्णों द्वारा हरिजनों पर अत्याचार' का विकृत रूप दे दिया गया।

भेदभावपूर्ण व्यवहार क्यों ?

मेरी आशंका है कि इस सुनियोजित एवं सूक्ष्म दुष्प्रचार में किन्हीं विदेशी शक्तियों का हाथ है, अन्यथा ऐसे समाचारों को प्रमुखता मिलने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। संपूर्ण देश में होने वाले मुस्लिम दंगों के समाचार देते समय

दंगालिप्त समुदायों के नाम देने में पूर्ण सावधानी बरती जाती है, क्योंकि ऐसा न करने से उन समुदायों के परस्पर संबंध और भी कटु हो सकते हैं तथा झगड़ा-फसाद अन्य स्थानों पर भी फैल सकता है- ऐसा प्रदर्शन किया जाता है। किंतु यह समझ से परे है कि यह तर्क सवर्ण-हरिजन घटनाओं पर लागू क्यों नहीं होता? इससे उस संदेह की पुष्टि होती है कि हिंदू-समाज को कमजोर व विघटित करने का आंतरिक एवं बाह्य शक्तियों का षड्यंत्र समाचार-सेवाओं को सुनियोजित रूप से प्रभावित करने तक जा पहुंचा है। दुर्भाग्यवश हमारे पत्रकार भी इस षड्यंत्र के शिकार हो रहे हैं।

वही पुराना खेल

हमारा कटु अनुभव है कि अंग्रेजों ने एक वर्ग या जाति को दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया यथा ब्राह्मण के विरुद्ध अब्राह्मण-और 'बांटो और राज्य करो' की कुटिल नीति चलाई। आज हमारे अपने सामान्य लोग ही नहीं, अपितु हमारे तथाकथित नेता भी स्वेच्छया इसके शिकार बन गए लगते हैं। हमें अतीत के अनुभवों से शिक्षा लेनी चाहिए और विदेशी शक्तियों एवं देश के भीतर स्थित उनके हस्तकों की वैसी चालों से सतर्क रहना चाहिए। यह भी स्मरणीय है कि देश में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो मात्र अलगाववादी गुटों के वोट प्राप्त करने हेतु ऐसा खेल खेलना चाहते हैं। हमारा देश पहले से ही भिन्न-भिन्न समूहों में विभाजित है, अत: हमें विघटनकारी शक्तियों के लिए किसी भी प्रकार से सहायक नहीं बनना चाहिए।

नवीन मापदंडों का निर्धारण

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यदि जातिगत आधार पर कोई व्यक्ति सामाजिक अथवा राजनैतिक अयोग्यता का शिकार है तो इस स्थिति का पूर्ण उन्मूलन किया ही जाना चाहिए। डॉ. अंबेडकर ने अनुसूचित जाति के विशेषाधिकार का प्रावधान सन् १९५० में हमारे गणतंत्र की स्थापना से मात्र दस वर्ष की अवधि के लिए किया था, परंतु इसे निरंतर बढ़ाया जा रहा है। केवल जातिगत आधार पर अनवरत विशेषाधिकार उनमें पृथक समूह बने रहने के निहित स्वार्थ भाव जगाने को बाध्य होंगे। इस कारण शेष समाज के साथ उनकी एकात्मता को क्षति पहुंचेगी।

हमारे समाज के सभी वर्गों में ऐसे लोग हैं, जो सचमुच अति दयनीय परिस्थितियों में रहते हैं। ऐसी कोई जाति नहीं है, जिसमें गरीब, जरूरतमंद और कंगाल लोग न हों। अत: यह उचित होगा कि विशेषाधिकार लोगों की आर्थिक

स्थिति पर आधारित हो। इससे समस्याजनित तनाव कम होंगे और दूसरे लोगों के मन की यह जलन भी दूर होगी कि केवल तथाकथित हरिजन की विशेषाधिकारों का मजा लूट रहे हैं।

अनेक क्षेत्रों में उत्कृष्ट

यह कहना कि ये तथाकथित अस्पृश्य जातियां मन-मस्तिष्क संबंधी गुणों में आनुवंशिक रूप से ही अक्षम हैं और वे आने वाले दीर्घकाल तक शेष समाज के स्तर तक नहीं पहुंच सकती, इनका अपमान ही नहीं, बल्कि तथ्यों का विडंबनापूर्ण उपहास भी है। इतिहास साक्षी है कि गत एक हजार वर्षों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में ये तथाकथित अस्पृश्य ही अग्रणी रहे हैं। महाराणा प्रताप, गुरु गोविंदसिंह और छत्रपति शिवाजी की सेनाओं के सर्वाधिक पराक्रमी व कट्टर योद्धाओं में यही लोग रहे हैं। दिल्ली तथा बीजापुर की विद्रोही शक्तियों के विरुद्ध छत्रपति शिवाजी के कुछ अति महत्वपूर्ण युद्धों में हमारे इन्हीं शूरवीर और साहसी बंधुओं ने मानव आपूर्ति एवं नेतृत्व प्रदान किया था।

केवल युद्धक्षेत्र में ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक जगत् में भी हमारे ये बंधु श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। इन जातियों में ऐसे असंख्य साधु-संन्यासियों ने जन्म लिया है, जिन्होंने हमारे समाज के सभी वर्गों की असीम श्रद्धा-भक्ति प्राप्त की है। इन भाइयों में हमारे धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा तथा विश्वास संपूर्ण समाज के लिए सदैव प्रेरणादायक रहा है। धर्म के नाम पर शेष समाज के हाथों सभी प्रकार का अपमान तथा उत्पीड़न सहकर भी इन बंधुओं ने धर्म-परिवर्तन के प्रलोभनों का दृढ़तापूर्वक प्रतिकार किया है। देश-विभाजन के दौर में बंगाल के लाखों नामशूद्रों (अछूतों) ने इस्लाम ग्रहण कर अपने प्राण बचाने के स्थान पर अवर्णनीय कष्ट सहन करना अधिक पंसद किया। बाद में उन्हें भारत के सीमा-क्षेत्रों में ही हिंदू के रूप में अप्रवासी बनना पड़ा।

स्नेही व सहृदयी कार्यकर्ता बंधु

उडुपी के विश्व हिंदू सम्मेलन में पारित प्रस्ताव एवं निर्देशों को मात्र पवित्र उद्गारों द्वारा वास्तविक जीवन में चरितार्थ करना संभव नहीं है। सदियों पुराने दुराग्रह मात्र सद्विचारों अथवा स्वेच्छा से दूर नहीं हो सकते। कठोर परिश्रम व उचित प्रचार द्वारा नगर-नगर, गांव-गांव व घर-घर जाकर लोगों को इन प्रस्तावों को स्वीकार करने एवं जीवन में उतारने का प्रशिक्षण देना होगा। वह भी केवल आधुनिक युग के दबाव में दी गई रियातयों के रूप में नहीं, बल्कि अतीत में हुई भूलों के लिए पश्चाताप-जनित विनम्र भाव के आवश्यक सिद्धांत तथा जीवन-शैली के रूप में अपनाना

होगा। इसके लिए हृदय-परिवर्तन एवं दृष्टिकोण में नैतिक तथा भावनात्मक परिवर्तन करना ही पड़ेगा।

समाज द्वारा पीछे धकेल दिए गए बंधुओं की आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में सुधार करने तथा इन्हें शेष समाज के समकक्ष कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा होने योग्य बनाने के लिए भगीरथ प्रयास करना होगा। परंतु यह भी स्वयं में अपर्याप्त है, क्योंकि संभव है कि यह समानता अलगाव की भावना को झटक-फेंके बिना ही ला दी जाए। हमारा लक्ष्य केवल आर्थिक व राजनैतिक समानता नहीं, बल्कि वास्तविक परिवर्तन और परिपूर्ण एकात्मता है। यह परिवर्तन सरकारी योजनाओं अथवा राजशक्ति के बूते का नहीं है। चालाकी पूर्ण जोड़-तोड़ में निपुण तथा एकता के नाम पर पैबंद लगाने वाले राजनैतिक दलों से भी यह काम संभव नहीं।

इसके लिए आवश्यक है स्वत: स्फूर्त व श्रमसाध्य कार्य, जो दैनंदिन जीवन के व्यवहार में परिलक्षित हो तथा आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक स्तरों पर आयोजित हो।

एकता पर बल दो, भेदों की अनदेखी करो

इसके लिए भजन-कीर्तन अथवा रामायण व महाभारत की कथाओं को सुनाने आदि का कार्यक्रम किया जा सकता है, जहां सभी हिंदू विशुद्ध धर्म-प्रेम की पवित्र धारा में समान भ्रातृ-भावना से अनुप्राणित होकर अस्पृश्य-स्पृश्य आदि का भेद भूलकर एकत्र हों।

साक्षरता, स्वास्थ्य, खेल इत्यादि के प्रोत्साहन हेतु सेवा प्रकल्प प्रारंभ किए जा सकते हैं। इस हेतु आधुनिक दृश्य-श्रव्य उपकरणों को भी उपयोगी ढंग से अपनाया जा सकता है। परंतु इन सभी गतिविधियों का केंद्र-बिंदु हृदय को प्रभावित करना, एकताकारी सत्प्रवृत्तियों पर बल देना तथा मतभेदों की उपेक्षा करना होना चाहिए।

सफलता का रहस्य

इस स्वर्णिम सिद्धांत का अक्षरश: आचरण करने के कारण ही संघ में जाति, वर्ग, पंथ, भाषा अथवा अन्य किसी प्रकार के भेदों का नाम तक नहीं है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र से आए लाखों स्वयंसेवक एक साथ उठते-बैठते, खाते-पीते तथा खेलते हैं। वह यह जानने की चिंता भी नहीं करते कि उनके बगल में बैठा स्वयंसेवक किस जाति बिरादरी का है।

सन् १९३४ में वर्धा के संघ शिविर में यह दुर्लभ दृश्य देखकर स्वयं गांधीजी को सुखद आश्चर्य हुआ था। इस शिविर में लगभग डेढ़ हजार स्वयंसेवक विभिन्न पर्ण-कुटियों व छोलदारियों में ठहरे हुए थे। गांधीजी का आश्रम निकट ही था। हजारों तरुण स्वयंसेवकों की गतिविधियों से गुंजरित शिविर देखकर गांधीजी ने इसे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा प्रकट की। तद्नुसार वर्धा के तत्कालीन जिला संघचालक एवं कांग्रेस के पूर्व प्रांतीय मंत्री श्री अप्पा जी जोशी ने गांधीजी को शिविर में सादर आमंत्रित किया। गांधीजी ने आकर शिविर की आवास, भोजनादि की व्यवस्थाओं को देखा। बाद में पूछा-'यहां कितने हरिजन हैं?' हमारे संघचालक जी ने कहा-'हमें नहीं मालूम, क्योंकि हम इस विषय में कभी कुछ पूछते ही नहीं।' गांधीजी का प्रश्न था- 'आप, अब तो पूछकर हमें बता सकते हैं।' संघचालक जी ने उत्तर दिया-'मैं यह नहीं कर सकता, क्योंकि हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि ये सब हिंदू हैं।' 'तब क्या मैं पूछ सकता हूँ?' गांधीजी के ऐसा कहने पर संघचालक जी ने कहा-'यह आप पर निर्भर है।'

स्वयंसेवकों से विस्तृत पूछताछ के बाद गांधीजी को ज्ञात हुआ कि शिविर में हरिजनों सहित सभी जातियों के लोग हैं, जो अपनी जातियों के भान के बिना पानी पीने से लेकर खेलों तक के शिविर के समस्त कार्यक्रमों में आनंद एवं मस्ती से भाग ले रहे हैं। यह दृश्य देखकर गांधीजी दंग रह गए।

तत्पश्चात् डाक्टर जी भी गांधीजी से मिले और उन्हें बताया कि किस प्रकार संघ अंतर्निहित एकता पर बल देकर तथा ऊपरी मतभेदों की उपेक्षा करते हुए एकात्मता-स्थापना में सफल हो रहा है। इस दृश्यानुभव का गांधीजी पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने वर्षों बाद सितंबर १९४६ में दिल्ली की भंगी कॉलोनी में स्वयंसेवकों को संबोधित करते हुए उसका पुन: वर्णन किया। उन्होंने कहा, - 'मैं स्वयंसेवकों में अनुशासन, अस्पृश्यता का पूर्ण अभाव तथा कठोर सादगी को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ।'

संघ की यह अनूठी उपलब्धि स्वयंसेवकों में सहज अंकित इस दृष्टिकोण का परिणाम है, जो इस उद्घोष में परिलक्षित होता है- 'तुम हिंदू हो, हमारे लिए यही पर्याप्त है। हमें और किसी बात की परवाह नहीं। हमारे लिए हिंदुत्व का विचार ही महत्व का विषय है, जाति-वर्ग या किसी अन्य बात का हमारे लिए रत्ती भर भी महत्व नहीं है।'

❑❑❑

२९

उपेक्षित बंधुओं की सेवा

अपने देश के पूर्वांचल में एक विचित्र बात दिखाई देती है। हमारी सरकार ईसाइयों के अस्तित्व को तो मान्यता देती है, किंतु हिंदुओं को नहीं। सरकार ने सभी गैर-ईसाइयों को हिंदुओं से पृथक 'जनजाति' के रूप में श्रेणीबद्ध किया है। सन् १८८१ की जनगणना में इसे प्रारंभ करने के बाद हमारी सरकार ने इसी क्रम को चलाए रखा। अलगाव के समर्थक ये नेता तर्क देते हैं कि ये जनजातीय लोग पेड़-पत्थर तथा सांपों की पूजा करते हैं, अत: प्रकृति-पूजक हैं। इस कारण इन्हें हिंदू नहीं कहा जा सकता। यह बात हिंदुत्व के 'क, ख, ग' से अनभिज्ञ व्यक्ति ही कह सकता है। 'प्रकृति-पूजक' शब्द का अर्थ है 'समस्त सृष्टि में अनुस्यूत जीवन-सिद्धांत।' अभिव्यक्ति का बाह्य रूप चाहे जैसा भी हो, पूजा तो इसी अंतर्निहित आत्मा की ही होती है। क्या देश भर में हिंदू वृक्ष की पूजा नहीं करते ? तुलसी, बिल्व, अश्वत्थ आदि वृक्ष सभी हिंदुओं के लिए पवित्र हैं।

श्रीकृष्ण का साक्ष्य

अन्य रूपों की अपेक्षा जिन रूपों में आत्मा का अधिक प्रकाश होता है, इसका उल्लेख करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अश्वत्थ (पीपल) का संकेत किया है। उन्होंने सर्पों तथा पशु-पक्षियों के विषय में कहा तथा नदियों, पर्वतों का भी उल्लेख किया। इस विभूति शृंखला के उल्लेख का समापन श्रीकृष्ण इस उद्घोष से करते हैं-

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्रदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।

(गीता, १०-४१)

(यश, प्रतिभा अथवा शक्ति से संपन्न प्रत्येक तत्व मेरे ही दिव्य तेज के अंश से उद्भूत समझो।)

विघटनकारी अभियान जारी

अपने संपूर्ण देश में नाग-पूजा का प्रचलन है। सुदूर दक्षिण में सुब्रह्मण्य स्वामी ('नाग' का दूसरा नाम) के विशाल मंदिर हैं। क्या इस आधार पर इन सभी श्रद्धालुओं तथा पूजकों की 'प्रकृति-पूजक' या 'जड़-पूजक' कहकर अहिंदू घोषित किया जा सकता है।

अंग्रेजों ने ऐसी घातक धारणाओं का बीजारोपण इसलिए किया, ताकि हिंदू-समाज को अधिकाधिक खंडों में विभाजित किया जा सके। परंतु आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि विदेशियों के निष्क्रमण के बाद भी हमारे अपने ही लोग इन नीतियों को चालू रखे हुए हैं, जिनका जन्म और पालन-पोषण उनके समाज में हुआ है।

हृदय से कार्य करना

अब हमारा परम कर्तव्य है कि इन उपेक्षित बंधुओं के बीच जाएं और इनके जीवन-स्तर में सुधार लाने हेतु पूरी शक्ति से जुट जाएं। हमें ऐसी योजनाएं बनानी होंगी, जिनसे इनकी मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं सुख-साधनों की पूर्ति हो सके। इन्हें इन योजनाओं से लाभान्वित कराने हेतु हमें विद्यालय, छात्रावास व प्रशिक्षण-केंद्र खोलने होंगे, किंतु इन भौतिक सुख-सुविधाओं के साथ-साथ ईश्वर-भक्ति के माध्यम से इनमें राष्ट्र के प्रति प्रेम व स्वाभिमान उत्पन्न कर शेष हिंदू-समाज और अपनी पहचान में एकरूपता की भावना जगाना भी आवश्यक है। इसके लिए हमें ऊंच-नीच की मिथ्या धारणाओं का परित्याग कर समता की भावना के साथ इनमें घुलना-मिलना चाहिए। हमें इनके साथ निस्संकोच भाव से हिल-मिलकर खाना-पीना चाहिए तथा इनके साथ भक्तिभाव से भजन-कीर्तन करना चाहिए।

फिर जनजातियों के घुमंतू स्वभाव की समस्या है। जब तक वे एक स्थान पर किसी निश्चित अवधि तक नहीं ठहरते, तब तक इन्हें कोई प्रशिक्षण एवं संस्कार कैसे दिया जाए? निस्संदेह सरकार भी इनके संबंध में प्रयत्नशील है, तथापि सरकार एक मशीनरी ही है। मशीन मनुष्यों के व्यवहार-ढंग बदलने में अक्षम होती है। केवल मानवीय सहृदयता ही जनजातियों को स्थिर जीवन अपनाने हेतु प्रेरित कर सकती है। यदि हम वन्य जंतुओं को पालतू बना सकते हैं, तो क्या हम अपने इन बांधवों के मन बेहतर व परिष्कृत जीवन जीने हेतु तैयार नहीं कर सकते?

इन क्षेत्रों में विदेशी धर्म-प्रचारकों की कार्यशैली का अध्ययन भी आवश्यक है। इनके व्यवहार में कितना प्रबल समर्पण एवं प्रयास दिखाई देता है। वे प्रसन्नतापूर्वक

कितने भारी कष्ट सहन करते हैं। सुदूर देशों से आकर जंगलों के बीच स्थानीय लोगों के मध्य झोपड़ियों में बसना निस्संदेह प्रशंसनीय व अनुकरणीय है। वे इन लोगों में घुल मिलकर इनकी भाषा सीखकर इनके रीति-रिवाजों के साथ एकरूप हो जाते हैं। इनका व्यवहार अत्यंत मृदुल एवं स्नेहपूर्ण होता है। क्या हम उन मिशनरियों के अनुभव से कुछ लाभ नहीं उठा सकते?

अतीत से शिक्षा

इस संबंध में अत्यंत महत्व का विषय है जनगणना। इस हेतु हमें पहले से सतर्क रहना चाहिए। पिछले अनुभव बताते हैं कि इस्लाम के अनुयायी अपनी संख्या बढ़ा-चढ़ाकर लिखवा देते हैं। इसका प्रभाव हमारे राष्ट्रीय मामलों में दु:खद रूप से प्रतिकूल होता है। अत: हिंदुओं को संख्या के महत्व की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। सभी को बिना भूल-चूक अपना पंजीकरण कराना चाहिए और स्वयं को 'हिंदू' ही लिखवाना चाहिए, वे चाहे किसी वर्ग, जाति, उपजाति अथवा जनजाति के हों। पूर्वोत्तर राज्यों में विशेषकर नागा, खासी, जयंतिका, मिकिर, मिजो आदि सभी को अपनी जाति 'हिंदू' ही लिखवानी चाहिए। भले ही उनकी वेष-भूषा, खान-पान और स्थानीय रीति-रिवाज कितने ही भिन्न क्यों न हों, हमें अपने सामाजिक अस्तित्व का आधारभूत सत्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए। ऐसी मूलभूत एकता के बिना उन अंचलों के हमारे समाज-बंधुओं के लिए विदेशी ईसाई प्रचारकों की कुटिल चालों को विफल करना कठिन होगा। उन्हें यह अनुभूति करानी होगी कि अनेक जनजातियों में विभाजित होने के कारण ही वे द्वितीय श्रेणी के माने जाते हैं। फलत: अल्पसंख्यक होते हुए भी ईसाई इन क्षेत्रों में अपना प्रभाव जमाने व आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुए हैं।

वन्य प्रांतों में निवास करने वाले इन बंधुओं से मिलने का अनुभव होता है कि ये लोग अनेक गुणों से परिपूर्ण होते हैं, यथा साहस, बुद्धिमत्ता, परिश्रमशीलता, सत्य-निष्ठा, निश्छल आत्मीयता तथा सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक। हमें कुछ श्रेष्ठतम सैनिक इसी समाज ने दिए हैं। संभवत: केवल महाराणा प्रताप ही ऐसे व्यक्ति थे, जो इनसे घनिष्ठ संबंध स्थापित कर इन्हें शेष समाज की बराबरी पर ले आए थे। इन अंचलों के वनवासी भील राजपूतों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर स्वदेश व स्वधर्म की रक्षा शौर्यपूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी करते रहे।

हम सुधार करें

आजकल हमारे लोग इन लोगों के बीच केवल इनका शोषण करने के लिए जाते हैं। कुछ लोग 'गो-मांसभक्षी' कहकर इनका तिरस्कार करते हैं और इनमें घुलने-मिलने अथवा इन्हें हिंदू मानने से इनकार करते हैं। परंतु क्या हमने इनकी सभी परिस्थितियों का सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है? क्या किसी ने इनके पास जाकर इन्हें गाय के प्रति श्रद्धा के विषय में बताया है? क्या इसे 'माता' कहने का किसी ने आग्रह किया है? ऐसी स्थिति में दोष इनका नहीं, हमारा है। दूसरी बात यह है कि इनके पास खाद्य सामग्री का अभाव हैं। फलत: आवश्यकता के कारण इन्हें गो-मांस खाना पड़ गया होगा, फैशन या स्वाद के कारण नहीं। तब भी दोष हमारा ही है।

यह शेष हिंदू-समाज का कार्य है कि वह इनके बीच जाए, इन्हें शिक्षित बनाए और इनके सांस्कृतिक स्तर तथा जीवन स्थितियों में उत्कर्ष लाकर अपनी भूल का प्रायश्चित करे। यह कहना एकदम गलत है कि इनकी उपेक्षा की जड़ें हमारी समाज रचना में हैं। प्राचीन काल में जब पंचायत-प्रणाली समाज का मूलाधार थी, तब इसमें वनवासी जातियों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसका उल्लेख श्रीराम-कालीन राजनीतिक प्रणाली के वर्णन में भी मिलता है।

कर्मयोगी की भावना

गत अनेक शताब्दियों से इन भाई-बहनों के प्रति स्नेह व संपर्क का अभाव ही इनकी वर्तमान उपेक्षा व विकट परिस्थितियों का प्रमुख कारण है। शेष समाज शिक्षा से लाभान्वित होता रहा, किंतु इन्हें इससे वंचित रखा गया। उपयुक्त तकनीकी व अन्य प्रशिक्षणों के अभाव में ये वर्ग अपनी उत्पादन-क्षमता एवं समृद्धि में पिछड़ते गए। आज हमें यही शिक्षा देश के सुदूरवर्ती वनांचलों में इन बंधुओं तक पहुंचानी है, जिनके लिए धर्म अंधविश्वासपूर्ण कर्मकांडों का समुच्चय मात्र बनकर रह गया है अथवा जिन्हें सुदूरतम-पर्वतों में रहने के कारण धर्म को समझने और तदनुरूप जीवनयापन करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। इस कार्य में विकट कठिनाइयों, कष्टों और विपत्तियों का सामना करना होगा। ऐसा अनुभव भी हो सकता है कि यह कृतज्ञताशून्य कार्य है। परंतु हमें त्वरित फल अथवा किसी चमत्कार की अपेक्षा किए बिना कठोर यथार्थ का सामना करते हुए, सच्चे कर्मयोगी की भांति अनंत धैर्य के साथ कर्म-पथ पर अग्रसर होना होगा।

सभी की सेवा

कुछ कार्यकर्ता सभी बुराइयों के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराकर प्रसन्न हो जाते हैं। कुछ कार्यकर्ता राजनीतिक विकृतियों तथा कुछ ईसाई, मुस्लिम आदि दूसरे संप्रदायों की आक्रामक गतिविधियों पर दोषारोपण करते हैं, परंतु हमारे कार्यकर्ता को अपने मस्तिष्क को ऐसी प्रवृत्तियों से मुक्त रखकर अपने धर्म एवं बंधुओं के लिए शुद्धभाव से कार्य करना चाहिए। जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, उन्हें सहयोग देना और विपत्तियों से मुक्त करने हेतु सतत प्रयास करना चाहिए। इस सेवाकार्य में व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं करना चाहिए, फिर वह चाहे ईसाई हो या मुसलमान अथवा किसी अन्य संप्रदाय का अनुयायी। दैविक-आपदा, कष्ट अथवा दुर्भाग्य कोई भेदभाव नहीं करते। इनसे सभी समान रूप से प्रभावित होते हैं। मानवता के कष्ट-निवारण के कार्य में सेवा करते समय कृपा अथवा दया-भाव से नहीं, बल्कि सभी के हृदयों में विद्यमान परमात्मा के प्रति समर्पित भक्तिमय अर्चना-भाव से कार्य करना चाहिए। हमारे धर्म की सच्ची शिक्षा यह है कि प्राणी मात्र के माता-पिता, बंधु, सखा और सर्वस्वरूपी नारायण की सेवा में हमें अपना सब कुछ समर्पित कर देना चाहिए। हमारे कार्य, हमारे शाश्वत सनातन धर्म के यश एवं गौरव की श्रीवृद्धि में योगदान करने में सफल हों, यही हमारी कामना हो।

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न-गिरिजन व अन्य ऐसे लोगों तक हम अपने सांस्कृतिक विचार कैसे पहुंचाएं ?

उत्तर-यह केवल बराबरी के स्तर से ही सम्भव है, ऊंचे मचान पर बैठकर नहीं। सबसे पहले उनको इसकी अनुभूति कराई जाए कि वे हमारे बराबर के एवं हमारे अपने बंधु हैं। हम उन्हें अपने सच्चे स्नेह प्रेम की अनुभूति कराएं, तभी वे हमारे आह्वान का प्रत्युत्तर देंगे और उसे ग्रहण कर सकेंगे।

वास्तव में पूर्व काल में उनके साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाये रखने की व्यवस्थाएं रहती थीं। प्रत्येक क्षेत्र के गोस्वामी वहां की जनजातियों में घुलने-मिलने, उन्हें शिक्षित करने तथा उनका सांस्कृतिक स्तर ऊंचा करने के विशिष्ट उद्देश्य के लिए ही हुआ करते थे। असम में ये लोग चैतन्य देव के अनुयायी आचार्य शंकर देव के पन्थ के माने जाते हैं। एक बार मैं उन लोगों से मिला, तो उन लोगों ने कहा, "हम ऐसे असभ्य लोगों से केसे घुलमिल सकते हैं?" तथापि, कुछ विचार-विमर्श के पश्चात् वे उनके साथ बैठने व भोजन करने को सहमत हो गये, जब जनजातीय

नेता वहां आए, तो वे यह सब देखकर आश्चर्यचकित हो गये। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि ऐसा भी हो सकता है। फिर भी, वे कुछ दूर-दूर ही रहे। मैंने उनसे कहा कि हम सब भाई-भाई हैं। फिर दो जाति प्रमुखों को अपने अगल-बगल बैठाया, तो वे भाव-विह्वल हो गये।

समस्या यह है कि हम स्वयं ही उनसे दूर रहते हैं और शिकायत करते रहते हैं कि वे खराब हैं या ऐसे-वैसे हैं। बहुत दिनों तक ये लोग सरकारी अधिकारियों से भी सम्पर्क नहीं करना चाहते थे। जानते हैं क्यों? नागाओं का एक वर्ग अपने बालों का जूड़ा बनाकर उन्हें माथे पर सींग के समान बांधता है। वे इसे सुन्दर व सम्मानसूचक मानते हैं। एक सरकारी अधिकारी को इन लोगों की देखभाल के लिए असम में नियुक्त किया गया। अधिकारी के आने पर जाति के मुखिया उनसे मिलने आये, परन्तु वह अधिकारी एकदम कल्पना-शून्य था। उसने एक नेता का जूड़ा पकड़ा और उसे झकझोरते हुए कहा, "इसे कटवा कर एक आधुनिक व सभ्य व्यक्ति बनो।" वे सब हक्के-बक्के रह गये। वह अधिकारी सहज बुद्धि एवं कल्पनाशीलता के साथ उनसे व्यवहार क्यों नहीं कर सकता था? उनके भावों का सम्मान क्यों नहीं कर सकता था? इसके बाद उन लोगों ने सरकारी अधिकारियों से सम्पर्क करने की इच्छा कभी नहीं की।

बम्बई की 'वोद्दार' नामक पिछड़ी जाति के एक संगठन के अध्यक्ष से वार्तालाप के अंश।

प्रश्न-हमारी जाति में शिक्षा का स्तर बहुत नीचे है, दसवीं पास लोग कार्यालयों अथवा कारखानों में क्लर्क या चौकीदार हैं। अधिक शिक्षितों को कुछ अच्छा काम मिल गया है, परन्तु उनकी आय शारीरिक श्रम करने वालों से बहुत कम है। हमने सरकार से प्रार्थना की है कि सरकारी नौकरियों में अपेक्षित शैक्षिक स्तर को हमारे समुदाय के लिए कुछ घटा दिया जाये।

उत्तर-नि:सन्देह, शिक्षा महत्वपूर्ण है, परन्तु यदि शारीरिक श्रम से अधिक आय होती है, तो दसवीं पास व्यक्तियों को भी यही कार्य करना चाहिए। शारीरिक श्रम व शिक्षा में टकराव नहीं होना चाहिए। इन दोनों के समन्वय से ही सम्पन्नता का उदय होता है। नौकरियों के लिए शिक्षा सम्बन्धी अर्हता घटाने की बात भी वांछनीय नहीं है। प्रत्युत, शिक्षा में पिछड़े लोगों को अपना स्तर उठाने के लिए स्वत: पहल करनी चाहिए। यदि आज उत्तीर्णांक ३५% है, तो कुछ वर्ष बाद उसे ४०% करने का आग्रह करना चाहिए। इन्हीं स्वैच्छिक प्रयासों से पिछड़ा वर्ग स्वयं को उठा सकता है

अन्यथा इन वर्गों के बच्चे जीवन में कभी महत्वाकांक्षा संजोने में सफल नहीं हो पाएंगे। वे उच्च योग्यता व क्षमता वाले उच्च पदों से सदैव वंचित बने रहेंगे। कम योग्यता वाले लोग जिस क्षेत्र में भी कार्य करेंगे, उसी के स्तर को गिरा देंगे। ऐसे में स्वयं उनका व अन्य बहुतों का जीवन भी जोखिम में पड़ सकता है। डॉक्टर, इंजीनियर आदि तकनीकी क्षेत्रों पर भी यही बात लागू होती है। आज के वैज्ञानिक व तकनीकी युग में यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपनी क्षमता और सामर्थ्य बढ़ाएं। अत: इस ओर ध्यान देना परमावश्यक है कि हमारे बच्चे ठीक महत्वाकांक्षा को आत्मसात् कर अपना शैक्षिक स्तर व क्षमता बढ़ाएं। मेरा आग्रह है कि आप इस पहलू पर विशेष बल दें।

प्रश्नकर्ता–मुझे एक नया दृष्टिकोण मिला है। यह शिक्षा पहले कभी नहीं मिली। मेरा विश्वास है कि यही उचित दृष्टिकोण है।

प्रश्न–हमारे समाज के कुछ लोग यह अनुभव करते हैं कि गोत्र तथा यज्ञोपवीत से वंचित कर उनके साथ सामाजिक व धार्मिक मामलों में भेदभाव होता है। इसका समाधान क्या है?

उत्तर–उन्हें गोत्र व यज्ञोपवीत दिया जा सकता है। यदि उनका गोत्र ज्ञात नहीं है तो उन्हें पुजारी का गोत्र दिया जा सकता है। ऐसा पुरातनकाल में भी होता था और यह शास्त्र-सम्मत भी है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो किसी गोत्र में नहीं है, वे कश्यप गोत्र में हैं, क्योंकि सभी का जन्म कश्यप से हुआ है। धार्मिक दृष्टि से वे सभी समानाधिकारों के पात्र हैं। वेदों के पठन-पाठन, मन्दिरपूजा, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक उत्सव आदि सभी में उन्हें समान स्तर व अधिकार दिये जाने चाहिए। अपने हिन्दू समाज में आज के जातिवाद की सभी समस्याओं का केवल यही ठीक समाधान है। यह समाधान मैंने उन सभी पू. शंकराचार्यों तथा अन्य आचार्यों के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया है, जिनसे मैं मिला हूँ।

❑❑❑

३०

आत्मीयता ही सर्वोत्तम समाधान

हम यहां यह विचार करने के लिए एकत्र हुए हैं कि अपने सर्वाधिक प्रिय व आत्मीय धर्म और समाज के पुनर्जीवन हेतु हम क्या ठोस योगदान कर सकते हैं। इस संदर्भ में चाय-उत्पादकों का उदाहरण विषय को अधिक स्पष्ट कर सकेगा।

कुछ चाय-बागानों पर अंग्रजों का स्वामित्व है। वह अपने कर्मचारियों से कैसा व्यवहार करता है। वह उनके घर जाता है, बच्चों को थपथपाता है और उनकी चिकित्सा आवश्यकताओं की देखभाल व्यक्तिगत रूप से करता है। इस प्रकार वह कर्मचारियों के पूरे परिवार से आत्मीय संबंध बना लेता है। इतना ही नहीं, वह अपने बाग में एक गिरिजाघर भी बनाता है और वह स्वयं तथा प्रबंधकीय कर्मचारी प्रत्येक रविवार को सपरिवार बिना नागा किए गिरजाघर में पूजा हेतु जाते हैं। अपने कर्मचारियों को भी गिरिजाघर जाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और वहां जाने वाले को अतिरिक्त लाभ भी देते हैं। साप्ताहिक प्रवचन हेतु उनके लिए एक पादरी की व्यवस्था भी करते हैं। ऐसे प्रलोभन या फुसलाव द्वारा वे अपने कर्मचारियों को बड़े पैमाने पर ईसाई बनाने में सफल भी हुए हैं।

विरोधाभास

इसका विपरीत उदाहरण देखें। वहां अपने देशवासी हिंदुओं के भी चाय-बागान हैं, किंतु वहां अपने कर्मचारियों से उनके संबंध मधुरता के अतिरिक्त सब प्रकार के हैं। वे केवल अधिकाधिक काम लेकर उन्हें चूसते रहते हैं। कर्मचारियों में असंतोष और विद्रोह पनपता है और वे अधिक वेतन व सुविधाओं की मांग करते हैं। तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। तनाव केवल आर्थिक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। उनके बीच परस्पर सामाजिक संपर्क एकदम नहीं है। कर्मचारियों से व्यवहार करते समय चाय-उत्पादक रत्ती-भर भी मानवीयता नहीं दिखाते। वे शायद ही कभी उनके घर जाते हों। उनके सुख-दुख में सम्मिलित होना तो और भी कम होता है।

इनसे कुछ तो सीखें

कैसी विडंबना है कि हमारे देशवासियों से विदेशी लोग ऐसा मानवीय संबंध रख सकते हैं, चाहे गर्हित उद्देश्य से ही सही, किंतु हमारे लोग अपने ही देशवासियों से कैसा हेय व निरंकुश भेदभाव करते हैं। यह सर्वोत्तम समय है कि हमारे चाय-उत्पादक व अन्य उद्योगपति अपने अधीन कर्मचारियों की विशाल संख्या के प्रति समय की धारा के अनुरूप अपना कर्तव्य पहचानें। वे भी इसी समाज की संतान हैं। आर्थिक व सामाजिक शोषण से त्रस्त इन दुःखी कर्मचारियों के आंसू पोंछने में इस आत्मीयता व मानवीयता का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। उन्हें अपने हर औद्योगिक परिसर व श्रमिक बस्तियों में मंदिर बनवाकर साप्ताहिक भजन-पूजन, कथा-कीर्तन, धार्मिक प्रवचन आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।

अंतर्निहित अच्छाई पर भरोसा रखें

कुछ उद्यमियों का तर्क है कि मानवीय व्यवहार से कर्मचारी अनियंत्रित हो जाते हैं और अनुचित लाभ उठाने लगते हैं। मेरे विचार से सामान्यतया ऐसा नहीं है। यदि कर्मचारियों को आभास हो कि आप प्रामाणिक हैं और आपकी आत्मीयता में दिखावा नहीं है, तो कालांतर में वे इसका प्रतिवाद अवश्य देंगे। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि हमारे वे लोग हृदय की अच्छाई से इतने रहित हैं कि उदात्त मानवीय सद्गुणों की उपेक्षा करें। हमारा दैनंदिन अनुभव भी इस तर्क को गलत सिद्ध करता है। जब मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था, तब हमारा घरेलू नौकर कीमती सामान रखने के कारण अपने गांव में गिरफ्तार हो गया। जब मैंने पुलिस को बताया कि वह कीमती वस्तु उसे मैंने दी थी और वह सदा ईमानदार रहा है, तो उसे छोड़ दिया गया। उसके बाद उसने बेईमानी बिल्कुल छोड़ दी और अनुकरणीय ईमानदारी व कृतज्ञता भाव से हमारी सेवा करता रहा।

प्राय: यह पूछा जाता है कि 'हम कम्युनिस्टों का सामना कैसे करें? कर्मचारीगण यदि एक बार कम्युनिस्ट विचारधारा में दीक्षित हो गए, तो वे हमारे प्रत्येक कार्य, वह चाहे जितने अच्छे इरादे से क्यों न किया गया हो, को संदेह की दृष्टि से ही देखेंगे।' इस पर भी मेरा मत है कि कम्युनिस्ट अपना पैर वहीं जमा सकते हैं, जहां व्यवहार में मानवीय स्पर्श नहीं होता। आत्मीयता से बड़ा आकर्षण किसी भी वाद में नहीं होता। कर्मचारी यदि कम्युनिस्ट है तो भी पहले वह मानव है, अर्थात् आत्मीयता का भूखा है।

हमारी हृदयहीनता

आत्मीयता का यही वह क्षेत्र है, जहां हम पिछड़ रहे हैं। यह पिछड़ापन व अभाव केवल चाय-बागान या कारखानों में ही नहीं है, बल्कि गांव-नगरों के

समस्त लोगों के दैनंदिन जीवन में भी बढ़ता जा रहा है। संपन्न परिवारों के लोग महिलाओं को घरेलू नौकर रखते हैं। सामान्यतया वे अपने शिशु को लेकर काम करने आती है और उसे एक कोने में लिटाकर काम में लग जाती हैं। आमतौर पर देखा जाता है कि वह उपेक्षित शिशु कर्कश स्वर में रोता रहता है। क्या यह सामान्य दृश्य नहीं है कि गृह-स्वामिनी उसकी पूर्ण उपेक्षा करती है और यह भी नहीं कहती कि थोड़ी देर के लिए काम छोड़कर उसे चुप करा लो।

हमारे देश के प्रत्येक प्रांत में असंख्य लोग भूखे, निर्वस्त्र, अशिक्षित तथा धार्मिक श्रद्धा अर्जित करने के अवसर से वंचित रखे गए हैं। कम्युनिस्टों व ईसाई मिशिनरियों द्वारा इसी स्थिति का लाभ लेकर उनका शोषण किया जाता है। विकसित क्षेत्रों के भीतरी भागों में भी उनका जाल गहराई तक फैला हुआ है।

अनुकरणीय उदाहरण

यदि सुदूर देशों से आए विदेशी प्रचारक गर्हित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु यह सब कर सकते हैं, तो हम अपने धर्म व बंधुओं के प्रति सकारात्मक स्नेह लेकर निश्चित रूप से उससे भी अच्छा कार्य कर सकते हैं। तमिलनाडु के उदिंतकराई गांव का एक छोटा-सा प्रयोग उल्लेखनीय है। पांच सौ वर्ष पूर्व छल-प्रपंच द्वारा सारा गांव ईसाई बना लिया गया था, परंतु पिछले दिनों पूरे गांव ने अपने पूर्व-धर्म हिंदुत्व में लौटने का निश्चय किया। हमारे एक स्वामीजी ने वहां जाकर उन्हें पुन: हिंदुत्व में लौटाने का आयोजन पूर्ण कराया। परंतु उन लोगों की बहुत समस्याएं थी। वे मछुआरे थे। बरसात में समुद्र में नहीं जा सकते थे, अत: बेकारी व भुखमरी से पीड़ित थे। 'मंगलौर गणेशबीड़ी' के मालिकों ने वहां एक केंद्र खोला, जहां काम करके महिलाएं व बच्चे आजीविका कमा सकते थे। उसके बाद कुछ सहृदयी लोगों ने जाल के लिए फाइबर धागे (ताँत) दिए। हमारे कुछ स्वामियों ने मंदिर-स्थापना में सहयोग किया। आसपास के गांवों के लोग भी वहां प्राय: आकर प्रसन्नता अनुभव करने लगे, क्योंकि वहां उनका आत्मीयतापूर्ण स्वागत किया गया। उदिंतकराई के इसी उदाहरण ने परवर्ती गांवों में भी स्वस्थ प्रवृत्ति उत्पन्न की है। यह मानवीय स्पर्श का जादू है।

विशाल हृदयता

ऐसे साहसिक उपक्रम पूरे देश में प्रारंभ करने होंगे और निस्संदेह इस हेतु बड़ी धनराशि आवश्यक है। अब यह उन लोगों का दायित्व है, जो भगवत्कृपा से सुसंपन्न बने हैं। वे आगे आकर साधन स्रोतों से इसमें सहायक बनें। मंदिरों का उत्तम रखरखाव

भी ऐसे लोगों का विशेष दायित्व होना चाहिए। दैनिक पूजा, स्वच्छता, पवित्रता आदि की सुव्यवस्था हेतु स्थानीय समिति बनाई जा सकती है। बाद में सभी मंदिरों के क्रियाकलापों की देखभाल के लिए न्यास (ट्रस्ट) का निर्माण किया जा सकता है, जो मंदिरों के मूल उद्देश्य को सुरक्षित रखने हेतु नियंत्रण व मार्गदर्शन करे। मंदिरों की वर्तमान उपेक्षा व जीर्ण-शीर्णता अपने देवी-देवताओं के प्रति हमारी हृदयहीनता पर दु:खद आक्षेप ही है। मुसलमानों को देखें। वे अपने पीर के नाम पर इकट्ठी की गई ईंटों के ढेर पर भी वर्ष में दो बार सफेदी कराते हैं और वहां चांद-सितारेवाला हरा झंडा फहराते रहना सुनिश्चित करते हैं, चाहे वह स्थान सड़क से हटकर किसी बेतुके स्थान पर ही क्यों न हो।

इस सबके लिए श्रद्धा व समर्पण का भाव महत्वपूर्ण है। यदि हृदय विशाल है, तो धन व साधन स्वत: एकत्र होते चले जाते हैं। समाज के प्रति हमारा उत्कट स्नेह व उसे पुन: सुसंपन्न व गौरवशाली देखने की प्रबल आकांक्षा ही हमारे हृदय को उदार एवं श्रद्धासंपन्न बना सकती है।

❑❑❑

३१

मातृ-शक्ति का आह्वान

समाज की खिलती पीढ़ी के पालन-पोषण का विशेष दायित्व हमारी माताओं पर है। पालन-पोषण का वास्तविक अभिप्राय क्या है? क्या बच्चों को खिलाना-पिलाना और विद्यालय भेजना मात्र उनका दायित्व है? इसके विपरीत इसका अनिवार्य पहलू है उनमें ठीक संस्कार अंकित करना, यथा-कर्तव्यनिष्ठा, व्यक्तिगत उद्यम की भावना, मातृभूमि के प्रति प्रेम और समाज के लिए तत्परता। हमारी माताओं को चरित्र-निर्माण के इस पहलू की चिन्ता करना अपना प्रथम दायित्व मानना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु बच्चों के मन:पटल पर सहज प्रभाव छोड़ने वाली छोटी-छोटी बातों के प्रति सतर्कता आवश्यकता है।

पहली किरण का प्रभाव

जब मुझे अपना बचपन याद आता है, तो मैं अनेक सुकोमल व मधुर स्मृतियों में खो जाता हूँ। प्रात: उठते ही मुझे घरेलू कामकाज में संलग्न अपनी माँ के मुख से हरिनाम तथा स्तोत्रों की मधुर सुरलहरी श्रवण-गोचर होती थी। उन नीरव एवं प्रशान्त प्रभातों में गूंजने वाले मधुर स्वरों का मेरे युवा मन पर कितना गहरा एवं पवित्र प्रभाव पड़ा होगा। इसके विपरीत आज के तथाकथित आधुनिक घरों के वातावरण में माताएं न तो बच्चों को जल्दी उठाती हैं और न ही प्रेरणादायी गीत गाती हैं। सामान्यत: बच्चे फिल्मी गीत सुनते हुए सोते तथा उनकी धुन ही गुनगुनाते उठते हैं। मैंने एक सुशिक्षित युवा गृहिणी को रसोई-घर में काम करते समय तथा पालना झुलाकर बच्चे को सुलाते समय निम्नस्तरीय फिल्मी गीत गाते सुना है। अपने माता-पिता का ऐसा व्यवहार देखकर बच्चे निश्चित ही उसका अनुसरण करेंगे। और, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अभाव में पले बच्चे ईसाई प्रचार की ओर सरलता से आकर्षित हो जाते हैं। आठ-नौ वर्ष का एक बालक विद्यालय-अवकाश के दिनों में अपने घर आया। जन्माष्टमी पर व्रत रखने के लिए कहे जाने पर उसने माता-पिता से पूछा,

"आप ऐसे व्यभिचारी का जन्म दिन क्यों मनाते हैं? हम ईसा का जन्मदिन क्यों न मनाएं?" क्या आप यह कल्पना कर सकते हैं कि आठ-नौ वर्ष का बालक अपने माता-पिता से ऐसे बेहूदे प्रश्न कर सकता है। अत: हमारी माताओं को, बच्चों को, प्रात:काल ही जगाकर उससे कुल देवता को नमन तथा बड़ों को अभिवादन करना सिखाना ही होगा। हिन्दू बालक-बालिकाओं में देवभक्ति, देशभक्ति व मातृभूमि का भाव भरने का यह पवित्र दायित्व हमारी माताओं पर ही है।

वेश-भूषा के संस्कार

वेशभूषा भी संस्कारक्षम होती है। वेश व साज-सज्जा भी कोमल मन पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। माताएं इस बात का ध्यान रखें कि बच्चे इन माध्यमों से भी अपनी संस्कृति की विशेषताएं आत्मसात् करें। मुझे फिर अपने बचपन का स्मरण आता है। मेरे बाल्यकाल में मेरे बाल लम्बे, घने व घुंघराले थे, मेरी मां उन्हें बांधकर उन में मोर पंखी इस प्रकार लगाती थी कि मैं बालकृष्ण जैसे दिखने लगता था। वह मेरे गले में पुष्पहार डालकर सबको बताती थी, "देखो, मेरा मधु एकदम बालकृष्ण जैसा लगता है!" ऐसी बातें यद्यपि छोटी दिखती हैं तथापि इन्हीं से बालमन अपने सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरूप ढलता है। इसके विपरीत यदि बालक को पाश्चात्य वातावरण में पाला जाए, तो उस पर वैसा ही प्रभाव होगा। ऐसे मन पर मातृभूमि के प्रति उत्कट समर्पण और हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का अनुकरण भी आसानी से हो सकता है।

नारी : रणचण्डी कैसे बनी ?

कभी-कभी लोगों को यह आभास भी नहीं होता कि परिधान भी मस्तिष्क पर कितना निर्णायक प्रभाव डाल सकते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय की एक रोचक घटना है। तत्कालीन शासक अंग्रेज सरकार ने एक आपात्कालीन अध्यादेश जारी करके सेवानिवृत्त सैनिकों को तुरन्त सेना में आने का आदेश दिया। एक सैनिक की इच्छा सेना में पुन: जाने की नहीं थी, अत: वह गांव में ही रह गया। जब पुलिस तलाशी वारण्ट लेकर गांव में आयी, तो वह महिलाओं के वस्त्र पहनकर घर में छिप गया। उसकी पत्नी ने पुलिस को बताया कि वह घर में नहीं है और केवल उसकी बहिन ही उसके साथ है। परन्तु पुलिस को सन्देह हो गया। उसने 'बहिन' को पुकारा। सत्य सामने आ गया और वे उसे पकड़ कर ले गये। उसे अपनी पुरानी टुकड़ी की ओर भेज दिया गया। वहां उसे सैनिक वेश देकर सैनिक टुकड़ी में सम्मिलित होने के लिए कहा गया। जब वह सैनिक वेश में तैयार हो गया, तब उससे पूछा गया,

क्या वह अपने घर लौटना चाहता है?'' उसने कड़क कर कहा कि अब वह एक सैनिक है अत: घर वापस जाने का प्रश्न ही नहीं, अब केवल युद्धस्थल पर ही जाएगा। नि:सन्देह यह परिवर्तन वेश-भूषा के कारण ही हो सका।

आधुनिकता का बोझ

अब परिवार, परम्परा, श्रद्धा व आचरण को लें। हमारे व्यक्तिगत् इष्ट देव व कुलदेव कोई भी क्यों न हों, उनकी पूजा-अर्चना बड़ी श्रद्धा-भक्ति से करनी चाहिए तथा अपनी कुल परम्पराओं को पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रदीप्त रखना चाहिए। परन्तु आज कल इन परम्पराओं को विलुप्त होते देखकर कितना कष्ट होता है। दक्षिण में कम से कम घर के सामने तुलसी-वृन्दावन अवश्य होता है, हमारी माताएं सूर्यास्त होते ही उसके समक्ष दीप प्रज्ज्वलित कर देती हैं। वहां सामान्यत: पूजा-गृहों की घण्टियों एवं आरतियों का मधुर स्वर गूंजता सुनाई देता है। परन्तु, उत्तर भारत में इस दृश्य के लिए आंखें तरस जाती हैं। 'आधुनिकता' की आंधी ने हमारे घरों से भगवान को भी निकाल बाहर कर दिया है। यह आधुनिकवाद हमारे अनेक जीवन-मूल्यों को उदरस्थ करता जा रहा है। 'ज्ञानेश्वरी' की काव्य-पंक्तियां कहती हैं-

''निज सुकार्य को धर्मनिष्ठ करता विनम्रता मण्डित।
उसी तरह पावन नारी रखती तन वस्त्रावेष्ठित।।''

यह सती नारी का चित्रण है, परन्तु आधुनिक स्त्री अपने तन को सत् की दृष्टि के सम्मुख उघाड़ने में ही आधुनिकता समझती है। कैसा पतन है ! ऐसा प्रतीत होता है, मानो हमारे देश में आधुनिकता का अर्थ पश्चिम के अन्धानुकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया है। अधिकांश परिवारों में बच्चे अपनी माँ को 'मम्मी' कहते हैं। क्या हम जानते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है? मिस्र में प्राचीन राजाओं की समाधियां ऊंचे-ऊंचे पिरामिडों में स्थित हैं। उन में रखे मृतदेह ही 'मम्मी' कहलाते हैं। और, हम हैं कि अपनी प्रिय व जीवित माता को मम्मी कह रहे हैं।

शौर्यमय मातृत्व के महाकाव्य

सर्वविदित है कि हमारा राष्ट्र बहुविध संकटों से घिरा है। हमारे समाज व मातृभूमि की अखण्डता को ध्वस्त करने के सतत प्रयास हो रहे हैं। समय की कसौटी पर खरे सिद्ध हुए हमारी सांस्कृतिक विरासत तथा आध्यात्मिक मूल्यों के समक्ष चुनौतियां बढ़ती जा रही हैं। चारों ओर संघर्ष व टकराव का वातावरण गहराता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमें अपने बालकों को किस प्रकार का प्रशिक्षण देना है? क्या हम उन्हें घर बैठे रहकर

'सुरक्षित' रहने और बाहर जाकर 'गड़बड़ी' न करने का पाठ पढ़ाएंगे? क्या हम उनके निजी सुख-सुविधाओं व भविष्य की ही चिन्ता करने तथा ''अन्य झमेलों में न पड़ने का ही राग अलापते रहेंगे?'' अन्ततः हम उन्हें क्या सिखाना चाहते हैं?

'महाभारत' में एक सुन्दर दृष्टान्त है। विदुला नाम की रानी ने अपने पुत्र संजय को युद्ध भूमि में भेजा। परन्तु वह बेचारा भयाक्रान्त हो गया और दुश्मन को पीठ दिखाकर अपनी राजधानी वापस भाग आया। जब विदुला ने अपने पुत्र को इस प्रकार डरा हुआ देखा, तो उसने किले का द्वार बन्द कर दिया और उसकी तीव्र भर्त्सना की। दोनों का पारस्परिक वार्तालाप 'विदुला-संजय-संवाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें विदुला अपने पुत्र को समझाती है कि वीर योद्धा समराङ्गण में कैसा व्यवहार करते हैं। माँ उसे तुरन्त युद्ध में लौटने तथा विजेता नायक के रूप में ही वापस आने का आदेश देती है। कथानक के अनुसार संजय रणभूमि में संघर्ष करते हुए वीरता का अद्भुत परिचय देता है और जब वह वापस घर आता है, तो उसकी माँ उसका ससम्मान स्वागत करती है।

तथैव, पांचों पाण्डवों को युद्ध भूमि में जाने से पूर्व कुन्ती द्वारा दिया गया आशीर्वचन भी उसके वीरोचित स्वर की दृष्टि से उल्लेखनीय है-

''यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्यकालोऽयमागतः।
नहिं वैरं समासाद्य सीदति पुरुषर्षभाः।।

(वह समय आ पहुंचा है, जिसके लिए क्षत्रिय माताएं अपने पुत्रों को जन्म देती हैं। पराक्रमी लोग शत्रु के सम्मुख होने पर दीन-हीन नहीं होते)

'महाभारत' में एक और श्लोक है, जिसका अर्थ है कि कोई माता ऐसे शत्रु को जन्म न दे, जो चुपचाप अपमान को सहन करे और जो पुरुषत्व व पराक्रम से रहित होकर शत्रु के उपहास का कारण बने।

शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन

फिर हमारे हर कृत्य में राष्ट्रीय स्वाभिमान की छाप होनी चाहिए। हमें अपने दैनन्दिन, व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में स्वदेशी का ही प्रयोग करने की शपथ लेनी चाहिए। इससे हमारे विशुद्ध राष्ट्रीय चरित्र का आविर्भाव होता है। पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक के अन्धानुकरण से इन देश की पुत्रियों की श्रेष्ठता और सतीत्व की अनुपम परम्पराएं विनष्ट हो जायेंगी।

हिन्दू लोग सत्य के प्रति अपनी अटल निष्ठा तथा उत्कृष्ट चारित्र्य के लिए विश्व-विख्यात थे। परन्तु, इन दिनों हमारे बड़े-बड़े नेता भी अपने भ्रष्टाचरण तथा

नैतिक पतन के लिए कुख्यात हो गये हैं। भावी पीढ़ी को ऐसे क्षयकारी प्रभाव से हमारी माताएं ही बचा सकती हैं। उन्हें घर में ऐसे पवित्र वातावरण का सृजन करना चाहिए कि पाप की कमाई खाने की बजाय व्यक्ति भूखा रहना पसन्द करे। बेईमानी से अर्जित अपवित्र भोजन में साझीदार न होने की प्रतिज्ञा सम्पूर्ण परिवार को करनी चाहिए। यदि हमारी माताएं अपने बच्चों में ऐसे कल्याणकारी एवं वीरोचित संस्कार भर सकें, तो यह निश्चित है कि आने वाली पीढ़ियां हमारे राष्ट्र के समक्ष उपस्थित विविध चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर सकेंगी।

यदि सामाजिक ताना-बाना नष्ट हो गया, तो ...

समाज के प्रति हमारा दृष्टिकोण भी महत्व का विषय है। यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत व पारिवारिक जीवन की सुरक्षा व प्रसन्नता बहुत सीमा तक अपने समाज के उत्कर्ष पर निर्भर है- इतना कि सामाजिक शान्ति व सुरक्षा के बिना व्यक्तिगत, नैतिक व आध्यात्मिक विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। सामाजिक विघटन के समय आध्यात्मिक महापुरुषों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। अत: यह हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हम अपने सामाजिक जीवन को स्वस्थ बनाएं।

गत शताब्दी में हमने अपने समाज जीवन को सुसंगठित अक्षुण्ण व स्वाभिमानी बनाने का प्रयास ही नहीं किया। हम भूल गये कि हमें एक सुगठित व एकात्म इकाई के रूप में रहना है। विराट् मानव शक्ति होते हुए भी 'अकेलेपन' का भाव हमें ले डूबा। एक बार नागपुर में लगभग बीस हजार लोगों का सम्मेलन हुआ। अचानक कोई चिल्ला पड़ा, "अरे वे आ गये!" यह सुनते ही भारी भीड़ घबराहट व हड़बड़ी में तितर-बितर हो गयी। लोग चप्पल-जूते छोड़कर भाग गये। किसी ने भागते हुए एक व्यक्ति से पूछा, "क्या हुआ?" उसने कहा, "मुझे नहीं मालूम।" सभी डर कर भाग रहे हैं, इसलिए मैं भी भाग रहा हूँ।" "परन्तु तुम रुककर मालूम तो करो कि क्या हुआ?" उसने कहा, "मैं अकेला क्या कर सकता हूँ?" (मालूम भी नहीं कर सकता)। हम सब की यही स्थिति है।

वास्तविक यज्ञ

हम एक ही समाज की सन्तान हैं और हमें अपने सुख-दु:ख परस्पर बांटने हैं- इस एकात्मभाव का अभाव ही हमारी दुर्गति का मूल कारण है। समाज के प्रति प्रेम तथा श्रद्धाभाव आवश्यक है। राष्ट्र के प्रति हमारा प्रेम और समर्पण ठोस रूप में प्रकट होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमारे समाज में अनेक लोगों को दैनिक भोजन के बिना रहना पड़ता है। क्या हम उनके प्रति संवेदनशील हैं ? क्या हमारे मन में उनके लिए कुछ करने

की इच्छा जागृत होती है? प्राचीन काल में हमारे यहां 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' होता था, जहां सर्वप्रथम निर्धन व भूखों को भोजन कराया जाता था, शेष सब बाद में खाते थे। आज भी हम समाज के भूखे लोगों के लिए मुट्ठीभर अन्न निकालकर अपना भोजन कर सकते हैं और करना भी चाहिए। यही वास्तविक 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' होगा।

पड़ौसी के प्रति दायित्व

समाज की निर्धन बहिनों की सेवा का विशेष दायित्व भी माताओं पर ही है। यह सही है कि अभावग्रस्त व दीन-हीन लोगों के बीच सेवाकार्य करने के लिए दूर जाने के लिए हमारी अधिकांश माताएं असमर्थ रहती हैं। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि वे सारे समय अपने घरों में ही बैठी रहें। वे अपने पास-पड़ौस के महिला वर्ग से उपयोगी सम्बन्ध स्थापित कर अपने उन विचारों को उनमें प्रतिष्ठित करें, जिन्हें हम उनमें तथा उनके बच्चों पर अंकित करना चाहते हैं। परस्पर सहयोग और सेवा-भाव को दैनन्दिन सामाजिक गतिविधियों के माध्यम से भी लोकप्रिय बनाना होगा। हमारी महिलाओं में आत्महीनता अथवा असहायता का भाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए। उन्हें अनुभूति होनी चाहिए कि 'वे पराशक्ति की जीवन्त प्रतिरूप है'।

हमारी अनेक शिक्षित माताओं के पास अतिरिक्त समय व शक्ति होती है जो आधुनिक क्लब आदि की गपशप में व्यर्थ चली जाती है। वे इसका सदुपयोग कर सकती हैं। उनके आस-पास अनेक बच्चे होंगे, जो विद्यालय नहीं जा पाते। वे उन्हें एकत्र कर अपने घर में या किसी अन्य सुविधाजनक स्थान पर कहानी, गीत, खेल इत्यादि सिखा सकती हैं।

अभावग्रस्त की सेवा

हम अपने चारों ओर ऐसी अनेक बहिनों को देखते हैं, जो या तो शारीरिक श्रम करती हैं या पूर्णरूपेण असहाय व अपंग होती हैं। ऐसे दृश्य देखकर हमारा हृदय करुणा व स्नेह की भावना से द्रवित होना चाहिए। उनकी सहायतार्थ हमें ऐसे प्रकल्प चलाने होंगे, जिनसे उन्हें उचित आजीविका-अर्जन हेतु रोजगार मिल सके। हमारा पावन कर्तव्य है कि हमारे पास-पड़ौस में ऐसी कोई माँ-बहिन दिखाई न दे, जो उपेक्षित होकर गलियों में पड़ी रहे।

महिलाओं में साक्षरता एक और महत्वपूर्ण अभियान है, जिसे हमारी शिक्षित माँ-बहिनें ही चला सकती हैं। परन्तु यहां भी साक्षरता से अधिक ध्यान संस्कारों पर देना होगा। एतदर्थ अपनी मातृभूमि के प्रति समर्पण-भाव, अपने धर्म के प्रति आस्था-

विश्वास और अपने इतिहास के प्रति अभियान जगाना आवश्यक है, पवित्र मातृभूमि के मानचित्र द्वारा अपने नदी, पर्वत, तीर्थ, मन्दिर दिखाकर उन्हें हिमालय से कन्याकुमारी पर्यन्त सम्पूर्ण भारत का दर्शन कराना चाहिए। भाषा, साहित्य कला और सामाजिक परम्पराओं के क्षेत्रों में भारत की सुसम्पन्न विविधता से भी उनका परिचय कराना चाहिए। इस प्रकार उन्हें राष्ट्र जीवन की सच्ची भावना से आत्मीयता पूर्ण ढंग से ओत-प्रोत कर देशभक्ति की प्रेरणा देनी चाहिए।

सावित्री की आत्मा का आह्वान

मुझे विश्वास है कि यदि माताएं समाजोत्थान का संकल्प कर लें, तो इस लोक या परलोक में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो उन्हें पराभूत कर सके। उनके सामने सावित्री का आदर्श विद्यमान है, जिसमें सम्मुख यमराज को भी अपनी पराजय स्वीकार करने पड़ी थी। ईश्वर करे, उनमें आदर्श के प्रति एकनिष्ठ भक्ति, शुद्ध चारित्र्य और अद्वितीय शौर्य-भाव उत्पन्न हो।

यदि हम एक बार ऐसा कर सके, तो यह निश्चित है कि दीर्घ कालरात्रि का अवसान होगा और केवल भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व तमस् से मुक्त होकर हमारे धर्म की अरुणिम छटा से दैदीप्यमान होगा और क्षितिज पर स्वर्णिम आभा के साथ नव-विहान का अरुणोदय होगा। हमारे धर्म के विषय में गांधीजी ने भी निम्नलिखित भविष्यवाणी की है- "हिन्दुत्व सत्य की अविश्रान्त अन्वेषणा है और यदि वह आज स्थिर, निष्क्रिय तथा विकास शून्य हो गया है, तो इसका कारण यह है कि हम थक गये हैं। परन्तु जैसे ही यह थकान दूर होगी, हिन्दुत्व अपनी इत:पूर्व अज्ञात आभा के विस्फोट से विश्व को पुनराच्छादित कर देगा।"

❑❑❑

३२

हम और हमारे विद्यार्थी

विद्यार्थियों को बाकी के समाज से पृथक् वर्ग मानना ठीक प्रतीत नहीं होता। सर्वसामान्य जनता के गुण-विशेष ही युवकों में प्रकट होते हैं। अपरिपक्व अवस्था, अनुभवहीनता तथा वयसुलभ भावावेश के प्राबल्य के फलस्वरूप इनके क्रियाकलाप अदम्य उद्रेक के रूप में प्रकट होते हैं। आज के युवकों पर सद्वर्तन के कोई भी संस्कार नहीं किए जाते। उन्हें जीवन में एक प्रकार की अस्थिरता एवं असुरक्षितता दिखाई देती है। परिणाम यह हुआ है कि वे हताश हो गए हैं। जिसके लिए वे अपनी शक्तियां लगाएं और यत्न करें, ऐसा न तो कोई ध्येय उनके सामने है और न जनता में तथाकथित नेताओं अथवा मार्गदर्शकों का कोई प्रेरणादायक आदर्श ही है। 'गृह' नाम की संस्था आज पूरी तरह ढह गई है। ये कुछ कारण हैं, जिनके फलस्वरूप क्षोभ, अशांति, उच्छृंखलता आदि बातें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं को हम युवकों, अर्थात् विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता कहते हैं।

समाज की तीन विभाग श्रेणियाँ

स्थूल रूप से हम अपने समाज की तीन श्रेणियां पाते हैं : (क) वे लोग जो पीढ़ियों से निर्धनता, अशिक्षा और निकृष्टतम बात, यानी सामाजिक विकलांगता से पिस गए हैं, इस श्रेणी में आते हैं। सौभाग्य से आज प्राथमिक स्तर तक सबको शिक्षा देने का भार शासन ने उठाया है। उसका लाभ इस श्रेणी के विद्यार्थियों को प्राप्त हो रहा है। इन विद्यार्थियों की सुप्त योग्यताएं जागृत हों और उनमें सद्गुणों का संचार हो, इसलिए स्नेह तथा मनोयोग के साथ इनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि शैशवावस्था में उनका विकास यथायोग्य नहीं हुआ हैं। इस प्रकार यह कहना होगा कि उनकी पाटी कोरी है, परंतु इस पर कुछ खरोचें अवश्य लगी हैं। वह स्वाभाविक भी है। जिनका पूर्व जीवन कष्टमय रहा है, जिन्हें ज्ञान के प्रकाश से वंचित रखा गया है, जिन्हें संपत्ति का आनंद कभी मिला ही नहीं, जिन्हें राष्ट्रोत्थान-कार्य में सहकार के रूप में कभी लिया ही नहीं गया, उनके हृदयों पर कुछ घाव रहें,

तो क्या आश्चर्य ? पर ये लोग भविष्य की आशा हैं। अत: इनका संवर्धन विशेष चिंता और निष्ठा के साथ किया जाना आवश्यक है।

(ख) दूसरी श्रेणी में सर्वसाधारण परिस्थिति में जीवन व्यतीत करने वाले लोग हैं। जनजीवन के विविध क्षेत्रों में उन्होंने सदैव रीढ़ की हड्डी जैसा काम किया है। उनमें अपने-आपको सुप्रतिष्ठित दिखाने की एक जन्मजात विचित्र इच्छा रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी आय से कहीं अधिक व्यय करते हैं। वर्तमान आर्थिक परिस्थिति ने उनके जीवन पर करारी चोट पहुंचाई है। अत: उनके जीवन से मानसिक शांति एवं पारिवारिक शांति दोनों बातें उठ गई हैं। उन्हें अपने लिए तथा अपनी संतानों के लिए भविष्य में निराशा दिखाई पड़ती है। यह परिस्थिति सब प्रकार की विकृतियां उत्पन्न कर सकती हैं। आज के हमारे विद्यार्थियों में अधिकांश युवक इसी श्रेणी के हैं। मूलत: उनकी मनोरचना अच्छी है, परंतु आशा न रहने के कारण, निराशामयी परिस्थिति में उनकी वृत्ति बिगड़ी है। निराशा के उन्माद में आज का वह युवक किसी भी अनुत्तरदायी कार्य की ओर आकृष्ट हो सकता है।

(ग) समृद्धि और सम्मान-दोनों का उपभोग जिन्हें प्राप्त हैं, ऐसे लोग तीसरी श्रेणी में आते हैं। उनके पास धन का आधिक्य है। उन्हें बड़े-बड़े पद प्राप्त हैं और तदनुषांगिक अधिकार भी प्राप्त हैं। इस संयोग से तो किसी का भी दिमाग बिगड़ सकता है, फिर यदि नवयुवकों का बिगड़ जाए तो क्या आश्चर्य? युवक अपरिपक्व तो रहते ही हैं। न उनके पास पर्याप्त ज्ञान रहता है और न गांठ में कुछ अनुभव। सारांश यह कि उनमें विवेक करने की शक्ति अति प्रारंभिक अवस्था में रहती है। यह परिस्थिति युवकों के नैतिक जीवन की धज्जियां उड़ा सकती हैं। एक संस्कृत श्लोक (हितोपदेश, कथामुख-११) में यह समुचित रूप से कहा गया है :

यौवनं धनसम्पत्ति: प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।

(यौवन, धन, संपत्ति, प्रभुत्व तथा अविवेक ये अकेले ही अनर्थ कर देने वाले हैं, फिर जहां ये चारों एक हो जाएं, वहां के अनर्थ का तो कहना ही क्या?)

विद्यार्थी अवस्था में सादगी व संयम-नियमपूर्वक रहने, मन को व्यसनों और दुर्गुणों की ओर जाने का अवसर न देने आदि की सतर्कता यदि हम रखते हैं, तो युवक अवांछनीय कार्यों एवं अवांछनीय व्यवहार से दूर रह सकते हैं।

अधिक महत्व के प्रश्न

अपने इस विशाल युवक समुदाय को महान समाज-रचना में योग्य एवं गुणवान नागरिक किस प्रकार बनाया जाए, यही आज की वास्तविक समस्या है। इस समस्या का हल केवल सतही विचार करने से अथवा ऊपर-ऊपर मरहम-पट्टी करने से नहीं निकलेगा। इन थोथी बातों का कोई भी ठोस परिणाम नहीं निकलेगा। उदाहरणार्थ-प्रस्तुत प्रश्न मालिका में शैक्षणिक संस्थाएं, शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात, उनका परस्पर संबंध, छात्रावास-व्यवस्था आदि विषयों पर प्रश्न पूछे गए हैं। ये सब बातें समस्या की जड़ तक नहीं पहुंचतीं। संस्थाएं कैसे चलाई जाती हैं, इसकी अपेक्षा ये प्रश्न अधिक महत्व के हैं कि शिक्षा का ध्येय एवं आशय क्या है, गुणवत्ता की दृष्टि से अध्यापकों का तथा वसतिगृह (हॉस्टल) प्रमुखों का स्तर क्या है? देश-भर में इन सबके आसपास कौन-सा वातावरण है? इनका विचार हमें दक्षतापूर्वक करना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा केवल सूचनात्मक है

हमारी वर्तमान शिक्षा केवल वृत्तात्मक (इन्फॉरमेटिव) है, संस्कारात्मक (फॉरमेटिव) नहीं। इसका जोर इसी पर है कि देश का युवक किसी प्रकार डिग्री प्राप्त कर ले। हमारे युवकों का व्यक्तित्व उभरे, इस ओर इसका ध्यान नहीं है। आज जीवन-स्तर सुधारने की बातें कही जाती हैं। इनका संबंध केवल जड़ वस्तुओं से है। आवश्यकताओं को बढ़ाना, मांगों को पूर्ण करना, निम्नस्तरीय दुष्ट वासनाओं की पूर्ति करते हुए मनुष्यांतर्गत पशु को पुष्ट करना ही इस जीवन-स्तर के सुधार का अर्थ है। मनुष्य का मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास करने में इसका कोई संबंध नहीं है। इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आज मनुष्य भले-बुरे तरीकों से पैसा जुटाने में लगा हुआ है। धन-प्राप्ति और उपभोग, यही मानो जीवन का लक्ष्य बन गया है। 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' संज्ञा का अर्थ नाचना, गाना और मनुष्य की निम्न भावनाओं को उत्तेजित करना ही माना जाता है। 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' का वास्तविक महत्व तो मनुष्य में बौद्धिक, भावनात्मक जगत् के उच्च गुणों का निर्माण कर, उन्हें विकसित करने में ही है। इसका महत्त्व मनुष्य में यथार्थ जीवन-मूल्यों को अनुप्राणित करने तथा भावनाओं व प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने में है। ये सब बातें आज पूर्णतः दुर्लक्षित हैं। वे या तो अनावश्यक मानी जाती हैं या अनुचित।

मनुष्य-निर्माण

इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज की शिक्षा-प्रणाली में आमूलाग्र परिवर्तन आवश्यक है। प्रत्येक विद्यार्थी को धर्म के आधारभूत तत्व अवश्यमेव पढ़ाए जाने चाहिए। उन्हें अपना विशुद्ध एवं सत्य इतिहास पढ़ाना चाहिए तथा अपनी राष्ट्रीय विरासत के भव्यतम पहलुओं को उनके सम्मुख रखना चाहिए। प्राथमिक यौगिक क्रियाओं के द्वारा उन्हें मन:संयम का शास्त्र अवश्य सिखाना चाहिए। शिक्षा का शेष भाग परिस्थिति, दैनिक जीवन के तथ्य, व्यक्तिमात्र की अभिरुचि आदि बातों पर निर्भर रहना चाहिए। वह जीवन की सब परीक्षाएं उत्तीर्ण कर सके और सब संकटों से जूझ सके, ऐसा पाथेय बिल्कुल प्रारंभ से ही हमें इसके लिए जुटाना चाहिए। किसी भी विषय के संबंध में क्यों न हो, कर्तव्य-भावना पर जोर रहना चाहिए। उत्कृष्ट कर्तव्यदक्षता सर्वोपरि महत्व की बात है। हो सकता है कि आजकल के स्वार्थपोषक वातावरण में वह अव्यवहार्य दिखाई दे।

ध्येयोन्मुख शिक्षा-प्रणाली

इसके लिए एक ही उपाय है। विद्यार्थियों की ग्रहणशील आयु में, उनके मन पर सतत संस्कारों से यह सत्य अंकित कर देना चाहिए कि कर्तव्य सर्वोपरि है और सब अधिकार, चाहे व्यक्ति के हों, चाहे समूह के, कर्तव्य-सापेक्ष हैं और कर्तव्य की तुलना में गौण हैं। विद्यार्थियों में समुचित कर्तव्य-भावना जागृत करने के लिए हमारी शिक्षा-प्रणाली ध्येयोन्मुख होनी चाहिए। 'ध्येय' शब्द को लेकर मार्ग-भिन्नता अपनाई जा सकती है तथा इसके परस्पर-विरोधी अर्थ भी लगाए जा सकते हैं। फिर भी कुछ व्यापक मूलभूत तत्वों के संबंध में सबका एकमत होगा, ऐसी मुझे आशा है। मनुष्य-प्राणी अंतिम परम सत्य के पथ का एक पथिक है। (इस अंतिम सत्य की कल्पना क्या है और इसे पाने के लिए वह कौन सा मार्ग अपनाता है, ये बातें प्रस्तुत संदर्भ में गौण हैं।) इस सत्य को नि:स्वार्थ व भक्तिपूर्ण सेवा से प्राप्त किया जा सकता है। मानवता की सेवा से ही हम सत्य की सेवा कर सकते हैं। मानवता की सेवा का प्रारंभ अपने समाज की सेवा से होना चाहिए। समान पूर्वज, विरासत, परंपरा व राष्ट्रीय अस्मिता से किसी भी समाज में एकरूपता निर्माण होती है जिसने हम सबका संगोपन किया है और जिसकी भक्ति के साधारण गुण ने हमें एक राष्ट्रपुरुष के अंगभूत रूप में सुबद्ध किया है, अपनी इस पवित्र मातृभूमि के विषय में हमारी मूलभूत कल्पनाएं हैं। यह हमारी आधारभूत दृष्टि है। यदि हम इस एक ध्येय के प्रति तीव्र त्याग-भावना का

दृढ़ आधार निर्माण करते हैं, तो संपूर्ण समाज की आकांक्षा, भावना और बुद्धि में सामंजस्य प्रस्थापित होगा। जब इस सामूहिक इच्छा-आकांक्षा के साथ सामुदायिक और नियंत्रित शारीरिक बल का संयोग होगा, तो वही बात निर्माण होगी, जिसे लोग 'अनुशासन' कहते हैं। सैनिक शिक्षा के द्वारा केवल शारीरिक स्तर पर कृति-सामंजस्य उत्पन्न हो सकता है, इस दृष्टि से जब तक उसकी ओर देखा जाता है, तब तक वह ठीक है और शिक्षा के लिए इस सीमा तक वह पूरक भी सिद्ध होता है। संस्कारक्षम शालेय जीवन से महाविद्यालय की शिक्षा पाने तक विद्यार्थियों को यथाक्रम उच्च सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए, अर्थात् यह शिक्षा सशस्त्र सैनिकों के स्तर जैसी ऊंची न हो। परंतु केवल सैनिक शिक्षा के भरोसे अनुशासन का वास्तविक भाव नहीं भरा जा सकता। वह तो सार्वजनिक महान ध्येय के प्रति भक्ति से निर्मित इच्छानुशासन अंकित करने के लिए किए गए विशेष प्रयत्नों से ही भरा जा सकता है।

योग्य वातावरण

शैक्षणिक संस्थाओं को तथा वसतिगृहों (छात्रावासों) को दी गई सब सुविधाएं इसी एक लक्ष्य हेतु कार्यान्वित होनी चाहिए। आज इन सुविधाओं का उपयोग केवल मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद के लिए किया जा रहा है। विद्यार्थी-जीवन में इनका भी एक स्थान अवश्य है, परंतु पूरे वातावरण में ज्ञान-लालसा का संचार होना चाहिए। ज्ञान के क्षेत्र में कुछ न कुछ विशेष मुझे करना है, देना है-ऐसी तीव्र इच्छा विद्यार्थियों के मन में सदैव रहनी चाहिए। अपनी ध्येय-सेवा में मुझे सुनिश्चित स्थान प्राप्त करना है, ऐसी आकांक्षा सबके मन में होनी चाहिए। इसके लिए व्याख्यान, परिसंवाद, वाद-विवाद, खेल-व्यायाम, चित्रादि, कलाप्रदर्शन, वन-विहार, पर्यटन, जीवनोपयोगी परिश्रम, प्रत्यक्ष जीवन के विविध व्यवसायों के लिए उपयोगी शारीरिक परिश्रम, दीन-दुखियों की सेवा की गतिविधियां निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त प्रारंभ की जा सकती हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक

इसके लिए शिक्षकों को तथा वसतिगृह-प्रमुखों को सतत मार्गदर्शन करना होगा। अत: शिक्षकों में विशेष पात्रता की आवश्यकता रहेगी। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि पढ़ाने के विषयों का उन्हें उत्तम ज्ञान होना चाहिए। फिर उनका चरित्र निष्कलंक चाहिए। विद्यार्थियों के साथ प्रेमपूर्ण तथा आत्मीयता का व्यवहार करने का उनका सहज स्वभाव होना चाहिए। यदि शिक्षकों के मन पर पैसा कमाने का भूत सवार हो

गया है, अपने परिवार के सदस्यों को दो रोटी मिलती रहे, इसके लिए यदि इधर-उधर के पूरक-उद्योग कर वे अपनी दृश्यमान सामाजिक प्रतिष्ठा किसी न किसी प्रकार संभालते हैं, उन्हें यदि बहुत सारा काम दे दिया गया है और विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या यदि उन्हें संभालनी पड़ती है, तब उन शिक्षकों का सुयोग्य स्तर रहने की अपेक्षा करना व्यर्थ है। हमें शिक्षकों की आर्थिक स्थिति सुधारनी चाहिए तथा उनकी कक्षा के विद्यार्थियों की संख्या भी सीमित करनी चाहिए।

हमारा यह अनुभव है कि एक व्यक्ति सोलह से लेकर चौबीस पाल्यों की देखभाल सहज रूप में और उत्कृष्ट रीति से कर सकता है। वांछित फल प्राप्त करने के लिए हमें प्रमाण प्रस्थापित करना होगा। वसतिगृह प्रमुखों के लिए भी यही बात सत्य है।

माता-पिता का कर्तव्य

यांत्रिक उद्योगों के विकास के साथ-साथ आज के जनजीवन में आर्थिक बोझ और खींचातानी बढ़ गई है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमारी प्राचीन 'गृह' संस्था ध्वस्त हो गई है। अपने पाल्यों की ओर ध्यान देने के लिए माता-पिताओं को तथा पालकों को बहुत कम समय मिलता है। उनसे अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती, परंतु यदि वे अपना गृह-जीवन प्रेम तथा शांति से परिपूर्ण बनाते हैं, यदि वे अपने धर्म का पालन करते हैं और स्वयं को सद्‌गुणों से युक्त बनाते हैं, यदि वे सद्‌गुणों से परिपूर्ण धार्मिक जीवन का अवलंबन करते हैं, यदि वे अपनी परंपरा से प्राप्त कुलधर्म-कुलाचारों को यथोचित प्रकार से करते हैं, संपूर्ण नहीं तो कम से कम उनका अत्यावश्यक भाग संपन्न करते हैं और अपने बच्चों को श्रद्धा, भक्ति एवं कर्तव्य-भावनापूर्वक इसमें सहभागी होने के लिए आह्वान करते हैं तथा उन्हें इन सब बातों का अभ्यास कराते हैं, तो युवकों में तद्‌वर्तन एवं अनुशासन संचारित करने के लिए उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ सकता है। अड़ोसी-पड़ोसी अथवा आसपास के अन्य व्यक्ति भी यदि अपने व्यक्तिगत व्यवहार का स्तर अच्छा रखते हैं, तो वे भी इस दिशा में सहायक हो सकते हैं।

बच्चों का सीखना अनुकरण से होता है। शिक्षक, वसतिगृह-प्रमुख, माता-पिता, पड़ोसी इन सबके जीवन का बच्चों के संस्कारक्षम मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः इन लोगों को यह बात समझनी चाहिए और तद्‌नुसार अपने जीवन को ढालना चाहिए।

विद्यार्थी-संगठन राजनीतिक दलों से मुक्त हों

देश के सर्वमान्य वायुमंडल का भी हमें इस संदर्भ में विचार करना होगा। आज का वातावरण जीवन के आर्थिक एवं राजनैतिक पहलुओं को अत्यधिक महत्व देने से कलुषित हो गया है। इन क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को समाज के नेता और आदर्श के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। कदाचित कुछ अपवादों को यदि हम छोड़ दें, तो इन लोगों का चरित्र और व्यवहार बड़ा अनुकरणीय रहता है, ऐसा कहना कठिन होगा। आए दिन इन लोगों द्वारा लोगों को उकसाना-भड़काना चलता रहता है। आंदोलन चलते रहते हैं। जनता की भावनाएं, जो बहुधा दुर्भावनाएं ही रहती हैं, उत्तेजित की जाती हैं। फिर जो नेता आदर्श के रूप में सामने आते हैं, उनकी नैतिक क्षमता कोई खास प्रशंसनीय नहीं रहा करती। आंदोलनों में भावनाओं को ही उभाड़ा जाता है। युवकों का मन कोमल तथा भावना-प्रधान रहता है। साथ-साथ इनमें बहुत अधिक उत्साह रहता है। ऐसी परिस्थिति में वे इन आंदोलनों से निर्लिप्त रहेंगे और उन पर इनका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ेगा, ऐसी अपेक्षा करना अस्वाभाविक होगा।

आंदोलनों के पुरस्कर्ताओं की तो यही इच्छा रहती है कि आंदोलनों में भाग लेने वालों की संख्या बढ़े और आंदोलन जोर पकड़े। फिर इस चंचलमना तरुणशक्ति को अपने काम में लाने का मोह उन्हें होता ही है। हम यह देखते हैं कि अधिकांश विद्यार्थी-संगठन किसी न किसी राजनैतिक पक्ष के या तो आश्रित हैं या उनके मार्गदर्शन में चलते हैं, क्योंकि इन संगठनों द्वारा राजनैतिक आंदोलनकर्ता की मुट्ठी में सदा के लिए एक आज्ञाकारी शक्ति बनी रहती है। यह वस्तुस्थिति अवश्यमेव बदलनी चाहिए। उच्च कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी राजनीति और राजनैतिक पक्षों का अभ्यास निष्पक्ष भाव से और शास्त्रीय दृष्टि से भले ही करें, परंतु उन्हें चाहिए कि विद्यार्थी-संगठन के कार्य में किसी राजनैतिक पक्ष को या नेता को वे हस्तक्षेप न करने दें।

देश के सर्वसामान्य राजनैतिक वायुमंडल में भी परिवर्तन आवश्यक है। हर समस्या के लिए आंदोलन करने की आदत हमें छोड़नी चाहिए। इसके स्थान पर आपसी चर्चा करने, परस्पर समझाने-बुझाने, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को ग्रहण करने, शांतिपूर्ण हल निकालने और इन सबके द्वारा कोई रचनात्मक कार्य करने का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इस संबंध में शासकों की रीति-नीति सबसे अधिक महत्व रखती है। शासक यदि अपने अतिरिक्त किसी दूसरे के मत को योग्य सम्मान

और मान्यता नहीं देते और इन पर संयुक्त विचार न करने की जिद पर अड़े रहते हैं, तो आंदोलन चलते ही रहेंगे और इनके साथ-साथ विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता भी इसी प्रमाण में नित्य बढ़ती ही रहेगी।

संगठित युवा-शक्ति को स्वस्थ कामों में लगाएं

अत: यह आवश्यक है कि विद्यार्थी-संगठनों का अन्य राजनैतिक या आंदोलनकारी पक्षों से पूर्ण विच्छेद कर देना चाहिए और उनकी शक्तियों को ज्ञान-संवर्धक, सेवाभावी, श्रम-प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले, बंधुभाव एवं सामूहिक जीवन निर्माण करने वाले स्वस्थ कार्यों में लगाना चाहिए। विद्यार्थी संगठन बंद कर देना, यह समस्या का कोई उपाय नहीं है। विद्यार्थी-संगठनों को बढ़ावा देना, विशेषत: महाविद्यालय के स्तर पर अत्यावश्यक है। शालेय अवस्था में विद्यार्थी बहुत अपरिक्व रहते हैं। न वे विद्यार्थी-संगठन का अर्थ समझ सकते हैं और न वे उनको चला ही सकते हैं। महाविद्यालय में संगठनों का कार्य एक और बात के लिए भी आवश्यक है। इन संगठनों के कार्य द्वारा तरुणों में विद्यमान अतिरिक्त शक्ति को समुचित दिशा प्राप्त होती है। उनके कार्य को किन लाभकारी मार्गों से ले जाना चाहिए, इसका निर्देश पाठ्यक्रमेतर (एक्स्ट्रा केरिकुलर) गतिविधियों के विषय में ऊपर की गई चर्चा में आ गया है।

पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका

समाचार-पत्र तो जनजीवन का प्रतिबिंब मात्र हैं। समाज की सब बुराइयां समाचार-पत्रों में शीघ्र ही प्रकट होती हैं। आज हम राजनीति तथा भौतिकवाद को बहुत महत्व देते हैं। इन बातों ने हमारी सब शक्तियों को ग्रस लिया है, अर्थात् इसी का बढ़ा-चढ़ा प्रतिबिंब हम समाचार-पत्रों में पाते हैं। हमारे समाचार-पत्र खलबली मचाने तथा पाप एवं अपराध-कथाओं की जुगाली करते रहने में गर्व का अनुभव करते हैं। इस वृत्ति में आमूलाग्र परिवर्तन आवश्यक है। राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं को तथा इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्तियों को अत्यधिक महत्व देने एवं उन्हें आदर्श पुरुषों के रूप में चित्रित करने की अपेक्षा यदि परमेश्वर तथा मानवता की सेवा करने वाले व्यक्तियों को अधिक महत्व देते हैं, तो पत्रकारों द्वारा देश की महान् सेवा होगी। इन ईश्वर-भक्तों के पास या मानवता के सेवकों के पास कदाचित चमक-दमक नहीं होगी, परंतु उनके जीवन निष्कलंक और शुद्ध रहते हैं। वे नि:स्वार्थ भाव से अथक क्रियाशील रहते हैं। उनका अनुकरण होना चाहिए। उनका अनुयायित्व बढ़ना चाहिए। मुझे ऐसा

लगता है कि मासिक और अन्य नियतकालिक पत्रिकाएं इस कार्य को भली-भांति कर सकेंगे। दैनिक समाचार-पत्रों के लिए यह संभव नहीं दिखता।

दृश्य-श्रव्य साधन

आज शिक्षा के क्षेत्र में दृश्य-श्रव्य साधनों का बड़ा बोलबाला है। वह ठीक भी है। पढ़ाने में और चरित्र-गठन में इन साधनों से बड़ी सहायता होती है, परंतु आज इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। समाचार-पत्रों में, दीवारों पर, घरों पर या जहां भी दृष्टि पड़े, विज्ञापन ही दिखाई देते हैं। रेडियो, ध्वनिवर्धक यंत्र तथा ट्रांजिस्टरों से भद्दे गाने कानों पर आघात करते रहते हैं। हमेशा कोलाहल मचा रहता है। आंखों तथा कानों को पग-पग पर क्रमशः उत्तेजक चित्रों एवं गीतों का सामना करना पड़ता है। युवकों का नैतिक मानस इन बातों से कितना कुरेदा जाता होगा, इसकी सहज कल्पना कर सकते हैं।

नीति-निरपेक्षता भयानक

प्रगति के नाम पर यह सब चल रहा है। न कोई रोकता है, न टोकता है। भौतिक, राजनैतिक एवं वैषयिक बातों को अत्यधिक महत्व देने की इस रुचि का परिणाम यह हुआ है कि सब प्रकार के नैतिक-सात्विक मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं। आज का नेतृत्व, इसका बनाया हुआ वातावरण और पाशवी क्षुधा की पूर्ति ही आधुनिकता, पुरोगामिता एवं प्रगति का सार-सर्वस्व है। इस प्रकार की मिथ्या धारणा ने समाज को, विशेषतः नवयुवकों को नीति-निरपेक्ष बनने हेतु प्रोत्साहित किया है।

नैतिकता निस्संदेह अच्छी है और अनैतिकता निस्संशय बुरी, किंतु बुरी होते हुए भी अनैतिकता में एक अच्छाई यह है कि अनीति के कारण नीति-मूल्य ध्यान में आते हैं, कम से कम इसका अनुभव होता है कि हम नीति से फिसल रहे हैं, परंतु नीति-निरपेक्षता निश्चित रूप से एक भयानक संकट है, क्योंकि इसमें नीति और अनीति दोनों के विषय में एक निर्मम उदासीनता बनी रहती है जो अनीतिमान या पापी है, वह कभी न कभी अपने जीवन का नया पृष्ठ पलट सकता है, परंतु नीति-निरपेक्ष व्यक्ति अच्छे-बुरे की समस्त अवधारणाओं को खूंटी पर टांग देता है। अतः इसके रोग का मानो उपाय ही नहीं हो सकता। ऐसे लोग समाज-सुधार की दृष्टि से अत्यंत भयानक हुआ करते हैं।

विचार करने की मौलिक दृष्टि

विचार करने की अपनी पद्धति हमें सुधारनी होगी। हमें जीवन के मूलभूत तत्व प्रस्थापित करने होंगे। व्यक्ति तथा राष्ट्र के जीवन को परिपूर्ण करने वाले मूल्यों को हमें स्वीकारना होगा। यही समय की मांग है। इसके अभाव में ही विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता के साथ, हमारे अन्य सामाजिक दोषों की जड़ें समाई हुई हैं। विद्यार्थियों की इस अनुशासनहीनता की समस्या को इसके व्यापक संबंधों से पृथक मानकर इसका उपाय करने के लिए दौड़ने से हमें किसी भी प्रकार का लाभ होने वाला नहीं है। इस सुधार को यदि हम तत्काल और गंभीरता के साथ हाथ में नहीं लेते हैं, तो अन्य सतही उपाय दिखावा मात्र रह जाएंगे, इनसे कोई भी परिणाम निकलने वाला नहीं है।

❑❑❑

चतुर्थ भाग

व्यक्ति निर्माण

३३

सफल कार्य पद्धति

(१) संगठनात्मक दृष्टिकोण

किसी आदर्श को प्रत्यक्ष साकार करने के लिए एक विशिष्ट कार्यपद्धति की, एक विशिष्ट प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। विभिन्न संगठनों द्वारा अंगीकृत विविध पद्धतियां आज चारों ओर दृष्टिगत होती है। अपने संघ की स्थापना के समय भी ये विभिन्न पद्धतियां प्रचलित थीं। यह बात नहीं थी कि संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने जब हमारे संगठन के लिए विशिष्ट पद्धति विकसित की, उस समय वे उन विभिन्न पद्धतियों से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत संघ कार्य को प्रारंभ करने के बहुत से ही वे इन विभिन्न संगठनों की गतिविधियों में अत्यंत सक्रिय रहे। वे इन पद्धतियों से पूर्णत: परिचित थे।

यहां प्रश्न उठता है कि तब उन्होंने एक भिन्न पद्धति के साथ एक पृथक संगठन क्यों प्रारंभ किया? क्या उन्होंने यह इसलिए किया कि वे एक स्वतंत्र संगठन के संस्थापक और नेता के रूप में अपने लिए प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा के इच्छुक थे? वस्तुत: इससे अधिक सत्य से दूर और कोई बात नहीं हो सकती। डाक्टर जी को अन्यान्य मंच पर्याप्त प्रशंसा दे चुके थे। यदि वे इस देश के सर्वोच्च राजनीतिक सम्मान को प्राप्त करना ही चाहते, तो अपने असीम त्याग, असाधारण कार्यशक्ति और प्रतिज्ञा की दीप्ति के कारण उनके लिए यह सब एक साधारण खेल मात्र था। परंतु उन्होंने इस बात का त्याग किया और एक शांत एवं अत्यंत सादा अप्रदर्शनप्रिय संगठन-कार्य प्रारंभ किया।

सही मार्ग की खोज

फिर वह कौन सा कारण है, जिसने उनको इस राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में एक नवीन कार्यपद्धति प्रारंभ करने के लिए प्रेरित किया ? बाल्यकाल से ही उनकी प्रवृत्ति जाज्वल्य देशभक्ति की होने के कारण वे स्वाभाविक रूप से उस समय के क्रांतिकारी

आंदोलनों की ओर आकृष्ट हुए। अत: क्रांतिकारी आंदोलनों में सक्रिय भाग लेने के उद्देश्य से ही डाक्टर जी ने अकथनीय पारिवारिक कठिनाइयां होते हुए भी कोलकाता को डाक्टरी के अध्ययन के लिए चुना, क्योंकि उन दिनों कोलकाता क्रांतिकारी आंदोलनों का उबलता हुआ ज्वालामुखी था। उस ज्वालामुखी के अंतर की संकटों से भरी आग्नेय धारा में वे अत्यंत गहराई तक प्रविष्ट हुए और रहे, किंतु उनकी विवेकी दृष्टि सदैव जागृत रही। यद्यपि उनका हृदय इन क्रांतिकारी साथियों के ज्वलंत हृदयों के साथ-साथ स्पंदित होता था, फिर भी पूर्ण राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए उनकी पद्धति डाक्टर जी को यशस्वी साधन प्रतीत नहीं हुई। क्रांतिकारी साथियों के गुप्त एवं विद्युत के समान तेजस्वी, परंतु क्षणिक प्रकाश करने वाले आंदोलन, उनके साहसिक पराक्रम तथा गौरवशाली बलिदान उनके ज्वलंत हृदय में उच्चतर श्रद्धा का जागरण करते थे, किंतु उनका शांत मस्तिष्क इस प्रकार की क्रांतिकारी उल्काओं के अचिर प्रकाश से चकाचौंध हो जाने से इनकार करता था।

वे जानते थे कि समाज के साथ सीधे संबंधों से वंचित ये मुट्ठी-भर भूमिगत कार्यकर्ता संपूर्ण राष्ट्र को जागृत एवं संगठित करने का कार्य एक अत्यंत सीमित मर्यादा तक ही निभा सकते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि इस रचना की उच्चतम पंक्ति में भी अपने दल के रहस्यों की सूचना देने वाले विश्वासघाती प्राय: उत्पन्न हो जाते थे, जिससे उनकी अधिकतर क्रांतिकारी योजनाएं बुरी तरह नष्ट हो जाया करती थीं और इस प्रकार कितने ही क्रांतिकारियों के भव्य पराक्रम एवं बलिदानों पर एक बार में ही पानी फिर जाता था। अंग्रेजों ने जिस प्रकार का सशक्त और सुगठित शासन हमारे देश में निर्माण किया था, उसे उड़ा देने के लिए अनुशासित, दृढ़ इच्छाशक्ति और राष्ट्रभक्ति से पूर्ण प्रशिक्षित लोगों के मुख्याधार के बिना किसी भी क्रांति के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती।

नागपुर लौटने पर वे कांग्रेस द्वारा संचालित स्वतंत्रता-आंदोलन में कूद पड़े। लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस तीव्र गति से एक जन-आंदोलन का रूप ले रही थी। आरामकुर्सी में बैठे-बैठे राजनीतिक कार्य चलाने वाले उदारमतवादी राजनीतिज्ञों का युग समाप्त होकर, अंग्रेजों के प्रति सामूहिक विरोध का एक नया युग प्रारंभ हो चुका था। वातावरण स्वराज्य की भावना से व्याप्त था। तिलकजी के पश्चात् गांधीजी ने इस अग्नि को दूर-दूर तक फैलाया तथा प्रत्येक नगर और ग्राम में विरोध की इस ज्वाला को प्रदीप्त किया। गांधीजी ने अपने निष्कलंक चरित्र, पूर्ण नि:स्वार्थ भावना, निर्भीकता और एक सरल एवं प्रभावी, किंतु सर्वसाधारण के हृदय को स्पर्श करने वाली पद्धति के

द्वारा देश को संघर्ष और त्याग की नवीन ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया। पं. नेहरू, जो उस समय अपने ज्वलंत आदर्शवाद एवं गतिमान व्यक्तित्व के साथ उदित हो रहे थे, उठती हुई पीढ़ी की स्वाभिमानी एवं स्वतंत्र भावना के एक प्रेरणादायी प्रतीक और अग्रणी थे। ऐसे प्रबल पुरुषों के प्रयत्नों से देश में अंग्रेज-विरोधी संघर्ष की एक लहर फैल गई। डाक्टर जी भी हर प्रकार के आघातों को सहते हुए अग्रिम पंक्ति में डटे हुए थे। उन्होंने विदेशी शासकों को ललकारा और कठोर कारावास का दंड भी होगा। साथ ही साथ उन्होंने इस आंदोलन का सूक्ष्म परीक्षण भी जारी रखा। उन्हें इसमें कुछ बड़ी त्रुटियां दिखाई दीं, जिससे उन्हें अत्यंत निराशा हुई और भय हुआ कि ये भयंकर दोष आगे चलकर इस आंदोलन की पोषित आकांक्षाओं को नष्ट कर देंगे।

उन्होंने देखा कि दोनों ही आंदोलनों में मुख्य प्रेरक-शक्ति अंग्रेज-विरोधी भावना है और उनमें राष्ट्रीय-स्वातंत्र्य की स्पष्ट तथा भावात्मक दृष्टि का अभाव है। यह केवल सर्वसाधारण जनता पर ही नहीं, अपितु अधिकतर सभी नेताओं पर घटित होता था। हमारे राष्ट्रजीवन की भावात्मक निष्ठा के अभाव में कुछ समय के अनंतर इन आंदोलनों का प्रतिक्रियात्मक दिशाओं में भटक जाना अनिवार्य था।

दूसरे वे आंदोलन इस प्रश्न का समाधान करने में असमर्थ थे, जो डाक्टर जी के मस्तिष्क में बाल्यावस्था से ही बराबर उठ रहा था। वह प्रश्न था कि किस प्रकार मुट्ठी भर विदेशी मुसलमानों अथवा अंग्रेजों ने हमें दास बना लिया और इतने दीर्घकाल तक हम पर राज्य करते रहे? अंग्रेजों को यहां से निकाल बाहर करने की बात तो ठीक थी, परंतु मुख्य प्रश्न था कि वह कौन-सी मूल व्याधि है, जिसका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ? स्पष्ट था, हमारी विघटित अवस्था ही हमारी दासता के लिए उत्तरदायी थी? क्या जन-आंदोलनों और क्रांतिकारी कार्य के झटकों द्वारा स्थायी एकता निर्माण करना संभव था? स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता तथा राष्ट्रीय चेतना के अभाव जैसी सभी दुष्ट प्रवृत्तियां, जो अनेक शताब्दियों से राष्ट्रीय जीवन को कमजोर करती रही हैं और जिनका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ था, क्या एक ही चोट में समाप्त हो सकती थीं?

यह विचारणीय प्रश्न है कि संगठित राष्ट्रजीवन के भावात्मक और राष्ट्रजीवन की धारणा करने वाले सद्गुणों में समाज के लोगों को दृढ़ किए बिना, केवल विरोधात्मक आधार पर जन-आवेश को उभारना क्या उचित होगा? शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'जूलियस सीजर' का उसके मित्रों द्वारा ही वध किए जाने के पश्चात् जब ब्रूटस तथा कैसिअस लोकप्रियता की भावनाओं के शिखर पर आरूढ़ थे, उस समय सीजरका एक मित्र एंटोनी अत्यंत चतुरता से भीड़ के कोप को मोड़ देकर जनरोश के तूफान को हत्यारों

के ही विरुद्ध कर देता है। जैसे ही उत्तेजित भीड़ उनका पीछा करती है, एंटोनी यह प्रसिद्ध वाक्य कहता है- 'दुष्टते ! तू चल पड़ी है। जो मार्ग तेरी इच्छा हो, ग्रहण कर!' स्मरणीय है कि इस वाक्य में 'तेरी इच्छा' ही कहा है, 'हमारी इच्छा' नहीं यही तो ऐसे सभी जन-आंदोलनों का विनाशकारी दोष रहता है, जहां भावात्मक राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों पर आधारित आंदोलन का नियंत्रण और मार्गदर्शन करने की क्षमता रखने वाले तदनुरूप देशव्यापी संगठन का अभाव होता है।

मानसिक क्रांति के लिए

इस दिशा में गंभीर चिंतन करने के पश्चात् डाक्टर जी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लोगों की मानसिक अवस्था में क्रांति ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। परकीय स्वामित्व सहित सभी बुराईयों एवं कमजोरियों को दूर करने का रामबाण उपाय बाह्य ढांचा बदलने की क्रांति नहीं, अपितु मानसिक क्रांति ही है। उन्हें यह भली प्रकार अवगत था कि संपूर्ण समाज की वृत्तियों, वैचारिक प्रक्रियाओं तथा आचरण में आमूल परिवर्तन लाने के लिए एक-एक व्यक्ति को लेना होगा तथा उसे संगठित राष्ट्रीय जीवन के अनुरूप ढालने के लिए अध्यवसाय के साथ प्रसिद्धि और प्रचार से दूर रहकर शांत एवं एकाग्रभाव से संस्कारित करना होगा।

राष्ट्र के पुनर्गठन का अर्थ उन विशेषताओं का पोषण करना है, जिनके द्वारा राष्ट्रीय चारित्र्य एवं राष्ट्रीय ऐक्य संपादित होता है। इसका लक्ष्य मातृभूमि के लिए सर्वस्व-समर्पण की तीव्र भावना, बंधुत्व-भाव, राष्ट्र-कार्य में अपना योग देने की भावना, राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सम्मान का उत्कट भाव, अनुशासन, पराक्रम, पौरुष और अन्य उदात्त सद्गुणों के प्रति गहरी श्रद्धा का भाव जागृत करना है। चरित्र-निर्माण और मन को ढालने का यह कार्य केवल शपथ लेने और उपदेश देने से संपन्न नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के प्रति समर्पण की यह भावना, वर्षानुवर्ष और दिन-प्रतिदिन स्थिर ज्योति के समान जलती रहे, इसलिए एक ऐसे वातावरण, जो इन गुणों के विकास में सहायक हो सके, में लोगों का नियमित और प्रतिदिन एकत्रित होना आवश्यक है। इस बात को मस्तिष्क में रखते हुए ही अंततः संघ के संस्थापक ने संगठन के वर्तमान ढांचे को विकसित किया।

प्रेरणादायक दृश्य

हमारी पद्धति की मुख्य बात, जो लोगों का ध्यान आकर्षित करती है, वह है हमारा दैनंदिन कार्यक्रम। एक खुले मैदान में भगवाध्वज की छत्रछाया में युवकों और

बालकों के समूह विभिन्न भारतीय खेलों के वातावरण में मग्न रहते हैं। वहां का वातावरण आनंदोल्लास की ध्वनि-प्रतिध्वनियों में निनादित रहता है। साहसी युवकों के 'कबड्डी', 'कबड्डी' कहते हुए पाले में आगे बढ़ने का वह दृश्य हृदय को पुलकित कर देता है। नेता की सीटी या आदेश की आवाज उन पर एक जादू-सा असर करती है, तुरंत ही वहां पूर्ण व्यवस्था और शांति स्थापित हो जाती है। इसके बाद दंड, सूर्य नमस्कार, संचलन आदि कार्यक्रम होते हैं। सामूहिक प्रयत्नों की भावना तथा स्वयंस्फूर्त अनुशासन प्रत्येक कार्यक्रम में व्याप्त रहता है। फिर वे बैठकर सामूहिक रूप से देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत सांघिक गीत गाते हैं। तत्पश्चात् चर्चा का कार्यक्रम होता है। राष्ट्रीय जीवन को प्रवाहित करने वाली समस्याओं पर वे गहराई से विचार-विमर्श करते हैं और अंत में ध्वज के सम्मुख पंक्तिबद्ध खड़े होकर प्रार्थना करते हैं-

'नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे ....।'

हे स्नेहमयी मातृभूमि तुझे बारंबार प्रणाम की गूंज वातावरण को प्रभावित करती हुई आत्मा को आंदोलित करती है। हृदय से उद्घोषित 'भारतमाता की जय' संपूर्ण कार्यक्रम को पूर्णता एवं प्रेरणा देती हुई समारोप करती है।

इस संपूर्ण विशाल भारतवर्ष में केवल नगरों और कस्बों में ही नहीं, अपितु दूर-दूर तक फैले हुए ग्रामों, पहाड़ियों तथा घाटियों में भी ये प्रेरक दृश्य और आत्मा को आंदोलित करनेवाले गीत सूर्योदय, सूर्यास्त अथवा रात्रि में प्रतिदिन नियमित रूप से हमें मिलते हैं। हम इसे 'शाखा' कहते हैं।

हमारे कार्य की वास्तविक भावना उस समय समझ में आएगी, जब कोई संघ-शाखा के संपर्क में आएगा। एक बार एक संभ्रांत नागरिक नागपुर में हमारे एक उत्सव की अध्यक्षता करने आए। उन्होंने स्पष्टत: स्वीकार किया- 'इतने वर्षों से मैं संघ के कार्य के प्रति काफी शंकालु था। मैं संघ के कार्यकर्ताओं से अनेक प्रश्न पूछा करता था, पर आज जब मैंने स्वयं संघ को देखा, मेरी सभी शंकाएं और संदेह दूर हो गए हैं।' प्राय: जहां भी शाखा है, वहां इसी प्रकार की कहानी सुनने को मिलेगी।

इस कारण स्पष्ट है। शाखा शाब्दिक शुष्क उपदेशों का पुलिंदा मात्र नहीं, अपितु सिद्धांतों का सजीव व्यवहार है। इस प्रकार की दैनिक साधना में लगे तरुण और वृद्ध सभी निष्ठावान और तत्पर मनुष्यों का यह दृश्य कार्य का एक ऐसा उत्कृष्ट, किंतु मौन संदेश देता है, जिसे कोई भी लिखकर अथवा व्याख्यान के रूप में कभी पर्याप्त मात्रा में व्यक्त नहीं कर सकता।

आयोजकों की प्रचुरता

संघ के शांत एवं अत्यंत व्यावहारिक पक्ष की ओर इसके द्वारा एकाग्रता के साथ राष्ट्रीय जीवन के सजीव अवयव के रूप में हृदयों को संस्कारित करने के वैशिष्ट्य की अपरिहार्य आवश्यकता उस समय स्पष्ट हो जाती है, जब हम बाहर समाज में व्याप्त वातावरण के साथ इसकी तुलना करते हैं।

एक बार मेरी भेंट एक वृद्ध सज्जन से हुई। उन्होंने कहा कि वे हमारे संगठन के संबंध में सब कुछ जानते हैं। उनका कहना तो यहां तक था कि संघ की यह रूपरेखा उन्होंने ही डाक्टर हेडगेवार को दी थी। उन्होंने मुझे कुछ लिखित टिप्पणियां दिखलाईं, जिनमें संगठन के लिए आवश्यक एक आदर्श कार्यपद्धति की रूपरेखा थी। मैंने उनसे पूछा- 'आपने अपना सारा कियाशील जीवन इसी नगरी में व्यतीत किया है, किंतु क्या आप मुझे यह बता सकते हैं कि हर परिस्थिति में आपका साथ देने वाले कितने मित्र यहां हैं ?' उन्होंने स्पष्टत: उपेक्षा के साथ उत्तर दिया- 'मेरी मित्रता के योग्य एक भी व्यक्ति यहां पर नहीं है। ये सब पापी दुष्ट हैं।' तब मैंने उनके साथ विनोद करते हुए कहा- 'क्या अंतिम दिन आपकी अर्थी ले जाने के लिए आपके पास स्वयं के चार आदमी नहीं होने चाहिए ?'

आज अपने देश में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे 'कुशल आयोजक', 'उपदेशक' और 'परामर्शदाता', उनकी विद्वतापूर्ण वार्ताएं एवं उपदेश प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। यह सर्वविदित है कि आकांक्षित ध्येय को प्राप्त करने के लिए एक व्यावहारिक पद्धति के साथ दृढ़ता एवं निरंतर लगाव से कार्य किए बिना लोग ऊंची बातें तो करेंगे, पर उनके कार्य गिरे हुए रहेंगे।

उपास्य प्रतिमा

अपने कार्य के व्यावहारिक स्वरूप पर पूरा बल देने के साथ ही अपने आदर्श को प्राप्त करने में यशस्वी-ऐसी कार्यपद्धति का तद्नुकूल ढांचा विकसित करने की दिशा में संघ ने गंभीर चिंतन किया। आदर्श कितना भी महान् क्यों न हो, तद्नुरूप पद्धति के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमारे विभिन्न संप्रदायों में भी प्रत्येक व्यक्ति का अपने संप्रदाय के अनुरूप एक निश्चित प्रतीक रहता है। वह स्वयं उस विशिष्ट पद्धति के अनुरूप परिधान और आभूषण धारण करता है, विशिष्ट मंत्रों का उच्चारण करता है तथा विशिष्ट अनुशासन-संहिता का अवलंबन करता है। शैव, शाक्त और वैष्णव सभी के उपासना के तरीके हैं, अपनी कर्मकांड-संपादन पद्धति है एवं उनके जीवन को विनियमित करने वाली विशिष्ट संहिता संहिता एवं परंपराएं हैं।

संगठित एवं अनुशासित राष्ट्रजीवन के आदर्श के अनुरूप हमने भी एक विशेष कार्यपद्धति, प्रतीक, मंत्र एवं आचार-संहिता विकसित की है। एक महान् और प्रेरणादायी प्रतीक के रूप में हमने चिरंतन भगवाध्वज को चुना है। यह हमारी आंखों के सम्मुख प्रांत, पंथ, जाति, भाषा, पद्धति आदि के बाह्य बंधनों से परे एक प्राचीन, पवित्र एवं एकात्म राष्ट्रजीवन की पूर्वकालीन विशुद्ध जीवंत प्रतिमा प्रस्तुत करता है। अनादिकाल से यह हमारे धर्म, संस्कृति, परंपराओं और आदर्शों का प्रतीक रहा है। यह यज्ञ की पवित्र अग्नि के रंग को, जो आदर्शवाद की अग्निशिखा में आत्मबलिदान करने का संदेश देती है तथा विश्व में सभी ओर अंधकार दूर कर प्रकाश फैलाने वाले उदयोन्मुख तेजस्वी सूर्य के नारंगी रंग को अपने में मूर्तिमान करता है। यह हमारे भौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रयत्नों का मार्गदर्शक ध्रुवतारा है और इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ का अचूक साक्षी है। इसने साम्राज्यों के उत्थान और पतन, योगियों की तपस्या और वीरों के बलिदानों को देखा है तथा युगों से इस विशाल भूमि के अगणित लक्ष-लक्ष लोगों के स्वप्नों का प्रतीक रहा है। संक्षेप में, यह हमारे राष्ट्रत्व का महानतम, उदात्ततम तथा एक सत्य प्रतीक रहा है।

एक ग्रंथ और व्यक्ति-विशेष के पूजक नहीं

संघ ने इस जीवंत प्रतीक को अपने मार्गदर्शक 'गुरु' के रूप में स्वीकार किया है। जब डाक्टर जी ने इस ध्वज को हमारे सामने गुरु के रूप में, हमारे आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया तो उनके कुछ सहकारियों ने इसकी ओर असम्मतिपूर्ण दृष्टि से देखा। स्वयं डाक्टर जी के रूप में जीते-जागते आदर्श को सामने देखने के कारण उन्होंने पूछा- 'डाक्टर जी को हम ही अपना आदर्श क्यों न मानें ?' परंतु संगठन की भावना के अनुरूप हमारे संस्थापक ने शाश्वत भगवाध्वज को ही हमारे आदर्श के रूप में रखा। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, राष्ट्र के लिए आदर्श नहीं बन सकता। राष्ट्रजीवन की अनंतता की तुलना में व्यक्ति का जीवन आखिर क्षणभंगुर ही है। महान से महान व्यक्ति भी राष्ट्र के शताब्दियों के जीवन के सौंदर्य एवं सौरभ के संपूर्ण विकास का एक अंशमात्र ही प्रतिबिंबित कर सकता है। साथ ही यह अपेक्षा भी निरर्थक है कि सभी लोग किसी एक ही व्यक्ति के प्रति समान श्रद्धा रखें, फिर वह कितना ही महान एवं सम्माननीय क्यों न हो। कितने ही लोग श्रीराम की अपने इष्ट देवता के रूप में उपासना करते हैं, तो अनेक लोग श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में पूजते हैं। ऐसा ही अन्य देवताओं के संबंध में भी है। इसी कारण संघ ने एक ऐसे सार्वभौम प्रतीक को अपने सामने रखा, जो अपनी प्रेरणा में सबको समाहित किए हुए है।

आदर्श एवं प्रेरणा के लिए व्यक्ति-विशेष पर निर्भर आंदोलन के दुर्भाग्यपूर्ण अंत की घटनाएं संसार के अनेक राष्ट्रों के इतिहास में बिखरी पड़ी हैं। व्यक्तिपूजा के अभिशाप एवं तानाशाहों के उदय ने मानवता के चेहरे को विकृत कर दिया। यह विकृति आदर्शों की अवहेलना करने तथा व्यक्ति-पूजा में लग जाने से पैदा हुई। हमारी संस्कृति का हमें सदैव आदेश रहा है कि किसी व्यक्ति को हम उतनी ही मात्रा में महान और श्रद्धेय समझें, जितनी मात्रा में वह आदर्श को अपने जीवन में प्रकट करता है। संपूर्ण विश्व में केवल हमारा ही धर्म केवल ऐसा है, जो किसी व्यक्ति-विशेष की ऐतिहासिकता अथवा 'व्यक्ति प्रामाण्य' पर आधारित नहीं है।

हमारी सांस्कृतिक परंपरा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रंथ को अपने धर्म और संस्कृति की एकमेव सवोच्च सत्ता नहीं माना। हमारे सभी धर्मग्रंथ मानव-जीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एवं मार्गों का स्पष्टीकरण मात्र है। संघ ने भी अपने विचारों को प्रकट करने के लिए किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है, न तैयार किया है। एक बार एक प्रमुख धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा- 'वह कौन-सी पुस्तक है, जिसका आप अनुसरण करते हैं।' मैंने उत्तर दिया- 'यदि हम अपने-आपको एक पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रखेंगे, तो हम किसी भी प्रकार इन मुस्लिम और ईसाइयों से अच्छे नहीं होंगे, जिनका धर्म केवल एक पुस्तक पर ही टिका है। इसलिए हमारी निष्ठा आदर्श के प्रति है, इससे कम के लिए अथवा अन्य किसी के लिए नहीं।'

इस उत्कृष्ट सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप संघ ने न तो किसी व्यक्ति-विशेष को और न ही किसी ग्रंथ-विशेष को, अपितु भगवाध्वज को परम सम्मान के अधिकार-स्थान पर अपने सामने रखा है। यह तेजस्वी प्रतीक हमारे राष्ट्रीय जीवन की महानता एवं श्रेष्ठता व्यक्त करता है एवं इस प्रकार संपूर्ण राष्ट्र के प्रति विशुद्ध भक्ति जागृत कराने का प्रयत्न करता है।

राष्ट्र-पुनर्गठन का केंद्र

इस ध्वज की पावन उपस्थिति में शाखा के दैनंदिन कार्यक्रम चलते हैं। हमारे समाज के सभी वर्गों के लोग वहां एकत्र होते हैं। भाषा, प्रांत, जाति, संप्रदाय, दल अथवा पंथ की बाह्य विभिन्नताएं भूलकर वे एक ही मातृभूमि के पुत्र के रूप में एकत्र होते हैं और इस पवित्र धूलि में खेलते हैं। वे अत्यंत भक्तिपूर्ण अंत:करण से मातृभूमि की प्रार्थना करते हैं। माता के गौरव के लिए वे अपने प्राणों को न्यौछावर करने का संकल्प करते हैं। एक साथ खेलते और गाते हुए एकता की भावना उन्हें एक सूत्र में

पिरोती है। जब वे साथ-साथ व्यायाम करते हैं तथा संचलन करते हैं, तब उनके हृदय एक साथ स्पंदित होने लगते हैं।

शाखा-स्थल के कार्यक्रम से भी अधिक महत्त्व वातावरण का है। वातावरण में माधुर्य एवं पवित्रता व्याप्त हो जाती है। अल्पकाल में ही एकत्र होने वाले व्यक्तियों के अनेक विभिन्नत्व एवं विविधता के मध्य एक स्वस्थ ऐक्य की भावना उदित होती है। सौहार्द्र एवं सामंजस्य की भावना उनके मानस में बद्धमूल हो जाती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा इस प्रकार के अन्य विभेदों को निमज्जत करने वाला तथा राष्ट्र की एकता का प्रेरणादायक स्वप्न उनके लिए एक जीवंत सत्य बन जाता है। इस प्रकार शाखा हमारे लोगों में राष्ट्रसेवा के लिए सर्वस्व-समर्पण के भावों को जाग्रत करती है और उनको परस्पर अमर बंधुत्व के भावों से बांधती है। यह विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य एवं स्थायी राष्ट्रीय ऐक्य की भावना के निर्माण का सृजनात्मक केंद्र है।

जन-जागृति का माध्यम

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय त्यौहारों को मनाने की परंपरा, जिसको संघ ने विकसित किया है, वास्तविक और संपूर्ण राष्ट्रजीवन के प्रति भाव जगाने की दृष्टि से एक प्रभावी माध्यम है।

वर्ष प्रतिपदा, अर्थात् भारतीयों के नववर्ष का प्रथम दिन। यह हमारे महान् युगप्रवर्तकों की स्मृतियों तथा उनकी अमर उपलब्धियों का स्मरण कराता है। यह एक सुखद संयोग है कि यह हमारे संघ-संस्थापक का भी जन्म-दिन है।

हिंदू साम्राज्य दिनोत्सव (ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी) आठ सौ वर्ष पुराने उत्पीड़नकारी मुस्लिम शासकों पर शिवाजी के पराक्रमी नेतृत्व में सन् १६७४ में हिंदुत्व की पुनरुत्थानशील शक्ति के विजय का सूचक, संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न राष्ट्रीय सिंहासन की स्थापना का दिन है। गुरुपूजा (आषाढ़ पूर्णिमा) एक परंपरागत दिन है, जब शिष्य अपने गुरु के प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता है। संघ ने इसे राष्ट्रीय स्वरूप दिया है। इसी दिन संघ के स्वयंसेवक अपने गुरु भगवाध्वज की पूजा करते हैं, जो हमारे धर्म और राष्ट्रत्व का प्रतीक है। रक्षाबंधन (श्रावण पूर्णिमा) इस बात का स्मरण कराता है कि हम सभी एक मातृभूमि के पुत्र हैं। हम इस दिन बंधुत्व के प्रतीक 'राखी' को परस्पर बांधते हैं। विजयादशमी (आश्विन शुक्ल दशमी) दुष्ट शक्तियों पर हमारे विजय की गौरवमयी परंपराओं का स्मरण कराती है। यह संघ का स्थापना-दिवस भी है। मकर-संक्रमण, जो प्रकृति के अंधकार से प्रकाश की ओर होने वाले

संक्रमण को सूचित करता है, हमारे लिए संदेश देता है कि हम स्वार्थ रूपी अंधकार से राष्ट्रीय चेतना रूपी प्रकाश की ओर संक्रमण करें।

इस प्रकार एक ओर जहां शाखा में नित्य-प्रति के प्रशिक्षण से राष्ट्रीय चेतना, चारित्र्य एवं एकता के सद्गुणों को व्यक्तियों में लाया जाता है, वहां दूसरी ओर राष्ट्रीय जागृति की ज्योति को विभिन्न राष्ट्रीय त्यौहारों के द्वारा सतत प्रज्ज्वलित रखा जाता है।

संस्थावाद का अभिशाप

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि संघ में अनन्य निष्ठा के भाव किसी व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति नहीं, वरन् संपूर्ण राष्ट्र के प्रति निविष्ट कराए जाते हैं। इस प्रकार की जीवनदायिनी भावना के अभाव में, किसी संस्था के केवल बाहरी रूप से लगाव या इसके प्रति गौरव-भाव राष्ट्रीय विघटन का एक और कारण बन जाएगा।

हमने अपने अतीत के इतिहास और वर्तमान समय में भी राष्ट्र के पुनर्संगठन के इस मूलभूत सिद्धांत को भुलाकर काफी हानि उठाई है। अतीत में अपने लोगों को जागृत और संगठित करने के लिए देश के अनेक भागों में कई प्रयत्न किए जा चुके हैं। इन आंदोलनों के महान् प्रवर्तकों ने संपूर्ण समाज को संगठित और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से ही आंदोलन प्रारंभ किए, किंतु जैसे ही परिस्थितियां बदलीं और इन आंदोलनों के अस्तित्व में आने के तात्कालिक कारण दूर हुए, वैसे ही इन भावों के प्रति जो प्रेम था, वह इसके बाहरी स्वरूप के लगाव में बदल गया। परिणामस्वरूप आज के स्वार्थ से भरे वातावरण में ऐसे शुष्क पंथों को विरोधी एवं अलगाव रखने वाले अनेक संप्रदायों में विकसित होते हुए हम देखते हैं।

मुसलमानों के भीषण आक्रमण और हत्याकांड के दिनों में पंजाब में एक महान् संत गुरु नानक का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लोगों में अपने प्राचीन धर्म के प्रति धूमिल होने वाली आस्थाओं के बुझते अंगारों को फिर से प्रज्ज्वलित किया। उनका अनुसरण नौ गुरुओं की उज्ज्वल और पवित्र परंपरा ने किया। वे धर्म के प्रति भक्ति और त्याग के ज्वलंत उदाहरण के रूप में जिए और मरे। दसवें गुरु गोविंदसिंह ने यह अनुभव किया कि पौरुषपूर्ण कार्यों के बिना केवल धार्मिक श्रद्धा का अभ्युदय अधार्मिक और क्रूर शक्तियों के सम्मुख किसी उपयोग का नहीं होगा। उन्होंने अपने अनुयायियों को अदम्य शौर्य की भावनाओं से भर, उनको पराक्रमी सैनिकों की विजयी सेना के रूप में संगठित किया। किंतु कैसी विडंबना है कि आज वह जीवन-लक्ष्य, जिसने इस गौरवपूर्ण आंदोलन को जन्म दिया था, भुला दिया गया और संस्था के बाहरी

स्वरूप के प्रति लगाव में इतनी कट्टरता आ गई है कि इससे पृथकतावादी विकृत भावनाओं को जन्म मिला, जो इसको अस्तित्व में लाने वाली मूल जीवनशक्ति पर ही कुठाराघात कर रही हैं।

वर्तमान समय का एक और उदाहरण लें। सन् १९४७ में जब अंग्रेजों ने कांग्रेस के हाथ में सत्ता हस्तांतरित की, तब गांधी जी ने कांग्रेसजनों को कांग्रेस भंग करने की सलाह दी। परंतु कांग्रेस की पुरानी साख एवं इसके प्रति सद्भावना का लाभ उठाकर स्वयं को सरकार के रूप में स्थायी बनाए रखने के लिए कांग्रेस के नेताओं ने गांधीजी की सलाह की अवज्ञा की तथा कांग्रेस के नाम और कीर्ति से चिपके रहकर कांग्रेस को बनाए रखा। इसी का यह परिणाम है कि आज कांग्रेसी लोग अपनी गद्दियों को बनाए रखने के लिए पतित से पतित कार्य करते समय अंत:करण में थोड़ी-सी भी चुभन अनुभव नहीं करते। जनता को अपने पक्ष में लाने और रखने के लिए वे जनता के स्वार्थों को उकसाते हैं तथा इन्हें अत्यंत निम्न और अनैतिक परितुष्टि द्वारा प्रलोभित करते हैं अथवा अपने विरोधियों को धमकाते हैं, यहां तक कि उन्हें मार भी डालते हैं।

हमारे स्वयं के अनुभव की घटना है। जब सन् १९४८ में संघ पर प्रतिबंध लगा और मुझे जेल में बंद किया गया था, उस समय एक दिन सुबह मैंने अपने कमरे में अनेक छपे हुए क्षमायाचना-पत्र देखे। ये उन स्वयंसेवकों के लिए तैयार किए गए थे, जो सत्याग्रह कर कारावास भोग रहे थे। कुछ देर बाद जब जेल सुपरिटेंडेंट मेरे पास आए, तो उन्होंने मुझसे कहा कि यह फार्म उन स्वयंसेवकों को वितरित किए गए हैं, जो क्षमायाचना कर बाहर जाना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा- 'यह एकदम स्पष्ट है कि हमारे लोगों में से कोई भी क्षमायाचना की बात स्वप्न में भी नहीं सोचेगा, क्योंकि वे सब अपनी स्वयं की इच्छा से इस कार्य के लिए यहां आए हैं, जो उन्हें अपने प्राणों से भी प्रिय है। पर इस सबसे अलग मैं एक बात पूछता हूँ कि आप यह बताइए कि इस निम्न स्तर के तरीकों को अपनाकर आप क्या प्राप्त करना चाहते हैं? जब किसी व्यक्ति को उसकी प्रतिज्ञा किसी कारण से तोड़ने के लिए बाध्य किया जाता है, तब क्या यह कार्य उसके शेष जीवन के लिए उसे अकर्मण्य और अनैतिक नहीं बनाएगा? क्या इस प्रकार का ध्वस्त चारित्र्य राष्ट्रीय जीवन के लिए लाभदायक होगा? अंग्रेजों द्वारा इस प्रकार क्षमायाचना करवाने के तरीकों को अपनाए जाने की बात कोई भी समझ सकता है, क्योंकि उनके लिए हमारे देश के युवकों के भावों को कुचलना विदेशी शासन यहां बनाए रखने के लिए आवश्यक था। किंतु आज हमारे नेता कहते

हैं कि यह स्वराज्य है, तब अपने ही लोगों की इच्छाशक्ति और मनोधैर्य को इस प्रकार तोड़कर उन्हें किस बात की उपलब्धि होती है?'

अहिंदू धारणाओं से बचाव

यही कारण है कि संघ ने समाज के अंदर एक पृथक् संगठन की बात कभी सोची ही नहीं। संघ ने अपने अस्तित्व में आने के समय से ही समाज के किसी वर्ग को एक अलग इकाई के रूप में संगठित करने का नहीं, अपितु संपूर्ण समाज को संस्कारित करने का लक्ष्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किया। यही कारण है कि संघ के कार्यकर्ता कभी भी लोगों के सामने अपने-आपको 'संघी गुट' के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। यद्यपि उनमें से हजारों अकाल, बाढ़, पाकिस्तान से आए शरणार्थियों का प्रवाह इत्यादि राष्ट्रीय दुर्घटनाओं के समय अपना सर्वस्व दांव पर लगाकर कार्य करते हैं। वे समाज में एक सामान्य नागरिक के रूप में रहना पसंद करते हैं और इस प्रकार वे उदाहरण उपस्थित करते हैं कि सामान्य मनुष्य को एक संगठित सजग सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार का सुगठित राष्ट्रप्रेमी और आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन की अनंत और अपारशक्ति से अपने राष्ट्र को सुदृढ़ बना सकता है।

समाज के अंदर ही एक शक्तिशाली वर्ग के निर्माण का विचार, जो कभी-कभी गैर-सरकारी सेना का रूप लेता है, स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्रीय विकास के मार्ग को भयानक आपदाओं से परिपूर्ण बनाता है। हमने जर्मनी, इटली, रूस, चीन इत्यादि देशों के राजनीतिक क्षितिज पर इस प्रकार के संगठनों को धूमकेतु के समान उदित होते हुए और उन देशों में सर्वाधिकार शासनतंत्रों को प्रस्थापित करते हुए प्रत्यक्ष देखा है। अधिनायकवादी संस्थाएं समाज पर अपने आधिपत्य को स्थिर बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं और नागरिकों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सभी दृष्टियों से दास बनाने के लिए स्वभावत: प्रवृत्त रहती हैं। चीन और सोवियत रूस जैसे देशों में आज भी होने वाले जनशुद्धिकरण मस्तिष्क-परिमार्जन (ब्रेन-वाशिंग) शिविर आदि के संबंध में रोंगटे खड़े कर देने वाले समाचार उन देशों के अंदर की स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में राष्ट्र के स्वतंत्र विचार के प्रकटीकरण का दमन हो जाता है। व्यक्ति विनष्ट हो जाता है और स्वातंत्र्य एवं व्यक्तिगत स्व-प्रेरणा से विरहित समाज अवनत होने लगता है।

पाशविक शक्ति द्वारा आधिपत्य बनाए रखने का यह विचार हमारी संस्कृति और परंपरा के लिए एकदम परकीय है। हमारा संपूर्ण अस्तित्व ही इन अहिंदू मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। अति प्राचीन समय से ही हमारे यहां अनेक मत और पंथ विकसित हुए हैं। हमारे यहां विविध प्रकार की राजनैतिक पद्धतियां विकसित हुईं। हमारे यहां गणतंत्रात्मक सरकारें भी थीं और वंशानुगत राजतंत्र भी थे। परंतु प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति इस बात के लिए स्वतंत्र थे कि वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने स्वस्थ धार्मिक विश्वासों का अनुसरण करें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, प्रकृति और रुचि के अनुसार अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इस भावना के अनुरूप समाज के जागरण और संगठन के लिए हिंदू धर्म-प्रचारकों का कार्य सदैव प्रेम, सेवा, चारित्र्य-निर्माण और त्याग के द्वारा हुआ, कभी भी पाशविक शक्ति और राजनीतिक बल के द्वारा नहीं।

संगठन के इसी तरीके के लचीले और आत्माभिव्यक्तिपूर्ण प्रतिमान ने समाज को अनेक अतुलनीय अत्याचारों और आक्रमणों के बावजूद अपनी एकता की भावना जीवित रखने में मदद दी। यदि हमारा प्रतिमान कठोर और ऊपर से थोपा हुआ होता, तो आज हमारा यह समाज उसी प्रकार एक शिलीभूत पदार्थ रह जाता, जिस प्रकार कुछ विशालकाय जानवर जड़वत होकर धीरे-धीरे संरक्षण के कवच के कठोर जानलेवा आवरण के भार से ही समाप्त हो गए। इसीलिए संघ ने विदेशी संगठनों के उन सब आत्मघातक प्रकारों से अपने को बचाया और समाज के पुन: संगठन के लिए शुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय परंपराओं का दृढ़ आधार लिया।

❑❑❑

३३

सफल कार्य पद्धति

२. यथार्थ दृष्टिकोण

अराजनीतिक संगठन

पूर्णरूपेण राष्ट्रीय पुनर्संगठन की कल्पना, जिसे साकार रूप प्रदान करने के लिए संघ प्रयत्नशील रहा है, में निहित अर्थ है इस कार्य का अराजनीतिक रूप। एक राजनीतिक दल लोगों के एक बहुत छोटे अंश का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि निर्वाचनों तथा राजनीतिक प्रचार से नहीं हो सकती। राजनीतिक पद्धतियों द्वारा, यहां तक कि राजनीतिक सत्ता द्वारा भी लोगों में निष्ठा, वीरत्व, चारित्र्य, सौहार्द तथा त्याग-भाव का जागरण कठिन ही है। वास्तव में राष्ट्रीय जीवन-रचना की सुग्रथित जड़ों के अभाव में राजनीतिक दल पारस्परिक विरोध को जन्म देते हैं तथा राष्ट्रीय रचना का विध्वंस कर डालते हैं।

ढांचे का प्रेम, भाव की उपेक्षा

सचमुच यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि राष्ट्रीय अस्तित्व की एकता के प्रति जीवित जागृत निष्ठा तथा राष्ट्रीय हितों के प्रति सर्वाधिक चेतना के अभाव में अधिकांश राजनीतिक दल विघटनकारी शक्तियों एवं विलगाववादी मनोवृत्तियों के जनन-केंद्र मात्र ही बन गए हैं। संकीर्ण दलगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश के जाने-माने राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों अथवा कभी-कभी विदेशी शत्रु-राज्यों के साथ प्राय: गठबंधन करते हुए हम उन्हें पाते हैं।

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि क्या स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना से काम करने वाले दो दलों का होना वांछनीय नहीं है, जिससे कि इनमें से प्रत्येक दूसरे के लिए शोधक के रूप में काम कर सके तथा इस विधि से हम राष्ट्र-शरीर को किसी एक व्यक्ति अथवा दल की तानाशाही के विष से मुक्त रख सकें? प्रजातांत्रिक संस्था में निस्संदेह रूप से यह सुरक्षात्मक वैशिष्ट्य होता है, परंतु इसका भी क्रियान्वयन उसी

समय संभव है, जब लोगों में 'दल के परे राष्ट्र' का भाव सुदृढ़ रूप से विद्यमान हो। इन पाश्चात्य देशों में भी, जहां लोग गत कई शताब्दियों से इस विशिष्ट परंपरा में सराबोर हो चुके हैं, पारस्परिक विरोध एवं ईर्ष्या से दल पूर्णत: मुक्त नहीं हैं। फिर भी वे राजनीतिक खींचातानी को सदैव एक सीमा में नियंत्रित तथा राष्ट्रीय हित साधना के महान आह्वान के अधीन रखते हैं। उनके लिए ऐसी संस्थाएं जीवन के लिए हितकारक हैं तथा शक्ति प्रदान करती हैं। यदि एक स्वस्थ एवं शक्तिसंपन्न व्यक्ति बहुत अच्छी मलमल की कमीज पहन ले, तो वह उसे बड़ी अच्छी लगेगी। परंतु यदि एक ऐसा व्यक्ति जिसके हाथ पैर दुबले पतले हैं, जिसका सीना अंदर की ओर धंसा हुआ है, जो सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता, उसको पहनकर इधर-उधर घूमने का प्रयत्न करता है, तो वह स्वयं को दूसरों के लिए विनोद की वस्तु बना लेता है।

अनुकरणीय

उदाहरण के लिए अपने देश की परिस्थितियों की तुलना इंग्लैंड की परिस्थितियों से करिए। कुछ वर्ष पूर्व जब पंडित नेहरू अमरीका जाते हुए लंदन में रुके थे, तब लंदन में रहने वाले अपने ही कुछ स्वदेश-बंधु केवल इसी हेतु हवाई अड्डे पर काले झंडों का प्रदर्शन करने गए थे, क्योंकि वे दूसरे दल के व्यक्ति थे। वे विस्मरण कर बैठे कि विदेश में अपने प्रधानमंत्री के विरुद्ध किया गया कार्य अपने राष्ट्र का अपमान था।

अब इंग्लैंड का उदाहरण लें। जब ब्रिटेन के तत्कालीन विरोधी दल के नेता विंस्टन चर्चिल अमरीका का प्रवास कर रहे थे, तब कुछ लोगों ने ब्रिटेन में सत्तारूढ़ लेबर पार्टी की सरकार के प्रति उनके दृष्टिकोण के संबंध में कुछ प्रश्न पूछे थे। चर्चिल महोदय ने रुखेपन से उत्तर दिया था- 'बाहर हम सब एक हैं, घर में हमारे चाहे जितने भी मतभेद क्यों न हों।' दोनों महायुद्धों के समय भी वहां के लोगों ने भयंकर दु:ख और कष्ट सहन किए, किंतु वहां के किसी राजनीतिक दल ने उक्त परिस्थिति से किसी दलगत स्वार्थ की पूर्ति करने का प्रयास नहीं किया। इस देश में निर्वाचन के समय कम्युनिस्टों द्वारा अपनी जमानतें बचाने के बारंबार विफल प्रयत्न भी उनके राष्ट्रभाव की गहरी जड़ों का ही परिचय देते हैं।

भयानक विपरीतता

विभिन्न देशों की उन संस्थाओं की अंतरंग कार्यशक्ति की ओर ध्यान न देकर, केवल उनकी बाह्य व्यवस्था के सतही दृश्य का अवलोकन करने के कारण ही कुछ लोग हमसे पूछते हैं- 'आपकी भांति विशेष प्रयत्न न करते हुए भी इंग्लैंड जैसे

देश संकटों और कठिनाइयों पर विजय जाते हैं तथा प्रगति कर रहे हैं। वहां पर लोग अपने सामान्य दैनंदिन जीवन में व्यस्त हैं। राजनीतिक दल देश का कार्य सफलतापूर्वक चला रहे हैं। फिर आपके जैसे स्वतंत्र संगठन की और जैसा आप कर रहे हैं, इस दैनंदिन प्रशिक्षण की क्या आवश्यकता है?'

परंतु वहां प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात देशभक्त है। वहां किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय 'वह देशभक्त है' ऐसा कहने की आवश्यकता इस तरह नही पड़ती, जिस प्रकार किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय 'मनुष्य' शब्द उसके साथ जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। वह एक मनुष्य है, यह पहले से ही स्वीकृत है, परंतु अपने देश में हम कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए 'देशभक्त' शब्द का प्रयोग प्राय: सुनते हैं। इंग्लैंड में उसकी प्रत्येक संस्था में, चाहे एक स्कूल हो अथवा कॉलेज, साहित्यिक क्लब हो अथवा युवक संघ, सामाजिक संस्था हो अथवा सांस्कृतिक, यहां तक कि घर पर भी बालक जो प्रथम पाठ सीखता है, वह है– 'हे इंग्लैंड ! तेरे तमाम दोषों के पश्चात् भी मैं तुझसे प्रेम करता हूँ' और यहां हमारे महान नेतागण गौरवशाली हिमालय को एक ऐसा स्थान कहकर पुकारते हैं, जहां उनके शब्दों के अनुसार 'घास का तिनका तक पैदा नहीं होता।'

पुन: देशभक्ति की इस प्रेरणादायी परंपरा को देखिए, जिसका निर्माण इंग्लैंड ने शताब्दियों से किया है। गत कई शताब्दियों के संपूर्ण काल में उनमें कठिनाई से ही कोई देशद्रोही मिलेगा। द्वितीय महायुद्ध में विश्वासघात का केवल एक ही उल्लेखनीय उदाहरण था। तत्कालीन भारत सचिव लॉर्ड ऐमरी के पुत्र ने जर्मन लोगों के लिए काम किया था। युद्ध के पश्चात् उस पर मुकदमा चलाया गया तथा उसे मृत्युदंड दिया गया। दंड कम करवाने के लिए उसके पिता ने अपने उच्च पद के प्रभाव को उपयोग में लाने का विचार तक नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने दया–याचिका प्रस्तुत करना तक अमान्य कर दिया। मृत्युदंड के दिन उन्होंने उससे यह कहकर मिलना तक अस्वीकार कर दिया कि ऐसे व्यक्ति की शक्ल देखना भी पाप है, जो उनके परिवार की देशभक्ति की गौरवशाली परंपरा पर एक कलंक था। यहां दाहिर तथा पृथ्वीराज के काल से लेकर अंग्रेजों के शासन–काल तक देशद्रोहियों की एक पूर्ण जाति की जाति ने ही जन्म लिया है। और वही आज तक अबाधित गति से हो रहा है। आजकल अपने देश में उच्च पदों की प्राप्ति के लिए विश्वासघात करना मानो एक पात्रता ही बन गया है। जिस व्यक्ति ने, जबकि वह एक राजदूत था, भारत आने वाले शस्त्रों से भरे हुए जहाज को चालाकी से पाकिस्तान के लिए मुड़वा देने की चाल चली थी, उसे बाद में राज्य का राज्यपाल बना दिया गया।

इंग्लैंड में राजनीति उनके लिए एक स्वस्थ खेल है। जब लेकर पार्टी के हाथ में सत्ता थी, तो उसने अमरीका व चीन में अपने राजदूतों के स्थान पर क्रमश: विरोधी दल के नेता व उपनेता को नियुक्त किया। क्या अपने देश में सत्ताधारी दल द्वारा ऐसी स्वस्थ परंपरा की कल्पना भी की जा सकती है? यहां सत्ताधारी दल के तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी तक के लोग अन्य दलों के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्तियों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। परिणामस्वरूप संपूर्ण प्रशासन पर सत्ताधारी दल का एकाधिकार है। वे इतने पर ही रुके नहीं। अपने दलगत स्वार्थों के साधन हेतु राज्य के साधनों का स्वतंत्रतापूर्वक लाभ उठाया जाता है। विरोधी दलों द्वारा आयोजित आंदोलन एवं प्रदर्शनों को क्रूर राजकीय साधनों से कुचलने की बात सोची जाती है।

नवीन अस्पृश्यता

नए प्रकार की अछूत भावना भी एक नूतन निर्मिति नहीं है। यह विकृति सन् १९३७ से ही आनी प्रारंभ हो गई थी, जब कांग्रेस ने राजसत्ता का स्वाद चखना प्रारंभ कर दिया था। हमें अपने स्वत: के अनुभव से ज्ञात है कि प्रारंभिक अवस्था में कांग्रेस के नेतागण संघकार्य से स्वतंत्रतापूर्वक संबंध रखा करते थे। हमारे संघ के जन्मदाता ने संघ की स्थापना के पश्चात् भी कांग्रेस के आंदोलनों में भाग लिया था। परंतु सन् १९३७ में कुछ प्रदेशों में सरकार बनाने के पश्चात् कांग्रेस ने स्वयं को एक राजनीतिक खोल में बंद कर लिया तथा अपने सदस्यों के संघ-गतिविधियों में भाग लेने पर प्रतिबंध लगा दिया। इस तरह राजनीतिक जीवन में 'राजनीतिक अस्पृश्यता' का एक नवीन विष उत्पन्न कर दिया।

सन् १९३७ में एक बार कांग्रेसी शासन वाले प्रदेश में एक राजनीतिक आंदोलन को कुचलने के लिए गोली चलाने का आदेश दिया गया था। एक व्यक्ति ने कांग्रेस-अध्यक्ष को लिखा कि अहिंसा के लिए वचनबद्ध कांग्रेस द्वारा बनाई गई सरकार गोली का मार्ग कैसे अपना सकती है? कांग्रेस अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू ने उत्तर दिया- 'अहिंसा की हमारी नीति केवल अंग्रेजों के विरुद्ध लागू होती है, स्वजनों के लिए नहीं।' उन सज्जन ने इस पत्र-व्यवहार को समाचार पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

मूलगत उपचार

हमारी राष्ट्रशक्ति का ह्रास करने वाले राष्ट्रीय विघटन के कीटाणुओं के रहते हुए यह कल्पना ही गलत है कि अन्य देशों की राजनीतिक तथा अन्य संस्थाओं की नकल करने मात्र से ही हमारी समस्याएं हल हो जाएंगी तथा सर्वांगीण राष्ट्रीय कायाकल्प

हो जाएगा। हमारी व्याधि अधिक गहराई तक व्याप्त है, इसलिए इसके मूलभूत उपचार की आवश्यकता है। इस मूलभूत रोग का समूलोच्चाटन करने हेतु ही संघ ने दैनंदिन प्रशिक्षण, त्याग, अनुशासन व राष्ट्रभक्ति जैसे गुणों को दिन-प्रतिदिन निविष्ट करने की पद्धति का विकास किया है, जिससे एक संगठित व उत्थानशील राष्ट्रीय जीवन की निर्मिति होती है।

अत: हम कहते हैं कि हमें प्रतिदिन नियमित रूप से शाखा में एक साथ आना चाहिए। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि एक विशिष्ट विचार एक निश्चित समय पर नियमित रूप से दोहराया जाता है, तो वह हमारे व्यक्तित्व की गहराई में प्रवेश कर हमारे चरित्र का अभिन्न अंग बन जाता है। अत: नियमितता एवं समय-पालन पर संघ में अथक बल दिया जाता है।

इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए एक छोटी-सी कहानी है। एक धनी व्यक्ति अपराह्न में अपने सुंदर उद्यान में ठंडी छाया में बैठने आया करता था। एक दिन एक मोर आ गया तथा अपने मनमोहक पंख फैलाकर पेड़ पर बैठ गया। स्वामी ने सोचा- 'यदि इस समय यह प्रतिदिन आया करे तो कितना अच्छा रहेगा।' उसने अफीम के एक अंश को मिलाकर कुछ खाद्य-पदार्थ बनवाया तथा उसे मोर के सामने डाल दिया। मोर ने उसे खा लिया। वह बहुत उल्लसित हुआ। दूसरे दिन उस सुख के भाव का स्मरण कर वह पुन: आया। उस धनी व्यक्ति ने अफीम की दूसरी खुराक उसको दे दी। अंततोगत्वा उस पक्षी को उसका अभ्यास पड़ गया कि वह बिना उस अफीम के भी उक्त समय पर आया करता था।

यह मन का स्वभाव है। विचार, वाणी एवं कृति में पुन:-पुन: एक विचार को दोहराने से आदत बनती है। इसमें नियमितता का बड़ा महत्त्व है। अनियमितता अच्छे चरित्र की निर्मिति को नष्ट कर देती है। अनेक व्यक्ति है जो कठोर परिश्रम कर रहे हैं, जैसे- निहाई पर जुटे लुहार, पेड़ों को काटने वाले अथवा पत्थर तोड़ने वाले मजदूर, परंतु उनमें से कोई सैंडो नहीं बन जाता, यद्यपि वे अथक शारीरिक परिश्रम कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनका परिश्रम अनियमित एवं अव्यवस्थित है। परंतु एक व्यक्ति जो कम थकान का, परंतु नियमित व्यायाम करता है, अपना स्वास्थ्य बनाकर खिलाड़ी बन सकता है। प्रसिद्ध जर्मन सेनापति हिंडेनबर्ग, जिसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी का राष्ट्रपति बनाया गया था, अस्सी वर्ष की आयु में भी शक्तिशाली और चपल था। उसकी आश्चर्यकारी कार्यशक्ति के विषय में पूछे जाने पर उसने कहा कि वह नियमित रूप से प्रतिदिन एक घंटा लकड़ी काटा करता था। उसने उस आयु तक इस आदत को जारी रखा था।

क्षणिक आवेग का परिणाम

इसमें कोई संशय नहीं कि कोई प्रेरणादायी विचार सुनने तथा किसी विशिष्ट वस्तु का परिपालन करने का पक्का निर्णय लेने से हमारे अंदर उल्लासपूर्ण भावों का जागरण होता है, परंतु वह भावना तथा निर्णय कितनी देर तक टिकता है? क्या यह अपना सामान्य अनुभव नहीं है कि हम अपने नवयुवकों को किसी पवित्र दिवस पर दैनंदिन लिखने अथवा व्यायाम करने तथा इसी प्रकार की अन्य बातों का संकल्प कर दूसरे ही दिन उन्हें भूल जाते हुए देखते हैं?

हम प्राय: ऐसे लोगों के संबंध में आते हैं, जो उमंग आने पर कार्य करते हैं। कुछ अवसरों पर हम लोगों की भावनाओं और संवेगों की बहुलता भी देखते हैं, परंतु लोगों के मन पर अमिट संस्कार डालने के लिए ऐसे अस्थायी उफान सहायक सिद्ध न होंगे। आजकल लोग कहते हैं कि देश में धार्मिक जागरण की एक लहर आई हुई है। ध्वनिवर्द्धक यंत्रों द्वारा धर्मोपदेश प्रसारित किए जाते हैं। प्रतिवर्ष गंगा में एक डुबकी लेने के लिए लाखों लोग इकट्ठे होते हैं। पुराण, हरि-कथा प्रवचन सुनने, रामनवमी, सत्यनारायण पूजा तथा गणेशोत्सव आदि के लिए विशाल संख्या में लोग जमा होते हैं। परंतु क्या इन कार्यक्रमों का इच्छित परिणाम निकल रहा है? क्या वे आज के आत्मकेंद्रित जीवन को समाप्त करने तथा चारित्र्य, सेवा एवं त्याग के पवित्र उपदेशों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के पवित्र संकल्प को लोगों के मन में जगा पाए हैं?

श्री रामकृष्ण परमहंस गंगा-स्नान के लिए जाने वाले लोगों के विषय में विनोद से कहा करते थे- 'जैसे ही ये गंगा के तट के निकट पहुंचते हैं, इनके पाप इनके शरीर से उड़कर दूर के पेड़ों पर जाकर बैठ जाते हैं, परंतु स्नान करने के पश्चात् जैसे ही वे वापस आते हैं, इनके पाप इनके ऊपर झपट पड़ते हैं।' निष्कर्ष यही निकलता है कि मनुष्य का चारित्र्य संवेग के क्षणिक उफानों से नहीं बदला जा सकता। लाखों लोगों में एक ही ऐसा होता है, जिसमें क्षणिक भावोद्रेक को चरित्र का अभिन्न अंग बना लेने की बौद्धिक क्षमता हो। यही कारण है कि मानसिक अनुशासन के विषय में अपनी अधिकृत विभूतियों ने हमें भावावेश के वशीभूत न होने तथा भगवान के नाम पर आंसू न बहाकर दैनंदिन तपस्या करने के अनुशासन को स्वयं पर लागू करने का विधान दिया है। संवेगों का बिखरना नाड़ियों को ध्वस्त कर देगा तथा इसे पहले से भी दुर्बल बनाकर नैतिक दृष्टि से समाप्तप्राय कर देगा। यह मदिरा के उस व्यसनी की भांति है, जो मदिरा का प्रभाव समाप्त हो जाने पर अशक्त होकर गिर पड़ता है।

एक बार एक वयोवृद्ध सज्जन ने हमारी एक बैठक के उपरांत अत्यधिक उत्साहित होकर अपने परिवार के लोगों से कहा कि अब उनके तथा उनके परिवार के

संबंध-विच्छेद हो गए हैं। इसके आगे वे संघकार्य हेतु स्वयं को समर्पित कर देंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जोश ठंडा हो जाने के पश्चात् 'सर्वस्व त्याग के व्रत' का रंचमात्र भी स्मरण न रखते हुए वे पुनरपि अपने आत्मकेंद्रित जीवन में लीन हो गए।

काल-मान्य पद्धति

फिर वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा स्थायी संस्कारों को अंकित किया जाए? मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि किसी आदर्श के अनुसार व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम, जिस आदर्श का संस्कार करना है उसका सतत ध्यान; दूसरे, उसी आदर्श के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का सतत साहचर्य; और अंतिम, शरीर को ऐसी गतिविधियों में लगाए रखना जो उस आदर्श के अनुकूल हों। किंतु सभी सामान्य लोगों के लिए, जिन्हें दिन के अधिकतर समय को अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक कार्यों में लगाना पड़ता है, जैसे-धनोपार्जन, बच्चों का पालन-पोषण आदि, यह दिन के २४ घंटे वाला नियम अव्यावहारिक है। सर्वस्व-त्यागी योगी भी पूर्ण समाधि की स्थिति में तीन दिन से अधिक नहीं रह सकता, इसके पश्चात् उसका शरीरपात हो जाएगा।

अतएव हमारे महान् समाज निर्माताओं ने सामान्य मनुष्य के लिए एक ऐसी पद्धति बनाई, जिसमें इन संस्कारों के सिद्धांतों का सार समाविष्ट था। वह पद्धति यह है कि दिन की एक निश्चित कालावधि, प्रातः, सायं अथवा रात्रि में अलग निकाल ली जाए तथा अपने शरीर, मन एवं बुद्धि की सभी शक्तियां और क्रियाएं, इस चुने हुए आदर्श पर नियत समय पर नियमित रूप से यथासमय केंद्रित की जाएं तथा दिन का कम से कम कुछ समय समान निष्ठा वाले लोगों के साथ व्यतीत किया जाए।

संघ ने भी अपनी शाखा द्वारा संस्कार देने की वर्तमान पद्धति को इसी कालमान्य प्रतिमान के आधार पर विकसित किया है। राष्ट्रीय पुनर्गठन के आदर्श के अनुरूप 'राष्ट्रदेवो भव' की भावना से स्फूर्त दैनिक संस्कारों की प्रक्रिया शाखा में चलाई जाती है। इसमें इसी भावना से ओतप्रोत सभी छोटी-छोटी दिखने वाली हर तरह की चीजें जैसे-खेल, लाठी चलाने का शिक्षण, गीत, प्रचलन आदि कार्यक्रम एक संगठित एवं सशक्त राष्ट्रजीवन के लिए गहरे संस्कारों को प्रदान करने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

एक योजनाबद्ध रूप में छोटी-छोटी चीजों का एकत्र किया जाना ही सदैव एक बड़ी चीज का निर्माण कर देता है। 'पैसे को सुरक्षित रखो, रुपया स्वयं सुरक्षित हो

जाएगा' - यह कहावत महान चरित्रों के निर्माण में अक्षरश: सत्य उतरती है। महान् चरित्र बनी-बनाई वस्तुओं के समान कहीं से एक दिन में ही नहीं आ जाते। उनका निर्माण शांतिपूर्वक सतत कार्यशीलता से होता है। महानता एवं श्रेष्ठता की उपलब्धि क्रमबद्ध इंच-इंच करके आती है तथा एक-एक पग की प्रगति के लिए प्रबल प्रयास करने पड़ते हैं।

बुराई का उपचार कैसे हो ?

बुरे चरित्र भी कहीं पर लघु स्खलन से ही बनने आरंभ होते हैं। एक युवक का यही हुआ। उसे हत्या के अपराध में मृत्यु-दण्ड मिला था। उसकी माँ अपने पुत्र की अंतिम अभिलाषा पूर्ण करने के लिए मिलने आई। किन्तु जैसे ही उसने अपनी माँ को देखा, वह उस पर झपट पड़ा और उसके कान अपने दाँतों से काट लिए। वह खींचकर हटाया गया। मृत्यु समय भी अपनी माँ के प्रति ऐसे दुष्ट व्यवहार के लिए उसकी निन्दा की गई। तब उसने कहा कि 'मेरे दु:खद अंत का कारण मेरी माँ ही है।' पूछने पर उसने बताया कि 'बाल्यावस्था में मैं एक बार कुछ धन चुराकर अपनी माँ के पास ले आया था। उस समय उसने मेरे कान खींच कर मुझे ठीक नहीं किया। उस दिन से मेरा यह दुष्ट स्वभाव बढ़ता ही गया और आज मैं उसी के दारुण परिणाम भोग रहा हूं।'

बुरी आदतें और प्रवृत्तियां, जो विगत कतिपय शताब्दियों से हममें बढ़ रही हैं, एक दिन में धुलकर साफ नहीं हो सकतीं। इसलिए नित्य के संस्कार अत्यन्त आवश्यक हैं। शरीर को भी नित्य धोने की आवश्यकता होती है। तब मस्तिष्क, जो दूषणों के लिए शरीर से अधिक ग्रहणशील है, को बहुत अधिक परिश्रम एवं नियमितता से शुद्ध करने की आवश्यकता है। विशेष रूप से इस बात की आवश्यकता इसलिए और भी है कि वह इन दुष्ट प्रवृत्तियों के सम्पर्क में सतत रहता है, जो हमारे चारो ओर के वातावरण में है। जब श्री रामकृष्ण ने अपने अद्वैतवादी गुरु तोतापुरी से प्रश्न किया - 'एक सिद्ध पुरुष होकर भी संस्कारों की नित्य क्रियाएं क्यों किया करते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया -'मस्तिष्क जब तक इस संसार में रहता है, उसके नित्य शोधन की आवश्यकता ठीक उस प्रकार से है, जैसे पानी पीने के लिए उपयोग में आने वाले पात्र को नित्य माँजना पड़ता है।'

मनुष्य-निर्माण की प्रक्रिया

इसलिए संघ ने संस्कारों के एक क्रम का विकास किया है, जिसके द्वारा व्यक्ति का मन, मेधा एवं शरीर इस प्रकार से प्रशिक्षित होता है कि वह हमारे महान समाज

के संगठित कलेवर का एक सजीव अंग बन जाता है। उदाहरण के लिए, मानव-शरीर में कितने ही अंग हैं और प्रत्येक अंग में लाखों कोशिकाएँ हैं। प्रत्येक कोश सम्पूर्ण शरीर के साथ अपना ऐक्य अनुभव करता है और शरीर के स्वास्थ्य एवं वृद्धि के लिए अपने को बलिदान कर देने को सदैव प्रस्तुत रहता है। वास्तव में यह ऐसे लाखों कोशों का आत्म-बलिदान ही है, जो प्रत्येक शारीरिक क्रिया के लिए शक्ति को उन्मुक्त रूप से उपलब्ध कराता है।

शाखा पर नित्य नियमित रूप से जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उसके द्वारा तादात्म्य एवं सामूहिक कर्मों को अच्छी प्रकार से करने की भावना का उदय होता है। इससे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के आड़े-तिरछे कोणों को घिसकर मिटा देने की प्रेरणा मिलती है तथा समाज में अपने शेष बन्धुओं के साथ ऐक्य भावना का व्यवहार एवं अन्य मस्तिष्कों के विविध दृष्टिकोणों से अपना मेल बैठाते हुए संगठित और अनुशासित जीवन-पद्धति में खड़े होने की योग्यता प्राप्त होती है। वहाँ पर एकत्रित व्यक्ति एक ही की आज्ञा साथ-साथ पालन करना सीखते हैं। अनुशासन इनके रक्त में प्रविष्ट होता है। शरीर के अनुशासन से मन का अनुशासन अधिक महत्वपूर्ण होता है। वे अपने व्यक्तिगत आवेगों एवं संवेगों को महान् राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर उन्मुख करना सीखते हैं। इस प्रकार शाखा पर निर्माण होने वाला आदर्श अनुशासन स्वेच्छा से गृहीत होता है, क्योंकि वह राष्ट्र के लिए उत्कट समर्पण की भावना से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का अनुशासन व्यक्ति में छिपी सुप्त शक्तियों को राष्ट्रहित के साथ स्वरैक्य स्थापित कर, समृद्ध और प्रस्फुटित करता है। पूर्ण विकसित पुरुषोचित सद्गुणों के साथ पारस्परिक स्नेह तथा सहयोग की भावना से ओतप्रोत एवं स्वत: स्फूर्त अनुशासन के बंधन से बद्ध, एक साथ कार्य करने के लिए पूर्ण एवं नित्य सिद्ध मनुष्य ही राष्ट्रीय शक्ति के अक्षय भण्डार का निर्माण करते हैं।

हमारे विनाश का कारण

इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में अनुशासन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व होता है। समान लक्ष्य वाले, किन्तु अनुशासन से रहित लोगों के एकत्रीकरण में सामूहिक शक्ति का अभाव होता है। ऐसा एकत्रीकरण अपने ध्येय को प्राप्त करने में असफल होता है। पुरी में प्रतिवर्ष लाखों मनुष्य जगन्नाथ जी के दर्शनों के लिए एकत्रित होते हैं। इस भीड़ में अनेकों गिर पड़ते हैं, अंग-भंग हो जाते हैं अथवा दूसरों के पैरों से कुचल जाते हैं। इस प्रकार की दुर्घटनाएं सामान्य रूप से हुआ करती हैं। नि:सन्देह सभी का लक्ष्य एक ही रहता है - जगन्नाथ स्वामी का दर्शन, किन्तु वहां कोई व्यवस्था, कोई

अनुशासन न होने से जगन्नाथजी के दर्शन के स्थान पर गड़बड़ी और अनर्थ ही होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का भी यही अनुभव है। कार्य करने के लिए क्षमता की दृष्टि से मुट्ठी-भर अनुशासित मनुष्यों की तुलना सैकड़ों लोगों की अव्यवस्थित भीड़ से किसी प्रकार नहीं की जा सकती। हमने अपने ही इतिहास में देखा है कि संख्या में कई गुना अधिक हमारी सेनाओं को अंग्रेजी सेनाएं सर्वथा पराभूत करने में सफल हो सकीं। इसका स्पष्ट कारण था उनका उत्तम कोटि का अनुशासन।

भूतकालीन इतिहास में अनुशासनहीनता हमारे विनाश का एक प्रमुख कारण रही है। सन् 1761 में पानीपत का तृतीय युद्ध उदीयमान हिन्दू स्वराज्य के लिए एक निर्णायक क्षण था। विशाल हिन्दू सेना का सेनापति सदाशिवराव पेशवा था और आक्रांताओं की सेना का अहमदशाह अब्दाली। जब हिन्दू सेना के अधिकारी युद्धनीति का निर्णय करने के लिए मंत्रणा करने बैठे थे, तब मल्हारराव होल्कर तथा कुछ अन्य लोगों ने शत्रु को परास्त करने के लिए गुरिल्ला-युद्ध का समर्थन किया। किन्तु सदाशिवराव ने शत्रु को एक ही आघात में चूर-चूर कर देने के लिए सामने जमकर युद्ध करना अधिक उचित बताया। वैसा ही निर्णय लिया, कारण कि वह इस प्रकार के युद्धों में अद्वितीय सेनानायक के रूप में कई बार विजयश्री का वरण कर चुका था। इस पर मल्हारराव सहमत नहीं हुए और क्रोध में उन्होंने स्वयं को युद्ध से विरत कर लिया। शेष सेना सदाशिवराव के नेतृत्व में युद्ध-क्षेत्र में उतरी। एक ऐसा निर्णायक क्षण उपस्थित हुआ, जब मल्हारराव होल्कर, जो कि युद्ध क्षेत्र से अधिक दूरी पर नहीं था, की थोड़ी-सी सहायता उस अंतिम विनाशकारी पराजय को महान विजय में परिवर्तित कर देती और वह विजय संभवत: हमारे इतिहास के संपूर्ण क्रम को ही बदल देती, किन्तु उसकी सेना केवल खड़ी देखती रही। परिणामत: पानीपत में हमारी हिन्दू सेनाओं का संपूर्ण उच्छेद एवं हिन्दू जाति के उत्कृष्ट वीरों का विनाश हुआ। यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक ही था, अर्थात् शत्रु को खदेड़ कर बाहर करना, किन्तु वे कार्य की एक समान पद्धति पर सहमत नहीं हो सके।

समय की मांग

अनुशासन की भावना, जो संघ की कल्पना के अनुसार राष्ट्र-पुनर्गठन के लिए आवश्यक है, केवल शरीर तक सीमित नहीं है। वह पुलिस अथवा फौज से नितांत भिन्न प्रकार की है। एक बार एक मित्र ने मुझसे पूछा - 'आपका संगठन विक्रमादित्य द्वारा बनाए हुए संगठन जैसा है अथवा शंकराचार्य की पद्धति का ?' मैंने उत्तर दिया - 'वर्तमान काल में इनमें से किसी के द्वारा भी लाभ नहीं होगा। विक्रमादित्य के सैनिक

संगठन ने कुछ काल के लिए शत्रु को निकाल बाहर करने का एक सीमित लक्ष्य सिद्ध किया और एक शती से कुछ अधिक काल तक रहा। किन्तु इस प्रकार की पद्धति न तो हमारे लोगों को सदा के लिए एक कर सकती है और न इनमें चिरकालिक राष्ट्रीय सद्गुणों को ही अनुप्राणित कर सकती है। जहां तक बौद्धिक वाद-विवाद एवं नैतिक शास्त्रार्थ की दूसरी पद्धति का संबंध है, जिसे श्री शंकराचार्य ने ग्रहण किया था, वह भी आज सफल नहीं हो सकती। क्योंकि उस काल में संप्राप्त बौद्धिक प्रामाणिकता तथा सच्चरित्रता का आज स्पष्ट अभाव है। मण्डन मिश्र की पत्नी अपने पति और शंकराचार्य के मध्य हुए प्रख्यात शास्त्रार्थ में निर्णायक बनकर बैठी और उसने अपना निर्णय शंकराचार्य के पक्ष में दिया। शर्त के अनुसार मण्डन मिश्र तथा उसकी पत्नी दोनों ही संन्यास लेकर उत्तम शिष्य बने।

वर्तमान काल में इस प्रकार की अवस्था नहीं है। आज ऐसे लोग अत्यन्त अल्प हैं, जो बौद्धिक दृष्टि से इतने उन्नत और प्रामाणिक हों कि जिस बात को ठीक मानें, उसे स्वीकार कर तद्नुसार कर्म करें। यह हमारा एक सामान्य अनुभव है कि अधिकतर बड़े-बड़े नेता, जो सार्वजनिक रूप से संघ के विचारों का कठोरतापूर्वक विरोध करते हैं, अकेले में उसके प्रति अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं। इसलिए हमने इस अनोखी पद्धति को विकसित किया है, जिससे हमारे सभी लोग एक स्वप्रेरित, पूर्ण अनुशासित एवं राष्ट्रभक्ति से पूर्ण शक्ति का रूप ग्रहण करें तथा उन्हें इस प्रकार शिक्षित किया जाए कि उनमें अपने विश्वासों के अनुसार कर्म करने का सामर्थ्य उदित हो।

सामान्य भ्रांतियां

हम संघ में जिस अनुशासन का पालन करते हैं, उसके वास्तविक स्वरूप के संबंध में बहुत सी भ्रांतियां हैं। वे ही लोग, जो दण्ड के भय अथवा धन और पद के लोभ से निर्माण हुए फौज व पुलिस के अनुशासन में सदैव रहने के अभ्यस्त हैं, जब संघ के कार्यक्रमों में व्याप्त और कार्यकर्ताओं के व्यवहार में पालन किए गए कठोर अनुशासन को देखते हैं, तो कहने लगते हैं कि संघ एक अर्ध-सैनिक संगठन, निजी सेना अथवा ऐसी ही कोई चीज है। यह उनके बहुत बड़े अज्ञान को छिपाने तथा आत्मसंयम और स्व-स्वीकृत अनुशासन द्वारा निर्मित संगठन के घटकों के व्यवहार में व्याप्त एकता की भावना, परस्पर सहकार्य, कार्योद्देश्य के लिए संपूर्ण समर्पण आदि की भावना को समझने में उनकी असमर्थता है।

उसी अज्ञान के कारण लोग हमसे पूछा करते हैं कि 'अणु और मिसाइल के इस युग में लाठी तथा इस प्रकार के पुराने शस्त्रों की आपकी शिक्षा से क्या लाभ ?

वे उस बात को भूल जाते हैं कि अणुबम और मिसाइल जैसे शस्त्रास्त्रों का उपयोग करने की शिक्षा प्राप्त करना तो सेना का कार्य है। किसी भी देश में, यहां तक कि अमरीका और रूस में भी सामान्य लोगों के हाथों में इस प्रकार की वस्तुएं देने की अनुमति नहीं है। इन देशों में भी जहां तक सामान्य जन का संबंध है, इन्हें प्रारंभिक शारीरिक व्यायामों और साधारण उपकरणों से ही शिक्षा दी जाती है। लोगों के हृदय में अपने शरीर एवं मस्तिष्क को अनुशासित रखने के संस्कार जगाने के लिए ऐसी शिक्षा आवश्यक है।

कुछ और भी है, जिन्हें सम्भवत: हमारे संगठन के नियमित कार्यक्रमों को करना कष्टकर प्रतीत होता है, कहते हैं कि वे किसी अनुबंध से अपने को आबद्ध नहीं रखना चाहते और इसलिए भांति-भांति की बातें करते हुए कहते हैं कि यह तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का युग है। इसी प्रकार के एक सज्जन ने संघ पर 'फासिस्ट' होने का आरोप मढ़ा, क्योंकि उनके कथनानुसार संघ के सभी लोग कश्मीर से कन्याकुमारी तक, चाहे वे प्रौढ़ हों अथवा किशोर, किसी प्रश्न का एक ही प्रकार का उत्तर देते हैं। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि संघ में विचारों की स्वतंत्रता नहीं है। मैंने उनसे पूछा -'मैं कहता हूं दो और दो चार होते हैं। आप क्या कहते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया - 'हां, चार ही होते हैं।' मैंने कहा - 'तो आप बिलकुल जनतांत्रिक नहीं हैं। आपने तो वही उत्तर दिया है, जो मैंने दिया था। इसलिए आप भी फासिस्ट हैं।' किसी प्रश्न के लिए शुद्ध उत्तर तो एक ही हो सकता है, यह साधारण-सा तथ्य उन सज्जन की समझ में नहीं आया।

यह स्वाभाविक ही है कि संघ के स्वयंसेवक के मस्तिष्क में राष्ट्र-संबंधी सही दृष्टिकोण होने के कारण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया स्वयं-स्फूर्त रूप से एक प्रकार की ही हुआ करती है। इसे मानसिक सैनिकीकरण (रैजिमैंटेशन) समझने की भूल करना राष्ट्रवाद की भावना को सैनिकीकरण का उपकरण कहने के समान होगा। 'विचार-स्वातंत्र्य', 'वाणी-स्वातंत्र्य' आदि के आधुनिक एवं अपच विचार हमारे इन युवकों के मस्तिष्क में एक भयंकर उत्पात मचाए हुए हैं, जो स्वतंत्रता को 'स्वच्छंदता का अनुज्ञापत्र' और आत्मसंयम को 'मानसिक सैनिकीकरण' मानते हैं।

स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति

संघ में परिपोषित अनुशासन सुसंस्कृत लोगों का स्वाभाविक आत्मसंयम होता है। यह एक ऐसा अनुशासन होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता

है कि राष्ट्र के प्रति उसका कर्तव्य महत्तर है तथा उसकी व्यक्तिगत और पारिवारिक आवश्यकताएं रुकी रह सकती हैं। वह अपने को सुव्यवस्थित अंगांगिभाव से इस उच्चतर आह्वान के अनुरूप आचरण करने के लिए सिद्ध करता है। यह इस प्रकार का अनुशासन है, जिसमें सब अपनी प्रतिभा, भावना, कायिक शक्तियों एवं भौतिक सम्पत्ति को राष्ट्रीय कल्याण के महत्तर लक्ष्य की सेवा में संगृहीत और संग्रथित करते हैं।

यही है वह स्वत:स्फूर्त, स्वेच्छया आत्मसंयम और स्वार्थत्याग की भावना, जो शाखा पर प्रशिक्षित व्यक्ति को अन्यों से अलग प्रकट कर देती है। वह एक 'स्वयंसेवक' कहा जाता है। स्वयंसेवक केवल एक वालंटियर ही नहीं होता, जैसा इन दिनों सामान्यतया समझा जाता है, जो किसी सार्वजनिक अवसर पर गणवेश धारण किए हुए इधर से उधर घूमता है और शारीरिक प्रदर्शनों में भाग लेता है। वह कोई निष्क्रिय सत्ता नहीं है, जो दूसरों की आज्ञानुसार बिना कुछ पारिश्रमिक लिए शारीरिक कार्य किया करे। स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति है, जिसकी एक राष्ट्रीय दृष्टि होती है। उसे यह अनुभूति तीव्रता से होती है कि उसे एक ऐसे राष्ट्र को संगठित करने की महती योजना को कार्यान्वित करना है, जो गत सहस्र वर्षों से अनेक कारणों से छिन्न-विच्छिन्न पड़ा हुआ है। वह इस ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह करने की तैयारी का दृढ़ निश्चय करता है। वह अपने स्वाभाविक आवेगों, संवेगों एवं प्रवृत्तियों में साम्य स्थापित कर उनका निर्देश करना सीखता है, जिससे कि वह राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्य के लिए एक प्रभावी उपकरण बन सके। राष्ट्र की सेवा करते समय वह अपने मस्तिष्क से अपने लिए लाभ, सम्पत्ति, सत्ता, नाम और यश प्राप्त करने के सभी विचारों को मिटा देता है।

पारिवारिक भाव

यह पारिवारिक-भाव संघ-पद्धति के सभी विविध पहलुओं में व्यक्त होता है। जो स्वयंसेवक संघ के विभिन्न शिक्षण-शिविरों और सम्मेलनों में भाग लेते हैं, वे कितने ही निर्धन क्यों न हों, सभी व्यय अपने ही पास से करते हैं। वे शिविर-शुल्क देते हैं, अपना गणवेश मोल लेते हैं, अपने आने-जाने का किराया देते हैं। वह यह सब प्रत्येक कार्य में स्वावलंबन एवं स्वार्थत्याग की भावना से स्फूर्त होकर करते हैं।

गुरुदक्षिणा की प्राचीन परम्परा भी, जिसका संघ अनुसरण करता है, इसी भावना से युक्त है। वर्ष में एक बार गुरु-पूर्णिमा के शुभ पर्व पर प्रत्येक स्वयंसेवक पवित्र गुरु भगवाध्वज का पूजन करता है और अपनी दक्षिणा समर्पित करता है।

धन-संग्रह की प्रथा अथवा मासिक और वार्षिक चंदे के लिए संघ में कोई स्थान नहीं है। दक्षिणा-अर्पण पूजन के भाव से किया जाता है। स्वयंसेवक अपने नाम व दक्षिणा को जनता में प्रकाशित भी नहीं करना चाहता। स्वयंसेवक वास्तव में इसे त्याग नहीं समझता, वरन् इसे एक ऐसा स्वाभाविक कर्तव्य मानता है, जिसमें किसी चीज की, नाम की अथवा ख्याति की आशा करने का उसका अधिकार नहीं है। उन्हें तुकाराम के इस वचन की भावना के अनुसार प्रशिक्षित किया जाता है -

'आता उरलों उपकारा पुरता'

(अब मेरा अस्तित्व केवल दूसरों की सेवा के लिए है।) ऐसे ही एक उत्स्फूर्त कवि के शब्द-

'तेरा वैभव अमर रहे माँ, हम दिन चार रहें न रहें'

- सदैव स्वयंसेवक की आत्मा को उत्साहित करते रहते हैं।

किन्तु दुर्भाग्य से आज अपने देश का सामान्य वातावरण एक आश्चर्यजनक विपरीतता उपस्थित कर रहा है। अपने त्याग की हुंडियां भुनाने का तथा अपनी सेवाओं के प्रतिदानस्वरूप कुछ मांगने की भावना का सभी जगह जोर है। ईश्वर की पूजा में भी नाम और यश की लालसा दिखाई देती है। हम मंदिरों में दान-दाताओं के नामांकित पत्थरों और पट्टिकाओं को देखते हैं। एक बार मेरी यात्रा में एक स्वामी जी मेरे साथ थे। उनके पात्र पर मैंने नाम खुदा हुआ देखा। नाम न तो उनका था और न उस आश्रम का ही था, जहां के वह थे। जब मैंने इसका कारण पूछा तो स्वामी जी ने कहा - 'यह उस व्यक्ति का नाम है, जिसने बहुत बड़ी संख्या में इस प्रकार के पात्र आश्रम को भेंट किए थे'। क्या हम उसको दान कह सकते हैं? कुछ प्रतिदान, जो नाम प्राप्त करने के उद्देश्य से किया हुआ हो, दान नहीं, वरन् सौदा होता है। संघ में इस प्रकार का लाभपरायण भाव कभी विकसित नहीं होने दिया जाता। हम वास्तविक भक्ति से की गई दक्षिणा को वैसे ही उदात्ततम एवं उच्चतम मानते हैं, जैसा ईसा ने असीम संपत्तिवान व्यक्तियों द्वारा चर्च को दान दिए गए कोशों की अपेक्षा निर्धन वृद्धा के छोटे से सिक्के को उदारतर दान माना था।

सफलता की आधारशिला

विभिन्न पद्धतियां एवं परिपाटियां, जो संघ में विकसित हुई हैं, वे सभी इसी आत्मसमर्पण की भावना से स्फूर्त हैं तथा एक घंटे की शाखा इस भावना का उद्गम स्रोत है।

एक बार एक प्रौढ़ महिला अपनी गृहस्थी के विविध कार्यों को अपने बाएं हाथ से कर रही थी। मैंने उससे इसका कारण पूछा, उसने कहा कि वह अपने दाहिने हाथ को एक वर्ष के लिए परमात्मा को दे चुकी है, इसलिए इसका उपयोग उसकी पूजा में ही होगा। यद्यपि यह एक साधारण-सी प्रतिज्ञा है, किन्तु उसके द्वारा दिन के विविध विभ्रांतकर क्रियाकलापों के बीच कितनी सुन्दरता से ईश्वर-भक्ति की भावना प्रतीकात्मक रूप से निरूपित हुई है। वस्तुत: शाखा की मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया, जिसके अंतर्गत 'एक घंटा समर्पण' आवश्यक होता है, के पीछे यही भाव है। इसके द्वारा इसमें भाग लेने वाले मनुष्य संस्कारित होकर जीवन-पर्यन्त समर्पित भाव से उद्यम के लिए तैयार होते हैं।

लोग प्राय: इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि क्या यह एक घंटे का छोटा-सा कार्यक्रम समाज में एक ऐसा अति श्रेष्ठ एवं सशक्त परिवर्तन लाने में समर्थ होगा, जिसकी संघ ने कल्पना की है? यह एक अचूक अनुभव की बात है कि लोग जीवंत उदाहरणों का अनुसरण किया करते हैं, शुष्क आदर्शों का नहीं। यह एक घंटे का प्रशिक्षण राष्ट्रीय चारित्र्य की ऐसी जीवंत प्रतिमाओं को आकार देता है, जिनमें से एक अबाध शक्ति विकीर्ण होती है, जो लोगों को उनके मार्ग पर खींच लाती है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन की एक बोधकारी घटना का उदाहरण लीजिए। एक बार एक महिला अपने बच्चे को उनके पास लाई और उनसे प्रार्थना की कि उसे मिठाई खाने की आदत पड़ गई है, जिससे कि उसका स्वास्थ्य बिगड़ रहा है। अत: आप ऐसा कुछ उपाय कर दें कि यह मिठाई खाना छोड़ दे। श्रीरामकृष्ण ने उससे एक सप्ताह के बाद आने को कहा। वह आई, किन्तु उन्होंने पुन: कुछ दिनों के पश्चात् आने को कहा। जब वह फिर आई तो श्रीरामकृष्ण ने बच्चे को अपने निकट बुलाया और उससे कहा कि 'प्यारे बच्चे, अधिक मिठाई खाना अच्छा नहीं, इसे छोड़ दो।' बच्चे ने तुरन्त उसे छोड़ने का वचन दिया। उस दिन से बच्चे ने मिठाई का परित्याग कर दिया। एक शिष्य ने जो इस बात को ध्यानपूर्वक देख रहा था, श्रीरामकृष्ण से पूछा - 'महाराज ! आपने इस बच्चे से मिठाई न खाने के लिए पहले ही दिन क्यों नहीं कह दिया ? उस महिला को इतनी दूर से तीन बार बुलाने की क्या आवश्यकता थी?' श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया - 'मुझमें भी मिठाई अधिक खाने की दुर्बलता है। फिर मैं किस प्रकार उस बच्चे को इस दुर्बलता को त्यागने के लिए कह सकता था? यदि मैं उसे उपदेश भी देता तो मेरे शब्दों का उस बच्चे पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए मैंने उस महिला को पुन: आने के लिए कहा, किन्तु उस कालावधि में मैं इस बात पर ध्यान नहीं दे पाया। अत: मुझे उसे एक बार पुन: बुलाना पड़ा। पश्चात् मैंने मिठाई

को अनुरक्तिपूर्ण रूप से त्याग दी और बच्चे को उपदेश देने की योग्यता अपने में अनुभव करने लगा।'

मानवीय अनुभव का एक और भी तथ्य है कि शक्ति की सभी ओजस्वी अभिव्यक्तियां एवं प्रयास अपरिहार्यत: अनेक छोटे-छोटे प्रयासों से मिलकर बनते हैं।

हमारे एक मित्र ने तीर्थयात्रा से लौटने पर अपना एक अनुभव बताया था। वह एक मुसलमान पीर की दरगाह पर भी गए थे। मौलवी वहां आने वालों से निकट पड़े हुए एक बड़े पत्थर को उठाने के लिए कहता था। जब वे प्रयत्न करके असफल हो जाते थे, तो वह सबको एक साथ अपने हाथ उस पत्थर में लगाने को कहता और 'पीर साहब की फतेह' की ध्वनि के साथ उसे उठाने की आज्ञा देता था। पत्थर उठ जाता था। यह उस पीर का चमत्कार माना जाता था। इस चमत्कार को सुनने के बाद मैंने कुछ स्वयंसेवकों को बुलाया और उनसे उससे भी बड़े पत्थर में एक-एक उंगली लगाने के लिए कहा और 'जय' की ध्वनि के साथ उसे उठाने को कहा। कितना आश्चर्य कि वह पत्थर उस पीर के पत्थर से भी अधिक ऊँचाई तक उठ गया। तब पीर साहब की चमत्कारिक शक्ति का भेद खुल गया। इस शक्ति का रहस्य यही है कि छोटे-छोटे प्रयासों के टुकड़े एक समन्वित रूप में प्रयुक्त हो गए और तब 'जय' की ध्वनि भी उसके लिए एक सहायता बन गई। इस प्रकार लाखों मनुष्य समर्पण एवं अनुशासित कर्म की भावना से एक-एक घंटा प्रतिदिन देते हुए कठिनतम कार्यों को पूर्ण कर सकते हैं तथा हमारे राष्ट्रजीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकते हैं।

सम्पूर्ण ऐक्य के लिए बीज-केन्द्र

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या करोड़ों व्यक्तियों को संघ स्थान पर लाकर खड़ा करना और उनसे शाखा के प्रतिदिन के कार्यक्रमों को कराना संभव है? संघ तो केवल पुरुषों तक ही सीमित है; आधा समाज, अर्थात् स्त्रियां दैनिक शाखा पर नहीं आ सकतीं; फिर वृद्ध और बच्चों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग निकल जाता है तथा ऐसे भी बहुत से लोग हैं, जो भांति-भांति के अपरिहार्य कारणों से शाखा की शिक्षा के नियमित कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाते तब हम व्यक्ति-निर्माण की इस दैनिक प्रक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण समाज को पुन: संगठित करने में कैसे सफल होंगे?

एक घंटे की शाखा से अलग कार्य के इस प्रमुख अंग को भी पूरा करने के लिए स्वयंसेवक अपने समाज-बंधुओं से मिलते हैं, उनके सुख-दु:ख में हिस्सा बंटाते हैं और अपने निर्मल चरित्र, सर्वव्यापी प्रेम की भावना एवं अनुशासित और समर्पित सेवा के द्वारा उनके हृदयों में विश्वास जागृत करते हैं। इस प्रकार स्वयंसेवकों, उनसे

सहानुभूति रखने वालों तथा मित्रों के घरों में सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष संघ-भावना से आपूर्ण हो जाते हैं। शाखा इस क्षेत्र के लोगों के सामूहिक प्रेम एवं इच्छाशक्ति की प्रतीक और अग्रणी हो जाती है। इस प्रकार सतत एवं शांतिपूर्वक ये प्रतिदिन के और शेष दिन भर के 'हृदय के हृदय से सम्पर्क' समाज के सभी वर्गों को आवेष्टित कर लेते हैं। वे लोग भी, जो शाखा के प्रशिक्षण में प्रतिदिन भाग नहीं ले पाते, राष्ट्र के लक्ष्य के प्रति पारस्परिक प्रेम और श्रद्धा के अटूट बंधन में बंध जाते हैं।

गंगा का समुद्र में विलीन होना

इस प्रकार असीम धैर्य एवं सतत उद्योग के साथ स्वयंसेवक छोटे-छोटे ग्रामों और नगरों में पहुंचते हैं और प्रत्येक हृदय को स्पर्श करते हैं। सभी स्थानों पर राष्ट्रीय एकता का वही पवित्र वातावरण वे अपने साथ ले जाते हैं। भाषा, प्रान्त, भोजन और वस्त्र के असमान भेद से उत्पन्न विघटन उनकी प्रभावी उपस्थिति के सामने लुप्त हो जाते हैं। ग्रामों में और सुदूर वनों के निवासियों में भी वे उस भाषा में बात करते हैं, जिसे वे लोग समझते हैं। वे राम और सीता की कहानियां तथा हमारे महान् संतों एवं वीरों के आख्यान सुनाते हैं। सम्पूर्ण देश में फैले हुए पवित्र स्थानों का वर्णन करके उनके मस्तिष्कों में अपनी मातृभूमि की पवित्र प्रतिमा को अंकित करते हैं। धार्मिक और सामाजिक उत्सवों द्वारा एक व्यापक राष्ट्रीय भ्रातृत्व भावना का उन्हें बोध कराते हैं और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय शक्ति के एक अक्षय प्रवाह के रूप में परिणत कर देते हैं।

स्वयंसेवक नियमित रूप से मण्डल, जिला, प्रांत और अखिल भारतीय स्तरों पर भी मिला करते हैं। शिक्षण-शिविर चलाए जाते हैं, जो राष्ट्रीय एकता की व्यावहारिक प्रक्रिया है। इस कल्पना से स्फूर्त एवं संघकार्य की पद्धति में प्रशिक्षित स्वयंसेवक इस राष्ट्रधर्म की ज्योति को देश के कोने-कोने में ले जाते हैं। इस प्रकार की जीवनों को देखकर सामान्य लोग भी राष्ट्र के हित में त्याग करने और कष्ट सहने के लिए प्रेरणा प्राप्त करते हैं। वैभवशाली और निर्धन सभी लोग स्वेच्छा से उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए खिंचे चले आते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्गठन के लिए संपूर्ण समाज की अंतर्निहित शक्तियां उन्मुक्त हो जाती हैं और पुनरुत्थानशील तथा पुनर्गठित राष्ट्रीय जीवन का स्वप्न सजीव हो उठता है।

इस स्थिति का निर्माण होने पर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्र स्वयंसेवकों द्वारा स्थापित परंपरा चलाने के स्वचालित केन्द्र बन जाएंगे। पीढ़ी के बाद पीढ़ी को ढालने के लिए संस्कार देने की यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्संगठन तथा पुनरुत्थान के लिए अविरल जीवन-स्रोत का काम देगी। इस प्रकार

हम देखते हैं कि हमारे राष्ट्रजीवन में संघ ने जिस प्रक्रिया को चालू किया है, वह अनंत और सर्वग्राही है। संगठित राष्ट्रजीवन की स्वाभाविक दशा का स्वप्न साकार होने पर उसकी सभी संस्थाएं और परम्पराएं बुद्धिमत्ता एवं तत्परता के साथ राष्ट्रीय संस्कारों के जीवन्त बीजों का सिंचन करेंगी। इस समय संघ का अलग संस्थागत नाम और स्वरूप बनाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी। तब संघ राष्ट्र में उसी प्रकार विलीन हो जाएगा जिस प्रकार गंगा समुद्र में विलीन हो जाती है।

❑❑❑

३३

सफल कार्य पद्धति

३. कार्यप्रणाली की अमोघता

प्रतिष्ठापित तथ्य

विगत चालीस वर्षों का संघ-वृद्धि का इतिहास और इस अवधि में हुए संघकार्य के हितकारी परिणाम इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि संघ के महान् संस्थापक की दृष्टि अत्यन्त व्यावहारिक थी। जिस कार्यप्रणाली का विकास उन्होंने किया, इसने अपनी श्रेष्ठता पूर्णतया सिद्ध कर दी है। यह तथ्य अब भली-भांति प्रतिष्ठापित हो चुका है और संघ से असंबंद्ध लोग भी इसे स्वीकार करते हैं कि संघ की कार्यप्रणाली एक सफल कार्यप्रणाली है।

पावन धूलि

एक बार पंजाब में एक बड़े सैनिक अधिकारी मुझे मिले। उन्होंने प्रश्न किया- 'संघ में कौन-सी विशेष शिक्षा मिलती है?' मैंने उत्तर दिया-'केवल खेलने और गीत गाने की।' उन्होंने पुन: पूछा, 'यह कैसे हो सकता है? आप लोग उन्हें इसके अतिरिक्त भी कुछ अवश्य सिखाते होंगे। मैं व्यक्तिगत रीति से भारत-विभाजन के विकट दिनों की पंजाब की अनेक घटनाएं जानता हूं, जब संघ के अनेक स्वयंसेवकों ने वीरता और बलिदान में हमारे प्रशिक्षित सैनिकों को मात कर दिया। मुझे यह भी विदित है कि उनमें से अनेकों ने लोगों की रक्षा में हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। इसी से मुझे यह जानने की उत्सुकता है कि वह कौन सी विशेष शिक्षा है, जिसके कारण आपके संघ के लोग ऐसे सूरमा बन जाते हैं।' मैंने उन्हें अपनी संघ-शाखा के सहज और सरल कार्यक्रम की रूपरेखा समझाई और कहा कि हमारी समस्त शिक्षा 'कबड्डी' इस एक शब्द से व्यक्त होती है। मेरी इस बात को सुनकर वे अत्यन्त अविश्वास-युक्त दृष्टि से मेरा मुंह देखने लगे।

वास्तव में अपने संघस्थान की पावन धूलि में ही वह शक्ति निहित है, जहां महिमामयी मातृभूमि के पुत्र प्रचुर संख्या में एकत्र होकर खेलते, अपनी देवीस्वरूपा मातृभूमि भारत माता का यशोगान करते और उसकी गौरव-वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं। यह वही भाव है जिसके कारण वेलिंगटन के ड्यूक के मुख से यह प्रसिद्ध उद्‌गार निकला था, 'वाटरलू का युद्ध एटन और हैरो के मैदानों में जीता गया था'।

अनुपम कार्य-शैली

आजकल विशेष रीति से जब विघटनकारी शक्तियां हमारे राष्ट्र को छिन्न-विच्छिन्न करने को उद्यत हैं, एकमात्र संघ की शाखा द्वारा ही संपूर्ण समाज को एकत्र करने और अक्षुण्ण राष्ट्रीय एकता के संजीवन-स्रोत का रसपान करने का उच्च स्वर से आह्वान मिलता है। संघ के प्रारंभिक दिनों, जब संघ के पूजनीय जन्मदाता जीवित थे, की एक घटना है, जिससे संघ की कार्यपद्धति की सक्षमता का अनुमान लग सकता है। सन् १९३४ में वर्धा में संघ-शिविर लगा, जिसमें एक सहस्र से अधिक स्वयंसेवक बैरकों और तंबुओं में आवास कर रहे थे। निकट ही गांधीजी का आश्रम था। शिविर में इन नवयुवकों की चहल-पहल देखकर उन्होंने शिविर का अवलोकन करने की इच्छा प्रकट की। तद्नुसार वर्धा के संघचालक जी, जो पहले प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री भी रह चुके थे, गांधी जी को आदरपूर्वक शिविर में लाए। गांधीजी ने शिविर में आकर वहां की आवास एवं भोजनादि संबंधी सम्पूर्ण व्यवस्था का अवलोकन किया और पूछा - 'शिविर में भाग लेने वालों में हरिजन कितने हैं?' संघचालक जी ने कहा -'मुझे इसकी जानकारी नहीं, कारण मैंने इस संबंध में कभी पूछताछ नहीं की।' इस पर गांधीजी ने कहा- 'तो कृपा कर, अब पूछकर मुझे बताएं।' संघचालक जी बोले 'यह मुझसे न होगा। हम संघ के लोगों के लिए तो ये सब हिन्दू हैं, यही पर्याप्त है।' गांधीजी ने कहा-'तो फिर मैं स्वयं पूछ लूं?' संघचालक जी ने उत्तर दिया- 'जैसी आपकी इच्छा।' सभी स्वयंसेवकों से प्रत्यक्ष एवं अत्यन्त आग्रहपूर्वक बार-बार पूछने पर गांधीजी को विदित हुआ कि शिविर में हरिजनों सहित सभी जातियों के लोग थे और एक-दूसरे की जाति के संबंध में बिना किसी प्रकार का विचार किए वे संघ-शिविर के सभी कार्यक्रमों में खाने-पीने से लेकर खेलने-कूदने तक आनन्द और समरसतापूर्वक साथ-साथ भाग ले रहे थे। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इसके पश्चात् डॉक्टर जी ने महात्माजी से भेंट की और संघ की कार्यप्रणाली को स्पष्ट करते हुए उन्हें बताया कि संघ, जो संपूर्ण देश में एकता और संगठन की स्थापना करने में सफल हो रहा है, इसका रहस्य

यह है कि हम समाज में अंतर्निहित एकता के तत्वों को विशेष महत्व देते हैं और विभेदों की उपेक्षा करते हैं।

सभी दृष्टियों से सफल

ऐसे अनेक अवसर आए हैं, जब स्वयंसेवकों के अनुशासन एवं समर्पण-भाव की परीक्षा हुई और शाखा की व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया कसौटी पर कसी गई और ऐसी प्रत्येक परीक्षा की आंच में तपकर स्वयंसेवकत्व रूपी कुंदन और अधिक निखरा व चमका है। सन् १९४८ में जब सरकार ने न्याय के सभी सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर संघ पर प्रतिबंध लगा दिया था, तब संघ को राष्ट्रजीवन में न्याय और सत्य के पक्ष का मण्डन करने हेतु देशव्यापी आन्दोलन करना पड़ा। सरकार के समस्त प्रयत्नों के बावजूद इस आन्दोलन को दबाया नहीं जा सका। इस आन्दोलन की पूर्ण सफलता से यह प्रमाणित हो गया कि संघ की कार्य-प्रणाली में राष्ट्र-हितार्थ असीम बलिदान, शौर्य तथा अनुशासन के संस्कार करने की अद्वितीय शक्ति है।

हम अपने चारों ओर जो अन्य कार्यपद्धतियां देखते हैं, निश्चय ही वे शोर मचाने में विश्वास करती हैं, किन्तु इस शोर के पीछे उसके अन्दर क्या है, यह विचारणीय प्रश्न है। नि:सन्देह ढोल बहुत जोर का शब्द करता है, लेकिन अन्दर उसमें पोल ही पोल होती है। इसी से दूसरे लोगों के द्वारा जोर-जोर से ढोल पीटने तथा डिमडिम बजाने से संघ का स्वयंसेवक रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होता। संघ के पास ऐसी कार्यपद्धति है, जिसने पुनरुत्थानशील एवं पुन: संगठित राष्ट्रजीवन के स्वप्न को साकार करने में अपनी उपादेयता सब दृष्टियों से प्रमाणित कर दी है।

आदर्शानुकूल प्रणाली

हम सब यह जानते हैं कि सभी महान् व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं होते और सभी प्रसिद्ध व्यक्ति महान् नहीं होते। ऐसे ही एक महान किन्तु अप्रसिद्ध, विशेष व्यक्तित्वसम्पन्न पुरुष के जीवन का एक दृष्टांत है। एक बार किसी यूरोपियन ने उनसे कहा-'आप हिन्दू लोगों की कैसी अजीब पोशाक है। आप लोग धोती पहनते हैं। जरा लड़ाई करनी पड़े तो आप लोग उसमें उलझ कर गिरे बिना न रहें।' उन महापुरुष ने तत्क्षण उत्तर दिया-'आपसे यह किसने कहा कि हम सदा युद्ध के लिए समुद्यत रहते हैं? हम हिन्दू लोग सुसंस्कृत मनुष्य हैं और हम विश्व-शांति का विचार करते हैं। हमारा आदर्श वाक्य है- ओऽम् शांति:, शांति:, शांति:। तदनुरूप ही हमारा आचार और वेशभूषा है। आप यूरोपीय जनों का चित्त सदा विक्षुब्ध रहता है, आप लोग सदा कट्टर शत्रु के रूप में एक-दूसरे का गला काटने को तैयार रहते हैं।

इसलिए आप ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं, मानो सदैव ही रणक्षेत्र में हों। हम निर्भय तथा शांतिप्रिय हैं, इसलिए तदनुकूल वेश-भूषा धारण करते हैं। हम युद्ध का बाना तभी धारण करते हैं, जब हमें कोई इसके लिए ललकारता है।' कितना उचित उत्तर था यह।

हमारी कार्य-विधि भी इसी प्रकार हमारे द्वारा अंगीकृत विशिष्ट लक्ष्य के नितांत अनुकूल है। बहुधा हमारी शाखा का अत्यन्त साधारण और सज्जाशून्य खुरदरा स्वरूप अनेक अत्यन्त बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों को भी चकरा देता है और तब उनके मन में शंका उठने लगती है कि क्या शाखा-कार्यक्रम द्वारा ऐसे उदात्त लक्ष्य की प्राप्ति संभव है? मान लो कि कोई माली बाग में आम के फलों का उत्पादन करना चाहता है। क्या वह अधिक सुस्वाद फलों की प्राप्ति हेतु आम के बीज को शहद से भरे और इत्र से सुवासित गमले में बोएगा? इसके विपरीत क्या वह आम के बीज को खाद से युक्त मिट्टी में नहीं बोएगा ? यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि बहिरंग का खुरदरापन, शक्ति और चारित्र्य के संस्कार डालने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वयस्कों का दायित्व

अपनी शाखा के दैनन्दिन कार्यक्रमों के बाह्य रूप को देखने से अपने समाज में विशेषतया वयस्क प्रौढ़ वर्ग में यह भ्रांत धारणा निर्मित हुई है कि हमारे नित्य के खेलकूद, व्यायाम, गीत एवं प्रार्थना इत्यादि के कार्यक्रम केवल बालों और तरुणों के लिए हैं तथा प्रौढ़ों का काम केवल सहानुभूति प्रदर्शन करने एवं अल्पवयस्कों को आशीर्वाद, प्रोत्साहन तथा सहायता देने का ही है। यह तो अपने संगठन की मूल भावना को न समझने जैसा होगा। जब हम कहते हैं कि हमारा कार्य समाज के संगठन का है, तब हमारा तात्पर्य समाज की वर्तमान पीढ़ी से ही होता है और वर्तमान समाज की पीढ़ी से हमारा तात्पर्य समाज के प्रौढ़ वर्ग - गृहस्थजनों से होता है। बालकों को 'वर्तमान समाज' कोई नहीं कहता। यदि कुछ नंग-धड़ंग बच्चे नगर की किसी सड़क पर खेल रहे हों, तो उन्हें देखकर क्या कोई यह कहेगा कि अमुक नगर के नागरिक सड़क पर नंग-धड़ंग होकर खेलते रहते हैं? अंततोगत्वा बालक कल का समाज, अर्थात् भावी पीढ़ी मात्र है। अत: समाज के संगठन का कार्य पूर्णतया वर्तमान पीढ़ी, अर्थात् प्रौढ़ वर्ग पर ही आ पड़ता है और उन्हीं को राष्ट्र के पुन: संगठन के इस महान व्रत की पूर्ति के लिए आगे बढ़कर काम करना होगा।

जब यह बात प्रौढ़ों के सम्मुख रखी जाती है, तब वे दो कारणों से अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। पहला कारण वे समयाभाव बताते हैं। किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि क्षमतावान व्यस्त व्यक्ति ही सार्वजनिक क्षेत्र में अतिरिक्त कार्य करने के

लिए समय निकाल सकता है। एक बार उसको अपना परमावश्यक कर्तव्य समझने लगे, फिर तो वह स्वयं ही अपने शेष कार्यों का समायोजन उनके साथ कर लेगा और इस कार्य के लिए कुछ समय निकाल लेगा। आलसी और निकम्मा मनुष्य ही समय की कमी की दुहाई देता है। इस बात से यद्यपि विरोधाभास जान पड़ता है, किन्तु यथार्थता यही है।

दूसरा कारण यह है कि वे यह सोचते हैं कि इतने संभ्रांत और वयस्क व्यक्ति होकर इन्हें हाफ-पेण्ट पहनकर निरे बालकों के समान इधर-उधर घूमना और शारीरिक कार्यक्रमों में भाग लेना शोभा नहीं देता। यह उन्हें अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल जान पड़ता है। किन्तु क्या यह मनोवृत्ति उचित है ? यदि सचमुच ही समाज में हमारी मान-प्रतिष्ठा है, तो वह हमारे आंतरिक गुणों एवं योग्यताओं के कारण है अथवा वस्त्र-भूषा के कारण ? यदि हम यह सोचते हों कि प्रतिष्ठा का कारण वस्त्र-सज्जा है, तब तो इसका समस्त श्रेय दर्जी या धोबी को मिलना चाहिए। यदि हममें आंतरिक गुणों या श्रेष्ठता का लेश भी नहीं है, तब बाह्य सज्जा इस अभाव की पूर्ति में कदाचित ही सहायक हो सकती है। इस संबंध में हमें एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर चलना चाहिए। भगवद्गीता में कहा गया है :

यद्यदाचरित श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः। (गीता, ३-२१)

(श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य व्यक्ति भी वैसा ही करते हैं।)

जब वास्तविक श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा से युक्त समाज के प्रौढ़ वर्ग के लोग किसी श्रेष्ठ आदर्श के अनुरूप आचरण करते हैं, तो वह समाज के लोगों के लिए भी सम्मान्य और स्वीकार्य हो जाता है। जब महात्मा गांधी और पण्डित मदनमोहन मालवीय जी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंग्लैण्ड गए थे, तो स्वदेशी वेशभूषा में ही गए थे। इससे उनकी प्रतिष्ठा को कोई आँच नहीं आई, उल्टे उनके प्रति लोगों का सम्मान और बढ़ गया।

आज वयस्क पीढ़ी के कंधों पर विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ा है कि विघटन और भ्रष्टता के विषैले कीटाणुओं से भरे हुए वर्तमान विषाक्त वायुमण्डल से अपनी खिलती हुई नई युवा पीढ़ी को बचाएं, इसकी रक्षा करें, ताकि राष्ट्र को उसके स्वाभाविक गौरव और महानता के उच्चतम शिखर तक पहुंचाने में समर्थ उदात्त और पौरुषयुक्त मनुष्यत्व के रूप में वह फले-फूले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें राष्ट्र-संगठन के लक्ष्य, जिसे करने में संघ अनेक वर्षों से सफलतापूर्वक जुटा हुआ है, को अपने दैनिक जीवन में जीवंत उपकरण के रूप में स्वयं के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करना होगा।

शुभ लक्षण

एक बार स्वामी विवेकानन्द की मनोनीत शिष्या भगिनी निवेदिता ने कहा था- 'यदि सभी हिन्दू मिलकर प्रतिदिन प्रात:-सायं केवल १० मिनट सामूहिक प्रार्थना किया करें, तो केवल इतना करने से ही हिन्दू-समाज अपराजेय बन जाएगा।' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दैनन्दिन शाखा के द्वारा इस समर्पित महान् आत्मा के उत्कट भावपूर्ण स्वप्न के साकार होने के पूर्व-लक्षण प्रकट होने लगे हैं।

अपने पुनीत राष्ट्र के चरणों में समर्पित एवं अनुशासित, राष्ट्रव्यापी, सूत्रबद्ध, भ्रातृत्व के पुनर्निर्माण के सतत, मौन, अथक तथा नित्य चलने वाले कार्य, अर्थात् शाखा के परम आह्वान को हम सब सुनें और तदर्थ उठकर खड़े हों, यही आज की आवश्यकता है।

❑❑❑

३४

वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय चारित्र्य

हमारी धारणा

हमारी राष्ट्रीय परम्परा में चरित्र का सदैव सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। चरित्र के दो पहलू होते हैं। एक वैयक्तिक है और दूसरा वह, जो हमारे और समाज के पारस्परिक संबंधों के रूप में प्रकट होता है। चरित्र के ये दोनों पहलू निर्दोष एवं पवित्र होने चाहिए। किन्तु इन दिनों प्राय: यह सुना जाता है कि यदि व्यक्ति सामाजिक क्षेत्र में भली प्रकार कार्य करता है, तो उसके व्यक्तिगत व्यवहार की ओर देखने की क्या आवश्यकता है? संभव है वह अनेक बुराइयों में लिप्त हों। चूंकि वह जनहित के कार्य में लगा हुआ है, अत: उसके व्यक्तिगत जीवन में क्यों झांका जाए ?

जो भी हो, हमारी संस्कृति ने वैयक्तिक चारित्र्य की पवित्रता को श्रेष्ठ स्थान दिया है। हमने ऐसे व्यक्ति, जो स्वार्थी हो अथवा जिसमें शराब, स्त्री और धन की लिप्सा जैसे अनेक दुर्गुण हों, को कभी भी महात्मा नहीं कहा। हमारे लिए महात्मा अन्य सब बातों से बढ़कर पवित्र और आत्मसंयमी चरित्र वाला व्यक्ति है। अत्यन्त प्राचीन युग-द्रष्टाओं से लेकर आज तक के महान् व्यक्तियों तक सभी का जीवन पूर्ण रूप से पवित्र है। जिनको हम अपनी संस्कृति और दर्शन के आदर्श के रूप मानते हैं, उनके विचार, वाणी और कार्य का सभी उच्च सत्यों के साथ स्वरैक्य था। केवल ऐसे ही व्यक्ति हमारी राष्ट्रीय परम्परा के तेजस्वी प्रतीक रहे हैं। किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले वर्तमान व्यक्तियों ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। आजकल यह एक सामान्य धारणा है कि यदि कोई व्यक्ति दान देने में उदार है, अच्छे भाषण देता है या सार्वजनिक कार्य के लिए अनेक बार कारागृह गया है, तो उसका व्यक्तिगत आचार कितना ही घृणास्पद क्यों न हों, क्षम्य माना जा सकता है।

साधनों की पवित्रता

हमारी संस्कृति कहती है कि 'ध्येय' व सामाजिक हित को प्राप्त करने के 'साधन' (व्यक्ति) भी शुद्ध और पवित्र होने चाहिए। अनेक बार हम यह सुनते हैं कि साध्य ही साधन के औचित्य का निर्णय करता है। अधिकांश आधुनिक विचार और विचारधाराएं, जो आज के मनुष्य की कल्पनाओं पर छा गई हैं, इसी वर्ग में आती हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति, जो किसी सामाजिक परिवर्तन लाने का साधन है, को पृष्ठभूमि में ही डाल दिया गया है। यही कारण है कि सम्पूर्ण संसार में भयंकर गति से मनुष्य का पतन हो रहा है, क्योंकि लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्नों, जो प्राय: राजनीतिज्ञों द्वारा निर्धारित किए गए हैं, में मनुष्य-तत्त्व के विचार को तिलांजलि दी जाती है, किन्तु हमारी संस्कृति का आदेश भिन्न है। हम राम और शिवाजी को जितनी उनकी उज्ज्वल राष्ट्रीय उपलब्धियों के लिए श्रद्धा अर्पित करते हैं, उतनी ही उनके पवित्र एवं निष्कलंक वैयक्तिक चारित्र्य के लिए भी। यह दृष्टिकोण हमारी मूलभूत मान्यताओं के विपरीत है कि यदि व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में ठीक कार्य करे, तो उसके व्यक्तिगत चरित्र की किसी साधारण सी कमजोरी को उपेक्षित किया जा सकता है अथवा उसे उचित भी माना जा सकता है।

फिर भी यह सत्य है कि जब दो बुराइयों में किसी एक को चुनना अपरिहार्य हुआ, तब हमने व्यक्तिगत जीवन की कुछ कमजोरियों को सहन किया है, यदि वे सामाजिक हित में बाधक नहीं बनतीं, पर उनको उचित नहीं ठहराया है।

अंततोगत्वा बुरे साधनों से अच्छे परिणाम नहीं मिलते। कुछ थोड़े समय के लिए बुरे साधन अच्छे परिणाम देते हुए दिख सकते हैं, किन्तु वे केवल अल्पकालिक होते हैं। यह लगभग उसी प्रकार है, जैसे बर्फ के तूफान में फंसने पर आग के बीच बैठकर अपने को गरमाने का प्रयत्न करना। इस उष्णता के परिणामस्वरूप शीघ्र ही हम राख बन जाएंगे। आज हमारे देश में विभिन्न व्यक्तियों और दलों के द्वारा चुनाव किस प्रकार लड़े जाते हैं, इससे हम सब भली-भांति अवगत हैं।

सन् १९३७ के निर्वाचनों की एक घटना है। मैंने एक कांग्रेसी उम्मीदवार से पूछा कि उसने निम्न हथकण्डों को क्यों अपनाया? उसने उत्तर दिया- 'देखिए, बुराई का बुराई से ही सामना किया जाता है।' मैंने उससे पूछा -'क्या तुम कोलतार में कोयला मिलाकर इसे सफेद बना सकते हो ? यदि इस तर्क का अवलंबन किया गया, तो एक ऐसा समय आएगा, जब हमारे इस देश में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जो ईमानदार और अच्छा बनना चाहेगा। यह जानते हुए भी कि हमें कुछ समय तक

हानि उठानी पड़ेगी, क्या हमें इन बुराइयों के बीच से अपना मार्ग बनाने के लिए नहीं लड़ना चाहिए?' आजकल स्थिति इस सीमा तक आ चुकी है कि जिन्होंने इन निकृष्ट तरीकों में अधिक से अधिक निपुणता प्राप्त कर ली है, वे ही पद और सम्पन्नता की दृष्टि से ऊँचे उठते जाते हैं। इस स्थिति में मनुष्य के चारित्र्य के महत्व पर साधनों की पवित्रता के रूप में जितना भी जोर दिया जाए, थोड़ा ही होगा।

प्रच्छन्न संकट

राष्ट्रीय स्तर पर भी चरित्र से हीन और व्यसनों से ग्रसित व्यक्ति राष्ट्र के लिए संकट का कारण हो सकता है। हमारा राष्ट्र अनेक राष्ट्रों के बीच स्थित है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि दो राष्ट्र कभी भी स्थायी रूप से आपस में न तो मित्र रहते हैं, न शत्रु। पारस्परिक संबंध बदलते रहते हैं। प्रत्येक देश अपने हितों के द्वारा निर्देशित होता है और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी साधन का अवलंबन करने में हिचकिचाता नहीं। इस प्रकार एक दृष्टि से वे सबके सब हमारे देश के लिए 'प्रच्छन्न शत्रु' है। यह ठीक है कि अन्य राष्ट्रों के साथ व्यवहार एवं वार्ता में हम मैत्री, विश्व-शांति और विश्व-बंधुत्व की भावनाओं को संवर्धित करने की बातें करते हैं और इसके लिए प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु देश की नियति का निर्देशन करने वाले राजनयिकों को संसार के इस कटु सत्य को सदैव ध्यान में रखना ही चाहिए, क्योंकि इसकी अवहेलना हमारे संकट का कारण बनेगी।

ये प्रच्छन्न और प्रकट शत्रु, जो हमारे राष्ट्र को घेरे हुए हैं, अपने हित के लिए हमारी दुर्बलताओं से लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। प्रथम विश्वयुद्ध की एक सर्वविदित घटना हमारे सामने है। युद्ध की एक अवस्था में यह देखा गया कि मित्र राष्ट्रों के युद्धनायक जिन योजनाओं पर विचार-विमर्श करते एवं निर्णय लेते थे, जर्मनों को इन योजनाओं का पता लग जाता था। योजनाओं के कार्यरूप में परिणत होने के पूर्व ही शत्रु उनका प्रतिकार करता और उनकी सभी योजनाएं एक उपहास मात्र बन जातीं। काफी समय तक ऐसा ही चलता रहा। जब इस रहस्योद्घाटन के स्रोत का पता लगाने के लिए विशेष अधिकारियों को नियुक्त किया गया, तब यह बात प्रकट हुई कि महत्वपूर्ण सेना-अधिकारियों के खेमे में 'माताहारी' नाम की एक महिला गुप्तचर थी। इन वासनाप्रिय व्यक्तियों को यह महिला आकर्षक लगती थी। वह गाने, नृत्य और सम्मोहित करने की सभी कलाओं में निपुण थी। उसने उन सेना अधिकारियों को अपनी ओर सम्मोहित कर, उनके दिलों पर अधिकार कर लिया था। वह उनके साथ खेमों में रहती थी। सेना-अधिकारियों का उस पर इतना विश्वास था कि वे उसके सामने अपनी योजनाओं पर मुक्त रूप से विचार-विमर्श

किया करते थे। पर जहां तक उस महिला का प्रश्न था, वह नियमित रूप से विरुद्ध पक्ष को उनकी योजनाओं की जानकारी दिया करती थी। जब उसके इस रूप का पता लगा और वह पकड़ी गई, तभी विजय प्राप्त की जा सकी। यदि वे सैनिक अधिकारी दृढ़ चरित्र के होते और जैसी कि प्रत्येक हिन्दू से अपेक्षा की जाती है, वे पर-स्त्री मात्र को देवी माता के रूप में समझते, तो वे अपने देश को क्षति और अनर्थ से बचा सकते थे।

एक नीति-कथा

कुछ लोग चाटुकारिता-प्रिय होते हैं। यदि कोई उन पर स्तुति की वर्षा करता है, तो वे उल्लसित होते हैं और फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। तब उनसे जो कुछ करवाना हो, वह सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। लोग अनेक बातों का प्रतिकार कर सकते हैं, परन्तु खुशामद का नहीं। भयंकरतम विष पचाना अपेक्षाकृत अधिक आसान है, किन्तु स्तुति और सम्मान पचाना सरल नहीं। एक कथा है - भगवान शंकर, सबके संरक्षण के लिए गरल पी गए और उससे अप्रभावित रहे, पर वही शंकर भस्मासुर की स्तुति के शिकार बने और स्वयं के लिए आपत्तियों को बुला लाए। स्तुति मनुष्य को फूले हुए फुटबाल की तरह फुला देती है, जिसको कि सदैव एक ओर से दूसरी ओर के लिए ठोकर मारी जाती है। ऐसी स्थिति में कोई भी आकर अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी प्रशंसा कर अपना स्वार्थ-सिद्ध कर सकता है। तब कहीं यह व्यक्ति भ्रम-मुक्त हो पाता है या शायद तब भी नहीं।

इस पाठ को सिखलाने वाली एक पुरानी कथा है। एक बार एक कौआ अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिए एक पेड़ पर बैठा था। कौवे को देखकर उस पेड़ के नीचे एक सियार आकर बैठ गया और कौवे की ओर देखकर स्तुति करने लगा 'क्या सुन्दर रंग तुमने पाया है मेरे मित्र ! यह वही श्याम रंग है जो श्रीकृष्ण का था। पिछली बार मैंने तुमको गाते हुए सुना। ओह ! गंधर्वों ने भी तुमसे ईर्ष्या की। मैं पुनः तुम्हारा स्वर्गिक गान सुनने का अवसर पाकर कितना भाग्यवान होता।' कौवा इस स्तुति से फूल गया और डोलने लगा। उसने सोचा- 'चलो, इस मित्र को संतुष्ट कर दें।' जैसे ही उसने अपनी चोंच खोली, मांस का टुकड़ा नीचे आ गिरा। सियार ने तत्परता से उसे झपट लिया और यह कहते अपने रास्ते हो लिया कि 'अब मुझे तुम्हारे संगीत से प्रेम नहीं है।'

आज हमारे देश के अनेकों बड़े लोगों में खुशामद के संबंध में यह कमजोरी है और विश्व में ऐसे अनेक धूर्त लोग हैं जो स्तुति के इस सूक्ष्म साधन का उपयोग कर लेते हैं। यदि वे कहते हैं कि 'आप कितने शांतिप्रिय, अहिंसावादी और उदार हैं।

आप अतिश्रेष्ठ अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिनाम व्यक्तियों में से एक हैं, आदि, आदि।' तब इस स्तुति से हमारे नेताओं के पैर जमीन से ऊपर उठ जाते हैं और प्रशंसक जो कुछ चाहते हैं, उसे देना स्वीकार कर लेते हैं, चाहे वह नहर का पानी हो, धन हो, अन्य सामग्री हो अथवा हमारे सैनिक हों, जो कि संसार भर में होने वाले संघर्षों में युद्ध-बलि के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं।

प्रत्येक कदम पर सतर्कता

यदि हम प्रत्येक परिस्थिति में राष्ट्र की सेवा के योग्य बनना चाहते हैं, तो उन सभी प्रकार की कमजोरियों का हमें कठोरता से सामना करना पड़ेगा। इसके लिए शुद्ध व्यक्तिगत चरित्र को विकसित करना पड़ेगा। विशेषत: जब सार्वजनिक क्षेत्र का कार्यकर्ता लोगों के मध्य काम करता है, तो जनता की दृष्टि उस पर गड़ी रहती है। यदि वह किंचित मात्र भी फिसलता है, तो वह तुरन्त ध्यान में आता है और लोग सहसा बोल उठते हैं, 'अरे, कैसा पतन है !' यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति की उससे भी अधिक भयंकर गलतियों को अनदेखी कर देते हैं। हम रंगीन वस्त्र एक दिन को पहने अथवा सप्ताह-भर, इसमें कोई विशेष परिवर्तन दिखाई न देगा, किन्तु स्वच्छ सफेद वस्त्र पर पानी की एक बूंद भी कुछ समय के लिए अपना चिह्न छोड़ जाएगी। इसलिए हम जितना ही अधिक शुद्ध बनने की आकांक्षा करते हैं, अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को उतना ही अधिक सावधानी से परखना पड़ेगा। हमें अपने-आपको प्रत्येक कदम पर यह मानकर सतर्क करना होगा कि बाहर का संपूर्ण समाज हमारी कमियों को लोगों में प्रकट करने तथा उन पर आघात करने के लिए हमारी ओर बारीकी से और दत्तचित्त होकर देख रहा है।

सज्जनता की अति

अब हम इसके राष्ट्रीय पहलू का विचार करें। हम अपने चारों ओर उत्तम व्यक्तिगत चरित्र से युक्त व्यक्तियों को देखते हैं। हो सकता है कि वे स्वच्छ एवं निर्दोष इसलिए बने रहे हों, क्योंकि उन्हें गलत मार्ग अपनाने का अवसर न मिला हो अथवा उनका इतना साहस न हुआ हो। इस प्रकार की नकारात्मक, निष्क्रिय एवं तथाकथित अच्छाई और भद्रता का कोई उपयोग नहीं। ऐसे सज्जनों के बारे में डाक्टर जी विनोद में कहा करते थे - 'देखो ये श्रीमान कितने सज्जन हैं। ये ऑफिस समय पर जाते हैं, संध्याकाल घर वापस आ जाते हैं, पत्नी और बच्चों के साथ गप्पें लगाते हैं, भोजन करते हैं और सो जाते हैं। उन्होंने कभी एक बार भी किसी मामलों में दखल नहीं

दिया। यद्यपि उनको यहां रहते हुए २५ वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका है, फिर भी वे यह नहीं जानते कि पड़ोसी कौन है और न वे पड़ोसी ही उनके विषय में अधिक कुछ जानते हैं। इस प्रकार के भले, निरीह और विनम्र सज्जन के सम्पर्क में हम कदाचित् ही आते है।' डॉक्टर जी फिर इस तथाकथित सज्जनता की आड़े हाथों खबर लेते थे, जिसके कारण व्यक्ति पड़ोसियों के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशून्य हो जाता है तथा समाज के साथ किए गए अपमान और अवमानना को निर्बलता के साथ सहन कर लेता है। वे कहा करते थे कि यही वह निंद्य मनोवृत्ति है, जो हमारे राष्ट्र की बुराइयों के मूल में है।

भूतकाल में भी हमारे यहां अनेकों पवित्र और सदाशययुक्त व्यक्ति थे। उनके होते हुए भी हमको विगत हजार वर्षों से निरंतर भयंकर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। कुछ लोग तो इस सीमा तक जाकर कहने लगे कि अत्यधिक व्यक्तिगत अच्छाइयों ने ही हमारे राष्ट्र को आपत्तियों में डाला। परन्तु यह इतिहास का सही अध्ययन नहीं है। वास्तविक कारण राष्ट्रीय चरित्र की कमी थी, जो व्यक्तिगत चरित्र का ही दूसरा अपरिहार्य पहलू है। हम केवल एकाकी व्यक्ति मात्र नहीं हैं, हम समाज के एक अविभाज्य अंग हैं। इस संबंध में भी हमें चरित्र की पवित्रता को महत्व देना चाहिए एवं इसे अपने व्यवहार में प्रकट करना चाहिए। यदि हमने इस पहलू की ओर दुर्लक्ष्य किया तो केवल व्यक्तिगत पावित्र्य और अच्छाई राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी नहीं होगी। इतना ही नहीं, यदि समाज ही जीवित नहीं रहा तो व्यक्तिगत अच्छाई और चारित्र्य बर्बर आक्रमणकारियों के पैरों तले रौंद दिए जाएंगे। यही हमारे इतिहास में घटित हुआ है।

भयंकर उदाहरण

यदि कोई विशेष उदाहरण ही देना हो, तो गुजरात के राजा कर्ण के प्रधानमंत्री का दिया जा सकता है। वह वेद का ज्ञाता एवं अनेक कलाओं और शास्त्रों में पारंगत था। एक बार राजा ने अपनी कमजोरी के क्षण में एक सरदार की पत्नी का हरण कर लिया। इस पर प्रधानमंत्री गुस्से में आपे से बाहर हो गया और उसने राजा को इस पाप का दण्ड देने की प्रतिज्ञा की। उसे लगा कि उसकी पवित्रता और धर्म-ज्ञान को चुनौती दी गई। उसने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए कौन सा मार्ग अपनाया ? वह जानता था कि गुजरात की उत्तरी सीमा पर मुस्लिम सेनाएं खड़ी हैं। उसके पूर्व वे गुजरात को अधीन करने के लिए और उसे जीतने के लिए अनेकों निष्फल प्रयत्न कर चुके थे। प्रधानमंत्री सीधा मुगल सुल्तान से मिलने दिल्ली गया

और अपने राजा को उसके पापपूर्ण कार्यार्थ दण्डित करने के लिए सुल्तान की मदद मांगी। शत्रु इस स्वर्णिम अवसर को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राज्य की सुरक्षा के सभी भेदों को जानने वाले प्रधानमंत्री के द्वारा दी गई बहुमूल्य जानकारी के साथ शत्रु ने गुजरात पर आक्रमण किया। इसके परिणामस्वरूप कर्णावती का शक्तिशाली हिन्दू सीमांत प्रहरी-राज्य, जिसने अनेक वर्षों तक काफी सफलतापूर्वक मुस्लिम आक्रमण को दक्षिण तक फैलने से रोका था, का पतन हो गया। तत्पश्चात् केवल गुजरात ही नहीं, वरन् संपूर्ण दक्षिण भारत मुस्लिम लुटेरे आक्रमणकारियों के पैरों में झुक गया। अंतत: इस सबसे उस प्रधानमंत्री को क्या मिला ? नि:सन्देह रूप से राजा मारा गया, पर उसी के साथ प्रधानमंत्री के हजारों निजी संबंधी भी तलवार के घाट उतार दिए गए। उसकी आंखों के सामने अगणित महिलाओं का शील भ्रष्ट किया गया, मंदिरों को धूल में मिला दिया और जिस घर में वह वेदों का पाठ और ईश्वर की आराधना करता था, उसे गाय काटने के बूचड़खाने में परिवर्तित कर दिया गया। इससे आने वाले अनेकों शतकों तक अपनी मातृभूमि के एक बड़े भू-भाग को पराधीनता प्राप्त हुई।

हम देखते हैं कि एक ओर तो राजा का व्यक्तिगत चरित्र कुछ पतित था, पर उसका राष्ट्रीय-चरित्र प्रखर था। दूसरी ओर प्रधानमंत्री व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से पावित्र्य से पूर्ण था, प्रकृति से ईश्वर-भीरु था, किन्तु उसमें राष्ट्रीय-चारित्र्य का अभाव था, जिससे व्यक्ति संपूर्ण राष्ट्र की भलाई किसमें है, यह सोच पाता है और अपना सब कुछ, यहां तक कि पवित्रता और न्यायपरायणता की उसकी व्यक्तिगत भावनाएं भी, राष्ट्र कल्याण की वेदी पर त्याग देने के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार राजा और प्रधानमंत्री दोनों ही, जिसके लिए दोनों ही के मन में प्रेम था, उस राष्ट्र के महान दुर्भाग्य के कारण बने।

वास्तव में उस प्रधानमंत्री द्वारा व्यक्तिगत चारित्र्य एवं धर्म का प्रकट किया गया विकृत भाव हमारे इतिहास की एकाकी घटना नहीं है। यह भावना काफी गहराई तक बद्धमूल है और इसने उन शताब्दियों में राष्ट्रद्रोहियों की एक संपूर्ण जमात को उत्पन्न किया है। वह ईश्वर का 'धर्मात्मा' पुजारी ही था, जिसने कि उस महमूद गजनवी का मार्गदर्शन किया और उसे सहायता दी जो सोमनाथ को भ्रष्ट करने के घोषित उद्देश्य के साथ निकला था। औरंगजेब का प्रसिद्ध सरदार जयसिंह, जो शिवाजी को नष्ट करने आया था, एक विद्वान, प्रखर ईश्वर-भक्त और बुद्धि एवं हृदय के अनेक सद्गुणों से युक्त था। किन्तु शिवाजी के द्वारा स्वदेश और स्वधर्म के नाम पर की गई अनुरोधपूर्ण प्रार्थना एवं क्रूर विदेशियों का दास रहने की अपेक्षा उनके विरोध में राष्ट्रभक्त शक्तियों का नेतृत्व करने का आमंत्रण व्यर्थ गया। राजा जयसिंह

अपनी ईश्वरभक्ति तथा 'सम्राट के प्रति स्वामिभक्त' की शपथ से ही पूर्ण संतुष्ट था। ईश्वरभक्ति की धारणा तथा व्यक्तिगत ईमानदारी और स्वामिनिष्ठा की भावना का यह कितना विपर्यस्त और भयंकर स्वरूप था ? यह स्पष्ट है कि जब चरित्र के दोनों ही पहलू अभिव्यक्त होते हैं, तभी व्यक्ति और समाज प्रगति करता है, पनपता है। वे मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक पर राष्ट्र का चिह्न अंकित है और दूसरे पर उसका मूल्य। किसी भी एक का घिसना उसकी उपयोगिता को समाप्त कर देता है।

राष्ट्रीय पहलू

इसलिए यह अनिवार्य है कि वैयक्तिक अच्छाई एवं चारित्रिक पवित्रता राष्ट्रीय हित में सक्रिय एवं गतिशील बनाई जाए। यह राष्ट्र के प्रति ऐसे संपूर्ण समर्पण के रूप में व्यक्त होनी चाहिए जो प्रतिफल के रूप में किसी बात की, चाहे वह नाम या ख्याति या अन्य किसी प्रकार का लाभ हो, अपेक्षा न करे। हमें इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए कि जिनकी हम सेवा करते हैं, वे हमारी प्रशंसा करते हैं या नहीं। वास्तव में हमारे लिए यही अधिक अच्छा है कि वे ऐसा न करें, क्योंकि तभी हम जनस्तुति के इस बंधन से मुक्त रहेंगे जो हमें ऐसे मार्ग पर ले जाए जो अभीष्ट न हो। हम अपने राष्ट्र को इष्ट देवता के रूप में देखते हैं। हमारा समर्पण, हमारी अपने सर्वस्व की भेंट, राष्ट्र देवता की पूजा के रूप में होनी चाहिए। तब हम बदले में किसी भी वस्तु की इच्छा कैसे करें ?

आज सर्वस्व-समर्पण और त्याग का यह भाव तिरोहित हो गया है। यदि लोग सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करते हैं, तो बदले में कुछ अपेक्षा करते हैं। यदि धन की नहीं तो नाम या जय-जयकार की अथवा किसी समाचार-पत्र में कम से कम अपने चित्र के छप जाने की। एक बार अपने देश के एक प्रमुख नेता जो सदैव भव्य स्वागतों के अभ्यस्त थे, एक स्थान पर गए। उन्हें यह देखकर धक्का लगा कि उनके स्वागत के लिए वहां कोई भी नहीं था, न वहां उनकी जय-जयकार हो रही थी, न हार थे और न कोई चित्र लेने वाला ही था। उनको यह सब अपमानजनक लगा और वे तुरन्त वापस लौट गए। यह स्वार्थी व्यवहार का परिष्कृत रूप है। अन्य व्यावहारिक और लाभ कर तरीके भी अपनाए जा रहे हैं। यदि राष्ट्र के नाम पर कोई व्यक्ति अपनी ही सेवा करता है, तो वह राष्ट्रभक्ति नहीं, वरन् स्वार्थभक्ति ही है। ऐसे व्यक्ति द्वारा जनता की सेवा अपने व्यक्तिगत गौरव को बढ़ाने के लिए एक आवरण, एक मुखौटा मात्र है।

इन दिनों बहुत से व्यक्ति ईश्वर की उपासना भी इसी प्रकार करते हैं। 'पुत्रान् देहि, धनं देहि' इत्यादि की याचना करते हैं। जब तक किसी वस्तु की कामना है, वह उपासना नहीं, व्यापार मात्र है। हमारे सभी धर्मग्रंथों एवं महापुरुषों ने इस ओछे

दृष्टिकोण का उपहास किया है। पूजा केवल पूजा के लिए होती है, इसी में इसका आनंद निहित है। यदि हमें किसी बात के लिए याचना ही करनी हो तो वह उपासना की अधिक क्षमता और पात्रता एवं त्याग और सेवा के मार्ग पर बढ़ने की अधिक शक्ति के लिए होनी चाहिए।

महाभारत में युधिष्ठिर के संबंध की एक घटना है। एक बार जब पाण्डव द्रौपदी के साथ जंगलों में भटक रहे थे, तब द्रौपदी ने युधिष्ठिर को निरंतर ईश्वर का नाम दुहराते सुना। अपनी दु:खपूर्ण अवस्था का पूर्ण बोध होने के कारण उसने कटुता से पूछा, 'आप सदैव ईश्वर का नाम क्यों लेते हैं ? आप अपने बाल्यकाल से ही इनके भक्त हैं। आपने अनेक यज्ञ किए और सभी शास्त्रोक्त कर्तव्यों का पालन किया है। पर अब तक ईश्वर ने आपको कौन-सा अनुकूल जवाब दिया है ? आपको राजगद्दी के वास्तविक अधिकार से भी वंचित कर दिया है। अब आप आपत्तियों की छाया में यहां-वहां भटकने को विवश कर दिए गए हैं। क्या आप तब भी उसका नाम जपते थके नहीं ?' युधिष्ठिर ने सौम्यभाव से उत्तर दिया - 'इस हिमालय की ओर देखो, कितना शांत और भव्य है ? क्या हम इसे प्रेम नहीं करते ? क्या हमारा प्रेम इसलिए है कि हम उससे कुछ अपेक्षा रखते हैं ? हम उससे प्रेम करते हैं, उसकी भव्यता, नीरवता और पावित्र्य के लिए। ईश्वर उससे भी अपरिमित भव्य है। उस अनंत दिव्यता के समक्ष उसके परमानन्द को प्राप्त करने एवं उससे अधिकाधिक प्रेम की इच्छा के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं मांगना।'

उपासना की शक्ति

उपासना व्यापार नहीं है। यह मात्र आत्मसमर्पण है, मात्र एकपक्षीय कार्य है। हम केवल देते हैं। केवल उसी प्रकार के पूर्ण समर्पण करने वाले लोग ही राष्ट्र को विनाश के खण्डहरों से महानता के शिखर तक ले जा सकते हैं। खण्डोबल्लाल का प्रेरण उदाहरण हमारे सामने है। कुछ पूर्व-धारणाओं के कारण सिंहासन पर बैठने के पश्चात् संभाजी ने खण्डोबल्लाल के पिता, जो कि शिवाजी के अष्ट-प्रधानों में से एक थे, को मृत्यु के घाट उतार दिया। संभाजी एक स्वाभिमानी और वीर युवक था। वह उस वेदना और अपमान के घूंट को पी गया। पुन: जब संभाजी, जिसे मदिरा और मदिराक्षी का व्यसन था, ने अपनी पापी दृष्टि उसकी बहन पर डाली। तब उसने बहन को अपने पावित्र्य की रक्षा के लिए प्राणांत करने की अनुमति दी, किन्तु उसने संभाजी के प्रति अपनी राजभक्ति को नहीं त्यागा, क्योंकि वह जानता था कि संभाजी अनेक व्यक्तिगत दुर्गुणों के होते हुए भी, इस समय पुनरुत्थान-शील हिन्दू स्वराज्य के

एकीकरण का प्रतीक था, जिसके आसपास समस्त हिन्दू शक्तियां एकत्र होने का प्रयास कर रही थीं। बाद में जब संभाजी को औरंगजेब ने बंदी बना लिया, तब खण्डोबल्लाल ने ही अपने प्राण संकट में डालकर उसको छुड़ाने का प्रयत्न किया।

एक ध्येय के प्रति समर्पण की सच्ची भावना के कारण संभाजी की मृत्यु के पश्चात् राजाराम उसकी राजभक्ति का केन्द्र बना। एक बार पुन: हम इसे राजाराम, जो जिंजी के किले में शत्रु से घिरा पड़ा था, को सफलतापूर्वक मुक्त करने के प्रयास में अपने पुत्र के जीवन को मृत्यु के मुंह में डालते हुए और अपनी सब सम्पत्ति त्यागते हुए देखते हैं। अंत में वह अपने जीवन को स्वराज्य के लिए अंतिम भेंट के रूप में चढ़ा देता है। कैसा उदात्त, श्रेष्ठ और अशेष आत्म-त्याग है, आत्म-बलिदान है।

इतिहास का संपूर्ण मार्ग इस प्रकार के बलिदानों के परिणामस्वरूप बदलता है, जिसमें न केवल व्यक्ति का स्वयं का जीवन ही समाहित है, अपितु उसका वह सब भी, जो उसे अत्यन्त प्रिय है। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य की भावना से सुलगने वाले अंगारों को बुझाने के लिए औरंगजेब पांच लाख की सेना के साथ जब दक्षिण की ओर आया, तो वह स्वयं भी उन लपटों में घिर गया जो खण्डोबल्लाल जैसे योद्धाओं के बलिदानों की चिंताओं की अग्नि से निकली थीं। वह दक्षिण में ही स्वयं मृत्यु का ग्रास बन गया।

जब चरित्र प्रस्फुटित होता है

यही सच्चा राष्ट्रीय-चरित्र है। सतत प्रयत्नों के द्वारा हम अपने जीवन में इसे विकसित करें। संपूर्ण समाज के प्रति विशुद्ध प्रेम से आप्लुत अंत:करण से, स्वार्थपरता अथवा अपने लिए किसी प्रकार की अपेक्षा के लेश से भी रहित हो, हम अपने राष्ट्र की सेवा करें। शुद्ध पवित्र राष्ट्रभक्ति की झिलमिल करती किरणों में हमारा चरित्र-रूपी कमल खिल उठे।

ऐसी अविचल और अशेष भक्ति प्राप्त करने की हम आकांक्षा करें और इसके लिए प्रयत्नशील हों। ऐसी भक्ति, जो बुद्धि एवं अहं के साधारण धरातल से ऊपर उठकर हमारे संपूर्ण अंतरतम के साथ एकरूप हो जाए। पवित्र भक्ति का यह गहन, दिव्य एवं शाश्वत प्रवाह हमारे रोम-रोम में व्याप्त हो जाए। सभी महान् आत्माएं हमें इस एक ही दिशा की ओर, एकचित्त समर्पण की दिशा की ओर बुला रही हैं। चैतन्य महाप्रभु अद्वितीय ख्यातिप्राप्त विद्वान थे। विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ में उन्होंने अपने समकालीन सभी महान विद्वानों को पराजित किया था। किन्तु बुद्धि की इस प्रखरता एवं ज्ञान की इस समस्त व्यापकता के होने पर भी उन्होंने अपने जीवन के

उत्तरार्द्ध में सभी तर्क एवं शास्त्रार्थों को तिलांजलि दे दी थी। जो भी उनसे शास्त्रार्थ करने आते थे, उन सबके समक्ष महाप्रभु भक्ति से पूर्ण केवल उन शब्दों का उच्चारण करते थे– 'हरिबोल, हरिबोल'। इन शब्दों में व्यक्त भक्ति का भावावेग श्रोताओं को एक धारा में प्रवाहित करता था और उन्हें शुष्क शास्त्रार्थों की नि:स्सारता का एवं भक्ति की दिव्यता का ज्ञान कराता था।

इस प्रकार की तीव्र भक्ति वाला व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विलक्षण शक्तियों को विकसित कर लेता है। हमारे दैनन्दिन जीवन में भी क्या हम नहीं देखते कि साधारण श्रमिक भी सर्वोत्तम कार्य तभी करता है, जब वह अपने कार्य की उपासना एवं कार्य से प्रेम करता है ? इसी प्रकार कलाकार अपनी कला की सर्वोच्च अभिव्यक्ति तभी पाता है, जब वह अपने अंत:करण के अनुकूल चित्र को चित्रित करने में स्वयं को भूल जाता है ? राष्ट्रभक्ति के मार्ग में इस प्रकार की पूर्ण एकाग्रता की अवस्था को विकसित करने का प्रयास हमें करना चाहिए और हमें अपना जीवन विशुद्ध चरित्र के भिन्न-भिन्न समस्त पहलुओं से युक्त एक सजीव उदाहरण के रूप में विकसित करना चाहिए।

❑❑❑

३५

पौरुषवान बनें

नि:स्वार्थ सेवाभाव जगाएं

एक बार जब मैं एक श्रेष्ठ साधु से वार्तालाप कर रहा था, तब आजकल बहुधा होने वाली विद्यार्थी-हड़ताल की चर्चा चल पड़ी। साधु ने विचार व्यक्त किया, यह सब हमारे नेताओं द्वारा छात्रों को बार-बार 'राष्ट्र आधार-स्तम्भ' तथा 'भविष्य के कर्णधार' इत्यादि बताने का ही कटु फल है। छात्रों की बुद्धि अपरिपक्व तो होती ही है, ऊपर से इस प्रकार की बातों को बार-बार सुनकर वे और भी गर्वोन्मत्त हो जाते हैं। युवकों में तो नि:स्वार्थ सेवा की मनोवृत्ति उत्पन्न करना ही ठीक है, जिसमें अहंभाव को सिर उठाने का मौका ही न मिले। इन्हें 'राष्ट्र के आधार-स्तम्भ' या 'भावी कर्णधार' आदि कहकर इनके अहं को उभारने के कारण इनमें तनिक से भी अन्याय या अपमान के विरुद्ध, चाहे ये अन्याय और अपमान वास्तविक हों या काल्पनिक, विद्रोह करने तथा हड़तालें और हिंसात्मक कार्यों में भाग लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

साधु के इन विवेकपूर्ण वचनों को सुनकर मुझे श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन की एक घटना का स्मरण हो आया। एक बार उनके कुछ शिष्यों में दीनों की सहायता करने, उन पर दया दृष्टि रखने तथा इसी प्रकार की बातों पर वार्ता हो रही थी। उसी समय वहां भगवत्-प्रेमोन्माद की दशा में श्रीरामकृष्ण आ पहुंचे और उनकी भर्त्सना करते हुए बोले -दीनों पर दया दिखाने वाले तथा सहायता करने वाले तुम कौन हो ? वे तो स्वयं नारायण के जीते-जागते रूप हैं। तुम्हें केवल उनकी सेवा करने का अधिकार है।'

नींव के पत्थर बनें

यह दृष्टिकोण हमारे अन्दर सच्ची नि:स्वार्थ सेवा की भावना उत्पन्न करेगा तथा हमें पवित्रता, विनयशीलता तथा दृढ़-चारित्र्य से सम्पन्न पतितावस्था की पहली सीढ़ी,

अहमन्यता से बचाएगा। हमें नींव के पत्थर को अपना आदर्श बनाना है। नींव में स्थित पत्थर को कोई देखता नहीं, कोई उसकी प्रशंसा नहीं करता। वह सुघड़ और परिमार्जित भी नहीं होता, तथापि पूरे भवन का आधार वही है। यदि वह अपने स्थान से हिल या हट जाए तो संपूर्ण प्रासाद गिर पड़ेगा। भवन के केन्द्रवर्ती कलश तथा अन्य सभी भागों से अधिक महत्वपूर्ण है नींव का पत्थर। किन्तु इतना होते हुए भी वह पत्थर-स्व-अस्तित्व को भुलाकर तथा अपनी सत्ता को विलीन कर सेवाभाव से अपने स्थान पर अचल रहता है। इसी भावना से युक्त होकर हमें लोगों के मध्य कार्य करना होगा। नाम और कीर्ति के तीव्र प्रकाश में दर्प और शान से इतराने तथा शिखर पर चढ़कर चमकने की इच्छा तो व्यक्ति के अन्दर आंतरिक श्रेष्ठता के अभाव तथा आत्म-चाटुकारिता के अवगुण का ही भेदोउद्घाटन करती है। आखिर चोटी पर बैठने में कौन सा बड़प्पन है। गुंबद के कलश पर तो कौआ भी बैठ सकता है।

सच्ची सेवा

हमारे देश के महापुरुष सेवा-भाव को सदा भगवान के प्रति भक्ति प्रकट करने का सर्वोत्तम प्रकार मानते आए हैं। किसी ऐसी ही महान् आत्मा की सर्वशक्तिमान से प्रार्थना है -

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।
(न मुझे राज्य की इच्छा है, न स्वर्ग और न मोक्ष की। मैं तो कवल दुःखों से तप्त प्राणिमात्र की व्यथा को हरना चाहता हूं।)

सेवा की यही यथार्थ भावना है। ऐसा पुरुष सतत यही प्रार्थना करता है कि उसे सेवा करने के लिए अधिक शक्ति तथा क्षमता प्राप्त हो। वही जीवन की पूर्णता इस बात में मानता है कि उसने प्रभु का दिया हुआ सब कुछ उसके सेवार्थ समर्पित कर दिया है। वह कहता है- 'हे भगवान, मैंने आपके चरणों में अपने जीवन की झोली खाली कर दी है। इसी में मेरे जीवन की पूर्णता है।'

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे -'महान् गुरु गोविन्दसिंह के समान लोगों की सेवा के लिए सब कुछ सहने को तत्पर रहो। अपना तथा अपने निकटस्थ सगे और प्यारे संबंधियों का रक्त चढ़ाकर वे कार्यक्षेत्र से चुपचाप अलग हट गए और सुदूर दक्षिण में उनकी मृत्यु हुई, किन्तु उनके मुख से इन लोगों के विरुद्ध शाप का एक ही शब्द न निकला, जिन्होंने अत्यन्त कृतघ्नतापूर्वक उनका परित्याग कर दिया था।'

समाज का सच्चा सेवक ऐसा ही होता है। वह समाज से अपने लिए प्रतिफल नहीं चाहता, वरन् समाज की भलाई के लिए कष्ट उठाने और त्याग करने में ही पूर्णता और आनन्द मानता है।

ऐसे लोग दूसरों की व्यथा हरने या उनके आंसू पोंछने में न उल्लास का अनुभव करते हैं, न अहं-संतुष्टि की भावना उनके मन को छूती है। ऐसा भाव-विपर्यास केवल उन्हीं में निर्माण होता है, जिन्हें दूसरों के दुःखों से तादात्म्य की अनुभूति नहीं होती।

मुंबई में एक विधवाश्रम का वार्षिकोत्सव था। आश्रम की प्रगति का वार्षिक वृत्त प्रस्तुत करते हुए मंत्री जी ने इस बात से संतोष प्रकट किया कि इस आश्रम में प्रतिवर्ष आश्रयार्थी विधवाओं की संख्या बढ़ रही है। अंत में उन्होंने यह आशा प्रकट की कि विधवाश्रम की इसी प्रकार निरंतर प्रगति होती रहेगी। यदि वह इन महिलाओं की दुःखपूर्ण दशा से सचमुच दुःखी होता, तो वह कभी भी इनकी 'संख्या बढ़ती जाने' की प्रार्थना न करता। सच्ची भावना से सेवा कार्य में संलग्न व्यक्ति की भावना रुग्ण मां की सेवा में रत पुत्र की सी होती है। हम सब अपने समाज के पुत्र हैं और इसकी जो भी सेवा करें, इसी पवित्र और उदात्त भावना से करें।

स्वावलंबन के प्रतीक

विनम्रता तथा सेवा-भावना का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम आत्मविश्वास तथा स्वावलंबन ही खो बैठें। अपने देश के सभी महापुरुष इन दोनों सद्गुणों के समन्वय के प्रतीक रहे हैं। वस्तुतः ये दोनों गुण एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं।

महाराष्ट्र के प्रख्यात विद्वान श्री महादेव गोविन्द रानाडे अपने प्रारंभिक जीवन में ही अनाथ हो गए थे। अपनी छात्रावस्था में वे मधुकरी (भिक्षा) के लिए जाया करते थे। मधुकरी या भिक्षावृत्ति उन दिनों असम्मानजनक नहीं समझी जाती थी। वे मंदिरों के दीपों के नीचे बैठकर उनके प्रकाश में पढ़ाई किया करते थे। बंगाल के चोटी के शिक्षाविद् श्री ईश्वरचन्द विद्यासागर भी अत्यन्त दरिद्र थे। उनके पास मैट्रिक तक शिक्षा पूरी करने तक के लिए पर्याप्त पैसा न था। तब उन्होंने कोई नौकरी कर ली, जिसके द्वारा अर्जित अल्प धन से उन्होंने कॉलेज तक की पढ़ाई की। स्वावलम्बन ही वह जीवन-सूत्र था, जिसने उन श्रेष्ठ पुरुषों को विद्वता के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचाया।

इनके अतिरिक्त हमारे समक्ष स्वामी रामतीर्थ का प्रेरणादायी उदाहरण भी है। वे अत्यन्त दरिद्र कुल में उत्पन्न हुए थे। उन दिनों की प्रथा के अनुसार उनका अल्पायु

में ही विवाह हो गया था। उनके मैट्रिक पास कर लेने पर उनके पिताजी चाहते थे कि वे कहीं नौकरी आदि करके कुटुंब का पालन करें, किन्तु उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इस पर विवाद बढ़ा और पिता ने उन्हें घर से निकल जाने को कहा। उन्होंने पिता को नमस्कार किया और पत्नी को साथ लेकर घर छोड़कर चले गए। उस समय उनकी आयु लगभग १५ वर्ष थी। और उनकी पत्नी लगभग आठ वर्ष की थी। बचपन में भक्तिपूर्वक सीता और द्रौपदी के अपने पतियों के साथ वनानुगमन की कहानियां सुनी होने के कारण उनकी पत्नी ने भी उस विपत्ति का अत्यन्त धैर्य और साहस से सामना किया। रामतीर्थ को एक छोटा-सा कमरा मिल गया, जहां उन्होंने पत्नी के रहने की व्यवस्था कर दी। उन्हें एक स्कूल में अंशकालीन अध्यापक का काम मिल गया और वे कॉलेज में भर्ती हो गए। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी जीवन और ब्रह्मचर्य के सभी नियमों के बंधनों से बद्ध होने के कारण वे अपनी माता के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री के हाथ का भोजन कैसे कर सकते थे ? अत: वे अपने और पत्नी के लिए भोजन स्वयं बनाते थे। उन्होंने पत्नी को पढ़ाना भी शुरू किया। अभाव एवं दरिद्रता की उन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वे सभी परीक्षाओं में बड़े अच्छे अंकों से सफल होते रहे। एम.ए. में उन्होंने संस्कृत ली थी। इससे पूर्व उनको संस्कृत का तनिक भी ज्ञान नहीं था, किन्तु उन्होंने सफल होने का वज्र-संकल्प किया और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। महापुरुष इसी प्रकार अपनी संकल्प-शक्ति एवं दृढ़ निश्चय के बल पर सभी बाधाओं और विपरीत परिस्थितियों को पार कर सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुंच जाते हैं।

किसी ने ठीक ही कहा है -'स्वावलंबन ही सर्वोत्तम अवलंबन है।' एक बार एक ग्रामीण अपनी बैलगाड़ी में दूसरे गांव को जा रहा था। मार्ग में उसकी गाड़ी के पहिए कीचड़ में फँस गए। वह व्यक्ति बैठकर अपने भाग्य को कोसने और इस विपत्ति से छुटकारे के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। थोड़ी देर बाद उस मार्ग से एक अन्य व्यक्ति निकला और उसने उस ग्रामीण को हाथ जोड़ते और अपने भाग्य पर रोते हुए देखा। उस ग्रामीण से कहा-'उठो और मेरे साथ गाड़ी के पहिए को कंधा लगाकर धकेलो।' चुटकी बजाते गाड़ी कीचड़ के बाहर आ गई। वह व्यक्ति जाते समय ग्रामीण से यह कहता गया कि 'ईश्वर भी उसी की मदद करता है जो अपनी मदद आप करता है।'

व्यक्तिगत उत्कर्षवाद का अभिशाप

आज हमें अपने चारों ओर कौन-सा दृश्य दिखाई देता है ? क्या हमारे नवयुवकों में स्व-प्रयत्न तथा स्वावलंबन दृष्टिगोचर होते हैं ? उदाहरण के लिए, विद्यार्थियों को ही लें। वे घर पर नित्य टिप्पणियां लिखने का कष्ट उठाना नहीं

चाहते। पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन भी अब पुराने जमाने की बात हो गई है। वे छपी हुई टीकाओं तथा प्रश्नोत्तरियों की खोज में रहते हैं और उन्हें रट लेते हैं। यदि उनके बिना भी काम चल जाए तो और भी अच्छा। एतदर्थ वे इस चक्कर में रहते हैं कि कहीं से परीक्षा के पूर्व ही परीक्षा में आने वाले प्रश्नों का पता चल जाए। कभी-कभी तो परीक्षा-भवन में नकल करने में भी वे संकोच नहीं करते। कभी-कभी तो वे हनुमान जी के मंदिर की परिक्रमा भी कर लेते हैं, पर वे कभी जरा ठहर कर यह नहीं सोचते कि ज्ञान प्राप्त करने तथा सीखने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न करना आवश्यक है। यह स्वाभाविक ही है कि वे परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् भी भोंदू के भोंदू ही रह जाते हैं।

हमारे शिक्षित नवयुवक सुगम कार्य तथा सुलभकर द्रव्य के लिए लालायित रहते हैं। वे सस्ते प्रकार की आजीविका के पीछे भागते हैं, जो आत्मसम्मान और स्वावलंबन के एकदम विपरीत है। सरकारी नौकरियों के पीछे भागने का कारण भी यही क्षुद्र मनोवृत्ति है। सुनिश्चित नियमित मासिक वेतन, अल्प-श्रम, अत्यल्प उत्तरदायित्व और अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् पेंशन का अल्पतम प्रतिरोध का यह मार्ग अधिकांश लोगों को बहुत भला लगता है। वे सुविधा और आराम के सबसे सरल संक्षिप्त मार्ग की खोज में रहते हैं। उदरपूर्ति के लिए यह आजीविका कितनी तिरस्करणीय है ?

कभी-कभी भले और सदाशय व्यक्ति भी उस ढर्रे पर चलने लगते हैं। फिर सरकारी नौकरी के कारण जीवन में अपनी निष्ठाओं के अनुसार कार्य न कर पाने का रोना रोते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसे कोई व्यक्ति पहले फाँसी के फँदे में अपना गला फँसा दे और फिर चिल्लाए कि 'हाय, मैं मरा जा रहा हूं।' सुलभ धनोपार्जन के संक्षिप्त उपाय के रूप में सरकारी नौकर बनकर अपनी आत्मा को बेचना वास्तव में पाशविकता की ओर जाने का संक्षिप्त उपाय है। कुली के रूप में क्यों न हो, अपना पसीना बहाकर जीविका उपार्जित करने में एक अनोखा आनंद है। मैं एक एम.कॉम. परीक्षा उत्तीर्ण रिक्शा चलाने वाले को जानता हूं। उसे आलस्य और गुलामी के जीवन की अपेक्षा यह कठिन परिश्रम और स्वातंत्र्य का जीवन अधिक पसन्द है। ऐसे आत्मसम्मान एवं स्वावलंबन के जीवन का हमें आदर करना चाहिए।

हम सुगम धन, अल्प प्रयत्न और अधिक आराम के पीछे भागने वाले व्यक्तिगत उत्कर्षवादी न बनें। रामतीर्थ और विद्यासागर जैसी विभूतियां जिस भूमि में उत्पन्न हुई, उसके शिक्षित नवयुवकों के लिए ऐसी भीरुता शोभा नहीं देती। अतएव हम अपने जीवन को इन प्रेरणादायी आदर्शों के अनुसार ढालें और सेवा-भाव, आत्मसम्मान तथा विनयशीलता के साथ आत्मविश्वास का समन्वय स्थापित करें।

तब हमारी सभी सुप्त गुण-सम्पदा एवं शक्तियां वीर्यशाली पौरुष के सौष्ठव एवं सुरभिपूर्ण पुष्प के रूप में विकसित हो सकेंगी।

ऊँची कथनी, करनी शून्य

अब हमें यह विचार करना है कि अपने नित्य जीवन में हम नि:स्वार्थ सेवा की इस भावना तथा अन्य गुणों का प्रकटीकरण किस प्रकार करें। हमारी अर्चना और सेवा का विषय क्या हो ? क्या हमें 'मानवता' की सेवा करनी है ? इसमें संदेह नहीं कि आजकल अनेक व्यक्तियों के मुख से 'विश्व-बंधुत्व', 'मानवता की सेवा' तथा इसी प्रकार की और बहुत सी बातें सुनने को मिलती हैं, किन्तु जब ऐसे व्यक्ति यथार्थता के फंदे में पड़ते हैं, तब उनकी यह काल्पनिकता काफूर हो जाती है। मुझे एक महानुभाव के बारे में ज्ञात है कि वे वेदांत के सर्वश्रेष्ठ वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का बारंबार उच्चारण किया करते थे, किन्तु जब किसी हब्शी पर उनकी दृष्टि पड़ जाती थी तो घृणा के मारे मुंह फेर लेते थे। हमारे शिक्षित नवयुवक मानवता की कौन कहे, अपने देश के गांवों के वातावरण तक को सहन करने की क्षमता नहीं रखते। आजकल एक नारा दिया जाता है - 'गांवों की ओर लौट चलो।' किन्तु इस पुकार को सुनता कौन है ? जब वे गांवों के मानवों के अभावग्रस्त जीवन की कठोर नग्नता को देखते हैं, तब उनकी बड़ी-बड़ी बातें हवा हो जाती हैं। एक बार एक युवा व्यक्ति ग्रामोत्थान के कार्य के लिए गया। वह तिल का तेल खाने का अभ्यस्त था, जबकि उस गांव के लोग अलसी के तेल का सेवन करते थे। वह अलसी के तेल की गंध सहन नहीं कर पाता था। उसे प्रतीत होता था मानो गांव का सारा वातावरण उस विकराल दुर्गंध से भरा हुआ हो। न वह खा सकता था, न सो सकता था। वह वहां एक दिन भी न ठहर सका और वापस आ गया।

जब तक हमें अपने आदर्श के अनुरूप आवश्यक प्रशिक्षण नहीं मिलता, तब तक हम कठोर वास्तविकता की कसौटी में खरे नहीं उतर सकते। एक बार मेरी भेंट एक ऐसे युवक से हुई, जो कुश्ती की कला सीखने का इच्छुक था। किन्तु जब उससे कपड़े उतारने को कहा गया, तो घबराकर कहने लगा-'कपड़े उतार कर कुश्ती नहीं सीखनी। यदि सारे कपड़े पहने हुए कुश्ती जैसी कोई चीज हो तभी मैं इसे सीख सकूंगा। तब मैंने उसे मच्छरों के साथ कुश्ती लड़ने को कहा। जो लोग मानवता की सेवा जैसे ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें करते हैं उनकी यही गति होती है। उनके समक्ष उन आदर्शों को व्यवहार रूप देने का कठिन उत्तरदायित्व आता है, तब वे पराङ्मुख और अकर्मण्य होकर बैठ जाते हैं।

मध्यम मार्ग

'मैं और मेरा परिवार', बस, यह मनोवृत्ति पैण्डुलम का दूसरा सिरा है, जिसे लोग अपनाते हैं। एक बार एक स्थान के एक प्रमुख एडवोकेट ने मुझसे कहा –'यदि मैं सारी मानवता का विचार नहीं कर सकता, तो मैं केवल अपने परिवार का विचार क्यों न करूं ? मैंने कहा –'हमारा राष्ट्रीय वैभव और सुख उसी दिन धूल में मिल गया, जिस दिन से हमने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का विचार किया। इसी प्रकार जब हमने केवल व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की संकुचितता में अपने को लीन कर दिया, तब भी हमारी वैसी ही अधोगति हुई। अत: हमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों ही दोषों का परिहार करके मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मन की यह संतुलितता तथा साम्यावस्था हमें तभी प्राप्त हो सकती है, जब हम इन दोनों अतिरेकों के बीच वाले स्वर्ण–मध्यम मार्ग 'राष्ट्र' का विचार करें।

प्रतिक्रियावादी 'प्रगतिशीलता'

हमें समर्पण की प्रेरणा देने वाला एकमात्र आदर्श है –'राष्ट्र–सेवा।' इससे व्यावहारिक आदर्श के दोनों पक्षों–यथार्थवाद और आदर्शवाद से संबंधित आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

यह सुविदित है कि हममें सेवा की भावना उन्हीं वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जाग्रत होती है, जिनके प्रति हमारे मन में प्रेम, गर्व या श्रद्धा की भावना होती है। अत: सर्वप्रथम हमें अपने मन को अपने राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षों, यथा धर्म, इतिहास, परम्परा, जीवन–दर्शन, आकांक्षाएं, श्रद्धा एवं मान–बिन्दु आदि के प्रति उत्कट प्रेम, गर्व और श्रद्धा की भावनाओं के जागरण द्वारा सुसंस्कारित करने की आवश्यकता है।

किन्तु आजकल हमारे देश में स्वयं को 'प्रगतिशील' कहलाने वाले अनेक लोग हैं, जिन्हें हमारे समस्त प्राचीन जीवनादर्श प्रतिगामी तथा गर्हित प्रतीत होते हैं। भारतीय जीवन–मूल्यों के विपक्ष में इनका सबसे बड़ा तर्क यह है कि वे पुराने हो गए हैं। ये नूतन मसीहा नवोन्माद से पीड़ित हैं। उनके लिए पुराना सब कुछ बुरा है। वे अपने नवीन अधकचरे सिद्धान्तों को इसलिए अधिक उपादेय मानते हैं, क्योंकि वे उत्तरकालीन हैं। यह वैसा ही हास्यास्पद है, जैसे कोई डॉक्टर किसी रोगी को मर जाने की राय इस आधार पर दे कि कालक्रम में मृत्यु जीवन के पश्चात आती है। सूर्य प्राचीन है, सचमुच अत्यन्त प्राचीन हो गया है और ट्यूब का प्रकाश अंधकार–निवारण का नवीन आविष्कार है, इसलिए क्या हम सूर्य को छोड़कर उसके स्थान पर ट्यूब के प्रकाश को अपनाएंगे ?

किन्हीं वस्तुओं को केवल इसलिए व्यर्थ और प्रतिगामी बताना कि वे प्राचीन हैं, निकृष्टतम दासता ('बौद्धिक दासता') को स्वीकार करना है। इस पर भी वे बौद्धिक दास स्वयं को इस युग के 'प्रगतिशील' घोषित करते हैं। यह मनोदौर्बल्य का और बुद्धि के दिवालिएपन का सूचक है, जिसके कारण मनुष्य स्वतंत्रता एवं निर्भयतापूर्वक भावात्मक एवं पूर्ण विचार नहीं कर पाता।

मानसिक दासता

मन की दुर्बलता के बढ़ाने में सहायक दूसरा कारण है पाश्चात्य लोगों की तुलना में अपने को हीन मानने की भावना। यह भावना इस देश में ब्रिटिश शासन के दिनों से गर्हित दाय-दान के रूप में हमें मिली है। पिछली एक शताब्दी में इस देश में ऐसी अनेक विभूतियों ने जन्म लिया, जिन्होंने विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने का प्रबल उद्योग किया। किन्तु उनमें से अधिकांश के मन आंग्ल दासता से जकड़े हुए थे। इनमें पराजय और हीनता की भावनाएं घर किए हुए थीं। इसका कारण अत्यन्त साधारण है और वह समस्त सद्गुणों को धन और शक्तिमत्ता के साथ संबंधित करने व मानव-सुलभ दुर्बलता में निहित है। संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति है :

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पण्डितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः।।

इसमें यह बताया गया है कि मनुष्य का मन स्वभावतः ही श्री तथा सामर्थ्य सम्पन्न लोगों को पाण्डित्य, ज्ञान, कुलीनता आदि सद्गुणों से विभूषित मानता रहता है। जब विदेशियों के विरुद्ध भारतीयों द्वारा छेड़े गए युद्ध में अंग्रेज विजयी होते प्रतीत हुए और कुछ काल के लिए ऐसा आभास होने लगा कि मानो हम पूर्णतया पराभूत हो चुके हैं, तो देश में सर्वत्र निराशा, निश्चेष्टा और आत्मविश्वासशून्यता छा गई। इसी कारण हमारे देश के लोगों के मन में यह धारणा पोषित होने लगी कि जो विजेता जाति सैन्य-शक्ति, कूटनीतिज्ञता में हमसे बढ़कर तथा भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न है, अवश्य ही वह हमसे सभी विषयों में श्रेष्ठ होगी। यही कारण था कि हमारे यहां के लोगों ने ब्रिटिश राज्य के प्रारंभिक दिनों से ही अंग्रेजों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों की भद्दी नकल कर और पश्चिम से उधार लिये हुए विचारों को बड़े विश्वासपूर्ण शब्दों में व्यक्त करना शुरू कर दिया था। प्रत्येक यूरोपीय आदर्श, चाहे वह कितना ही बेतुका क्यों न हो, ब्रह्म-वाक्य बन गया। इसके विपरीत अपने देश की प्रत्येक वस्तु मिथ्या एवं मूर्खतापूर्ण ठहराई जाने लगी। विशेषकर समाज का पाश्चात्य ज्ञान प्राप्त शिक्षित वर्ग तो वास्तव में 'काली चमड़ीवाला अंग्रेज' ही बन गया।

अत: कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे शिक्षित व्यक्तियों ने अंग्रेजों द्वारा अत्यन्त चतुराई से प्रचारित इस असामान्य बेतुकेपन को कि हमारी पराजय और अवनति का मूल कारण हमारी जीवन-पद्धति है, बड़ी सरलता से अपने गले उतार लिया। उन्होंने स्व-संस्कृति के प्रति अवमानना तथा विदेशीय जीवनादर्श के प्रति मोहातिशयता से प्रेरित होकर हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण के प्रयत्न प्रारंभ किए। ब्रिटिश जनों ने भी अत्यन्त नीतिज्ञता के साथ देश के इस नीचे स्तर के नेतृवर्ग को संवर्धित करने का यत्न किया। विदेशी शासकों ने पददलित राष्ट्रों में स्वतंत्रता के प्रचण्ड रोष को हल्का करने के उद्देश्य से सदैव सच्चे राष्ट्रभक्त तत्वों को दबाने तथा समझौतावादी तत्वों को पोषित करने की नीति अपनाई है।

पशुता द्वारा देवत्व का मूलोच्छेदन

निकृष्ट अनुकरण की इस मनोवृत्ति का हमारे राष्ट्रजीवन पर विनाशक परिणाम हुआ। उसने हमारी जीवन-दृष्टि को बदल दिया। जैसा हमें विदित है, अनुकरण की प्रवृत्ति व्यक्ति की जीवन-दृष्टि की अंतर्निहित प्रतिभा तथा मौलिकता के सर्वथा अभाव की परिचायिका है। अत: सर्वप्रथम इस प्रवृत्ति के कारण हममें भौतिक विलास और शारीरिक सुखों के बेहद उपभोग के पाश्चात्य जीवन-ढांचे का आलिंगन करने की उन्मत्त लालसा उत्पन्न हुई और हम स्वार्थ-त्याग और आत्म-संयम के श्रेष्ठ आदर्शों को छोड़ बैठे। पाश्चात्य जीवन तो बहिर्मुखी है। भौतिक सुखोपभोग उसका चरम आदर्श है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पश्चिमी विचार का अंतर्निहित भाव यह है कि मन के ऊपर इंद्रियों को उच्छृंखल आधिपत्य की पूर्ण छूट दे दी जाए और मनुष्य को बर्बर प्रवृत्तियों का दास बना दिया जाए। हमने भी पाश्चात्यदर्शों के अंधानुकरण में 'जीवनयापन-स्तर को उठाने' का नारा प्रतिध्वनित किया, जिसका साधारण अर्थ यह है कि हम भौतिक वस्तुओं के और अधिक दास बन जाएं अथवा दूसरे शब्दों में मनुष्य को पशुता के दासत्व बंधन में और अधिक जकड़ दिया जाए। पाशविकता के इस गौरवान्वयन का ही परिणाम है कि चारों ओर स्वार्थपरता और द्वेष का साम्राज्य है। आज के नवयुवक का बस एक ही जीवन-स्वप्न है - अधिकतम आनन्द और विलास।

राजनीति-प्रोक्रस्टीज की शय्या

इस अनुकरण प्रवृत्ति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि अपने संस्कृति-प्रधान राष्ट्रीय जीवन का विस्मरण कर हम राजनीति को जीवन की धुरी मानने के थोथे

विचार के शिकार हो गए। इस विपर्यस्त विचार का अनुकरण करते हुए हमने देश की जनता को 'राजनीतिक दृष्टि से जागरूक' होने की सलाह दी। यहां तक कि हम अपने समस्त जीवन-मूल्यों को राजनीति की आवश्यकताओं के अनुसार फिर से ढालने की बात करने लगे। परिणामस्वरूप राजनीति जीवन का पर्याय बन गई और राजनीतिक अपरिहार्यता की क्षणिक सनक के अनुकूल इसे बनाने के लिए हमने अपने धर्म, अपनी भाषा और यहां तक कि अपने इतिहास को बदल डाला। राजनीति को तो प्रतिक्षण रंग बदलने वाली नीति कहा ही गया है -

'वारा 'नेव नृपनीतिरनेकरूपा।'

राजनीति तो समाज की सेवा का एक उपकरण, एक व्यवस्था मात्र है। यह बाह्य व्यवस्था ही सब कुछ या जीवन नहीं है। परन्तु हमने भ्रम से साधन को ही साध्य समझ लिया। शरीर की आवश्यकता के अनुसार मनुष्य वस्त्र पहनता है, वस्त्र के आकार और बनावट के अनुसार तो अपने शरीर की काट-छांट नहीं करता।

प्रोक्रस्टीज नामक हिंसक दस्यु की एक कथा है। कहते हैं कि वह पथिकों की असावधानता का लाभ उठाकर उन्हें आमंत्रण देकर अपने वन्य-कुटीर में ले जाता था। उसे एक खाट पर सुलाता था और यदि अभ्यागत पथिक इस खाट से लंबा होता, तो वह क्रूर लुटेरा उसकी अतिरिक्त लम्बाई को छांट देता था। और यदि छोटा होता को बलपूर्वक खींच कर उसे लंबा करता था। इस प्रकार वह डाकू पथिकों की हत्या करने के एक अभिनव ढंग को प्रयोग में लाता था। हमारे देश के नेतागण भी ठीक उसी प्रकार राजनीति की शय्या के हिसाब से हमारे राष्ट्र की काट-छांट और खींच-तान कर रहे हैं, जिसका अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि हमारा युग-पुरातन सामाजिक-जीवन पतन की भयावह दुरावस्था को प्राप्त हो गया है।

यह सुविदित है कि प्रत्येक परिवार का एक इष्टदेव होता है। किसी परिवार में इष्टदेवता के रूप में राम की उपासना होती है, किसी में भवानी की और किसी में शंकर की। इस इष्टदेवता के स्थान पर यदि किसी परिवार में किसी प्रेतात्मा की कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठा की जाए, तो उस परिवार का सर्वनाश निश्चित है। हम अपने देश में यही होते देख रहे हैं। अपने हृदयसिंहासन से प्राचीन आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के इष्टदेवता को अपदस्थ कर, उसके स्थान पर हमने भौतिकवाद तथा राजनीति की पाश्चात्य प्रेतात्मा को प्रतिष्ठित कर लिया है।

'स्व'-विरहित स्वातंत्र्य

आजकल हमें अपने जीवन में सर्वत्र अमरीका, इंग्लैण्ड या रूस की जीवन-पद्धति के अनुसार पुनः ढालने के प्रयत्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हम इसे स्वतंत्रता किस

प्रकार कहें, जिसमें 'स्व (राष्ट्रीय वैशिष्ट्य, अस्मिता) का लेश न हो। इसे तो 'परतंत्रता' ही कहना चाहिए। यदि लेनिन को आदर्श मानकर राष्ट्र-रचना की जाएगी तो फिर 'स्व-तंत्र' कहां, वह तो लेनिन-तंत्र होगा। वास्तव में हमारी ऐतिहासिक परम्परा में सदा से स्वतंत्रता का मूल अभिप्राय राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों का, अर्थात् स्वधर्म और स्वसंस्कृति का संरक्षण तथा संवर्द्धन माना जाता रहा है।

पहिया तभी घूम सकता है, जब उसका धुरा पहिए के अन्दर हो, बाहर नहीं। अपने से बाहर केन्द्र वाले वृत्त का तो अस्तित्व ही असंभव है। इसी प्रकार भारतीय जीवन का केन्द्र भारत से बाहर रहा, तो नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना न रहेगा। यदि किसी व्यक्ति की निष्ठाएं देश की सीमा के बाहर होती हैं, तो उसे हम देशद्रोही कहते हैं। तब क्या यह उससे भी बढ़कर देशद्रोह नहीं है कि हम देश की सीमा के बाहर के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करें।

कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि आप किस 'वाद' को मानते हैं। इस प्रश्न से ही स्पष्ट है कि प्रश्नकर्ता यूरोपीय विचार-पद्धति के दास हैं और उन्होंने स्वयं को यूरोपीय 'वादों' की संकीर्णता में आबद्ध कर लिया है। वे सोच भी नहीं सकते कि हमारा भी कोई अपना ठोस अधिष्ठान है, जिसके आधार पर आदर्श राष्ट्रीय जीवन का निर्माण किया जा सकता है।

हमें हीनता औरअनुकरण की इन शृंखलाओं को तोड़कर स्वयं को मुक्त करना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हमें दूसरे देशों में जो शिव और शुभ है, उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। वरन् यह कि उनको जैसे के वैसे ग्रहण न कर, उनके श्रेष्ठ तत्वों को आत्मसात कर अपने राष्ट्र-शरीर का रक्त-मांस बना लेना चाहिए। किन्तु हम तो इन पश्चिमी बातों को स्वीकार करने में अपने राष्ट्र की अस्मिता का ही त्याग कर रहे हैं। हमारी दशा इस व्यक्ति के समान होने जा रही है जो पेट में बलात् ठूंसे हुए भोजन को पचा सकने में असमर्थ और उसके भार के कारण मरणासन्न हो रहा है।

विदेशियों की यह मानसिक दासता हमारे स्वभावगत सद्गुणों को नष्ट कर हमें जगत् की दृष्टि में उपहासास्पद बना देगी। वह कुख्यात घटना तो हम सब जानते ही हैं कि हमारे देश के एक विदेशस्थ राजदूत ने पोप से बातचीत के दौरान यह कहा था कि जब तक मानव जाति के पास बाइबिल के 'सरमन आन दि माउण्ट' (ईसा मसीह के प्रवचन विशेष) की एक भी प्रति सुरक्षित है, तब तक भगवद्गीता की समस्त प्रतियां अग्नि में झोंक देने पर भी विश्व की कोई क्षति नहीं होगी। 'प्रगतिशील' थैली के ही चट्टे-बट्टे एक अन्य राजदूत ने तो जिस देश में उनकी राजदूत के रूप में नियुक्ति हुई थी, उस देश के लोगों को उपहार के रूप में भारत के राष्ट्रीय गानों के संग्रह में

सिनेमा के एक घटिया प्रेम-गीत को सम्मिलित कर दिया था। हमारे देश के सौभाग्य से उनके अधीनस्थ किसी कर्मचारी की देशभक्ति की भावना के कारण राष्ट्रीय अपमान की वह घटना होते-होते बच गई।

आत्मा-विहीन शरीर

अंधानुकरण की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य कर एक बार एक पश्चिमी सज्जन ने आलोचना के स्वर में कहा था - 'जब मैं दिल्ली आया तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं भारत में नहीं हूं, यह लंदन अथवा न्यूयार्क की सस्ती नकल मात्र है। यदि ऐसा ही चलता रहा, तो मुझे लगता है कि आपके देश का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। यह अधिक से अधिक किसी दूसरे देश का पिछलग्गू या दास राष्ट्र बन सकेगा।' यह कितनी विचित्र बात है कि जब कोई अंग्रेज हमारे देश में आता है, तो हम उससे अंग्रेजी में बात करते हैं, जब हम लंदन जाते हैं तो वहां भी अंग्रेजी ही बोलते हैं। हमें अपने 'अंतर्राष्ट्रीयतावादी' होने का अभिमान है। किन्तु यह राष्ट्रीय स्वाभिमान के निपट अभाव तथा अधम मानसिक दासता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित राजदूत पद पर नियुक्त होकर रूस गईं, तो उन्होंने अपना परिचय-पत्र अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया, किन्तु हमारे देश की राष्ट्रभाषा में न होने के कारण वह अस्वीकृत हो गया। तदुपरान्त उस परिचय-पत्र की हिन्दी प्रति प्रस्तुत की गई। उसे पुन: लौटा दिया गया, क्योंकि हिन्दी रूपान्तर में कुछ अशुद्धियां थीं। यह कितनी लज्जा की बात है।

हमारे देश में कतिपय अग्रगण्य जन हैं जो अपने लेखों और भाषणों में भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की प्रशंसा करते नहीं अघाते और इस बात का दावा भी करते हैं कि इनके आधार पर हम विश्व का नेतृत्व कर सकते हैं। किन्तु इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि वे ही लोग अंग्रेजी को बनाए रखने तथा विदेशी व्यवस्था, पद्धतियों और रीति-नीतियों को अंगीकार करने की आवाज उठाते हैं।

जिन दिनों ब्रिटिश से हमारा संग्राम चल रहा था, उन दिनों विदेशी वस्त्रों की होलियां जलीं और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। किन्तु अब जब ब्रिटिश लोग चले गए हैं, हम न केवल उनकी भाषा और वेश-भूषा से चिपके हुए हैं, वरन् आज से दस वर्ष पूर्व हम जितनी विदेशी वस्तुएं प्रयोग में लाते थे, उससे कई गुना अधिक आजकल लाने लगे हैं। जिन जीवनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में संभव नहीं, यथा सैन्योपयोगी कतिपय सामान, दवाइयां इत्यादि, उनको विदशों से आयात करने की आवश्यकता तो समझ में आ सकती है। किन्तु ताश, लिपिस्टक तथा ऐसी व्यर्थ की चीजों के लिए करोड़ों रुपए पानी में फेंकने की यह मूर्खता क्यों ?

क्रिकेट का व्ययसाध्य खेल, जो हमारे देश में न केवल फैशन बन गया है, वरन् जिसके लिए हम करोड़ों रुपए फूंकते रहते हैं, इस बात का प्रमाण है कि हमारे दिल और दिमाग पर अभी भी अंग्रेजी हावी हैं। पण्डित नेहरू और अन्य संसद-सदस्यों ने कुछ वर्ष पूर्व जो क्रिकेट का मैच खेला था, उसकी जड़ की गहराई में यह आंग्लपरता ही थी। उन्होंने अपने देश के राष्ट्रीय खेल कबड्डी को, जिसकी प्रशंसा अनेक देशों ने 'एक महान् खेल' कहकर की है, खेलना पसन्द क्यों नहीं किया?

यह भी कितनी अद्भुत बात है कि हमने पाश्चात्य सभ्यता के केवल भद्दे बाह्य स्वरूप को ही ग्रहण किया है। उनके राष्ट्रीय गौरव तथा स्वदेश भक्ति की भावनाओं, जो सम्पत्ति और विपत्ति की स्थितियों में समान रूप से पश्चिमी लोगों की प्रत्येक क्रिया को अनुप्राणित करती है, की ओर हमारी दृष्टि भी नहीं जाती। कुछ दशाब्दियों पूर्व इंग्लैण्ड को सर्वतोमुखी सम्पन्नता और वैभव के बावजूद आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था। इंग्लैण्ड के सभी नेता इस चुनौती का सामना करने के लिए एक-मत और एक-हृदय होकर जुट गए। इस हेतु उन्होंने स्वदेशी की भावना को पुनरुजीवित करने का निश्चय किया। उन्होंने इस दृष्टि से प्रदर्शनियों का आयोजन किया और अपने प्रचार-यंत्र को सक्रिय कर उसे गति प्रदान की। इंग्लैण्ड के राजा उस आन्दोलन की अग्र-पंक्ति में थे। राजा तथा इतर नेताओं ने स्वयं स्वदेशी वस्तुओं का अबाध व्यवहार करना प्रारंभ किया और इस प्रकार समूचे राष्ट्र के सामने आदर्श प्रस्तुत किया। इस प्रकार वे अपने देश को आर्थिक सर्वनाश के कगार से सुरक्षित खींच लाने में सफल हुए। इधर हम पाश्चात्य जीवन की चकाचौंध के व्यामोह में फंसे हुए स्वदेशी की भावना को तिलांजलि दे बैठे हैं और अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रास एवं सर्वनाश को बुलावा दे रहे हैं।

हमारे जीवन के पुण्यतम क्षेत्र भी इस क्षय से बचे नहीं रह सके। विवाह हमारे यहां धार्मिक संस्कार माना जाता है, किन्तु इसमें भी न केवल बरात की अगवानी के समय, अपितु शास्त्रोक्त पाणिग्रहण संस्कार के समय भी प्रायः वर की वेश-भूषा आपाद-मस्तक सूट-बूट और टाई युक्त अंग्रेज की सी ही होती है। बड़ा आघात लगता है, धार्मिक संस्कार के अवसर पर भी विदेशी व्यक्तियों का यह वानरानुकरण देखकर। हमें यत्र-तत्र-सर्वत्र यही नैराश्यपूर्ण अपमानास्पद दृश्य दिखाई देगा। जो राष्ट्र अपनी स्वजीवन-पद्धति के प्रति निष्ठावान नहीं रहते, वे अपने पांवों आप कुल्हाड़ी मारते हैं। उनका भविष्य कभी उज्ज्वल नहीं हो सकता।

हमारे पूर्वज अपने राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सचेत थे और राष्ट्रीय स्वाभिमान के भाव उनमें जाग्रत थे। यही कारण है कि वे जगत् भर में वंद्य थे। अपनी आंतरिक

गरिमा की चेतना से सम्पन्न, वे विश्व के समक्ष अपनी बातों को आत्मविश्वास के साथ रखते थे। अपने लिए वे जिस 'आर्य' शब्द का प्रयोग करते थे, वह स्वयं ही संस्कृति और चारित्र्य का द्योतक था। उन्होंने सगर्व घोषित किया था कि:

' न त्वेवार्यस्य दास्यभाव:'

(आर्य कभी दास नहीं हो सकता।) तथा

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा:।।

(मनुस्मृति २-२०)

(समस्त पृथ्वी के मनुष्य इस देश के अग्रजन्मा पुरुषों के चरणों में बैठकर चरित्र की शिक्षा लें।)

आज भी अपने राष्ट्रीय जीवन और आदर्श के प्रति उत्कट प्रेम और गर्व के भाव हमारे देश के वास्तविक उज्ज्वल स्वरूप को विश्व के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हैं। इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय में शुद्ध देशभक्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता है। ऐसे हृदयों की उष्णता और तेजोमयता ही हमारे देश में वर्तमान युग के मूढ़तारूपी अंधकार का निवारण करने में पूर्णतया समर्थ होगी।

इस दृढ़ निष्ठा को लेकर हम राष्ट्रीय कायाकल्प के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ें। अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति को विचलित करने वाले चातुर्य एवं बहुधा शठतापूर्वक तर्कों से हमें प्रभावित नहीं होना है। एक बार हमारे देश के एक अग्रगण्य व्यक्ति ने एक लेख में यह विचार व्यक्त किया था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोग 'कट्टर देशभक्त' हैं। हमें नहीं मालूम कि उनके इस कथन का आधार क्या था ? किन्तु जहां तक हमारा संबंध है, हम अनुभव करते हैं कि देशभक्ति में श्रेणियां नहीं होतीं। भक्ति तो आत्मसमर्पण की तथा अपने को बिना किसी 'स्व' का विचार किए, पूर्ण एवं नि:शेष रीति से उत्सर्ग कर देने की भावना है। सच्ची भक्ति आधे मन से कदापि नहीं हो सकती, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग इस प्रकार की विशुद्ध देशभक्ति की भावना को सहन नहीं कर सकते। हो सकता है यह इतनी उष्ण हो कि वे इसके ताप को सहन न कर पाते हों। सम्भवत: इसी से उन्हें देशभक्ति को श्रेणियों में विभाजन की आवश्यकता प्रतीत होती है : उष्ण, मंदोष्ण तथा शीतल। जिन्होंने साहसपूर्वक भक्ति का प्याला अंतिम घूंट तक पिया है, उन्हें 'मतांध' या 'कट्टरपंथी' जैसे शब्दों से भयभीत या दिग्भ्रांत होने की आवश्यकता नहीं है। हम तो ललकार कर कहते हैं - 'हां, हम इस प्रकार की उत्कट तीव्र ज्वालामयी देशभक्ति का निर्माण करने में संलग्न हैं।'

राष्ट्रीय गौरव-स्रोत

सचमुच अत्यन्त प्राचीन युग से हमारे समाज के महान् निर्माताओं के जीवन में ये गुण व्याप्त रहे हैं। नि:स्वार्थ, आत्मविश्वासयुक्त और निष्ठावान ध्येयसेवी तथा राष्ट्रीय वैशिष्ट्याभिमानी जनों ने ही सदैव विपदा के काल में अपने राष्ट्र के सुप्त पौरुष को जगाया और उसे खण्डहरों के ढेर से उठाकर पुन: गौरव के साथ खड़ा किया है। निश्चय ही ऐसे पुरुष राष्ट्र के प्राण होते हैं। प्राचीन समय में भी शिक्षित तथा मेधा-सम्पन्न युवक व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के समस्त विचार को तजकर समाज की सेवा और उन्नति के लिए अग्रसर होते रहे हैं। वे नि:स्वार्थ सेवा, त्याग और चारित्र्य की जीवित प्रतिमाएं थे। वे कंद-मूल खाकर अथवा द्वार-द्वार भिक्षा-कण मांगकर अपने भौतिक अस्तित्व को बचाए रखते थे। उनकी समस्त शक्ति सामान्य जन के कल्याण के एकमात्र कार्य में ही लगती थी। वे लोगों से मिलते थे, उनके सुख-दु:ख में समरस होते थे, उनके भौतिक अभावों और क्लेशों को शमित या न्यून करने का प्रयत्न करते थे तथा उन्हें जीवन के उच्चतम मूल्यों से अनुप्राणित करते थे। इन प्रज्ञावान, स्वार्थ-त्यागी युवकों का हृदय उच्च शिखर के समान था, जहां से प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की धाराएं प्रवाहित होकर हमारे समाज के सभी स्तरों को सिक्त कर देती थीं। वे सनातन स्रोत थे, जहां से सांस्कृतिक श्रेष्ठता तथा भौतिक ऐश्वर्य की युगल धाराएं राष्ट्रीय जीवन को आकंठ पूरित करती हुई बहती थीं और हमारे राष्ट्र को भौतिक श्री एवं आध्यात्मिक गौरव का प्रकाशस्तम्भ बनाती थीं।

मां की अभिलाषा

हम उन महान् आदर्शों के अनुसार पुन: अपना आचरण ढालें। हम वर्तमान समय के समस्त क्लैश्यकारी विचारों को तजकर, अपनी प्यारी एवं पवित्र मातृभूमि के हित, राष्ट्रीय गौरव से ओतप्रोत, सेवा, आत्मविश्वास तथा समर्पण के भव्य भावों को श्वास-प्रश्वास में बसाए हुए, सच्चे जीवन्त पुरुष बनें। इस प्रकार के ध्येय-सेवी उत्साह से प्रज्ज्वलित तरुणों का वृन्द ही हमारे देशवासियों में कार्य करने तथा देश को आभ्यंतर एवं बाह्य संकटों की विभीषिका से बचाने के लिए समुद्यत होने की प्रेरणा दे सकेगा।

हमें स्वयं को भाग्यशाली समझना चाहिए कि हम वर्तमान संकटपूर्ण घड़ी में जन्मे हैं। अपने लोग शांति, समृद्धि, श्री एवं शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र में जन्म लेने को ही सौभाग्य की बात मानते हैं। आज हमारे देश में ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में हैं, जो इस प्रकार से सोचते हें और वहां के सुख-विलासों से प्रलुब्ध होकर अमरीका, इंग्लैण्ड

आदि देशों में जा बसते हैं। किन्तु वास्तविक वीरता से युक्त पुरुष कुछ और ही सोचते हैं और इस बात के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि इस देश में रहते हुए उन्हें कठिनाइयों, अभावों, विपदाओं और कष्टों का सामना करना पड़ रहा है, जिसमें से अपने प्रयत्नों एवं संघर्षों के द्वारा उनका निवारण कर समृद्धि की ओर जाने का उन्हें अवसर मिला है। वैभव, समृद्धि तथा विपुलता के काल में हमारे जीवन का अर्थ होगा केवल जन्म लेना, कुछ काल तक सुख-सुविधापूर्वक जीवनयापन करना तथा एक दिन मर जाना, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में हमें अपने अन्दर के सर्वोत्तम को प्रकट करने, अपने पौरुष की परीक्षा करने और विश्व के समक्ष भव्यतापूर्ण प्रचण्ड व्यक्तित्व के रूप में खड़े होने का अवसर मिलता है। हमें अपनी पूर्ण उच्चता को प्राप्त करने और मानव-कल्पना की उच्चतम उड़ान के आगे की ऊँचाई तक उड़ान भरने का सुयोग प्राप्त होता है।

आज मां को अन्य सभी बातों से अधिक आवश्यकता है ऐसे पुत्रों की जो तरुण, मेधावी, त्यागी और उससे भी बढ़कर वीर्यवान तथा पौरुषसम्पन्न हों। जब नारायण (शाश्वत ज्ञान) तथा नर (शाश्वत पौरुष) का संयोग होता है, विजय निश्चित समझनी चाहिए। ऐसे प्रभावसम्पन्न पुरुष ही इतिहास के निर्माता होते हैं।

❑❑❑

३६

ध्येयवादी मनुष्य

ऊंचा किन्तु बेकार

राष्ट्र को पुनर्गठित करने का पवित्र लक्ष्य, अर्थात् अपने सभी भाइयों को समान चिरकालिक भ्रातृ-भावना में आबद्ध करने का कार्य अत्यन्त जटिल है, क्योंकि जिन्हें हम संगठित करना चाहते हैं, वे हमारे बंधु आज विविध कारणों से एक-दूसरे से पृथक् छिन्न-विच्छिन्न अवस्था में हैं। उनमें से प्रत्येक को संगठन में अनुकूल कार्य देते हुए राष्ट्र की सेवा के लिए योग्य बनाने का कार्य सरल नहीं है। इसमें अनेक प्रकार की मानव-प्रकृतियों के परस्पर व्यवहारों का समावेश होने के कारण उसके कार्यकर्ताओं के लिए आचरण के स्थूल नियमों का बनाना भी कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजी व्यक्तित्व होता है और इस कारण उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता होती है इसलिए हम यहां राष्ट्रीय लक्ष्य के प्रति निष्ठावान कार्यकर्ता के लिए मुख्य मार्गदर्शक रेखाओं पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे।

जिस समय व्यक्ति राष्ट्र के पुनर्निर्माण का ध्येय लेकर कार्य करना आरंभ करते हैं, तब उनके सामने दो मुख्य बाधाएं पग-पग पर आती हैं, इनमें से एक है राष्ट्रीय चेतना का अभाव और दूसरी है अपने लोगों में संगठित जीवन की भावना की कमी। इसलिए उन्हें दूसरों के कार्यों पर अभिप्राय व्यक्त करने का तथा उन्हें अपने से नीचा समझने का प्रलोभन सदैव प्राप्त रहता है। इससे प्राय: आत्म-श्लाघा और गर्व का उदय होता है। यह पहला गर्त है, जिससे राष्ट्रीय कार्य के कार्यकर्ता को बचना चाहिए। यह वह इस पूर्व धारणा को लेकर कार्य आरंभ करता है कि दूसरे सब लोग बेकार हैं तो भला वह लोगों के बीच कार्य किस प्रकार कर सकेगा, उनके प्रेममय सहयोग को कैसे प्राप्त कर सकेगा ?

इतना बड़ा हो जाने से क्या लाभ कि जिससे अपने ही लोगों में प्यार और मैत्री की भावना से मिल-जुलकर जी न सके। संत कबीर ने कहा है -

बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।।

तुलनात्मक दृष्टि से छोटे वृक्ष भी, जो थोड़ी छाया और थोड़े फल दे सकते हैं, उससे अधिक उपयोगी होंगे।

इसलिए यदि किसी कार्यकर्ता में महान् गुण हैं, तो भी उसे अपनी ऊंचाई से उतरकर सामान्यजनों के स्तर पर जाना चाहिए और समाज में अपने शेष भाइयों के साथ मिलना-जुलना चाहिए। उसे दूसरों के साथ इस प्रकार एकरूप होना चाहिए कि वे उसे असाधारण न समझें। अपनी योग्यता एवं त्याग की चेतना से उत्पन्न पृथकत्व की किंचित् छाया भी उसके और अन्य लोगों के मध्य में न आने पाए। अंतत: कार्यकर्ता जिन विविध सद्गुणों को स्वयं में उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, वे सब समाज-देवता के चरणों पर ही तो चढ़ाने के लिए हैं। यही है वास्तविक महानता का सार।

साधारण को महान् बनाना

इसी प्रकार से हमारे युग-निर्माताओं ने अपने समाज की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित कर एक महान अजेय शक्ति में परिवर्तित किया था। शिवाजी गरीब निरक्षर कृषकों में अत्यन्त प्रेम और भ्रातृत्व के भाव से मिले, आदर्श के वातावरण में उनका पोषण किया तथा उन्हें विजयी राष्ट्रीय वीरों के रूप में बदल दिया। वे उन लोगों तक पहुंचे, जो मुसलमान बादशाहों की गर्हित दास्य-वृत्ति को ही सब कुछ मान बैठे थे और उन्हें स्वदेश एवं स्वधर्म का कार्य करने के लिए आकृष्ट किया। अद्वितीय योद्धा मुरारबाजी देशपाण्डे एक ऐसा ही रत्न था, जिसे उन्होंने शत्रुओं से छीन लिया। उन्होंने ऐसे अनेकों को पुन: शुद्ध किया, जो मुसलमान स्त्रियों के प्रलोभन तथा मुस्लिम राजसत्ता के व्यामोह एवं अत्याचारों के कारण मुसलमान हो गए थे। उनके एक सेनानायक नेताजी पालकर, जिन्हें औरंगजेब ने पकड़कर मुसलमान बना लिया था, फिर से शिवाजी के पास आए। शिवाजी ने उन्हें पुन: हिन्दू-समाज में सम्मिलित कर लिया तथा अन्य लोग उनसे मिलने में कुछ संकोच न करें, इसलिए अपने ही परिवार की एक कन्या का उनसे विवाह करके रक्त-संबंध स्थापित कर लिया। राष्ट्र के संगठन के लिए उनकी दृष्टि कितनी व्यापक थी।

प्राचीनकाल में श्रीकृष्ण के जीवन का भी उसी प्रकार का एक उदाहरण है। विश्व को नरकासुर की भीति से मुक्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अपहृत सहस्रों स्त्रियों को उन्होंने छुड़ाया था, परन्तु इसके कारण समाज के नेताओं के सम्मुख एक गंभीर समस्या खड़ी हो गई। उस समय श्रीकृष्ण स्वयं आगे आए। उनके मस्तिष्क

एवं हृदय के अनुपमेय गुणों के कारण सारा संसार उन्हें महानतम धर्म-निरूपक मानता था। औपचारिक रूप से उन्होंने उन सब स्त्रियों को अपनी धर्मपत्नी घोषित कर उन्हें समाज में सम्मानपूर्वक स्थान प्रदान किया। वास्तव में समाज का यही उच्चतम धर्म है कि अपने प्रत्येक सदस्य, चाहे वह कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो, को समाज में सम्मानजनक एवं उपयोगी स्थान प्राप्त करा दे। कवि मोरोपंत ने कहा है -

परि प्रभुहि संग्रही सकल वस्तुला ठेविती।
गुणा न म्हणता इणा अधिक आदरे सेविती।।

(महान् व्यक्ति सभी वस्तुओं को अपने पास रखते हैं, किसी वस्तु को 'व्यर्थ' कहकर त्यागते नहीं।)

पूर्वावश्यकता

यह सत्य है कि सद्गुणों और दुर्बलताओं में सब एकसमान नहीं होते। फिर भी उन्हें समान सुगठित संगठन में एक साथ लाना पड़ता है, ताकि प्रत्येक मनुष्य को इस बात की प्रेरणा मिले कि इसमें जो कुछ शक्ति और सद्गुणों की दृष्टि से सर्वोत्तम है, उसे वह समाज के लिए अर्पण करे। उसकी उपलब्धि के लिए राष्ट्र के कार्यकर्ता में समाज के साथ पूर्ण तादात्म्य की भावना की आवश्यकता सर्वप्रथम है।

एक बार एक साधु एक कुत्ते को अपनी गोद में लिए हुए सड़क के किनारे पड़ी हुई जूठन के टुकड़ों को बड़े प्रेमपूर्वक उस कुत्ते के साथ-साथ स्वयं भी खा रहा था। उसके निकट से जाते हुए व्यक्ति ने उसे पहुंचा हुआ महात्मा जाना और उसके पास गया, किन्तु उसे देखकर वह साधु भाग खड़ा हुआ और उसे अपना पीछा करने से विरत करने के लिए उसकी ओर पत्थर फेंकने लगा। लेकिन उसे पीछा करने में दृढ़ देखकर उस साधु ने ठहर कर पूछा - 'तुम मेरे पीछे क्यों आ रहे हो?' उस व्यक्ति ने उत्तर दिया - 'महाराज, मुझे ज्ञात हो गया है कि आप पहुंचे हुए महात्मा हैं। आपने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, कृपया मुझे भी वह मार्ग बताइए।' साधु ने कहा- 'अच्छा, तुम शहर की नाली का पानी यहां बहते हुए देख रहे हो। जिस दिन तुम्हें यह अनुभूति हो जाएगी कि यह गंगा-जल से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, उस दिन तुम ईश्वर का साक्षात्कार करने योग्य हो जाओगे।' सामाजिक संगठन का कार्य, जो वास्तव में राष्ट्र-देवता का साक्षात्कार करने का ही कार्य है, उसी प्रकार की तादात्म्य की भावना के आधार पर चलाया जा सकता है, जब हम सड़क के एक भिखारी और एक महान् विद्वान दोनों ही को प्रेम और भ्रातृत्व की समान दृष्टि से देखने की योग्यता निर्माण करेंगे।

मिथ्याभिमान की वृत्ति से बचो

इस संबंध में एक ऐसी महत्वपूर्ण बात है, जो राष्ट्र के ध्येयसेवी व्यक्ति के ध्यान में सतत रहना चाहिए। उसका सभी के साथ स्नेह और घनिष्ठता का व्यवहार ऐसा हो कि इसमें दंभ और बनावटीपन का कोई चिह्न न रहे, न उसमें दयालुता के बनावटी भावों के लिए ही कोई स्थान होना चाहिए। कोई संगठन केवल शिष्ट किन्तु सारहीन व्यवहार के आधार पर पनप नहीं सकता। कार्यकर्ता की भ्रातृत्व की भावनाएं स्वाभाविक एवं स्वत:स्फूर्त होनी चाहिए। इस संपूर्ण समाज को परमात्मा का व्यक्त स्वरूप इस दृष्टि से देखते आना चाहिए। बाह्य आकृति पर विचार न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति में उसे वही दिव्यता का स्फुर्लिंग दिखाई देना चाहिए। हमारी संस्कृति आंतरिक एकता की अनुभूति से यही समानता की दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमें प्रेरित करती है।

एक बार प्रसिद्ध दार्शनिक राजा जनक के दरबार में विद्वानों की सभा में बालक महात्मा अष्टावक्र पहुंच गए। नवागंतुक की कुरूपता को देखकर एकत्रित विद्वान अपनी हँसी को नहीं रोक सके। बालक ने शांतिपूर्वक कहा – 'मैं तो यहां इसे दार्शनिकों की सभा समझ कर आया था, किन्तु अब मुझे ज्ञात हो रहा है कि मैं गलत स्थान पर आ गया हूं, क्योंकि यहां तो केवल मोची और कसाई ही है।' इस सम्मानित सभा-मण्डली को यह सुनकर बड़ा धक्का लगा। जनक ने बालक से उसके इस कथन की व्याख्या करने को कहा। बालक साधु ने उत्तर दिया – 'इन सज्जनों ने मेरी हड्डी, मांस और चमड़ी से मुझे पहचाना है। कसाई हड्डी और मांस का व्यापार करता है और मोची चमड़े का। सच्चा दार्शनिक तो मनुष्य की आत्मा को पहचानता है, जो सबमें एक ही है।'

स्वर्णिम समन्वय

कोई कितना ही गुणवान और महान क्यों न हो, उसे यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि दूसरों में भी गुण होते हैं। यह कल्पना करना धृष्टता होगी कि सर्वशक्तिमान ने ज्ञान का दीप कुछ ही लोगों को दिया है और शेष सभी को अंधेरे में रखा है। हमारे प्राचीन ऋषियों तक ने, जो अत्यन्त गर्व के साथ अपने को 'आर्य' कहते थे और जिन्होंने संपूर्ण विश्व को आर्य बनाने का निश्चय किया था, यह घोषणा की थी कि अन्यों, अर्थात् म्लेच्छों में भी उदात्त एवं श्रेष्ठ व्यवहार की क्षमता है। हमारे पूर्वजों में यह एक अद्वितीय गुण था कि वे दूसरों के आत्मसम्मान को बिना ठेस पहुंचाए उन्हें अपना बना लेते थे। राष्ट्र के पुनरुत्थान का कार्य इसी भावना, अर्थात् किसी को भी न छोड़ने और सबका सम्मान करने से चलाना चाहिए।

राष्ट्र के कार्यकर्ता को सर्वप्रथम इस दृढ़ विश्वास के साथ कार्य आरंभ करना चाहिए कि सभी व्यक्ति सद्गुणसम्पन्न, भले एवं उत्तरदायित्व निभाने योग्य हैं अथवा बनाए जा सकते हैं। किसी में भी मूर्खता या देशद्रोह की वृत्ति अंतर्निहित नहीं है। कभी-कभी उसे कुछ व्यक्तियों की आलोचना करना आवश्यक हो सकता है, जिनके विचार और कार्य राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध जाते हों, किन्तु ऐसा करते हुए भी उसे उनके व्यक्तित्व के प्रति उचित सम्मान व्यक्त करना चाहिए और उनकी अच्छी बातों को स्वीकार करना चाहिए।

सौजन्य में विश्वास का प्रतिपादन

वास्तविकता यह है कि दूसरों में भलाई को पहचान लेना मानवीय गुणों में से एक सर्वोत्तम और विरल गुण है। कार्यकर्ता के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त होना चाहिए, दूसरों के गुणों के बीजों का सिंचन करना तथा उनकी बुराइयों को सावधानी से बिना दूसरों पर प्रकट किए हुए और अपने श्रेष्ठ चरित्र का उदाहरण उनके सामने रखकर दूर करना। अनेक व्यवहारकुशल लोगों का यह उपदेश है कि लोगों से उनकी योग्यतानुसार काम के लिए आवश्यक औपचारिक व्यवहार ही करना चाहिए। किन्तु जिसने संपूर्ण समाज को संगठित करने को अपना जीवन-लक्ष्य बना लिया है, उसके लिए जैसी वृत्ति की आवश्यकता है, यह उपर्युक्त औपचारिक भाव उसके विपरीत होगा। अपने भाइयों के हाथों बार-बार झिड़की और अपमानों के होने पर भी कार्यकर्ता को उसी प्रेम और सेवा के भाव से उनके द्वार पर पुन: पुन: जाना चाहिए।'

एक बार एक साधु ने नदी में स्नान करते हुए बिच्छू को धारा में बहते देखा। उसने उसे बचाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया। किन्तु उसके डंक मारने पर उसने उसे छोड़ दिया। उसने पुन: उसको पकड़कर किनारे पर फेंक देना चाहा। बिन्छू ने पुन: डंक मारा। उसने बार-बार यह प्रयास किया और बिन्छू ने भी प्रत्येक बार डंक मारा। किन्तु अंत में उसने उसे पानी से बाहर फेंक ही दिया। एक व्यक्ति, जो वह आश्चर्यजनक दृश्य देख रहा था, बोला कि तुम कितने मूर्ख हो कि बिच्छू की डंक मारने की प्रवृत्ति को भली-भांति जानते हुए भी उसे बचाने का बार-बार प्रयत्न करते रहे। साधु ने शांति से उत्तर दिया - 'हां, जब इस प्रकार का जड़ जीव भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं त्यागता, तो क्या मेरे जैसे बुद्धिसम्पन्न मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति को त्याग देना चाहिए?'

अविचल साहचर्य का निर्माण

अंतत: इसी समाज में अपने भाइयों के संबंध में उनका हमारे प्रति जन्मजात विरोध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कार्यकर्ता को जिस उपेक्षा और विरोध का

सामना करना पड़ता है, वह उन भाइयों के अज्ञान के ही कारण है। उसका अल्पकाल टिकना निश्चित ही है। इसलिए उसे प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचना चाहिए। जीवन में उसका वर्तमान भाव और अवस्था कुछ भी क्यों न हो, उसके अंतर्जात सौजन्य में विश्वास रखते हुए मित्रता और समानता के भाव से कार्यकर्ता मिलता रहे। उसमें यह आत्मविश्वास भी होना चाहिए कि कि वह अपने विशुद्ध स्नेह और उन लोगों के प्रति सम्मान की भावना तथा अपने श्रेष्ठ चरित्र के उदाहरण द्वारा लोगों की विविध दुर्बलताओं, बुराइयों एवं स्वभावगत विभिन्नताओं पर विजय प्राप्त करेगा।

अच्छा चरित्र ही पर्याप्त नहीं होता। ऐसे भी लोग हैं, जो शुद्ध चरित्र से तो सम्पन्न हैं, किन्तु जिनकी वाणी और व्यवहार अत्यन्त अशिष्ट तथा चुभने वाले हैं। वे अपनी अशिष्टता पर गर्व भी करते हैं। वे कहते हैं - 'हम साफ-साफ बात करते हैं, यदि किसी को बुरा लगे तो हमें उसकी जरा भी परवाह नहीं।' किन्तु जिस कार्यकर्ता ने राष्ट्र के संगठन के लिए स्वयं को निष्ठापूर्वक समर्पित किया है, उसका ऐसा बनना कदापि लाभप्रद नहीं होगा। राष्ट्र के कार्यकर्ता के लिए वाणी का माधुर्य अनिवार्य गुण है। एक राजा की कहानी है, जो अपनी आयु के संबंध में सदैव ज्योतिषियों से पूछा करता था। इससे सभी ज्योतिषियों ने यही कहा कि उसका जीवन बहुत लंबा है किन्तु उसका पुत्र उसके सामने ही मर जाएगा। यह दु:खद बात स्वाभाविक ही उस राजा को क्रोधित कर देती थी और वह उन ज्योतिषियों को दण्डित करता था। अंत में एक बूढ़ा ज्योतिषी आया और उसने कहा कि महाराज आप तो बड़े ही भाग्यशाली हैं। आप अपने हाथों अपने पौत्र को राजसिंहासन पर बैठाएंगे। राजा ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उस ज्योतिषी को भली प्रकार से पुरस्कृत किया। अन्य ज्योतिषियों की भांति उसने कटु भविष्यवाणी करने के स्थान पर उसी सत्य को भिन्न प्रकार से मधुर ढंग से कहा था। इसलिए कहा गया कि 'सत्यं ब्रूयात, प्रियं ब्रूयात्।'

जब कार्यकर्ता अपने चरित्र की शक्ति के साथ वाणी एवं व्यवहार के माधुर्य का संयोग कर लेता है, तभी वह दूसरों को एकत्र कर सकता है, सभी प्रकार की परीक्षाओं एवं कष्ट में साहचर्य-भावना के साथ खड़ा कर सकता है।

चन्द्रशेखर आजाद का उदाहरण है। आजाद का नाम भी चरित्र, साहस और क्रांतिकारी भावना का एक उपाख्यान हो गया है। अंग्रेजों की संपूर्ण गुप्तचर सेना उनका पीछा कर रही थी। एक बार जब वह गुप्त रूप से अपने एक मित्र के यहां, जो सरकारी नौकर थे, रहते थे, उस समय पुलिस ने सन्देह में उस मकान को घेर लिया। वह मित्र जोर-जोर से पुलिस की बात का प्रतिवाद कर रहा था और यह विश्वास दिला रहा था कि वह चन्द्रशेखर के विषय में कुछ नहीं जानता। घर के अन्दर मित्र की पत्नी ने आवाज

सुनी। चन्द्रशेखर भी अन्दर बालकों के साथ खेल रहे थे। वह संक्रांति का दिन था। उस महिला ने एक क्षण में ही सोच लिया और डाँटती हुई जोर की आवाज में कहा – 'अरे मूर्ख नौकर, तू यहाँ बच्चों के साथ समय बरबाद कर रहा है। उठ, टोकरी ले, हमें अभी पड़ौसियों में मिठाई बांटनी है।' तुरन्त ही चन्द्रशेखर नौकर की भांति उठे और एक टोकरी सिर पर रखकर उस महिला के पीछे-पीछे चल दिए तथा पुलिस की आंखों के सामने ही घर से निकल गए। मिठाई-वितरण के पश्चात् न तो चन्द्रशेखर वापस आए और न ही टोकरी। जो व्यक्ति घर के बच्चों में आनन्द से खेलता रहता था, उसने उस परिवार की राष्ट्रभक्ति, साहस एवं विलक्षणता का वास्तविक दुर्ग बना दिया था। हम जहां भी रहें और काम करें, हमारा ढंग यही होना चाहिए, यही आदर्श होना चाहिए।

सभी सद्गुणों का एक शत्रु

जब कार्य बढ़ता है तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए प्रभावी होने लगता है, तब लोग स्वभावत: ही कार्यकर्ताओं की प्रशंसा करना आरंभ कर देते हैं। कार्यकर्ता के लिए वही खतरे का स्थान है। उसमें अपनी योग्यता और प्रभाव की चेतना जागृत होती है और उसमें एक प्रकार का मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है। तब जो भी उसके निकट आते हैं, उनकी नाक में उसके अहंकार की दुर्गंध प्रवेश करती है और वे उससे स्वयं को पर्याप्त दूर रखने का प्रयत्न करने लगते हैं। संत ज्ञानेश्वर ने अहंकार की विचित्र प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है –

नवल अहंकाराचे गोठी। विशेष न लगे अज्ञानाचे पाठी।
ज्ञानियांचे पड़े कंठी। महा संकटी घालितसे।।।

(अहंकार की गति विचित्र होती है। वह अज्ञानियों का स्पर्श नहीं करता, किन्तु विद्वानों की गर्दन पकड़ कर दबोच लेता है और उनके लिए गंभीर संकट उपस्थित कर देता है।)

अतएव उसे अत्यन्त सावधानी से सब ओर दृष्टि रखनी चाहिए, ताकि वह इस अहंकार की प्रताड़क गतिविधियों का शिकार न हो जाए। अपने गुणों का मिथ्याभिमान सभी सद्गुणों का शत्रु है। उसमें से प्रलोभन उत्पन्न होने लगते हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य में जैमिनी की एक कथा है। वह महर्षि व्यास के शिष्य थे। व्यास ने एक बार उनसे एक श्लोक लिखने के लिए कहा –

'बलवान इंद्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्शति।'

अर्थात् इन्द्रियों का आकर्षण विद्वान को भी विभ्रांत करता है।

जैमिनी को अपने आत्मसंयम की शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास था, उन्होंने कुछ शब्दों में परिवर्तन कर उसे निम्न प्रकार से लिखा–

'बलवान इंद्रियग्रामो विद्वांसं नापकर्शति',
अर्थात् इंन्द्रियों का आकर्षण विद्वान को विभ्रांत नहीं करता।

व्यास ने इसे देखा, पर शांत रहे। जैमिनी एक वन में रहते हुए तपस्या कर रहे थे। एक दिन सायंकाल वर्षा और तूफान आया। एक सुन्दर युवती पानी में भीगी हुई उस अंधकार में आश्रय खोजती हुई उस युवा तपस्वी की कुटि में आई और रात टिकने की अनुमति के लिए प्रार्थना करने लगी। धूनी में अग्नि थी, वहां जाकर वह अपने कपड़े सुखाने लगी। उसी समय हवा के एक झोंके से उसकी साड़ी उड़ गई और वह नग्न हो गई। युवा जैमिनी का संयम जवाब दे गया। वह उस तरुणी के पास पहुंचे और अपनी कामुक इच्छा को तृप्त करने की प्रार्थना करने लगे। उसने उन्हें इस काम-वासना से विरत करने के लिए प्रयत्न किया, समझाया कि वह तपस्वी हैं, उन्हें ऐसे प्रलोभनों में नहीं पड़ना चाहिए। किन्तु बस व्यर्थ हुआ। अंत में उसने इस शर्त पर उनकी इच्छा पूर्ण करना स्वीकार कर लिया कि वह उसे अपने कंधों पर बैठा कर अग्नि की तीन परिक्रमा करें। अपने कामोन्माद में वह उसके लिए भी तैयार हो गए और उस स्त्री को अपने कंधों पर उठा लिया। जैसे ही उन्होंने अग्नि की परिक्रमा आरंभ की, वह उनके सिर को पीटते हुए उलाहना देकर पूछनी लगी - 'विद्वांसं नापकर्शति?' उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक स्त्री उनके गुरु के वचनों का उन्हें स्मरण दिला रही है। उन्होंने अपनी परिक्रमा समाप्त कर उसे कंधे से उतारकर जब खड़ा किया, तो यह देखकर चकित रह गए कि स्वयं उनके गुरु वेदव्यास सामने खड़े हुए उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके अधरों पर एक सार्थक मुस्कान है। जैमिनी पश्चात् में डूब गए। वे तुरन्त गए और उस श्लोक को मूल रूप में परिवर्तित कर दिया।

आत्मविश्वासी बनो

हमारे सभी महापुरुषों ने निश्चल भाव से यही आज्ञा दी कि प्रत्येक व्यक्ति को वह कितना ही भला और सद्गुणसम्पन्न क्यों न हो, अपने सब व्यवहारों में नम्र एवं कुशल होना चाहिए। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि लोगों के साथ कार्य करते हुए अथवा कठिन परिस्थितियों का सामना करते समय कार्यकर्ता का अपना आत्मविश्वास खो देना चाहिए। सभी बड़े कार्यकर्ताओं में आत्मविश्वास तो वास्तविक रूप से उनका जीवन-प्राण होता है।

शांत, स्थिर एवं आत्मविश्वासी मनुष्य ही कठिनतम कामों को कर सकते हैं। इंग्लैण्ड के पुरुष-सिंह विंस्टन चर्चिल का वह चित्र हमारे सामने निराकुल आत्मविश्वासी मस्तिष्क की शक्तियों की कल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें वह द्वितीय विश्व-युद्ध में बम-वर्षा से ध्वस्त लन्दन नगर के ध्वंसावशेष के एक ढेर पर सीधा खड़ा हुआ अपने

देशवासियों से कह रहा है कि 'मैं यहां रोने नहीं आया हूं, वरन् रक्त, स्वेद, परिश्रम, आंसू तथा विजय का आश्वासन देने आया हूं।'

जैन साहित्य में एक सुन्दर कथा है। एक बार श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकि एक वन में भटक गए। उन्होंने एक वृक्ष के नीचे रात्रि बिताने का विचार किया और यह निर्णय किया कि प्रत्येक दो-दो घण्टे पहरा देगा। आरंभ में सात्यकि जागता रहा और अन्य दोनों सो गए। किन्तु थोड़ी देर बाद एक ब्रह्मराक्षस पेड़ पर से कूदा और उसने सात्यकि को धमकाया कि वह तीनों को खा जाएगा। सात्यकि को क्रोध आया और वह उस राक्षस से युद्ध करने लगा। किन्तु सात्यकि को यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वह राक्षस आकार और शक्ति में बढ़ता ही जा रहा है। सात्यकि अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। दो घण्टों के बाद पूर्णतया थककर उसने बलराम को जगाया और स्वयं सोने चला गया। जैसे ही सात्यकि ने अवकाश लिया कि राक्षस भी लुप्त हो गया। किन्तु जब बलराम उठे, तो पुन: प्रकट हुआ। बलराम ने उसकी अपार शक्ति को जानकर क्रोध से मत्त होकर उससे युद्ध करना शुरू किया, किन्तु उनकी भी वही दशा हुई। दो घण्टे के व्यर्थ युद्ध के पश्चात् उन्होंने भी श्रीकृष्ण को जगाया और सोने के लिए चले गए। राक्षस श्रीकृष्ण के सामने भी आया, किन्तु वे शांत बने रहे। उन्हें अपनी अति विशाल शक्तियों का ज्ञान था और जानते थे कि राक्षस से कैसे निपटना चाहिए। उन्होंने हँसी-मजाक करते और खेल करते समय राक्षस पर आघात करना शुरू किया। और कैसा आश्चर्य ! जैसे-जैसे श्रीकृष्ण इस प्रकार से लड़ते रहे, राक्षस आकार में छोटा होने लगा। अंत में श्रीकृष्ण ने उसे पकड़कर अपने वस्त्र के एक कोने में बांध लिया। प्रात:काल जब बलराम और सात्यकि जगे, उन्होंने श्रीकृष्ण को बहुत प्रशांत और विश्रांत अवस्था में पाया, मानो कुछ कुछ हुआ ही न हो। उस समय उन्हें महान् आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने देखा कि वह भयंकर राक्षस एक छोटे कीड़े के समान श्रीकृष्ण के वस्त्र के कोने में बंधा है।

अपनी स्वयं की शक्ति में उत्कट आत्मविश्वास से प्रसूत मस्तिष्क की शांति निश्चित रूप से शक्ति का अक्षय स्रोत होती है। क्रोध एवं उत्तेजना शांत निर्णय तथा दृढ़ क्रिया को नष्ट कर देती है।

फिर भी कार्यकर्ता को आत्मविश्वास के नाम पर गर्व का शिकार नहीं होना चाहिए और न विनीत तथा नम्र बनने के प्रयास में आत्मविश्वास को ही खो देना चाहिए। मन की इस सही संस्थिति को उद्योगशीलता के द्वारा निर्माण करना चाहिए।

मन की इस समता को विकसित करने के लिए अपने विगत इतिहास के महापुरुषों के चरित्रों पर एक दृष्टि डालना, प्रेरणादायी सहायता सिद्ध होगी। हम इन

अत्युच्च व्यक्तियों के समक्ष कितने छोटे, कितने क्षुद्र मालूम पड़ते हैं, जो स्वार्थ-त्याग, धैर्य एवं पौरुष के चरम उत्कर्ष पर पहुंच गए थे। विचार एवं कर्म के इन श्रेष्ठ व्यक्तियों की तुलना में हमारे पास ऐसा क्या है, जिस पर हम गर्व करें ? हमें इन ज्ञान की एक बूंद भी प्राप्त नहीं हो पाई है, जिसे शंकराचार्य ने अपनी ३२ वर्ष की छोटी आयु में ही प्राप्त कर लिया था। बाल्यावस्था में ही उन्होंने संन्यासी का कठोर जीवन ग्रहण कर लिया था और राष्ट्र-पुनरुत्थान का संदेश देश के चारों कोनों तक ले गए थे। उन्होंने अकेले ही पृथ्वी और आकाश को हिला दिया तथा लोगों में एक बार पुन: अपने परम्परागत जीवन-मूल्यों की वास्तविक चेतना को जागृत कर दिया। इस प्रकार के दीप्तिमान जीवनों का सतत स्मरण हमारे हृदयों को अपनी दीप्ति से प्रकाशित कर आत्मविश्वास और आत्मविलोपन के साथ उनके पद-चिह्नों पर चलने की प्रेरणा देता है।

'निरहंकारिता' ही सफलता है

यदि कार्यकर्ता में अहंकार और मिथ्याभिमान का लेश भी रहा, तो वह सौहार्द और तादात्म्य की सच्ची भावना से अपने समाज के सुख-दु:ख के साथ समरस नहीं हो सकेगा। सच्ची मैत्री की यह परीक्षा है कि अपनी प्रतिकूल आलोचनाओं को सुनकर भी बुरा न माने। यदि कोई व्यक्ति कुछ ऐसी बात उसके प्रति कहता या करता है, जो दूसरों की दृष्टि में उसे हानि पहुंचाने अथवा अपमानित करने वाली लगती है, फिर भी वह उसकी चोट को अल्पमात्रा में भी अनुभव नहीं करता, तभी वह उस व्यक्ति के प्रति सच्ची मित्रता का अधिकार जता सकता है।

एक छोटी सी कविता है जो इस भाव को अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त करती है। एक युवक और युवती में परस्पर बड़ा प्यार था। किन्तु उस लड़की के माता-पिता उसे उस युवक के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं दे रहे थे। इसलिए वे दूर के एक एकान्त स्थान में मिले। वह युवक कविता से कहता है - 'मैंने उसका गला घोंट दिया और मार डाला, किन्तु उसे पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ।' इसका यही अर्थ होता है कि जब सच्चा प्रेम है तो पीड़ा अथवा नाराजगी का लेना-देना नहीं रह जाता। यदि अप्रसन्न होने की भावना रही, तो इसका अर्थ है कि हमने अहंकार को वास्तव में मिटाया नहीं है। यही वह कसौटी है, जिसे हमें इस प्रकार के प्रत्येक अवसर में अपने पर लगाना चाहिए।

जब कार्यकर्ता अपने अहंकार को पूर्ण एवं बिना किसी दुराव के अपने चुने हुए जीवन-लक्ष्य की वेदिका पर समर्पित कर देता है, तभी वह स्वयं को इसका योग्य माध्यम बना सकता है। एक अच्छा सुर मिलाया हुआ संगीत का यंत्र ही किसी विशेषज्ञ के हाथ में मधुर गान के स्वर झंकृत कर सकता है। उसी प्रकार जब कार्यकर्ता

अपनी अहं प्रकृति के सभी कोणों को घिस डालता है, तभी उसकी प्रत्येक बात तथा व्यवहार में आत्मविश्वास एवं ध्येय के प्रति उत्साह का प्रेरणादायी स्वर उठने लगता है।

कुछ लोग हैं, जो कहा करते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां नहीं बदली जा सकतीं। वे कुत्ते की पूंछ के समान हैं, जो प्रत्येक बार सीधी करने के प्रयत्न करने पर टेढ़ी हो जाती है। किन्तु यह केवल अर्ध सत्य है और इन्हीं पर लागू होता है, जिनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। एक लक्ष्योन्मुख मनुष्य के लिए।

'नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाए'

यह संदेश पूर्ण रूप से ठीक है। स्मरण रखो - 'प्रत्येक संत का अतीत है और प्रत्येक पापी का भविष्य।' यह भाव कि 'मुझमें परिवर्तन नहीं होगा, मैं जैसा कुछ हूं, मुझे ग्रहण करो' - समाज को संगठित करने के लिए लाभदायक नहीं। वह तो इस पायदान के समान है, जिस पर लिखा रहता है- 'मेरा उपयोग करो।' क्या जीवन समर्पित किए हुए एक निष्ठावान सजीव मनुष्य में और एक जड़ वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता ? नियमित चिंतन एवं आत्मनिरीक्षण से कार्यकर्ता को सभी आवश्यक गुणों का अपने में विकास करना चाहिए और अपने नियत आदर्शों की प्राप्ति में सफल होने के योग्य अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए।

एक जीवन, एक लक्ष्य

आत्मनिरीक्षण के द्वारा कार्यकर्ता इस बात का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि उसने राष्ट्रीय जीवन के आदर्श के साथ तादात्म्य प्राप्त करने में कितनी प्रगति की है तथा कहां तक वह आदर्श उसके जीवन का ऐसा सर्वग्रासी अंतर्वेग बन गया है, जो उसके विचारों, भावनाओं तथा क्रियाओं को सबके साथ या एकान्त में भी संचालित करता रहे। उसके एकान्त में किए हुए विचारों और कार्यों से ही मनुष्य के वास्तविक चरित्र का पता लगता है। विशेषतया आजकल जब युवा मस्तिष्क सब प्रकार की अश्लील चित्र, गाने, सिनेमा, उपन्यास तथा मनोविनोद जैसे आधुनिक सभ्यता के अगणित प्रलोभनों से घिरे हुए हैं, तब अनजाने में ही भावों को ग्रहण करने के बहुत अवसर रहते हैं। अनेकानेक आकर्षण उसे विभिन्न दिशाओं में खींच रहे हैं और यदि वह पूर्ण सावधान नहीं रहता, तो उसका मन तूफानी समुद्र में पतवारहीन जहाज के समान हो जाएगा। इस प्रकार का अस्थिर मन व्यक्ति को नष्ट कर देता है। कहा है-

'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः।'

(अस्थिर मनवाले की प्रसन्नता भी खतरनाक होती है।) फिर ऐसे मस्तिष्क की उस अवस्था के विषय में क्या कहा जाए, जब वह क्रोध के आवेश में हो। अतः जो कार्यकर्ता एक ध्येयनिष्ठ समर्पित जीवन जीना चाहता है, उसके लिए

चारों ओर के उन आकर्षण तथा दुराचार के वातावरण में यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सदा कठोरता के साथ आत्मनिरीक्षण करता रहे।

अपनी इच्छा के सतत एवं सचेतन प्रयोग के द्वारा कार्यकर्ता को उस अवस्था की उपलब्धि हो सकती है, जिससे वह सभी सांसारिक प्रलोभनों के होते हुए भी राष्ट्रीय पुनरुत्थान के अपने चुने हुए लक्ष्य पर अपनी संपूर्ण शक्तियों को केन्द्रित कर देता है। क्योंकि पवित्रता एवं दिव्यता की शक्तियां बुराइयों के आकर्षणों से अधिक बलवती होती है तथा सदैव कार्यकर्ता के साथ रहकर सत्य भाव से किए गए उसके छोटे से छोटे प्रत्येक प्रयत्न पर अपने दैवीय पंखों की छाया किए रहती हैं और उसे अधिकाधिक शक्ति प्रदान करती रहती हैं। ऐसी अवस्था में उस आदर्श की पूर्ति में ही उसके जीवन का एकमात्र आनन्द और सांत्वना होगी। उस आनंद के सामने अन्य सभी बाह्य आकर्षण नीरस हो जाएंगे।

एक बार लोकमान्य तिलक एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ के गायन के कार्यक्रम में ले जाए गए। संगीत से विशाल दर्शक-समाज आनन्दमग्न हो गया, किन्तु तिलक उसी प्रकार अप्रभावित बैठे रहे। संगीतज्ञ ने इस बात को देखा और तिलक जी से पूछा कि क्या संगीत उनकी रुचि का नहीं था। तिलक जी ने उत्तर दिया, 'नि:सन्देह तुम बहुत ही सुन्दर गाते हो। किन्तु मेरे कान भगवद्गीता के स्वर्गीय संगीत से पूर्णरूपेण भरे हुए हैं, इसलिए मैं आपके संगीत का आनन्द नहीं ले सका।'

आत्मसमर्पण का आनन्द

आदर्श के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से भरे हुए हृदय में उठने वाले स्वाभाविक आनंद एवं प्रेरणा के स्रोत, उस अंधकार तथा नैराश्य की सभी शक्तियों को पराभूत कर देंगे। दो योगियों के बारे में एक कथा है। वे परमात्मा के साक्षात्कार के लिए कठोर तपस्या कर रहे थे। नारद जी उसी मार्ग से भगवान के लोक को जा रहे थे। उन योगियों ने नारद से प्रार्थना की कि वे भगवान से यह बात ज्ञात कर उन्हें सूचित करें कि उनके साक्षात्कार के लिए उन्हें और कितने जन्मों तक तपस्या करनी पड़ेगी ? वापसी में नारदजी उन दोनों योगियों से पुन: मिले। पहले से उन्होंने कहा- 'केवल चार जन्म। यह सुनते ही उस योगी को बड़ी निराशा हुई और वह रोकर कहने लगा 'हे ईश्वर, अभी भी चार जन्म।' दूसरे से नारद ने कहा - 'तुम्हें तो अभी इतने जन्मों तक प्रतीक्षा करनी होगी, जितने कि उस सामने के इमली के पेड़ में पत्ते हैं।' किन्तु नारद को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह तो आनन्द से नाचने लगा। जब नारद ने इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया -'अब मुझे ईश्वर तक पहुंचने के पूर्व की ठीक-ठीक जन्म-संख्या मालूम हो गई है। उसके पश्चात् मैं निश्चय ही ईश्वर से

मिलूंगा। यह सच में कितनी बड़ी सांत्वना की बात है।' जैसे ही उसने यह कहा, आकाशवाणी सुनाई दी- 'तुम तो इसी क्षण एक ऐसी आत्मा हो जिसे ईश्वर का साक्षात्कार हो गया।' इस प्रकार की जीवन भर के लिए अध्यवसाय की भावना, पूर्ण विश्वास एवं अविचल इच्छा-शक्ति ही चमत्कार दिखा सकती है।

आगे, और अधिक आगे बढ़ना

बिना अत्यधिक कष्ट और त्याग के महान् कार्य सम्पन्न नहीं हुआ करते। कार्यकर्ता को इसके लिए व्यक्तिगत और पारिवारिक सुखों के रूप में भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा तथा ध्येय-पथ पर चलते हुए कष्टों एवं संकटों के जीवन को मुस्कराते हुए स्वीकार करना होगा। कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन की संकटों से भरी यात्रा के लिए मार्गदर्शक रूप में श्रीराम का दीप्तिमान उदाहरण ध्रुव तारे के समान है। बाल्यावस्था में ही वे विश्वामित्र के द्वारा माता-पिता से दूर ले जाए गए। इस प्रकार राजकुमारों के जीवन को त्यागकर वनवासियों का जीवन बिताना पड़ा और राक्षसों से युद्ध भी करना पड़ा। बाद में जब सीता का पाणिग्रहण करके वे अयोध्या लौट रहे थे, तब भीषण परशुराम का सामना करना पड़ा। उसके पश्चात् चैन की सांस भी ले पाने तथा सुख-भोग कर सकने से पूर्व ही चौदह वर्ष के लिए वनवास की यात्रा करना पड़ी। वे चौदह वर्ष भी विघ्न-बाधाओं तथा राक्षसों के साथ संघर्ष से भरे हुए थे। उन्हीं वर्षों में रावण द्वारा सीता-हरण तथा लंका में महायुद्ध हुआ। जैसे ही लौटकर अयोध्या आए और राजा के रूप में अभिशिक्त हुए, वैसे ही उन्हें राजा का कर्त्तव्य निभाने के कारण एक विशेष अवस्था में सीता को त्यागना पड़ा। दुर्वासा के क्रोध का शमन करने के लिए और उनके क्रोध से अयोध्या को नष्ट होने से बचाने के लिए लक्ष्मण को भी उन्हें त्यागना पड़ा, जिन्होंने सभी विपत्तियों में छाया के समान उनका अनुसरण किया था, जो उनको प्राणों के समान प्रिय थे। निश्चय ही उनका जीवन सभी चारित्रिक एवं योग्यताओं के मानदण्डों के अनुसार अद्वितीय था और कष्ट सहने तथा त्याग में भी अद्वितीय था।

एक छोटी सी कविता है, जिसमें एक युवक की कहानी है, जो वर्षा और तूफान में पहाड़ी मार्ग पर अपने हाथ में एक झण्डा उठाए हुए जा रहा है, जिस पर 'उत्कर्ष' चिह्न अंकित है। थोड़ी देर के बाद उस अंधकार में उसे एक छोटा-सा झोंपड़ा दिखाई देता है जिसमें दिया जल रहा है। जैसे ही वह उसके निकट पहुंचता है, एक वृद्धा झोंपड़े से बाहर आकर उसे रोकती है और कहती है - 'मेरे बच्चे, इस तूफान और वर्षा में तुम कहां जा रहे हो ? मेरे कोई अपना पुत्र नहीं है। तुम यहां रहो और हमारी सम्पूर्ण सम्पत्ति का भोग करो।' किन्तु उस युवक ने उसकी बात पर ध्यान

नहीं दिया। तभी उसकी सुन्दर पुत्री बाहर आती है और उस सुन्दर तथा सुदृढ़ युवा को अपनी मोहक वाणी से संबोधित करती है- 'मैंने अभी तक अपना हृदय किसी को अर्पण नहीं किया है, किन्तु अब मैंने वह तुम्हें दिया। कृपया यहीं रहिए।' उस युवक का उत्तर वैसा ही दृढ़ था। वह कहता है - 'मैं तो आगे जाता हूं। कोई वस्तु मुझे रोक नहीं सकती।' इतना कहकर वह आगे बढ़ गया।

इसी प्रकार की एक घटना तात्या टोपे के जीवन में वास्तविक रूप से घटित हुई थी। तात्या टोपे सन् १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम के अद्वितीय सेनानायक थे। 'अजीजन' नाम की एक मुसलमान नर्तकी उस सेनानायक के पुरुषोचित्त सौन्दर्य पर मोहित हो गई। उसने उसके हृदय को जीतने के लिए अपने सभी आकर्षणों का उपयोग किया। किन्तु तात्या टोपे ने उससे कह दिया -'देखो, तुम जानती हो कि मेरे जीवन की एक ही अभिलाषा है कि अंग्रेजों को देश के बाहर निकाल दिया जाए। मुझमें किसी दूसरे विचार के लिए स्थान ही नहीं है। पर तुम यदि सचमुच मुझे प्यार करती हो और मेरे हृदय को आनंद पहुंचाना चाहती हो, तो उस श्रेष्ठ कार्य में मेरा हाथ बंटाओ।' अजीजन तुरन्त तैयार हो गई। उसने अपनी संपूर्ण सम्पत्ति तात्या टोपे को दे दी और उसकी योजना के अनुसार अंग्रेजी सेना के शिविर में गई। वहां उसने अपने रूप-लावण्य से उन कप्तानों को मोहित किया तथा सभी गतिविधियों में साथ रहकर उनकी योजनाओं को राष्ट्रीय विप्लव के नेताओं तक पहुंचाती रही। युद्ध में भी अपने जीवन के अंत तक वह लक्ष्य के प्रति प्रामाणिक रही।

ऐसे होते हैं वे व्यक्ति, जो अपने स्पर्श मात्र से निकृष्ट को उत्कृष्ट बना सकते हैं, सभी कठिनाइयों को सुअवसरों में परिवर्तित कर सकते हैं तथा अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए महान संग्राम में सम्मोहनों को भी अपना सहायक बना सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में -'वे भीषण की पूजा करते हैं और संकटों में ही जीवित रहना उन्हें प्रिय है। स्नायुओं में यौवन की जोशीली शक्ति तथा नेत्रों में आदर्शवाद की चमक लिए हुए सम्मोहनों एवं प्रतिकूलताओं के सभी तूफानों में सुस्थिर अविचल खड़े हुए और अपने चारों ओर प्रेरणा की किरणें विकीर्ण करते हुए वे विजयिष्णु भाव से आगे बढ़ते जाते हैं। जब तक उन्हें अपने स्वप्नों का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, वे एक के बाद दूसरी सफलता को प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते ही जाते हैं।'

❑❑❑

३७

*मूर्तिमान् आदर्श

जन्मजात देशभक्त

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा. केशव बलीराम हेडगेवार का जन्म नागपुर में १८८९ में हुआ। अपने बाल्य-काल से अन्तिम क्षण पर्यन्त उनका जीवन मातृभूमि के निमित्त एक सतत जलने वाले दीपक की स्थिर ज्योति के समान जलता रहा। आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही उन्होंने विक्टोरिया महारानी के जन्म-दिवस पर स्कूल में दी गई मिठाई को घृणा के साथ यह कहते हुए फेंक दिया कि यह दासता का द्योतक है। अपने गुरुजनों को वे अपने विचित्र प्रश्नों द्वारा चकित कर दिया करते थे। वे पूछते थे - 'हजारों मील की दूरी से आने वाले ये अंग्रेज हमारे शासक कैसे बन गए?' जब वे हाईस्कूल में थे, वे नागपुर के विद्यार्थियों में 'वन्देमातरम्' आन्दोलन की ज्योति प्रज्ज्वलित करने के कारण स्कूल से निकाल दिए गए थे। ऐसा प्रतीत होता है मानो विशुद्ध देशभक्ति की भावना उन्होंने अपनी माता के उदर से ही ग्रहण की थी।

असामान्यों में भी दुर्लभ

पूना से हाईस्कूल उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने क्रान्तिकारियों के आन्दोलन का अध्ययन निकट से करने तथा उसमें भाग लेने के लिए कलकत्ता जाने का निश्चय किया, जो उस समय उन लोगों का आवास माना जाता था। वे शीघ्र ही बंगालियों के जीवन तथा रीति-रिवाजों के साथ समरस हो गए। वे वहां विभिन्न राजनीतिक तथा सामाजिक गतिविधियों में निमग्न हो गए और शीघ्र ही देश के सभी भागों से आये हुए देशभक्त युवकों के एक समूह के प्रेरणा केन्द्र बन गए।

जब वे तरुण एवं प्रतिभाशाली डाक्टर के रूप में नागपुर लौटे, तो उनके अपेक्षित भावी 'उज्ज्वल जीवन' की मुग्ध आशाएं लिए अनेक नेत्र उनकी ओर देख रहे थे। विवाह के अनेक प्रस्ताव भी उनसे किए गए, किन्तु उनका जीवन परिवार की

* संघ शिक्षा वर्ग (तृतीय वर्ष) नागपुर में श्री गुरुजी के बौद्धिक वर्ग से संकलित।

संकुचित सीमाओं में आबद्ध रहने वाला जीवन नहीं था। ऐसे सब प्रस्तावों के प्रति अन्तिम उत्तर के रूप में उन्होंने अपने चाचा श्री आबाजी हेडगेवार को लिखा –'मेरा जीवन एक आदर्श के हेतु प्रतिज्ञाबद्ध है। मैंने उसकी वेदी पर अपने सर्वस्व की बाजी लगा दी है। ऐसी अवस्था में निजी सुखोपभोग या पारिवारिक जीवन के लिए मेरे पास अवकाश एवं शक्ति कैसे सम्भव है ?'

यह स्मरण रखना चाहिए कि उनका जन्म निपट दारिद्र्य में पिस रहे परिवार में हुआ था। हममें राष्ट्र-कार्य के लिए आगे आने वाले ऐसे व्यक्ति मिल सकते है जो सम्पन्नता में जन्मे हैं तथा जिनको अपने अथवा अपने बन्धु-बान्धवों की उदरपूर्ति के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यद्यपि नि:सन्देह ऐसे उदाहरण भी बिरले ही होते हैं। परन्तु डाक्टरजी इन असामान्यों में भी दुर्लभ थे। यद्यपि निपट दारिद्र्य एवं अर्द्ध-बुभुक्षा से उनका सामना था, फिर भी उन्होंने अपने अथवा अपने परिवार के लिए कभी एक पैसा भी कमाने का विचार तक नहीं किया। यद्यपि वे एक डाक्टर थे, उन्होंने कभी डाक्टरी नहीं की। उन्होंने 'राष्ट्र का डाक्टर' बनना अधिक पसन्द किया।

एक दीप के सदृश

उनके अन्त समय तक भयानक गरीबी उनकी अविचल सहचरी बनी रही। महीनों वे दिन में एक बार भोजन, सो भी कठिनता से पाकर ही चलते रहे। बहुत बार उनके कपड़े फटे रहते थे। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं का अभाव उन्हें सदैव ही बना रहा।

एक दिन एक सज्जन डाक्टर जी से मिलने आये। जैसे ही बातचीत समाप्त होने वाली थी, डाक्टर जी ने उनसे चाय पीने के लिए रुकने का अनुरोध किया और अपनी भाभी को चाय तैयार करने के लिए कहलवाया। दस मिनट व्यतीत हो गए और चाय नहीं आई। दूसरे दस मिनट गए चाय फिर भी नहीं आई। वह सज्जन जाने की जल्दी में थे। मामला क्या है, यह जानने के लिए डाक्टर जी अन्दर गए और उन्हें ठण्डे पानी तथा एक कोने में चुपचाप बैठी अपनी भाभी के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई दिया। बाजार जाने और आवश्यक वस्तुएं लाने के लिए भी और कोई नहीं था, अत: डाक्टर जी स्वयं बाहर गए, चीनी एवं चाय की पत्ती लाये और कुछ समय के पश्चात् उन सज्जन को चाय पिलाई गई। वे सज्जन पर्याप्त चतुर थे और स्थिति को समझ गए। उस समय तक उनको डाक्टरजी की आर्थिक दुरावस्था का किंचित भी आभास नहीं था, यद्यपि वे उनसे बहुत काल से परिचित थे। वास्तव में डाक्टरजी का सदैव

मुस्कुराता हुआ चेहरा, उनसे विकीर्ण होने वाला समुत्साह, उनकी संक्रामक हँसी, सब ओर उल्लास एवं माधुर्य बिखेरने वाला उनका मोहक व्यवहार देखकर जिस कठोर स्थिति में वे रह रहे थे, उनकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था। वे एक ज्योति के समान थे जो स्वयं मौन जलती रहती है परन्तु सब ओर ऊष्णता तथा प्रकाश बिखेरती रहती है।

उस घटना के तुरन्त पश्चात उन सज्जन ने मुझे बुलाया और डाक्टरजी की आर्थिक स्थिति के बारे में विस्तारपूर्वक पूछा। उनकी निर्धनता की चरम स्थिति को जानकर वे स्तम्भित रह गए। वे उद्विग्न हो उठे और नाराज होकर मुझसे पूछा- 'आपने उनकी आर्थिक चिन्ताओं को दूर करने का प्रबन्ध क्यों नहीं किया?' मैंने उत्तर दिया- 'एकादशी शिवरात्रि की उदरपूर्ति कैसे कर सकती हैं ?' वे क्षण भर के लिए गम्भीर हो गए और मुझसे कहा -'मैं यह कदापि सहन नहीं कर सकता। आपको मुझसे कम से कम उनके अतिथियों का खर्च चलाने के लिए प्रत्येक माह २५ रुपया अवश्य स्वीकार करना चाहिए। परन्तु ध्यान रहे यह बात डाक्टरजी के कान तक न पहुंचनी चाहिए।' मैंने उन्हें सुझाव दिया कि वे स्वयं डाक्टर जी से प्रस्ताव करें। परन्तु इस बारे में डाक्टर जी के दृढ़ विचारों को जानते हुए डाक्टर जी से इस विषय पर बात छेड़ने का साहस नहीं हुआ और बात यहीं समाप्त हो गई।

एक सूक्ति भी असत्य सिद्ध हुई

अपने प्रचण्ड आदर्शवाद के अतिरिक्त वे सर्व सद्गुणों में असामान्य गुण, जीवन में स्वीकार किए हुए लक्ष्य के अनुकूल अपने आप को गढ़ने की इच्छा के ज्वलन्त उपमान थे। अपनी उग्र एवं साहसी प्रकृति के लिए सुपरिचित एक परिवार में उनका जन्म हुआ था। डाक्टर जी ने भी उस 'पैतृक विरासत' को ज्यों का त्यों उत्तराधिकार में प्राप्त किया। बहुधा ऐसा कहा जाता है कि पैतृक प्रवृत्तियों तथा स्वभाव बदलना अत्यन्त कठिन होता है - 'स्वभावे दुरतिक्रमः'। यह विचित्र लोकोक्ति 'व्यक्ति को अपने माता-पिता के चयन में सावधान रहना चाहिए' इसी विचार को अभिव्यक्त करती है। किन्तु डाक्टरजी ने ऐसे सभी आत्म-दुर्बलकारी विचारों को मिथ्या सिद्ध कर दिया। जिस दिन से उन्होंने एक ऐसे संगठन का निर्माण करने का निश्चय किया, जिसमें विभिन्न प्रकृतियों तथा गुणों के व्यक्तियों को एक में मिलाकर एक संगठित एवं सामंजस्य पूर्ण समष्टि का निर्माण करना था, उन्होंने स्वयं को बदल डालने का निश्चय कर लिया। जिन्होंने उनको पहले देखा था, वे उनको पूर्णतया बदले हुए देखकर आश्चर्यचकित हुए। उनके द्वारा संगठन की स्थापना के

पश्चात् शायद ही किसी ने उनको कठोर शब्द प्रयोग करते हुए अथवा उग्रतम उत्तेजना के अवसर पर भी विक्षुब्ध होते हुए देखा होगा। यदि कोई उनसे कठोरता के साथ बोलता भी था, तो वे मुस्कुरा भर देते थे और वह मुस्कुराहट विरोध की तीक्ष्णता को समाप्त कर देती थी। नि:सन्देह, उनकी अन्तरतम की ज्वाला कभी फूट भी पड़ती थी, परन्तु ऐसा तभी होता था जबकि वे हमारे राष्ट्र पर अपमान तथा कलंक की बौछार होते तथा हमारे समाज द्वारा उन सबको चुपचाप सहन करते हुए देखते थे।

अविचल रहकर तथा विलक्षण आत्म-चेष्टा द्वारा उन्होंने हमारी सांस्कृतिक परम्परा के उच्चतम मूल्यों पर आधारित राष्ट्रीय पुनर्गठन के जीवन लक्ष्य के लिए समर्पित कार्यकर्ता के एक प्रेरक एवं जीवन्त उदाहरण के रूप में स्वयं के प्रत्येक सूक्ष्म विवरण को परिवर्तित कर लिया था। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह समझ लिया था कि उग्र सार्वजनिक भाषण, अवसर पर भले ही जोश पैदा कर दें, परन्तु वे समर्पित हृदयों के एक ऐसे सक्षम संगठन के निर्माण में कभी सहायक नहीं हो सकते जो विपत्तियों तथा प्रलोभनों के सभी झंझावातों में एक स्थिर लौ के समान जलता रहेगा। इसके विपरीत ऐसे उग्र भाषण, अपने विरोधियों की आलोचना करने तथा उनका दोष दर्शन कराने में सस्ता संतोष प्राप्त करने की एक मनोवृत्ति को जन्म देकर, संगठन को अज्ञान में ही क्यों न हो, हानि ही पहुंचायेंगे। इस प्रकार की मनोवृत्ति का संघ जैसे संगठन में कोई स्थान नहीं हो सकता था, जो समाज में स्वपरिष्कार के लिए प्रयत्नशील था, क्योंकि वह इतिहास की उस एक शिक्षा से परिचित था कि बाहर वाले नहीं, अपितु हमारा समाज ही हमारे सभी पतन तथा विनाश के लिए उत्तरदायी है।

संघ का प्रारंभ करने के पूर्व, डाक्टर जी स्वयं एक उग्र वक्ता थे, सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन के दिनों में, वे अपने एक उग्र भाषण के कारण गिरफ्तार कर लिए गए थे। वे राजद्रोह के अभियोग में न्यायालय के सामने प्रस्तुत किए गए। न्यायालय में उनके तेजस्वी प्रतिवाद को सुनकर मजिस्ट्रेट ने कहा था कि -'उनका प्रतिवाद उनके मूल भाषण से भी अधिक द्रोहात्मक है।' परन्तु संघ प्रारंभ करने के पश्चात् उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्तियों को पूर्णतया नियंत्रित किया। तत्पश्चात् उनके भाषण कभी भी उत्तेजक तथा उग्र नहीं होते थे, यद्यपि वे भावनापूर्ण तथा ज्वलनशील होने के कारण श्रोताओं के हृदय में प्रवेश कर जाते थे। अनौपचारिक वार्तालाप में भी उनके शब्द माधुर्य एवं अन्त:करण को प्रभावित करने वाले गुण से युक्त होते थे। उन्होंने अनुभव के आधार पर यह जान लिया था कि वाणी की मिठास राष्ट्र के संगठनकर्ता के लिए एक अपरिहार्य गुण है।

युधिष्ठिर का अवतार

इस सब परिवर्तन में कृत्रिमता अथवा दिखावटी ऐसा कुछ नहीं था। यह परिवर्तन इतना पक्का तथा स्थायी था कि वह उनकी प्रकृति की रचना ही बन गया और उनके विचार, शब्द तथा क्रिया में स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होने लगा। उनकी लोकप्रियता ऐसी नहीं थी जो बहुधा दूरी के कारण हो जाया करती है और जो निकट के सम्पर्क तथा परख पर साबुन के बुलबुले के समान अदृश्य हो जाती है। एक कहावत है – 'कोई महान् व्यक्ति अपने ही पार्श्व सेवक के लिए महान नहीं होता।' परन्तु उनके विषय में यथार्थ इसके विपरीत था। जो जितना अधिक उनके निकट आता वह उनका उतना ही अधिक अनुरागी तथा पूजक बन जाता। उनका निजी तथा सार्वजनिक चारित्र्य एक सा ही था, एक मधुर संतुलित व्यक्तित्व। इतना पवित्र, उदात्त तेजस्वी तथा पारदर्शी था उनका चरित्र कि जो सार्वजनिक क्षेत्र में उनका विरोध करते थे, उनके भी पास उनके निजी व्यक्तित्व की निन्दा अथवा अवमानना करने के लिए एक भी शब्द नहीं रहता था।

नागपुर में श्री अभ्यंकर नाम के एक प्रसिद्ध बैरिस्टर थे जो उस प्रान्त के एक अग्रणी राजनीतिक व्यक्ति थे। उनकी गरजती हुई आवाज थी और वे विरोधियों के चरित्र के दोष ढूंढ निकालने में अति पटु थे। चुनाव के दिनों में अपने विरोधियों के दोषों को प्रकट करने तथा उन्हें नीचा दिखाने के लिए अपने इन गुण–विशेषों का वे पूरा–पूरा उपयोग किया करते थे। एक बार डा. मुंजे चुनावों में उनके विरुद्ध खड़े हुए। बैरिस्टर अभ्यंकर ने समझा कि डा. मुंजे के एक प्रधान समर्थक हैं, डाक्टरजी तथा उनका संघ। अत: उन्होंने अपने सार्वजनिक भाषण में डाक्टर जी तथा संघ पर आक्षेप करने का निर्णय किया। वे अपने भाषण में डा. मुंजे के प्रत्येक समर्थक के विरुद्ध आक्षेप लगाते रहे, परन्तु जब उन्होंने डाक्टर जी के विषय में बोलना प्रारंभ किया, उनका स्वर तुरन्त नरम हो गया और उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया कि वे डा. हेडगेवार की निन्दा स्वरूप एक शब्द भी नहीं ढूंढ सकते। तनिक कल्पना कीजिए एक विषाक्त चुनाव आन्दोलन के बीच ऐसे एक सार्वजनिक स्वीकारोक्ति की और वह भी एक ऐसे व्यक्ति द्वारा।

वास्तव में डाक्टर जी के सम्बन्ध अपने विरोधियों से भी इतने अधिक गहरे हो जाते थे कि ऊपरी मतभेदों का उन पर प्रभाव नहीं हो पाता था। अपने कलकत्ता प्रवास के दिनों से ही उन्होंने राष्ट्रोद्धार के निमित्त संलग्न सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के प्रति, भले ही वे उनसे मतभिन्नता रखते हों, स्नेह, आदर तथा सहयोग का भाव निर्माण कर

लिया था। राजनीतिक विद्वेष का भाव उनमें लेशमात्र भी न था। उनके हृदय में देशभक्ति की ज्वाला इतनी प्रकाशमान् थी कि संकीर्ण विचारों की छाया उनके समीप कहीं फटक भी न पाती थी।

एक समय एक मित्र अपने लिए ५०० के ऋण का प्रबंध कराने के लिए रात्रि में डाक्टर जी के पास आये। लगभग मध्यरात्रि का समय था। डाक्टर जी दुविधा में पड़ गए। तथापि वे उठे, सीधे श्री अभ्यंकर के पास गए और आवश्यकता बताई। बिना एक शब्द कहे, श्री अभ्यंकर उतना रुपया लाये और डाक्टर जी को दे दिया। डाक्टर जी ने उनसे कागज कलम लाने को कहा जिससे कि वे प्रामिसरी नोट लिख सकें। श्री अभ्यंकर सहसा बोल उठे - 'डाक्टर साहेब, क्या मेरा दिमाग खराब हो गया है जो मैं डा. हेडगेवार से प्रामिसरी नोट लूं। सारा नागपुर मुझ पर हँसेगा।'

उनके प्रति ऐसा पूर्ण विश्वास और श्रद्धा-भाव उनके सार्वजनिक जीवन के प्रतिपक्षी कहे जाने वाले व्यक्तियों के अन्त:करण में भी जाग्रत था जो उनके विशुद्ध चारित्र्य के कारण निर्माण हुआ था। वे युधिष्ठिर के समान थे जो दुर्योधन को भी सुयोधन कह कर सम्बोधित करते थे। जब युद्ध क्षेत्र में अश्वत्थामा के निधन का समाचार फैला, तब द्रोणाचार्य ने इसकी सत्यता को अपने मुख्य प्रतिपक्षी, युधिष्ठिर से प्रमाणित कराने का निश्चय किया। उनके आचरण की साधुता कुछ ऐसी थी कि जो उनके मित्र तथा शत्रु दोनों ही समान रूप से उनमें विश्वास रखते थे। डाक्टर जी मानो युधिष्ठिर के आधुनिक अवतार थे। सचमुच वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका कोई शत्रु न था, सब केवल मित्र ही थे, वे अजातशत्रु थे।

एक समय मध्यप्रदेश की सरकार को यह भय हो गया कि कहीं संघ की बढ़ती हुई शक्ति के कारण प्रान्त में 'साम्प्रदायिक शान्ति' भंग न हो जाय। सरकार ने १९३२ में अपने कर्मचारियों द्वारा संघ की गतिविधियों में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगाते हुए एक परिपत्र प्रसारित किया। नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों को भी ऐसे ही पग उठाने का परामर्श दिया गया। सरकार के इस विचार-शून्य तथा राष्ट्र-विरोधी पग उठाने के कारण प्रान्त में एक कोलाहल मच गया। इसकी प्रतिध्वनि प्रान्तीय विधानसभा में भी हुई। सरकार के विरुद्ध विधानसभा में एक निन्दा प्रस्ताव रखा गया और इसका समर्थन केवल हिन्दू सदस्यों ने ही नहीं, अपितु मुस्लिम, ईसाई, पारसी तथा अन्य सभी सदस्यों ने भी किया और उसके थोड़े दिनों बाद ही मंत्रिमण्डल को ही त्यागपत्र देना पड़ गया।

अजेय

उनके चरित्र के इस वैशिष्ट्य के कारण उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो गई थी कि ऐसे व्यक्ति भी जो अपनी उद्दण्डता तथा अक्खड़पन के लिए कुख्यात थे, डाक्टरजी की उपस्थिति में शिष्ट तथा भद्र तरीके से व्यवहार करते थे। नागपुर में एक व्यक्ति था जो अपने आपको 'जनरल' कहता था। उसने यह कसम उठा रखी थी कि वह ऐसी किसी सभा को बिना भंग किये नहीं छोड़ेगा जिसका कि उसको अध्यक्ष नहीं बनाया जायेगा। उस 'जनरल' के पास गुण्डों की एक फौज थी जो ऐसी किसी भी 'अनाधिकृत' सभा पर टूट पड़ती थी और कुछ ही मिनटों में सभा हुल्लड़ तथा अव्यवस्था में समाप्त हो जाती। उन दिनों में डाक्टरजी के एक बाहर से आए हुए मित्र को नागपुर में एक सभा में भाषण करना था। परन्तु सभा के आयोजकों को बड़ी आशंका थी कि 'जनरल' उस सभा को होने नहीं देगा। परन्तु डाक्टरजी के निश्छल आश्वासन के कारण उनको विश्वास हुआ और उन्होंने सभा का आयोजन किया। जैसे ही सभा प्रारम्भ हुई 'जनरल' अपनी फौज के साथ आ धमका। उसको आते हुए देखकर डाक्टर जी उठे और बड़ी सहृदयता के साथ उसका स्वागत किया और उसे अपने साथ बाजू में बैठा लिया। वक्ता भी अपने पूर्ण जोश में थे और उन्होंने उस दल की जिससे 'जनरल' सम्बन्धित था, खूब आलोचना की। 'जनरल' क्रोध के कारण गर्म हो रहा था तथा कभी इधर और कभी उधर देख रहा था किन्तु बगल में बैठे हुए डाक्टर जी की शान्त, दृढ़ तथा भव्य आकृति को देखकर उसके शरीर में एक शीतल कम्पन हो उठता था और वह विवश सा होकर अपनी कुर्सी पर बार-बार बैठ जाता था। सभा दो घण्टे तक शान्तिपूर्वक चलती रही। सभा की समाप्ति के पश्चात् उसके अनुयाइयों ने चुपचाप बैठे रहने के लिए प्रश्नों की बौछार कर दी। उसने इतना ही कहा -'मैं क्या कर सकता था। वह मनुष्य मेरे बगल में बैठा हुआ था।'

अनुपम ऐक्यकारी

अगिणत संख्या में व्यक्तियों को एक साथ रखना, उनमें से प्रत्येक को एक आदर्श राष्ट्रीय कार्यकर्ता की कल्पना के अनुसार ढालना और आगामी पीढ़ियों के लिए एक सम्पूर्ण राष्ट्र के संगठित जीवन के आधार स्वरूप स्थायी परम्पराएं तथा प्रेरणादायक उपमान स्थापित करना, सचमुच चिन्ताओं तथा यन्त्रणाओं का पहाड़ जैसा कितना बड़ा बोझ वे अपने वक्ष-स्थल पर उठाकर चल रहे होंगे - और यह सब निजी जीवन की अत्यन्त कठोर परिस्थितियों के बने रहते हुए। परन्तु सर्वाधिक विस्मयजनक पक्ष यह था कि उनके जीवन के प्रत्येक क्षण उनके शरीर में प्रवाहित इस

गहन अन्त:धारा का अनुमान कोई भी न लगा पाता था। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया वह डाक्टर जी से नित्य नूतन प्रवाहित आनन्द तथा उल्लास के निर्मल स्रोत में स्नान करके ही वापिस लौटता। उन्हें जो व्यक्ति सदा घेरे रहते थे वे विभिन्न तथा असमान प्रकार के होते थे। उनके मित्र मज़ाक में उनसे कहा करते थे, कि डाक्टर जी एक 'मानव जीवशाला' चला रहे हैं। डाक्टरजी के साहचर्य में इस जीवशाला को कोई भी व्यक्ति अपने को असंगत अनुभव नहीं करता था। युवा तथा वृद्ध, परम्परावादी तथा नूतनवादी, शिक्षित तथा अशिक्षित, धनी तथा निर्धन सभी को उनमें एक समान तत्व का आभास मिलता था। ऐसी थी समरसता की उनकी भावना, ऐसी थी उनकी निपुणता की व्याप्ति। उनके लिए कोई भी व्यक्ति व्यर्थ नहीं था, भले ही अन्यों की दृष्टि में वह कितना ही छोटा तथा अपूर्ण हो।

आत्म-विलोपित

उस असाधारण गुण के मूल में थी अहं के लेशमात्र से भी अविकृत, पूर्ण विनम्रता की भावना। नाम तथा ख्याति, पद तथा सत्ता प्राप्ति के पागलपन ने उनको कभी छुआ तक नहीं। संघ के प्रारम्भ के समय से ही, वे अविरत एक उपयुक्त व्यक्ति की तलाश में लगे रहे जो संगठन नेतृत्व कर सके और वे स्वयं उसके तुच्छ अनुयायी बने रहना चाहते थे, जिससे कि सभी अन्य कार्यकर्ताओं के लिए एक जीवित उदाहरण स्थापित हो। वास्तव में उन्होंने एक बड़े हिन्दू नेता को इसका प्रधान बनाने का बार-बार प्रयास किया परन्तु वह व्यर्थ हुआ। वह बड़ा आदमी, उसके सभी अन्य गुणों के बावजूद संघ में निहित उसकी शक्ति-क्षमताओं को पहचान न सका और उस ऐतिहासिक भूमिका के लिए मानसिक निश्चय न कर सका। डाक्टर जी को इससे दु:ख एवं निराशा हुई परन्तु उन्होंने अपनी तलाश जारी रखी। वे अपने सद्गुणों की श्रेष्ठता मात्र के कारण सहजत: संगठन के नायक उसी प्रकार बने रहे, जैसे एक सिंह जंगल का निसर्गत: राजा होता है - स्वयंमेव मृगेन्द्रता। परन्तु, वे अन्त समय तक स्वयं को उस स्थिति से समन्वित न कर सके।

अत्युच्च व्यक्तित्व के होते हुए भी डाक्टर जी ने कभी भी बड़प्पन का प्रदर्शन नहीं किया। वे अपने कार्यकर्ताओं तथा स्वयंसेवकों द्वारा उनकी प्रशंसा में स्वाभाविक तथा स्वयंस्फूर्त व्यक्त होने वाली अभिव्यक्तियों पर भी रोक लगाते थे। वे इस विषय में अत्यन्त आग्रही थे। १९४० में वे पूना के शिक्षण शिविर में रहकर नागपुर लौट रहे थे। मैं उनको लेने के लिए स्टेशन गया हुआ था। जैसे ही गाड़ी आई, हम लोगों ने उनको डिब्बे के दरवाजे पर खड़े हुए देखा। उनका चेहरा मुस्कुराहट से भरा हुआ था।

जैसे ही मैं उनको पुष्पमाला पहनाने के लिए आगे बढ़ा, मैंने उनकी कठोर निषेधात्मक दृष्टि को देखा। मैं आधे हाथ फैलाए हुए बीच में ही रुक गया। तुरन्त ही वे मुस्कुराए और कहने लगे 'मैं अपने ही घर आया हूं। इस सबकी क्या आवश्यकता है। वास्तव में हमें अपने सम्मानित अतिथि का स्वागत करना चाहिए।' और उन्होंने उन सज्जन की ओर इंगित किया जो उनके साथ थे। मैंने वह माला उनको भेंट कर दी। मुझे डाक्टर जी को उनके जीवन भर माला पहनाने का अवसर नहीं मिला। उनके हमें छोड़ जाने के पश्चात् मैं उनके शरीर को ही माला पहना सका। वे फोटो खिंचवाने के भी ऐसे ही विमुख थे। कभी बिरले ही तथा अपने कार्यकर्ताओं के साथ दीर्घ कशमकश के बाद ही वे फोटो लिए जाने की स्वीकृति देते।

यद्यपि वे अपने प्रति कठोर तथा निष्ठुर थे, हम सब में से प्रत्येक के लिए वे स्नेह के सागर थे। कोई शब्द उनके पवित्र तथा स्वार्थरहित स्नेह की गहराई का वर्णन करने के लिए अपर्याप्त है। मातृ-हृदय का असीम स्नेह, पिता की सतत चिन्ता और परिश्रम तथा गुरु का प्रेरणादायी मार्गदर्शन, ये उस एक वक्षस्थल में पराकाष्ठा को प्राप्त थे। मैं तो उनकी एक आदर्श के रूप में पूजा करने में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता हूं। ऐसे व्यक्तित्व की पूजा एक व्यक्ति की पूजा से ऊपर होती है और स्वयं एक आदर्श की पूजा बन जाती है। वे निश्चित ही मेरे इष्टदेव हैं।

कृति का दर्शन-शास्त्र

एकान्तिक निष्ठा, विशुद्ध चारित्र्य, अनुपम संगठनात्मक कौशल्य, अपने जीवन कार्य के रूप में अपनाए हुए उद्देश्य की अन्तिम सफलता में अदम्य विश्वास और उद्योग एवं परिश्रम करने की अमित क्षमता, यह थी उनके प्रयास की एकमात्र पूंजी। उन्होंने अपनी चेष्टा में कोई कमी नहीं रखी तथा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं का तनिक भी ध्यान नहीं रखा, यहां तक कि उनके अन्तिम वर्षों में गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण भी उनके शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम में कोई कमी नहीं आ सकी। उनके सहकारी उनके बिगड़ते हुए स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता से ग्रस्त थे। कुछ ने उनको चेतावनी भी दी कि उनका शरीर अधिक समय नहीं चलेगा यदि उन्होंने वही कठोर श्रम जारी रखा। किन्तु वे ऐसे सब प्रश्नों का एक सामान्य से वाक्य में उत्तर देते - 'आखिरकार मेरा शरीर कार्य के निमित्त ही तो है' और उस विषय को समाप्त कर देते। वे कोई आराम अथवा अवकाश जानते न थे। उनका दर्शन-शास्त्र था कार्य। वे अविरत तथा प्रखर कार्य करते रहने के पक्ष में थे, विशेषतया यौवनकाल में। वे पूछा करते थे - 'अपनी आयु को बुढ़ापे तक, जब शरीर किसी कर्मठ गतिमान कार्य के

लिए बेकार हो जाता है खींचते रहने के अतिरिक्त यौवनकाल में आराम करने का लाभ है भी क्या ?' यदि अपने सह-कार्यकर्ताओं द्वारा विवश किये जाने पर वे विश्राम के लिए कहीं जाना स्वीकार कर भी लेते तो उस स्थान पर तथा उसके आस-पास कुछ शाखाएं प्रारंभ किये बिना चैन न ले पाते।

एक बार १९३९ में उनका रोग बहुत उग्र हो गया। डाक्टरों ने उनको पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी। मैं उस समय उनके साथ था। चिकित्सा चल रही थी। औषधियां नियमित दी जा रही थीं, किन्तु कुछ लाभ न था। डाक्टर जो उनकी चिकित्सा कर रहे थे, हतप्रभ थे। चिकित्सा के विवरण की जांच करते हुए, उन्होंने पूछा कि डाक्टर जी कितने बजे सोते हैं? मैंने उत्तर दिया - 'सदैव के समान रात्रि में एक या डेढ़ बजे।' डाक्टर यह सुनकर स्तम्भित रह गए। उन्होंने कहा - 'इसीलिए, ये प्रगति नहीं कर रहे हैं। कदाचित् आप इन्हें जल्दी सोने नहीं देते हैं। इनको दस बजे तक अवश्य सो जाना चाहिए।' मैंने स्वीकार किया कि मैं उनको इतनी जल्दी सुला न सकूंगा। डाक्टर ने कहा- 'यदि आप ऐसा न कर सकेंगे तो मैं स्वयं आऊंगा और ऐसा करूंगा।' मैंने उनके प्रस्ताव का स्वागत किया। उस दिन डाक्टर रात्रि में नौ बजे आए। डाक्टर जी ने उसी समय भोजन किया था और वे अपने कमरे में अकेले थे। क्योंकि भोजन के तुरन्त बाद सो जाना उपयुक्त नहीं था, डाक्टर ने कुछ समय के लिए डाक्टर जी से गपशप शुरू कर दी। मैं उस सम्पूर्ण समय बाहर बैठा रहा। फिर जब डाक्टर को झपकी आने लगी, उन्होंने अपनी घड़ी की ओर देखा। उस समय एक बज चुका था। वे तुरन्त उठ खड़े हुए और डाक्टर जी को सोने के लिए कहकर बाहर निकल आए। जैसे ही वे जाने लगे, मैंने उनसे समय पूछा। एक क्षमायाचनापूर्ण स्वर में उन्होंने कहा- 'बातचीत में मैं स्वयं ही भूल गया।' और वे चले गए।

यौवन का पुष्प चढ़ाओ

अपनी गम्भीर बीमारी के काल में भी डाक्टर जी ने इस आदत को नहीं छोड़ा। वे कार्यकर्ताओं को रात में बुलाते और उनसे एक-एक करके अथवा एक साथ बहुत रात तक बातें करते रहते। कार्य को अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ाने के उनके कठोर निश्चय के सामने कठोर परिश्रम से उन्हें परावृत्त करने के हमारे समस्त प्रयास विफल सिद्ध हुए। उनका लौह शरीर भी उनके प्रखर क्रियाशील व्यक्तित्व का बहुत समय तक साथ न दे सका। संगठन के प्रारम्भ के १५ वर्षों में ही उनका शरीर आदर्शवाद की अग्नि द्वारा पूर्णतया भस्म किया जा चुका था। ऐसा नहीं था कि वे आसन्न अन्त से अनभिज्ञ थे। वे तो कहा करते थे- 'मैं अपनी व्याधि की प्रकृति को अच्छी प्रकार से जानता हूं। मैं उसका उपाय भी जानता हूं। परन्तु मेरे पास उपचार के हेतु बचाने के

लिए समय ही नहीं है। मुझे इसके परिणाम की भी कल्पना है। परन्तु मैं विवश हूं। ईश्वर की इच्छा ही बलवान है।'

जिस प्रकार एक योगी अपने शरीर में अभिव्यक्त योग की अग्नि में स्वयं को आहुति स्वरूप अर्पित करने में ही पूर्णता का अनुभव करता है, उसी प्रकार डाक्टर जी ने अपने शरीर को यंत्रणा तथा त्याग की अग्नि में समर्पित कर दिया था। यही हमारी गौरवमयी परम्परा रही है। परन्तु आजकल हम लोग बहुधा सुनते हैं कि हमें अपने तारुण्य में बहुत अधिक श्रम नहीं करना चाहिए जिससे कि हमारा जीवन-काल छोटा न रह जाय। वृद्धायु में कुछ और अधिक वर्ष घसीटने मात्र के हेतु यौवन के मूल्यवान क्षणों को व्यर्थ नष्ट करने के परामर्श का डाक्टर जी उपहास करते थे। हमें वस्तुत: स्वयं को माता की वेदी पर उसी उमय अर्पित करना चाहिए जब यौवन का पुष्प पूर्णतया विकसित हुआ हो और चारों ओर सुगन्ध तथा आभा विकीर्ण कर रहा हो। आभा तथा सुगन्ध से रहित मुरझाये हुए पुष्प को अपने इष्ट-देव की पूजा में अर्पित करना एक अपवित्र व्यवहार होगा। यह थी मानव जीवन की उपयोगिता की उनकी कल्पना। वे इसी प्रकार जिये और इसी प्रकार उनकी मृत्यु हुई।

जीना और मरना

उनकी मृत्यु सामान्य नहीं थी। वह एक सतत तथा क्षयकारक अग्नि थी जो उनके सम्पूर्ण जीवन काल में व्याप्त थी। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो हौतात्मय के आवेश में अपना जीवन बलिदान कर देते हैं। नि:सन्देह यह भी गौरवमय तथा प्रेरणादायक होता है। परन्तु असंख्य अन्य हृदयों को प्रज्ज्वलित करने के लिए अपने जीवन को प्रत्येक क्षण जलाना सचमुच ही सर्वोच्च प्रकार की तपस्या है। प्राचीन काल के शिवि के समान उन्होंने समाज के 'कपोत' की प्राण-रक्षा के लिए अपने स्वयं का मांस टुकड़े-टुकड़े करके काटा। दधीचि के समान, जिन्होंने वृत्रासुर दैत्य को मारने के लिए वज्र के निर्माण हेतु अस्थियां दे डालीं, डाक्टर जी ने भी मुस्कुराते हुए अपना जीवन रक्त की अन्तिम बूंद तक समाज में संचारित किया। इसी प्रकार शंकराचार्य ३२ वर्ष की आयु में, विवेकानन्द ३९ वर्ष में, शिवाजी ५० वर्ष में। डाक्टरजी भी ५० वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। और, ऐसे ही लोग अमर होते हैं।

शब्दों में शक्ति-संचार कैसे होता है?

ऐसी महान् आत्माओं द्वारा उच्चरित शब्दों में अप्रतिकार्य शक्ति का संचार हो जाता है। डाक्टर जी के शब्द अत्यन्त सरल हुआ करते थे मानो कि वे बच्चे से बात कर रहे हों। परन्तु उनमें कितनी शक्ति सन्निहित हुआ करती थी। एक बार स्मरणीय

श्रद्धास्पद डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी कुछ गम्भीर समस्याओं पर विचार-विमर्श की इच्छा से डाक्टर जी से मिलने आये। उस समय डाक्टरजी अत्यधिक बीमार थे। और वह उनकी अन्तिम बीमारी सिद्ध हुई - तथा वे अधिक समय तक बातचीत करने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए मैंने डा. मुखर्जी से निवेदन किया कि वे उस विषय पर मुझसे प्रारंभिक बातचीत कर लें और फिर कुछ शेष रह जाता है तो वे अन्तिम-उत्तर के लिए डाक्टर जी से मिल सकते हैं। वे राजी हो गए। हम दो में एक लम्बी बहस हुई। यद्यपि उनके प्रत्येक प्रश्न तथा सन्देहों का उत्तर दिया गया तो भी वे असन्तुष्ट बने रहे। तब हम डाक्टर जी के पास गये। उन्होंने वही प्रश्न डाक्टर जी के सामने रखा। और डाक्टर जी ने थोड़े से शब्दों में ही उत्तर दिया जिसमें वही अर्थ सन्निहित था जो मेरे द्वारा दिए गए उत्तर में। परन्तु मैं आश्चर्यचकित हो गया जब मैंने डा. मुखर्जी को यह कहते हुए सुना- 'अब मैं पूर्णतया संतुष्ट हूं।' उस घटना से मुझे मेरे जीवन की एक शिक्षा प्राप्ति हुई कि व्यक्ति के चारित्र्य, तपश्चर्या और त्याग की मात्रा में ही उसके शब्दों में शक्ति का समावेश होता है। तर्क, बहस, बुद्धि के चमत्कार, सब उस सर्वोच्च शक्ति के समक्ष तुच्छ सिद्ध होते हैं।

महानता की सन्तान

जिस सबसे एक युग निर्माता की निर्मिति होती है, उसमें सर्वोत्कृष्ट होते हुए भी, वे जीवन भर एक बालक के समान बने रहे - सरल विनम्र, निराभिमानी सभी से आत्मीयता की भावना के साथ बात करने वाले, हास्यमय, विनोदी तथा अन्यों के छोटे से छोटे सद्गुणों को महत्व प्रदान करने वाले।

एक समय संघ में आने वाले कुछ वकीलों की एक साप्ताहिक बैठक में संगठन से संबंधित अनेक विषयों पर एक मुक्त तथा अनौपचारिक रूप में चर्चा हो रही थी। कोई संघ के भावी ढांचे के विषय में प्रश्न उठा रहा था, अन्य कोई एक औपचारिक केन्द्रीय समिति के निर्माण का सुझाव दे रहा था, आदि। तब अकस्मात् उनमें से एक ने प्रश्न उठाया - 'आखिर संघ के मूल में क्या है?' मैंने कहा - 'वह तो डाक्टर जी ही हैं।' उस बैठक में एक वृद्ध सज्जन उपस्थित थे, जो डाक्टर जी को उनके बचपन से जानते थे। डाक्टर जी बहुधा उनके पास सुझाव तथा परामर्श लेने जाया करते थे। स्पष्टत: डाक्टर जी के विषय में मेरे शब्द सुनकर उनका हृदय भर आया। उनको यह जानकर आश्चर्य हुआ कि 'बालक केशव' अकस्मात् ही इतनी श्रेष्ठता प्राप्त कर चुका है। मानो उनको एक नई अनुभूति हुई। बैठक के पश्चात् वे डाकटरजी के पास गए और स्नेहसिक्त वाणी में कहा- 'डाक्टर, तुम कितने महान हो गए। मैं तो अब तक तुम्हें वही पुराना बालक केशव समझ रहा था।'

विश्वमंच को सुशोभित करने वाले महानतम पुरुष अन्य लोगों को कुछ ऐसा मन्त्र-मुग्ध सा कर देते हैं जिससे वे उनकी महानता से अज्ञात रहें, उनकी उपस्थिति में संकोच न करें और वे आकर मैत्री के साथ उनसे स्वच्छन्द रूप से घुलें मिलें। श्रीकृष्ण ने अपनी बालक्रीड़ा द्वारा गोकुल में सब पर अपना जादू सा फेर दिया था। एक भी यह स्मरण नहीं रख पाता था, यशोदा तक भी नहीं, कि वह स्वयं ईश्वर के अवतार थे। एक बार जब उनके मिट्टी खाने का पता चला और यशोदा ने उनको अपना मुंह खोलने के लिए बाध्य किया, तब उन्होंने उस छोटे से गह्वर में अनन्त सृष्टियों का नर्तन देखा। वे स्तम्भित तथा अवाक् रह गईं। परन्तु यह सब क्षण भर के लिए हुआ। उस बालक कृष्ण की वही पुरानी मुस्कान, शरारत तथा छेड़खानी भरी क्रीड़ाओं ने उनको क्षणिक अनुभूति का विस्मरण करा दिया।

डाक्टर जी की निरस्त्र करने वाली सरलता ने उन सब पर जो उनके निकट आते, उनके निकटतम मित्रों तथा सहकरियों पर भी, ऐसा ही एक जादू फेर दिया था। एकाएक क्षणमात्र के लिए क्वचित् ही वे यह सोच पाते थे कि वे एक ऐसी अतिश्रेष्ठ विभूति के सम्पर्क में हैं जो लोकोद्धार के लिए शताब्दियों में कभी एक बार जन्म लेती हैं। फिर वे डाक्टरजी के साथ अपने नि:संकोच रूप में तथा लगभग समान स्तर पर मिलने-जुलने पर तथा कभी-कभी उनके साथ की गई अपनी धृष्टता पर आश्चर्यचकित एवं स्तम्भित भी हो जाते थे। परन्तु ऐसा सब क्षण भर के लिए ही होता था। पुन: डाक्टरजी की सरल, मुस्कुराती आकृति अपना जादू फेर देती और वे इस विषय में सब कुछ भूल जाते।

ऐसे थे संघ के संस्थापक, हमारे डाक्टर ! मनुष्य मात्र के जीवन्त हिन्दू आदर्श, 'किंग्रासिद्धि: सत्व भवति महतां नोपकरणै:', (महान व्यक्ति महान कार्यों की सिद्धि बाह्य साधनों से नहीं अपितु अपनी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा करते हैं) इस लोकोक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति, सभी पीढ़ियों के लिए एक मार्गदर्शक ज्योतिपुंज- जिसके प्रकाश में वे अपने जीवन को एक गौरवमय अमर राष्ट्रीय जीवन की उपलब्धि के लिए ढाल सकें।

❑❑❑

३८

श्री गुरु पूर्णिमा

श्री गुरु पूर्णिमा, जिसे 'व्यास पूर्णिमा' भी कहा जाता है, हमारे लिए अत्यन्त महत्व एवं पवित्रता का पर्व है। महर्षि व्यास ने ज्ञान के विपुल भण्डार, वेदों का वर्गीकरण कर, उसका संयोजन-सम्पादन किया था। उन्होंने युगानुयुग से भारत में विकसित जीवन मूल्यों व उदात्त सद्गुणों के वैशिष्ट्य का निरूपण किया और उनमें निहित विचार व आचार का मनोहारी संश्लेषण प्रस्तुत किया। उनका यह कार्य न केवल, भारतीयों, अपितु संपूर्ण मानव जाति के लिए दिशा-निर्देशक आदर्श प्रकाश-स्तम्भ के रूप में विद्यमान है। इस प्रकार वेदव्यास को जगद्गुरु कहना समीचीन ही है। इसी कारण गुरु-पूजा को 'व्यास-पूजा' भी कहा जाता है।

आज के दिन हम अपने निर्धारित गुरु का पूजन-अर्चन करते हैं और उसके चरणों में विनम्रतापूर्वक भेंट अर्पित करते हैं। हम उसका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं तथा उसके मार्ग-दर्शन में अपने जीवन के ध्येय पथ पर अग्रसर होने का संकल्प लेते हैं।

जहां तक हमारी संरचनात्मक प्रक्रिया का सम्बन्ध है, हमने किसी व्यक्ति को अपना गुरु नहीं माना। हमारे धर्मग्रन्थों में महिमापूर्ण ढंग से गुरु का गुणगान किया गया है और उसे भगवान के समकक्ष आसन पर आरूढ़ किया गया है।

स्वाभाविक रूपेण हाड़-मांस के किसी मनुष्य में ऐसे गुरु की प्राप्ति असम्भव है। किसी मर्त्य पुरुष से परिपूर्ण होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि उसमें दोष व त्रुटियां होना स्वाभाविक है। और अन्ततः मानव जीवन क्षणभंगुर ही तो है। अतः कोई मनुष्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी राष्ट्र का शाश्वत मार्गदर्शक नहीं बन सकता।

अतः हमने संघ में ऐसे प्रतीक को चुना है, जो हमारी राष्ट्रीय धरोहर के पवित्रतम एवं महानतम मूल्यों को सहज ही प्रतिबिम्बित करता है। वह प्रतीक है हमारा परम पवित्र भगवाध्वज।

यज्ञ का प्रतीक

यज्ञ अर्थात् त्याग को हमारी सांस्कृतिक विरासत में केन्द्रीय महत्व का स्थान प्राप्त है। 'यज्ञ' शब्द के कई अर्थ हैं। समाज के पुनर्निर्माण-हेतु अपने व्यक्तिगत जीवन का उत्सर्ग कर देना यज्ञ है। अपने अन्दर विद्यमान समस्त महत्वहीन अनुपयोगी व अपवित्र दुर्गुणों का सद्गुणों की अग्नि में आहुति देना भी यज्ञ है। समर्पण, बलिदान, सेवा और तपस्या के कंटकाकीर्ण मार्ग का वरण करना भी यज्ञ का मूल तत्व ही है। यज्ञ के अधिष्ठाता देव अग्नि हैं। लपटें अग्नि की प्रतीक हैं और पवित्र भगवा ध्वज प्रतीक है नारंगी रंग की यज्ञ-लपटों का।

भगवान का ध्वज

हम श्रद्धा के पुजारी हैं; अन्धविश्वास के नहीं। हम ज्ञान के भक्त हैं; अज्ञान के नहीं। हमारे ऋषि-मुनियों ने अज्ञान से मुक्ति पाने और सत् एवं शाश्वत् ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने हेतु ही घोर तपस्या की थी। अन्धकार द्योतक है अज्ञान का और सूर्य द्योतक है ज्ञान के प्रकाश का। हमारे पुरातन साहित्य में सूर्य नारायण को सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ वर्णित किया गया है। नभो मण्डल में भगवान भुवन भास्कर के आगमन (४७१ पृष्ठ) कान्ति वाला अरुण ध्वज। यह तमस् पर ज्योति की विजय तथा रात्रि के अनन्तर नव विहान के आलोक की उद्घोषक उषा की अरुणिमा का प्रतीक है।

भगवान् सूर्य नारायण की गैरिक पताका ही स्वयं भगवान् का ध्वज है, जो बाद में 'भगवा ध्वज' कहलाया ? यह मानव-जीवन की सर्वोच्च स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है और चतुर्थ तथा अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम का प्रतीक है; जिसके लिए सम्पूर्ण त्याग तथा सेवा की भावना अपेक्षित है। संन्यासी को आत्म-त्याग के अग्नि पथ पर अविचल भाव से बढ़ना होता है। त्यागमय जीवन का सतत स्मरण रखने हेतु ही संन्यासी भगवा बाना धारण करता है।

सच्ची पूजा

भगवा ध्वज इस पवित्र भूमि पर अनन्त काल से विकसित सर्वोच्च-सिद्धान्तों तथा आचरणों का प्रतीक रहा है। ऐसे गुरु की अर्चना करते समय हम अपने हृदय में कैसा भाव संजोते हैं ? पुष्प, चन्दन चढ़ाना तथा आरती आदि करना तो बाह्य क्रियाएं मात्र हैं। सच्ची उपासना तो गुरु के गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् करने के प्रयास में निहित है। अतः अपने गुरु से अधिकाधिक तादात्म्य स्थापित करना ही सच्ची आराधना है। शास्त्रों में कहा गया है कि शिव की सच्ची आराधना शिव बनने में ही है।

[४८२]

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्'

गुरु पूजा के दिन धन के रूप में हम जो अर्पित करते हैं, वह हमें यह याद दिलाता है कि हम जीवन में जो कुछ भी अर्जित करते हैं, वह हमारे चतुर्दिक समाज के सहयोग से ही सम्भव होता है। केवल आर्थिक उपार्जन ही नहीं, बल्कि हमारी संपूर्ण सुरक्षा व सुख भी समाज की कृपा का ही वरदान है। इस प्रकार यह हमारा दायित्व बन जाता है कि हम उस सामाजिक ऋण को यथासंभव अधिक से अधिक चुकाकर ऋण-मुक्त हो जायें।

वास्तव में अपने दैनन्दिन जीवन में एक घण्टे की नियमित शाखा में हम अपने तन-मन व बुद्धि का जो समर्पण करते हैं; वह भी उस सामाजिक दायित्व की ही पूर्ति का प्रतीक है। आत्म-समर्पण की इस भावना के अनुरूप ही संघ में गुरुदक्षिणा पद्धति का विकास हुआ है।

❑❑❑

परिशिष्ट

अन्तिम सन्देश*

विजय ही विजय है

आजकल लोग मेरे स्वास्थ्य को लेकर बहुत चिन्ता करते हुए दिखाई देते हैं। थाना (मुंबई) की बैठक में जब मैंने पहले दिन यह कहा कि संघ कार्य बाकी सब लोगों को करना है,मेरा तो उसमें अब कोई साथ नहीं; तब अपने ही प्रमुख कार्यकर्ताओं ने मेरे पास आकर कहा कि ऐसा नहीं कहना चाहिए था। मैंने कहा, 'सच बात कह दी'। उसके बाद से फिर इस शरीर की क्षमता बहुत ही शीघ्र गति से कम हो गई है, जिसकी मुझे भी अपेक्षा नहीं थी। अभी भी मैं आशा रखता हूं कि यह जो शारीरिक अवस्था निर्माण हुई है, वह तात्कालिक सिद्ध होगी और फिर से शरीर कुछ काम कर सकेगा। अभी तो मैंने अपने साथियों और डा. थत्ते से कहा है कि सब संघ शिक्षा वर्गों में जाने का कार्यक्रम बना डालो; बाकी आगे जो होगा सो देखा जायेगा। कार्यक्रम तो बना रहे अपने पास; जाना हो सका तो ठीक ही है, नहीं हुआ तो बोल देंगे भाई नहीं हो सका। ऐसा लगता है कि कार्यक्रम बना तो उसे ठीक तरह से निभा लूंगा। देखो क्या होता है।

अब हम लोगों को एक बात सोचनी है। चाहे यह आदमी रहा या न रहा, इससे संगठन का कोई बड़ा नुकसान नहीं होने वाला है। परन्तु अपने देश का पुराना और आज तक का इतिहास है कि संस्थाएं कुछ दिनों तक अच्छी चलती हैं फिर आपस में कुछ मतभेद हो जाता है; वैसे मतभेद तो कम रहे हैं, व्यक्तिभेद उत्पन्न हो जाते हैं। लोग कहते हैं कि कांग्रेस सहित बाकी की संस्थाएं टूटी हैं, केवल एक जनसंघ ही ऐसा है कि टूटा नहीं। परन्तु अब लोगों को इस बात से बड़ी खुशी हो रही है कि उनके एक पुराने कार्यकर्ता को दल से निकालने की बारी आई। अब ऐसे लोगों के मन में यह आशा उत्पन्न हो गई कि जनसंघ का कार्यकर्ता वर्ग संघ से संबंधित रहा है, अत: जनसंघ में जो विच्छेद आया है वह धीरे-धीरे संघ में भी आ जाएगा। इसी आशा का तार पकड़कर समाचार पत्रों में ऐसे समाचार बना-बनाकर प्रकाशित किए गए हैं कि सरसंघचालक के पद को लेकर काफी कशमकश यहां चली है। उन लोगों को आशा लगी है कि संघ में भी कभी न कभी विच्छेद होगा।

---

२५ मार्च १९७४ को अ.भा. प्रतिनिधि सभा, नागपुर में प्रकट समारोह के अवसर पर

हम संघटन के लिए

अब हम लोगों को सोचना चाहिए कि हम लोग संघटन करने के लिए निकले हैं, विच्छेद के लिए नहीं। हम कभी विच्छेद नहीं होने देंगे। संघटन चलता ही रहेगा - ऐसा हम लोगों में से प्रत्येक स्वयं सोचे और अपने चारों ओर के परिसर में अपने जितने भी बन्ध हैं उनमें यही विचार भरे। कार्यकर्ताओं की छोटी-छोटी बातों पर कभी-कभी आपस में मतभेद हो जाता है और आपस में नाराज हो जाते हैं। अभी तो ठीक है; हम नाराज हो जाते हैं तो भी हम लोग एक-दूसरे को मना लेते हैं। परन्तु बार-बार ऐसा प्रसंग आया, तो फिर मनाना कठिन हो जाएगा। ऐसे प्रसंग बार-बार नहीं आवें, ऐसा विचार हमें करना चाहिए। मुझे तो समझ में ही नहीं आता कि छोटी-छोटी बातें इस प्रकार लग क्यों जाती है। वास्तव में ऐसा होने देना नहीं चाहिए। आपस में थोड़ा सा भी मनोमालिन्य नहीं आने देना चाहिए। प्रत्येक बात में संघ का ही विचार करना चाहिए। किसी बात का कोई निर्णय अपने साथियों द्वारा किया हुआ अपने सामने आया, तो ऐसा विचार मन में कदापि नहीं लाना चाहिए कि वह निर्णय कैसे लिया गया, हमें तो लगता था कि ऐसा नहीं होगा, आदि।

एक बार निर्णय हो गया तो उसका समर्थन करने की शक्ति अपनी होनी चाहिए। इस प्रकार छोटी-छोटी बातों पर मतभदे टाल दें, तो कितना अच्छा होगा! वास्तव में हमें अनेक लोगों को संघटित करना है; सम्पूर्ण समाज का संघटन करना है; सत जीवन की श्रद्धा को समाज-व्यापी करना है। यह बड़ा कार्य है; हम पर यह बड़ा दायित्व है; इसलिए कैसी भी परिस्थिति क्यों न आ पड़ी हो, हमें किसी भी प्रकार का अपने अन्दर मनोमालिन्य नहीं आने देना चाहिए।

बीच-बीच में ऐसा होता है। पहले भी ऐसा हुआ है कि कभी-कभी कोई कार्यकर्ता रुष्ट होकर कार्य से निवृत्त होने लगता है। यह बात नहीं होनी चाहिए। अब तो हमें इस बात की ओर और अधिक सतर्क होकर ध्यान देना होगा। कार्य का यही दृष्टिकोण हम लोगों के मन में विराजमान दिखाई दे कि हम लोग संघटन का कार्य कर रहे हैं और उसे हमें संपूर्ण समाज के अन्दर खड़ा करना है। कभी किसी प्रकार का विच्छेद निर्माण न होते हुए एक अन्त:करण से सम्पूर्ण कार्य हो रहा है, - ऐसी स्थिति अपने कार्य की हमें बनाये रखना है।

संघटन की इस स्थिति का हमें अब और भी विचार करना पड़ेगा। विभिन्न कार्य-क्षेत्रों, जैसे विद्यार्थी, राजनीति, मजदूर आदि में, अपने कार्यकर्ता काम कर रहे हैं। कार्यों की रचना, संविधान, नियम, व्यवहार आदि भिन्न प्रकार के हैं; फिर भी अपना स्वयंसेवक वहां संघटन की धारणा लेकर जाता है और उसे वहां प्रस्थापित

करने का प्रयत्न करता है। हम सभी को इस बात का विचार करना चाहिए कि इस प्रकार की प्रत्यक्ष चेष्टा वहां होती है या नहीं।

ऐसा करते समय लोग भले ही कहते हों कि यहां पर भी ये लोग अपने संघ की तानाशाही चलाने का प्रयास कर रहे हैं, तो हम लोग उस पर ध्यान न दें ? जो लोग ऐसे कहते हैं, उन्हें 'तानाशाही' क्या चीज है, मालूम नहीं है।

अपने यहां सब लोगों की सामूहिक इच्छा से कार्य होता है। इसे तानाशाही समझकर लोग किसी भी प्रकार के आरोप करते हैं, तो उन्हें वैसा करने दो। उसकी कोई चिन्ता न करते हुए राष्ट्र-संघटन का सूत्र अपने भिन्न-भिन्न कार्य क्षेत्रों में प्रत्यक्ष लाने के लिए सभी को प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो भिन्न-भिन्न कार्य चलाते हैं, उनकी कुछ मर्यादाएं रहती हैं। उन्हें मान भी लिया जाए, तो भी हमें अपना ध्येय छोड़ने का कोई कारण नहीं।

हमारा उद्देश्य : एक राष्ट्र

राष्ट्र की चिरन्तन शक्ति निर्माण करने का उद्देश्य एवं अपना ध्येय लोगों को समझाने से भले ही एकदम समझ में न आए, परन्तु काम करते-करते अपना जैसे-जैसे एक-एक आदमी से सम्बन्ध आता जाएगा, वैसे-वैसे हमें उनको वह समझाते बनना चाहिए। वे सब जो भिन्न-भिन्न काम हैं, उन सबका उद्देश्य एक ही है कि यह देश अपना है, यह समाज अपना है, यह राष्ट्र अपना है तथा इस राष्ट्र का श्रेष्ठ जीवन निर्माण करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों के ये सब व्यवहार हो रहे हैं। राष्ट्र ही हमारा उपास्य है; उसी की सेवा में सब कार्य हैं। अपने सामने यह राष्ट्र न हो, तो बाकी के व्यवहारों से भला हमें क्या करना है ?

हिन्दू राष्ट्र को सभी मानेंगे

कुछ लोग कहेंगे कि यह हमने अपना हिन्दू राष्ट्र का विचार कहा, तो सभी लोग उसे नहीं मानेंगे। परन्तु इस सत्य की उद्घोषणा को कुछ लोग आज मानें न मानें, उससे कुछ बिगड़ता नहीं। हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट हो और उसके सम्बन्ध में अपने मन का पूर्ण विश्वास हो, तो आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने पर सच बात को लोग मानने लग जाएंगे। हम सभी का अनुभव है और मुझे भी ऐसा विश्वास है कि लोग मानते हैं।

कोई यदि कहेगा कि मैं इस विश्वास को मानने के लिए तैयार नहीं, तो यह उसकी दुर्बलता है। अपने-अपने क्षेत्र में विशेषतः अपना सुस्पष्ट भाव अधिकाधिक मात्रा में लोगों को समझाएं, तो नये लोग अपने साथ आकर खड़े हो जाएंगे और हमें

भली प्रकार समझ लेंगे। कोई कठिनाई की बात नहीं है। परन्तु यदि हमने अपने में दुर्बलता रखकर अपने ध्येय के सम्बन्ध में लचर भाषा में बोलना प्रारंभ कर दिया, तो सब समाप्त हो जाएगा तथा यह ध्येय को पोषित बनाने के स्थान पर एक और संकट उत्पन्न करने वाली बात सिद्ध होगी।

स्पष्ट ही ध्येय के साथ अपने यहां चारित्र्य का आदर्श रखा गया है। हम लोगों ने सामान्य ऐसा एक राष्ट्रीय चारित्र्य, सार्वजनिक चारित्र्य खड़ा करने का प्रयत्न किया है। उसमें कुछ मात्रा में यश ही मिला है। 'डा. मुंजे स्मारक समिति' द्वारा निधि-संग्रहार्थ जनता को आह्वान करने का निर्णय किया गया। उस आवेदन पर किसके हस्ताक्षर हों, इस पर विचार हुआ। अब मुझ जैसे व्यक्ति जिसके पास अपना कोई पैसा नहीं है, द्वारा हस्ताक्षर रहने से कौन पैसा देने वाला है ? तब विभिन्न प्रान्तों के सात नाम चुने गए, जिनमें दक्षिण के राजाजी का भी नाम था। उनसे मिलकर उनकी अनुमति प्राप्त करने के लिए मैंने मद्रास शाखा के संघ चालक को पत्र भेजकर सूचित किया। राजाजी ने उससे कहा 'निधि-संग्रहार्थ निकाले जाने वाले किसी भी आवेदन पर अपने हस्ताक्षर न देने का मेरा नियम है, क्योंकि इसका मैंने बहुत कटु अनुभव लिया है।' संघचालक जी के पास राजाजी के नाम लिखा हुआ मेरा पत्र था, जिसमें राजाजी से आवेदन पर हस्ताक्षर देने का मेरे द्वारा अनुरोध किया हुआ था। राजाजी को वह पत्र दिए जाने पर, उन्होंने कहा -'उनके ऊपर मेरा भरोसा है कि वे जिस काम के लिए पैसा इकट्ठा करेंगे, उसी पर वे खर्च करेंगे।' अत: उन्होंने इस अपील पर हस्ताक्षर किए। यह एक उदाहरण है कि लोग किस प्रकार हम पर विश्वास करते हैं। अत: हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के जो कार्य करने हैं, उनमें अपना व्यवहार शुद्ध रखना चाहिए।

विजय ही विजय

साथ ही हमें ध्यान रखना चाहिए कि शाखा के बिना हम भिन्न-भिन्न कार्य नहीं कर पाएंगे। जहां अपनी शाखा अच्छी प्रकार से चलती है, वहां पर कोई भी कार्य उठाया तो हम उसे निश्चयपूर्वक सफल कर सकते हैं। अत: संघ शाखा के कार्यक्रम, उसकी आचार पद्धति, स्वयंसेवकों का व्यवहार, स्वयं सेवकों का स्वभाव तथा उनका गुणोत्कर्ष आदि बातों की ओर हम ध्यान दें और उनका प्रसार तथा दृढ़ीकरण करने का एकाग्र चित्त से प्रयत्न करें। इतना हम लोग यदि करेंगे, तो सब क्षणों में विजय प्राप्त करेंगे और जितना यह कार्य सुदृढ़ता से चलेगा और उसे हम एक अन्त:करण से करेंगे, उतनी अपने लिए सर्व दूर विजय ही विजय है। ऐसा मैं पूर्णत: विश्वास से कहता हूं।

मानव-प्रतिष्ठा संकट में

जहां तक देश की परिस्थिति का प्रश्न है, हम देखते हैं कि दिन-प्रतिदिन सारे देश की स्थिति तानाशाही की ओर बढ़ रही है। लोग बोलते हैं कि रूसवादी तानाशाही आ रही है। कोई भी तानाशाही हो, किसी भी प्रकार का प्रचार करने से मनुष्य कैसे गुलाम बन जाता है, यह आजकल देखने को मिलता है। आजकल सरकारीकरण का प्रचार हो रहा है। उसकी हवा चल रही है, तो सभी आवश्यक चीजों के सरकारीकरण की मांग की जा रही है। नागपुर के मिर्च व्यापारियों ने भी प्रस्ताव पारित कर मिर्च का सम्पूर्ण व्यापार सरकारी हाथों में लेने की मांग की है। अभी एक बड़े कांग्रेसी नेता ने कहा कि सब चीजों का सरकारीकरण कर लेना चाहिए; केवल अनाज का सरकारीकरण करने से काम नहीं होगा। लोगों को लगता है कि सरकारीकरण सब रोगों की रामबाण दवा है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अपनी सरकार ऐसी है कि वह सोना उठाएगी, तो भी उसकी मिट्टी बन जाएगी। नवम्बर के अंत में मैं इन्दौर में था, तो वहां के समाचार-पत्रों में यह पढ़ने को मिला कि सरकारी गेहूं-गोदाम में मिट्टी के बड़े-बड़े ढेले मिले; जिनमें गेहूं के कुछ कण (दाने) चिपके हुए थे।

सरकारीकरण की यह स्थिति है, फिर भी इस प्रकार की हवा से लोगों का उसकी ओर झुकाव है। आज देश में ऐसी स्थिति निर्माण की जा रही है, जिसके अन्तर्गत कुछ मुट्ठी भर सत्ताधारी हों और शेष सम्पूर्ण समाज उनका गुलाम बनकर रहे। मानव की प्रतिष्ठा का जो भाव रहना चाहिए था, वह अब कहां रहा है ? वह तो गुलाम पालतू कुत्ता हुआ जा रहा है। उसके अन्दर कोई तेजस्विता नहीं रही है। मार भी पड़ी तो इस स्थिति में भी रोटी के लिए वह लार ही टपकाएगा।

इस स्थिति में मनुष्य तथा राष्ट्र की अस्मिता और चरित्र-जागृति करने तथा राष्ट्र की प्रतिष्ठा को सब प्रकार से अक्षुण्ण रखने में समर्थ समाज की संघटित शक्ति खड़ी करने का बहुत बड़ा दायित्व हमारी ओर आया है। यह अपने कार्य का विस्तार और उसके दृढ़ीकरण से ही सम्भव है। इसके लिए एक-एक व्यक्ति को अपने सम्पर्क में लाकर कार्य में खड़ा करना होगा। मनुष्य कितना लाचार होता है, यह मैंने अनुभव किया है। १९४६ के बाद सिन्ध से आये हुए निर्वासितों की बस्ती में मैं गया था। वे लोग मुझसे मिलने आये और कहने लगे कि हमारे निवास पर छत डलवाने के लिए कांग्रेस अधिवेशन के लिए मंगवाई टिन की चद्दरें हमें दी जाएंगी, ऐसा हमें बताया गया था; परन्तु बाद में कोई ध्यान नहीं दिया गया। हमें वे नहीं मिलीं और वे बाजार में बेची जाकर उन पर मुनाफा कमाया गया। मेरे द्वारा यह पूछे जाने पर कि मेरे पास आने से क्या होगा, उन्होंने कहा कि उनकी इच्छा है कि विरोधी दलों द्वारा यह प्रश्न उठाया जाए। मेरे द्वारा यह पूछे जाने पर कि चुनाव में उन लोगों ने किस पक्ष को मत दिया था, तो वे कुछ नहीं बाले। मैं समझ गया और मैंने

उन लोगों को कहा कि मत दूसरों को दो और आवाज विरोधी दल उठाए, यह कैसे चलेगा ? वे आपकी आवाज उठाएं, इसके लिए आप लोगों को उन्हें समर्थन देना होगा। मनुष्य की आज ऐसी स्थिति हो गई है। स्वार्थ के लिए वे लांगूल-चालन करते हैं (पूंछ हिलाते हैं)। समाज की इस स्थिति को बदलने के लिए, समाज को आत्मविश्वास पूर्ण बनाना होगा। समाज संगठित सामर्थ्य के बल पर ही प्रभुसत्ताधारी हो सकता है। यह दायित्व पूर्ण करने के लिए अपनी शाखाओं के विस्तार और दृढ़ीकरण तथा व्यक्ति-व्यक्ति के गुण संवर्धन की ओर ध्यान देना होगा।

आज देश में विघटनकारी शक्तियां कार्य कर रही हैं और विदेशी शक्तियां उनसे लाभ उठाने के लिए सिद्ध हैं। आसाम में हुई भाषायी झगड़ों के पीछे विदेशी शक्तियों का हाथ रहा है। हरिजनों पर होने वाले अत्याचारों के सम्बन्ध में जो भड़कीले समाचार छपते हैं, उनके पीछे भी विदेशी समाचार-वितरण-संस्थाओं (न्यूज एजेन्सियों) का हाथ दिखाई देता है। विदेशी शक्तियां अच्छी तरह से जानती हैं कि हिन्दू समाज को तोड़ने से ही यहां पर उनका प्रभुत्व रह सकता है। हिन्दू-मुसलमान के झगड़ों का वृत्त देते समय जाति के नामों का उल्लेख करने पर रोक है; परन्तु सवर्ण हिन्दू हरिजन, ब्राह्मण विरुद्ध अब्राह्मण विवाद के भड़कीले समाचार दिए जाते हैं। मुझे सन्देह है कि इस प्रकार समाज की एकता को आघात पहुंचाने वाले विक्षोभक समाचारों के प्रचार के पीछे विदेशी शक्तियों की चाल काम कर रही है और भारत में उन विदेशी ताकतों के प्रभाव के कारण ही अभी तक इस दिशा में कोई रोकथाम नहीं की जा रही है।

ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में समाज के एकीकरण तथा राष्ट्रीयत्व के जागरण का कार्य पूर्णतया करने में हम सफल नहीं हुए हैं। हम जितनी मात्रा में उसे पूर्ण करेंगे और सबके सामने अपने कार्य का एक घनीभूत आदर्श रूप खड़ा करेंगे, उतनी ही मात्रा में यह विदेशी हस्तक्षेप दूर होकर हमें देश में एकात्मता तथा परस्पर स्नेह का वायुमण्डल देखने को मिलेगा। अपने इस दायित्व को पहचान कर हमें कार्य का सब प्रकार से विचार करना चाहिए और उसके विस्तार के लिए अपने सब कार्यकर्ताओं को चारों ओर के कार्यों में जुट जाना चाहिए। यहां देश के प्रतिनिधि आए हुए हैं, वे अपने-अपने क्षेत्र में इस दृष्टि से पूर्ण चेष्टा करेंगे। मैं इतना ही इस समय कहता हूं। अगली बार भगवान बोलने के लिए समय देते हैं या नहीं, कौन जाने ?

❑❑❑

आदर्श की पूजा

सर्व स्वयंसेवक बंधुओ !

गत एक मास से शरीर का शक्ति-क्षरण द्रुत गति से हो रहा है। डॉक्टर बन्धु निराश हो गए हैं। सबके मन में एक ही विचार आ रहा प्रतीत होता है कि यह शरीर अब अत्यल्प-काल का साथी है।

तब अपने संघ-कार्य की व्यवस्था का एक महत्व का प्रश्न सामने आता है। संघ-कार्य अपने संविधान के अनुसार सुचारु रूप से चलेगा ही। उसी संविधान के अनुसार नूतन सरसंघ-चालक की योजना करने का वह प्रश्न है। अखिल भारतीय कार्यकारी मण्डल के जिन सदस्यों से मैं मिलकर विचार कर सका, वे सब पुराने, दीर्घ काल के अनुभवी मंजे हुए कार्यकर्ता हैं और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के संघचालक पद पर कार्य में संलग्न हैं। सबसे बातें होने पर उन सबका सारभूत निर्णय प्रकट करने का मेरा सद्य:कालीन सरसंघचालक के नाते दायित्व है।

उस दायित्व को पूरा करते हुए मैं यह निर्णय प्रकट कर रहा हूं कि मेरे शरीर के शान्त होने के पश्चात् सरसंघचालक पद का भार सबके परिचित श्री मधुकर दत्तात्रेय उपाख्य बाला साहेब देवरस ग्रहण करेंगे।

अपने कार्य की स्नेहपूर्ण एकात्मता की पद्धति, व्यक्ति-निरपेक्षता, ध्येय निष्ठा आदि विशेषताओं को ध्यान में रखकर सब छोटे-बड़े स्वयंसेवक बंधु अपने परमपूज्य सरसंघचालक जी के मार्ग-दर्शन में संघ-कार्य की पूर्ति-हेतु काया-वाचा-मनसा जुटे रहेंगे और कार्य शीघ्र लक्ष्य पूर्ति कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

अपना कार्य राष्ट्र-पूजक है, ध्येय पूजक है; व्यक्ति पूजक को उसमें स्थान नहीं है। मेरा शरीर अल्पकाल का साथी रहा है; ऐसा डाक्टर बन्धुओं का मन्तव्य प्रतीत होता है। शरीर नश्वर तो है ही, कभी न कभी जाएगा। उसके जाने पर शेष शव का शृंगार आदि बातें विचित्र लगती हैं। वैसे ही, संघ का ध्येय और उस ध्येय का दर्शन कराने वाले संघ-निर्माता इनके अतिरिक्त और किसी व्यक्ति का, व्यक्ति इस नाते से महत्व बढ़ाना, उसके स्मारक बनाना, आवश्यक नहीं है।

मैंने तो ब्रह्मकपाल में अपना स्वयं का भी श्राद्ध कर रखा है, जिससे बाद में किसी पर श्राद्ध आदि का बोझ न रहे।

यह अति थोड़े में कहा है। इसका विस्तार से अर्थ सब समझ सकेंगे-यह मेरा पूरा विश्वास है।

सब बन्धुओं को सादर नमस्कार। इति शम।

[४९२]

सभी स्वयंसेवकों को अंतिम पत्र

परमप्रिय आदरणीय स्वयंसेवक बंधुगण !

२१ जून, १९४० को परम पूजनीय डा. हेडगेवार जी का शरीर अन्त हो गया और उनकी इच्छा के अनुसार सरसंघचालक पद का गुरु-भार मेरे पर आ पड़ा। मैं तो कुछ भी जानता न था। तो भी, सब पुराने कार्यकर्ताओं ने बड़े प्रेम से सहकार्य किया, मार्गदर्शन किया और इतने दीर्घकाल तक, लगभग ३३ वर्ष तक, मैं इस भार को वहन करता आया। अब भगवान की इच्छा दीखती है कि दूसरे योग्य व्यक्ति को यह दायित्व देकर कार्य अधिक अच्छी प्रकार और अधिक द्रुत-गति से पूर्णता की ओर बढ़ावें। और अब यह योजना हो रही है।

इस दीर्घकाल में मेरे स्वभाव-वैचित्र्य के कारण या अन्यान्य न्यूनताओं के दोषों के कारण अपने अनेक कार्यकर्ताओं को मानसिक दु:ख हुआ होगा। मैं सबसे करबद्ध क्षमा-याचना करता हूं। अन्त में, श्री संत तुकाराम जी का वचन उद्धृत कर रहा हूँ जिससे सब भाव समझ में आ सकेंगे-

शे टची विनवणी। संत जनीं परिसावी।।
विसर तो न पडावा। माझा देवा तुम्हांसी।।
आता कार बोलों कायी। अवधें पायीं विदित।।
तुका म्हणे पडतों पाया। करा छाया कृपेची।।

(हिन्दी अनुवाद)

अंतिम ये प्रार्थना। संतजन सुनें सभी।।
विस्मरण न हो मेरा। आपको प्रभो कभी।।
अधिक और क्या कहूं। विदित सभी चरणों को।।
तुका कहे पैरों पडूं। करें कृपा की छांह को।।

- मा.स. गोलवलकर

प्रार्थना

हे वत्सला मातृभूमि ! मैं तुझे निरन्तर प्रणाम करता हूं। हे हिन्दूभूमि ! तूने ही मुझे सुख में बढ़ाया है। हे महामङ्गलमय पुण्यभूमि ! मेरी यह काया तेरे हित अर्पित हो। तुझे मैं अनन्त बार प्रणाम करता हूं।

हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! सब हिन्दू राष्ट्र के अङ्गभूत घटक ये हम तुझे आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं। तेरे ही कार्य के लिए हमने अपनी कमर कसी है। उसकी पूर्ति के लिए हमें शुभ आशीर्वाद दे।

विश्व के लिए अजेय ऐसी शक्ति, सारा जगत विनम्र हो, ऐसा विशुद्ध शील तथा बुद्धिपूर्वक स्वीकृत हमारे कण्टकमय मार्ग को सुगम करे, ऐसा ज्ञान भी हमें दे।

अभ्युदय-सहित नि:श्रेयस की प्राप्ति का वीर-व्रत नामक जो एकमेव श्रेष्ठ व उग्र साधन है; उसका हम लोगों के अन्त:करण में स्फुरण हो। हमारे हृदय में अक्षय तथा तीव्र ध्येय-निष्ठा सदैव जागृत रहे। हमारी विजयशालिनी संगठित कार्यशक्ति तेरे आशीर्वाद से, स्वधर्म का रक्षण कर, अपने इस राष्ट्र को परम् वैभव की स्थिति पर ले जाने में अतीव समर्थ हो।

भारत माता की जय

मुस्लिम समस्या

(प्रख्यात मुस्लिम विद्वान व पत्रकार डा. सैफुद्दीन जिलानी से ३० जनवरी १९७१ को कलकत्ता में सम्पन्न भेंटवाता, जो दिल्ली के प्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक- 'आर्गेनाइजर' में प्रकाशित हुई)

प्रश्न – देश के समक्ष आज जो संकट मुंह बाए खड़े हैं, उन्हें देखते हुए हिन्दू-मुस्लिम समस्या का कोई निश्चित हल ढूंढना, क्या आपको आवश्यक प्रतीत नहीं होता ?

उत्तर – देश का विचार करते समय मैं हिन्दू और मुसलमान, इस रूप में विचार नहीं करता। परन्तु इस प्रश्न की ओर लोग किस दृष्टि से देखते हैं ? आजकल सभी लोग राजनीतिक दृष्टि से ही विचार करते हुए दिखाई देते हैं। हर कोई, राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर, व्यक्तिगत अथवा जातिगत स्वार्थ सिद्ध करने लगा हुआ है। इस परिस्थिति पर मात करने का केवल एक ही उपाय है। वह ह राजनीति की ओर देश हित और केवल देश हित की ही दृष्टि से देखना। उस स्थिति में वर्तमान सभी समस्याएं देखते ही देखते हल हो जाएंगी।

हाल ही में मैं दिल्ली गया था। उस समय अनेक लोग मुझसे मिलने आए थे। उनमें भारतीय क्रांति दल, संगठन कांग्रेस आदि दलों के भी लोग थे। संघ को हमने प्रतयक्ष राजीनति से अलग रखा है। परन्तु मेरे कुछ पुराने मित्र जनसंघ में होने के कारण, कुछ मामलों में मैं मध्यस्थता करूं, इस हेतु से वे मुझसे मिलने आए थे। उनसे मैंने एक सामान्य सा प्रश्न पूछा, 'आप लोग हमेशा अपने दल का और आपके दल के हाथ में सत्ता किस तरह आए, इसी का विचार किया करते हैं। परन्तु दलीय निष्ठा, दलीय हितों का विचार करते हैं ?' इस सामान्य से प्रश्न का 'हां' में उत्तर देने के लिए कोई सामने नहीं आया। समग्र देश के हितों का विचार सचमुच उनके सामने होता, तो वे वैसा साफ-साफ कह सकते थे। किन्तु उन्होंने नहीं कहा। मैं समग्र देश का विचार करता हूं; इसीलिए मैं हिन्दुओं के लिए कार्य करता हूं। परन्तु कल यदि हिन्दू भी देश के हितों के विरुद्ध जाने लगें, तो उनमें मेरी कौन सी रुचि रह जायेगी। रही मुसलमानों की बात। मैं यह समझ सकता हूं कि अन्य लोगों की तरह उनकी भी न्यायोचित मांगें पूरी की जानी चाहिए। परन्तु जब चाहे तब विभिन्न सहूलियतों और विशेषाधिकारों की मांगें करते रहना कतई न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। मैंने सुना है कि प्रत्येक प्रदेश में एक छोटे पाकिस्तान की मांग उठाई गई है। जैसा कि प्रकाशित हुआ है, एक मुस्लिम संगठन के अध्यक्ष ने तो लाल किले पर अपना झण्डा फहराने की योजना की बात कही है। उन महाशय ने इसका खण्डन भी नहीं किया है। ऐसी बातों में समग्र देश का विचार करने वालों का संतप्त होना स्वाभाविक है।

उर्दू के आग्रह का ही विचार करें। पचास वर्षों के पूर्व तक विभिन्न प्रान्तों के मुसलमान अपने-अपने प्राप्तों की भाषाएं बोला करते थे; उन्हीं भाषाओं में शिक्षा ग्रहण किया करते थे। उन्हें कभी ऐसा नहीं लगा कि उनके धर्म की कोई अलग भाषा है।

उर्दू, मुसलमानों की धर्म-भाषा नहीं है। मुगलों के समय में वह एक संकट भाषा के रूप में उत्पन्न हुई। इस्लाम के साथ उसका रत्ती भर का भी सम्बन्ध नहीं है पवित्र कुरान अरबी में लिखा है। अत: मुसलमानों की अगर कोई धर्म-भाषा है, तो वह अरबी ही होगी। ऐसा होते हुए भी, आज उर्दू का इतना आग्रह क्यों ? इसका कारण यह है कि इस भाषा के सहारे मुसलमानों को एक राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करना चाहते हैं। यह संभावना ही नहीं एक निश्चित तथ्य है कि इस तरह की राजनीतिक शक्ति देश-हितों के विरुद्ध हो जाएगी।

कुछ मुसलमान कहते हैं कि उनका राष्ट्र-पुरुष रुस्तम है। सच पूछा जाए तो मुसलमानों का रुस्तम से क्या सम्बन्ध ? रुस्तम तो इस्लाम के उदय से पूर्व ही हुआ

था; वह उनका राष्ट्र-पुरुष कैसे हो सकता है ? और फिर प्रभु रामचन्द्र जी क्यों नहीं हो सकते ? मैं पूछता हूं कि आप यह इतिहास स्वीकार क्यों नहीं करते ?

पाकिस्तान ने पाणिनि की ५ हजारवीं जयन्ती मनाई ! इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि जो हिस्सा 'पाकिस्तान' के नाम से जाना जाता है, वहीं पाणिनि का जन्म हुआ था। यदि पाकिस्तान के लोग गर्व के साथ यह कह सकते हैं कि पाणिनि उनके पूर्वजों में से एक हैं, तो फिर भारत के 'हिन्दू'-मुसलमान भी, मैं उन्हें हिन्दू-मुसलमान कहता हूं, पाणिनि, व्यास, वाल्मिकी, राम, कृष्ण आदि को अभिमान पूर्वक अपने महान् पूर्वज क्यों नहीं मानते ?

हिन्दुओं में ऐसे अनेक लोग हैं, जो राम, कृष्ण आदि को ईश्वर के अवतार नहीं मानते; फिर भी, वे उन्हें महापुरुष मानते हैं; अनुकरणीय मानते हैं। इसीलिए मुसलमान भी यदि उन्हें अवतारी पुरुष न मानें तो कुछ नहीं बिगड़ने वाला है। परन्तु क्या उन्हें राष्ट्र-पुरुष नहीं माना जाना चाहिए ?

हमारा धर्म और तत्व-ज्ञान की शिक्षा के अनुसार हिन्दू और मुसलमान समान ही है। ऐसा बात नहीं है कि ईश्वर-सत्य का साक्षात्कार केवल हिन्दू ही कर सकता है। अपने-अपने धर्ममत के अनुसार, कोई भी साक्षात्कार कर सकता है।

शृंगेरी मठ के शंकराचार्य का ही उदाहरण लें। यह उदाहरण, वर्तमान शंकराचार्य के गुरु का है। एक अमेरिकी व्यक्ति उनके पास आया और उसने प्रार्थना की कि उसे हिन्दू बना लिया जाए। इस पर शंकराचार्य जी ने उससे पूछा कि वह हिन्दू क्यों बनना चाहता है ? उसने उत्तर दिया कि ईसाई धर्म से उसे शांति प्राप्त नहीं हुई है। आध्यात्मिक तृष्णा भी अतृप्त ही है।

इस पर शंकराचार्य जी ने उससे कहा, 'क्या तुमने सचमुच पहले ईसाई मत का प्रामाणिकतापूर्वक पालन किया है ? तुम यदि इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हो कि ईसाई पंथ का पालन करने के बाद भी तुम्हें शांति नहीं मिली, तो मेरे पास अवश्य आओ।'

हमारा दृष्टिकोण इस तरह का है। हमारा धर्म, धम-परिवर्तन न कराने वाला धर्म है। धर्मान्तरण तो प्राय: राजनीतिक अथवा अन्य हेतु से कराए जाते हैं। इस तरह का धर्म परिवर्तन हमें स्वीकार नहीं है। हम कहते हैं - 'यह सत्य है। तुम्हें जंचता हो, तो स्वीकार करो; अन्यथा छोड़ दो।'

दक्षिण की यात्रा के दौरान, मदुरै में कुछ लोग मुझसे मिलने आए। वे मुझसे कुछ समस्याओं पर चर्चा करना चाहते थे। मैंने उनसे कहा 'आप लोग मुझसे मिलने आये, मुझे बड़ा आनन्द हुआ।' मुसलमानों के विषय में मेरा दृष्टिकोण उन्होंने जानना चाहा, तो मैं उनसे बोला 'हमें यह बात हमेशा ध्यान में रखना होगी कि हम सबके

पूर्वज एक ही हैं, और हम सब उनके वंशज हैं। आप अपने-अपने धर्मों का प्रमाणिकता से पालन करें। परन्तु राष्ट्र के मामले में हम सबको एक होना चाहिए। राष्ट्र-हित के लिए बाधक सिद्ध होने वाले अधिकारों और सहूलियतों की मांग बन्द होनी चाहिए। हम हिन्दू हैं, इसलिए हम विशेष सहूलियतों या अधिकारों की बात कभी नहीं करते। ऐसी स्थिति में कुछ लोग यदि कहने लगे कि 'हमें अलग होना है, हमें अलग प्रदेश चाहिए' तो यह कतई सहन नहीं होगा।

ऐसी बात नहीं, कि यह प्रश्न हिन्दू और मुसलमानों के बीच ही हो। यह समस्या तो हिन्दुओं के बीच भी है। जैसे, हिन्दू-समाज में जैन लोग हैं, तथाकथित अनुसूचित जातियां हैं। अनुसूचित जातियों में कुछ लोगों ने डा. अम्बेडकर के अनुयायी बनकर बौद्ध धर्म ग्रहण किया। अब वे कहते हैं 'हम अलग है'। अपने देश में अल्पसंख्यकों को कुछ विशेष राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। इसलिए प्रत्येक गुट स्वयं को अल्पसंख्यक बताने का प्रयास कर रहा है तथा उसके आधार पर कुछ विशेष अधिकार और सुविधाएं मांग रहा है।

इससे अपने देश के अनेक टुकड़े हो जाएंगे और सर्वनाश होगा। हम उसी दिशा में बढ़ रहे हैं। कुछ जैन-मुनि मुझसे मिले। उन्होंने कहा, 'हम हिन्दू नहीं हैं। अगली जनगणना में, हम स्वयं को जैन के नाम से दर्ज कराएंगे।' मैंने कहा, 'आप आत्मघाती सपने देख रहे हो!' अलगाव का अर्थ है देश का विभाजन और विभाजन का परिणाम होगा आत्मघात ! सर्वनाश !

जब लोग प्रत्येक बात का विचार राजनीतिक स्वार्थ की दृष्टि से ही करने लगते हैं, तो अनेक भीषण समस्याएं उत्पन्न होती हैं। किन्तु इस स्वार्थ को अलग रखते ही अपना देश एक संघ बन सकता है, फिर हम संपूर्ण विश्व की चुनौती का सामना कर सकते हैं।

जिलानी – इस प्रकार के उत्तर की मैंने कभी अपेक्षा नहीं की थी। श्रीगुरु जी के व्यापक दृष्टिकोण को देख मैं विस्मय विमुग्ध हो उठा। मेरे द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तरों में, श्री गुरु जी ने देश की सभी समस्याओं का समावेश किया। साथ ही किया उसकी दुर्बलताओं का अचूक निर्देश। भारतीय मुसलमानों के बारे में श्री गुरुजी ने ठीक-ठाक निदान किया, और उस पर सुझाया अपना रामबाण उपाय भी।

प्रश्न – भौतिकवाद और विशेषतः साम्यवाद से अपने देश के लिए खतरा पैदा हो गया है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास रखते हैं। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि दोनों मिलकर इस संकट का मुकाबला कर सकते हैं ?

उत्तर – यही प्रश्न कश्मीर के एक सज्जन ने मुझसे किया था। उनका नाम संभवत: नाजिर अली है। अलीगढ़ में मेरे एक मित्र अधिवक्ता श्री मिश्रीलाल के निवास स्थान पर वे मुझसे मिले। उन्होंने मुझसे कहा, 'नास्तिकता एवं साम्यवाद हम सभी पर अतिक्रमण हेतु प्रयत्नशील है। अत: ईश्वर पर विश्वास रखने वाले हम सभी को चाहिए कि हम सामूहिक रूप से इस खतरे का मुकाबला करें।'

मैंने कहा, 'मैं आपसे सहमत हूं। परन्तु कठिनाई यह है कि हम सबने मानों ईश्वर की प्रतिमा के टुकड़े-टुकड़े पर डाले हैं और हरेक ने एक-एक टुकड़ा उठा लिया है। आप ईश्वर की ओर अलग दृष्टि से देखते हैं, ईसाई अलग दृष्टि से देखते हैं। बौद्ध लोग तो कहते हैं कि ईश्वर तो है ही नहीं, जो कुछ है वह निर्वाण ही है। जैसे लोग कहते हैं कि सब कुछ शून्याकार ही है। हममें से अनेक लोग राम, कृष्ण, शिव आदि के रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं। इन सबको आप यह किस तरह कह सकेंगे कि एक ही सर्वमान्य ईश्वर को माना जाये। इसके लिए आपके पास क्या कोई उपाय है।' मुझसे चर्चा करने वाले सूफी थे। मेरी यह धारणा थी कि सूफी ईश्वरवादी और विचारशील हुआ करते हैं। मेरे प्रश्नों का उन्होंने जो उत्तर दिया, उसे सुनकर आप आश्चर्यचकित हो जायेंगे; उन्होंने कहा, 'तो फिर आप सब लोग इस्लाम ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ?'

मैंने कहा, 'फिर तो कुछ लोग कहेंगे कि ईसाई क्यों नहीं बन जाते ? मेरे धर्म के प्रति मुझमें निष्ठा है, इसलिए मैं यदि आपसे कहूं कि आप हिन्दू क्यों नहीं बन जाते तो ? यानी समस्या जैसी थी वैसी रह गई। वह कभी हल नहीं होगी।'

इस पर उन्होंने मुझसे पूछा, 'तो फिर इस पर आपकी क्या राय है ?'

मैं बोला, 'सभी अपने-अपने धर्म का पालन करें। एक ऐसा सर्वसारभूत तत्व ज्ञान है, तो जो केवल हिन्दुओं का या केवल मुसलमानों का ही हो, ऐसी बात नहीं।

इस तत्व ज्ञान को आप अद्वैत कहें या और कुछ। यह तत्वज्ञान कहता है कि एकमेवाद्वितीय शक्ति है। वही सत्य, वही आनन्द है, वही सृजन, रक्षण और संहार करती है। अपनी ईश्वर की कल्पना उसी सत्य का सीमित अंश है। अन्तिम सत्य का यह मूलभूत रूप किसी धर्म विशेष का नहीं; अपितु सर्वमान्य है तथा यही रूप हम सबको एकत्रित कर सकता है। सभी धर्म वस्तुत: ईश्वर की ही ओर उन्मुख करते हैं। अत: यह सत्य आप क्यों नहीं स्वीकार करते कि मुसलमान, ईसाई और हिन्दुओं का परमात्मा एक ही है, और हम एब उसके भक्त हैं ? एक सूफी के रूप में तो आपको इसे स्वीकार करना चाहिए।'

इस पर उनके पास कोई उत्तर नहीं था। दुर्भाग्य से हमारी बातचीत यहीं समाप्त हो गई।

प्रश्न – हिन्दू और मुसलमानों के बीच आपसी सद्भावना बहुत है, फिर भी समय-समय पर छोटे-बड़े झगड़े होते ही रहते हैं। इन झगड़ों को मिटाने के लिए आपकी राय में क्या किया जाना चाहिए ?

उत्तर – आप अपने लेखों में, इन झगड़ों का एक कारण हमेशा बताते हैं। वह कारण है गाय। दुर्भाग्य से अपने लोग और राजनीतिक नेता भी इस कारण का विचार नहीं करते। परिणामत: देश के बहुसंख्यकों में कटुता की भावना उत्पन्न होती है। मेरी समझ में नहीं आता कि गोहत्या के विषय में इतना आग्रह क्यों है? इसके लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता। इस्लाम-धर्म गोहत्या का आदेश नहीं देता। पुराने जमाने में हिन्दुओं को अपमानित करने का वह एक तरीका रहा होगा, किन्तु अब वह क्यों चलना चाहिए ?

इसी प्रकार की अनेक छोटी-बड़ी बातें हैं। आपस के पर्वों-त्यौहारों में हम क्यों सम्मिलित न हों ? होलिकोत्सव समाज के सभी स्तरों के लोगों को अत्यन्त उल्लासयुक्त वातावरण में एकत्रित करने वाला त्यौहार है। मान लीजिए कि इस त्यौहार के समय किसी मुस्लिम बन्धु पर कोई रंग उड़ा देता है, तो इतने मात्र से क्या कुरान की आज्ञाओं का उल्लंघन हो जाता है ? इन बातों की ओर एक सामाजिक व्यवहार के रूप में देखा जाना चाहिए। मैं आप रंग छिड़कूं, आप मुझ पर छिड़कें। हमारे लोग तो कितने वर्षों से मोहर्रम के सभी कार्यक्रमों में सम्मिलित होते आ रहे हैं। इतना ही नहीं, अजमेर के उर्स जैसे कितने ही पर्वों, त्यौहारों में मुसलमानों के साथ हमारे लोग भी उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते हैं। किन्तु अपनी सत्यनारायण की पूजा में हम यदि मुसलमान बन्धुओं को आमंत्रित करें, तो क्या होगा ? आपको विदित होगा कि द्रुमक (द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम) के लोग अपने मंत्रिमण्डल के एक मुस्लिम मंत्री को रामेश्वरम् में ले गए। मंदिर के अधिकारियों, पुजारियों और अन्य लोगों ने उस मंत्री का यथोचित मान-सम्मान किया। किन्तु जब उसे मंदिर का प्रसाद दिया गया, तो उसने फेंक दिया। उसने ऐसा क्यों किया ? प्रसाद ग्रहण करने मात्र से तो वह धर्म-भ्रष्ट होने वाला नहीं था। इसी तरह की छोटी-छोटी बातें हैं। अत: पारस्परिक आदर की भावना उत्पन्न की जानी चाहिए।

हमें जो वृत्ति अभिप्रेत है, वह सहिष्णुता मात्र नहीं। अन्य लोग, जो कुछ करते हैं उसे सहन करना सहिष्णुता है। परन्तु अन्य लोग जो कुछ करते हों, उसके प्रति आदर भाव रखना सहिष्णुता से ऊंची बात है। इसी वृत्ति-भावना को प्राधान्य

दिया जाना चाहिए। हमें सबके विषय में आदर है, यही मार्ग मानवता के लिए हितकारक है। हमारा 'वाद' सहिष्णुतावाद नहीं, अपितु सम्मानवाद है। हम दूसरों के मतों का आदर करना सीखें, तो सहिष्णुता स्वयमेव चली आएगी।

प्रश्न – हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए आगे आने की योग्यता किस में है ? राजनीतिक नेता, शिक्षा शास्त्री या धार्मिक नेता में ?

उत्तर – इस मामले में राजनीतिज्ञ का क्रम तो सबसे अन्त में लगता है। धार्मिक नेताओं के विषय में भी यही कहना होगा। आज अपने देश में दोनों ही जातियों के धार्मिक नेता अत्यन्त संकुचित मनोवृत्ति के हैं। इस काम के लिए नितांत अलग प्रकार के लोगों की आवश्यकता है। जो लोग धार्मिक हों, किन्तु राजनीतिक नेतागिरी न करते हों और जिनके मन में समग्र राष्ट्र का विचार सदैव जागृत रहता हो, ऐसे लोग ही यह कार्य कर सकते हैं। धर्म के अधिष्ठान के बिना कुछ भी हासिल नहीं होगा। धार्मिकता होनी ही चाहिए। रामकृष्ण मिशन को ही लें। यह आश्रम व्यापक और सर्वसमावेशक धर्म के प्रचार का कार्य कर रहा है। अत: आज तो इसी दृष्टिकोण और वृत्ति की आवश्यकता है कि ईश्वरोपासना विषयक विभिन्न श्रद्धाओं को नष्ट न कर हम उनका आदर करें, उन्हें टिकाए रखें और उन्हें वृद्धिगत होने दें।

राजनीतिक नेताओं के जो खेल चलते हैं, उन्हीं से भेदभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। वे जातियों, पंथों पर तो जोर देते ही हैं, साथ ही भाषा, हिन्दू-मुस्लिम आदि भेद भी वे पैदा करते हैं। परिणामत: अपनी समस्याएं अधिकाधिक जटिल होती जा रही हैं। जाति सम्बन्धी समस्या के मामले में तो राजनीतिक नेता ही वास्तविक खलनायक हैं। दुर्भाग्य से राजनीकि नेता ही आज का नेता बन बैठा है, जब कि चाहिए तो यह था कि सच्चे, विद्वान, सुशील और ईश्वर के परम भक्त महापुरुष जनता के नेता बनते। परन्तु इस दृष्टि से आज उनका कोई स्थान ही नहीं है। इसके विपरीत, नेतृत्व आज राजनीतिक नेताओं के हाथों में है। जिनके हाथों में नेतृत्व है, वे राजनीतिक पशु बन गए हैं। अत: हमें लोगों को जागृत करना चाहिए।

दो दिनों पूर्व ही मैंने प्रयाग में कहा कि लोगों को राजनीतिक नेताओं के पीछे नहीं जाना चाहिए; अपितु वह ऐसे सत्पुरुषों का अनुकरण करें, जो परमात्मा के चरणों में लीन हैं, जिनमें चारित्र्य है और जिनकी दृष्टि विशाल है।

प्रश्न – क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि जातीय सामंजस्य निर्माण का उत्तरदायित्व, बहुसंख्यक समाज के रूप में, हिन्दुओं पर है ?

उत्तर – हां, मुझे यही लगता है, परन्तु कुछ कठिनाइयों का विचार किया जाना चाहिए। अपने नेतागण सम्पूर्ण दोष हिन्दुओं पर लादकर मुसलमानों को दोष-मुक्त कर देते हैं। इसके कारण जातीय उपद्रव करने के लिए, अल्पसंख्यक समाज यानी मुस्लिमों को सब प्रकार का प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए हमारा कहना है कि इस मामले में दोनों को अपनी जिम्मेदारियों का पालन करना चाहिए।

प्रश्न – आपकी राय में आपसी सामंजस्य की दिशा में तत्काल कौन से कदम उठाए जाने चाहिए ?

उत्तर – इस तरह से एकदम कुछ कहना कठिन है; बहुत ही कठिन है। फिर भी सोचा जा सकता है। व्यापक पैमाने पर धर्म की यथार्थ शिक्षा देना एक उपाय हो सकता है। आज जैसी राजनीतिक नेताओं द्वारा समर्थित धर्महीन शिक्षा नहीं, अपितु सच्चे अर्थों में धर्म-शिक्षा। लोगों को इस्लाम का, हिन्दू धर्म का ज्ञान करायें। सभी धर्म मनुष्य को महान्, पवित्र और परोपकारी, मंगलमय बनने की शिक्षा देते हैं; यह लोगों को सिखाया जाये।

दूसरा उपाय यह हो सकता है कि हमारा इतिहास जैसा है, वैसा पढ़ाएं। आज जो इतिहास पढ़ाया जाता है, वह विकृत रूप में पढ़ाया जाता है। मुस्लिमों ने इस देश पर आक्रमण किया हो, तो वह हमें स्पष्ट रूप से बताएं। परन्तु साथ ही यह बताएं कि यह आक्रमण भूतकालीन है और विदेशियों ने किया है। मुसलमान यह कहें कि वे इसी देश के मुसलमान हैं और ये आक्रमण उनकी विरासत नहीं है। परन्तु, जो सही है उसे पढ़ाने के स्थान पर जो असत्य है, विकृत है, वही आज पढ़ाया जाता है। सत्य बहुत दिनों तक दबा कर नहीं रखा जा सकता। अतः वह सामने आता ही है। इसलिए मैं कहता हूं कि इतिहास जैसा है वैसा ही पढ़ाया जाए। अफ़जल खां को शिवाजी ने मारा है, तो वैसा ही बताओ। कहो कि एक विदेशी आक्रामक और एक राष्ट्रीय नेता के तनावपूर्ण संबंधों के कारण यह घटना हुई। यह भी बताएं कि हम सब एक ही राष्ट्र हैं, इसलिए हमारी परम्परा अफ़जल खां की नहीं है। परन्तु यह कहने की हिम्मत कोई नहीं करता। इतिहास के विकृतीकरण को मैं अनेक बार धिक्कार चुका हूं और आज भी उसे धिक्कारता हूं।

प्रश्न – भारतीयकरण पर बहुत चर्चा हुई, भ्रम भी बहुत निर्माण हुए। क्या आप बता सकेंगे कि ये भ्रम कैसे दूर किये जा सकेंगे ?

उत्तर – भारतीयकरण की घोषणा जनसंघ द्वारा की गई है। किन्तु इस मामले में सम्भ्रम क्यों होना चाहिए ? भारतीकरण का अर्थ सबको हिन्दू बनाना तो है नहीं।

हम सभी को यह सत्य समझ लेना चाहिए कि हम इसी भूमि के पुत्र हैं; अत; इस विषय में अपनी निष्ठा अविचल रहना अनिवार्य है। हम सब एक ही मानव समूह के अंग हैं। हम सबके पूर्वज एक ही हैं; इसलिए हम सब की आकांक्षाएं भी एक समान हैं। इसे समझना ही सही अर्थों में भारतीयकरण है।

भारतीयकरण का यह अर्थ नहीं कि कोई अपनी पूजा पद्धति त्याग दे। हमने यह बात कभी नहीं कहीं और कभी कहेंगे भी नहीं। हमारी तो यह मान्यता है कि उपासना की एक ही पद्धति, मानव जातियों के लिए सुविधाजनक नहीं।

श्री जिलानी – गुरुजी, आपकी बात सही है। बिल्कुल सौ फीसदी सही है। अत: इस स्पष्टीकरण के लिए मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूं।

श्री गुरुजी – फिर भी मुझे सन्देह है कि ये बातें मैं सबके समक्ष स्पष्ट कर सका हूं या नहीं।

श्री जिलानी – कोई बात नहीं। आपने अपनी ओर से यह बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। कोई भी विचारशील व्यक्ति और भला आदमी आपसे असहमत नहीं होगा। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि अपने देश का जातीय बेसुरापन समाप्त करने का उपाय ढूंढने में आपको सहयोग दे सके; ऐसे मुस्लिम नेताओं की और आपकी बैठक आयोजित करने का समय आ गया है ? ऐसे नेताओं से भेंट करना क्या आप पसन्द करेंगे ?

श्री गुरुजी – केवल पसन्द ही नहीं करूंगा, ऐसी भेंट का मैं स्वागत भी करूंगा।

❑❑❑

(दिल्ली, ११ जून, १९७०)

प्रश्न – आज़ादी आए हुए २३ वर्ष हो गए; फिर भी भारत में साम्प्रदायिक तनाव समाप्त नहीं हुआ। इस स्थिति के सम्बन्ध में आपका विश्लेषण क्या है ?

श्रीगुरुजी – भारत में हिन्दू-मुस्लिम तनाव का प्रमुख कारण यह है कि अभी मुसलमानों का भारतीय जन तथा संस्कृति के साथ पूरा तरह एकरूप होना बाकी है। भारतीय मुसलमान यह अनुभव करने लगें और बोलने लगें कि यह अपना देश है तथा यहां के लोग अपने हैं, तो समस्या समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार उनकी मनोभूमिका में योग्य परिवर्तन लाने की बात है।

प्रश्न – साफ है कि आप हिन्दुओं की प्रधानता चाहते हैं, क्या आप इसके लिए संविधान में संशोधन की मांग भी करना चाहते हैं?

श्रीगुरुजी – हिन्दुओं को तो प्रधानता प्राप्त है ही। लोकतांत्रिक ढांचे में हिन्दुओं का यह प्राधान्य स्वाभाविक ही है। मैं जो चाहता हूं, वह है 'स्वस्थ समाज'। इसके लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हमारा संविधान सबको समान अधिकार की गारण्टी देता है। और हिन्दू भी जन्मजात पंथ निरपेक्ष होने के कारण इस सत्य को मानते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग होते हैं।

प्रश्न – आप सदैव हिन्दुओं की ही बात क्यों करते हैं ? 'इण्डियन' की क्यों नहीं ? अपने कार्य में आप मुसलमानों को क्यों नहीं सम्मिलित करते ?

श्री गुरुजी – महात्मा गांधी जी के कार्यकाल में हिन्दू बहुत अंशों में 'हिन्दुस्तानी' बन गया था। किन्तु क्या मुसलमानों ने भी उनकी ओर ध्यान दिया ? क्या मुसलमान हिन्दुस्तानी बना ? इसके विपरीत मौलाना मौहम्मद अली ने मुंह फेर कर घोषणा की कि खराब से खराब मुसलमान भी भले से भले यानी महात्मा गांधी सहित किसी हिन्दू से कहीं अच्छा है। उसके बाद प्राय: सभी राजनीतिक दल मुसलमानों के समूह वोट पाने के लिए, उनके पृथकत्व को बनाए रखने के लिए ही उन्हें प्रोत्साहित कर रहे हैं। क्या उन्हें हिन्दुस्तानी बनाने का यही तरीका है ? हमें इतिहास को ठीक प्रकार से पढ़ना चाहिए। हमें इतनी वयस्कता प्राप्त करनी ही चाहिए कि हम इतिहास को ठीक प्रकार से परख सकें। मैं केवल हिन्दू-संगठन के कार्य से संबंधित हूं; मुस्लिम से नहीं। मेरा कार्य है हिन्दुओं को संगठित करना।

प्रश्न – निश्चय ही, मुसलमान हमारे जीवन का अङ्ग बन चुके हैं।

उत्तर – मैं इस पर विवाद नहीं कर रहा हूं; परन्तु क्या उन्हें ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा वे कर रहे हैं। सच बात तो यह है कि दुनिया के जिस किसी भी देश में इस्लाम का प्रसार हुआ है, वहां की पूर्ववर्ती भूषा, भाषा व जीवन-पद्धति आदि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ईरान, तुर्की व अन्य देशों में उनकी मूल वेश-भूषा, भाषा व जीवन-दृष्टि आदि उसी प्रकार अपरिवर्तित रहे हैं। किन्तु, अपने देश में तो सब कुछ, यहां तक कि हमारा चिन्तन भी, बदल गया है।

यदि उक्त परिवर्तन नहीं हुआ होता, तो यहां कोई मुस्लिम समस्या रही ही नहीं होती। इस परिवर्तन ने उन्हें राष्ट्र की मुख्य-जीवन धारा से काट दिया है।

गो-हत्या क्यों ?

प्रश्न – हमारे देश में गो-हत्या कैसे प्रारंभ हुई ?

उत्तर – यह विदेशी आक्रान्ताओं के आगमन के साथ आरम्भ हुई। उन्होंने जनमानस को दास बनाने के लिए हिन्दुओं के आत्मसम्मान के प्रत्येक अवशेष को पोंछ डालना ही सर्वोत्तम माना। उन्होंने धर्मान्तरण तथा मठ-मन्दिरों के विध्वंस जैसे बर्बरता के विभिन्न तरीके अपनाये। इसी शृंखला में गो-हत्या भी प्रारंभ हुई। फ्रान्स, डेनमार्क, पुर्तगाल और इंग्लैण्ड के परवर्ती आक्रमणों ने भी इसे जारी रखा, ताकि यह उनके गुलामी के तौर-तरीकों में सहायक बन सके।

प्रश्न – कुछ लोगों का मत है कि मुसलमानों की भावनाओं का आदर करने के लिए हमें गो-हत्या का सम्मान करना चाहिए ?

उत्तर – तब इसका तात्पर्य होगा कि हमें अपने आत्मसम्मान का त्याग करना होगा। क्या 'सहिष्णुता' के नाम पर हमें अपनी भावनाओं, मान्यताओं व संवेदनाओं को कुचलते देखना होगा ? मुसलमानों की भावनाओं का सम्मान करने का सुझाव दो करणों से दिया जाता है। पहला यह कि वे संगठित हैं और यदि वे अपनी 'भावनाओं' की रक्षा के लिए लूट-पाट प्रारंभ कर दें; तो सरकार को उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं करना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि सत्ताधीशों को वोट के लिए प्रत्येक पांच वर्ष में उनके पास जाना पड़ता है और वे नहीं चाहते कि मुसलमानों के सामूहिक वोट उनके अतिरिक्त किसी अन्य दल को मिलें। अपने इसी स्वार्थ के वशीभूत वे ऐसे तर्क देते हैं। इससे प्रोत्साहित होकर अन्य दल भी यही तरीका अपनाकर और ऐसे ही तर्क देकर मुस्लिम-तुष्टिकरण का प्रयास करने लगते हैं।

प्रश्न – गो–हत्या विरोधी अभियान के विरुद्ध काफी प्रचार है। इसका प्रतिकार कैसे किया जाए ?

उत्तर – इसके पहलुओं को जनता के समक्ष रखना चाहिए। इसमें आर्थिक व भावनात्मक कई पक्ष हैं। किन्तु मैं इस पर एक अन्य दृष्टिकोण से भी विचार करता हूं। इस देश में गो–हत्या विदेशी आधिपत्य के बाद प्रारंभ हुई। मुसलमानों ने इसे प्रारंभ किया और अंग्रेजों ने भी इसे जारी रखा। अत: हमारे लिए यह कलंक का टीका है। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही ऐसे सभी कलंक मिटा दिए जाने चाहिए थे; अन्यथा, हम अभी मानसिक दासता से ग्रस्त बने रहें। परन्तु गो–हत्या बन्द होना तो दूर, उल्टे कई गुना बढ़ गई है। सन् १९४४–४५ ई. में इससे पूर्व की तुलना में ५०–१०० गुना अधिक गो–हत्या होती थी। इसका मुख्य कारण युद्ध–काल में यहां विदेशी सेना के शिविर स्थापित होना था। परन्तु अब स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् घटने के स्थान पर यह १९४५ की तुलना में २० गुना बढ़ गई है, यद्यपि विदेशी सेना यहां से कभी की जा चुकी है।

जहां तक सेना का संबंध है, यह विदित ही है कि अंग्रेजों ने सेना में गौ मांस व सुअर मांस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उन्होंने १८५७ की घटना से शिक्षा ली थी। किन्तु अब हमारी राष्ट्रीय सेना में गौ–मांस का उपयोग होता है; सुअर मांस का नहीं। उत्तर प्रदेश जैसे प्रान्तों में गौ–हत्या पर प्रतिबन्ध है, परन्तु केन्द्र सरकार ने इन्हें आवश्यक संशोधन करने का निर्देश दिया है, ताकि अनुपयोगी पशुओं का सेना के लिए वध किया जा सके। इस प्रक्रिया में वैधानिक प्रतिबन्ध को विफल करते हुए उपयोगी पशुओं का भी वध कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त मैसूर (कर्नाटक) जैसे प्रतिबन्धित प्रान्तों की सीमाओं पर चारों ओर पशु–वध होता रहता है और गौ–मांस राज्य के अन्दर लाया जाता है। इसी कारण हम केन्द्र द्वारा गौ–हत्या पर देशव्यापी पूर्ण प्रतिबन्ध लगाए जाने की मांग करते हैं। कुछ नेताओं के अनुसार गौ–मांस का निर्यात बन्द करने से हमें विदेशी मुद्रा की प्रचुर हानि होगी। क्या अधिक विदेशी मुद्रा के लिए हम अपने मान–बिन्दुओं से समझौता कर सकते हैं ?

प्रश्न – गौ–हत्या पर प्रतिबन्ध लगाने से मना करने में सरकार का क्या मन्तव्य है ?

उत्तर – संभवत: वे भयभीत हैं कि गो–हत्या पर प्रतिबन्ध लगाने से उन्हें मुस्लिम व ईसाई वोट नहीं मिलेंगे। बेचारे हिन्दू तो वोट दे ही देंगे। इसलिए मुसलमान व ईसाई वोटों को सुरक्षित करना आवश्यक है। अमरीका ने भी हम पर दबाव डाला

कि गो-हत्या बन्द नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उन्हें खाल और सस्ता गौ-मांस चाहिए। वे अपनी स्वस्थ गायों को अधिक संख्या में नहीं मारना चाहते। वे यह भी चाहते हैं कि हम दुग्ध-चूर्ण जैसी चीजों के लिए भी उन पर निर्भर रहें।

प्रश्न – मैसूर राज्य के गौ-हत्या प्रतिबन्धक पूर्व अधिनियम में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के परिप्रेक्ष्य में १२ वर्ष से अधिक आयु वाले बैलों के वध की अनुमति देने हेतु संशोधन किया गया है। क्या यह संशोधन अपरिहार्य है ?

उत्तर – सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय उत्तर प्रदेश के कतिपय कसाइयों द्वारा अपने पेशे के कार्यान्वयन के दावे के विशिष्ट सन्दर्भ में दिया गया था। मैसूर के सन्दर्भ में यह तर्क असंगत था, क्योंकि वहां गौ-हत्या दीर्घकालावधि से प्रतिबन्धित थी। अत: उनके व्यवसाय के प्रभावित होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सचमुच, सर्वोच्च न्यायालय का व्यावसायिक स्वतंत्रता का सम्मान सम्बन्धी तर्क भी मनगढ़न्त ही था। शराब-बन्दी ने लोगों के एक वर्ग को अपने पैतृक व्यवसायी से वंचित कर दिया है। महाराष्ट्र में रामोशी वर्ग के लोग राम की पूजा करके लूटपाट व डकैती प्रारम्भ करते हैं। वह उनका 'सम्मानित' व्यवसाय है। तो क्या सर्वोच्च न्यायालय उनके 'अधिकारों' को भी बहाल रखेगा ?

प्रश्न – कुछ लोग वेदों में गोमांस-भक्षण का उल्लेख बताते हैं। क्या यह सत्य है ?

उत्तर – गौ-मास-भक्षण के काल्पनिक सन्दर्भ का आधार सचमुच में 'गो' शब्द का भ्रामक अर्थ है। 'गो' का अर्थ इन्द्रियां भी होता है। याज्ञवल्क्य ने इसी अर्थ में उन्हें 'खाने' अर्थात् 'वश' में रखने की बात कही थी। गौ-हत्या समर्थक लोग अपने पक्ष का औचित्य सिद्ध करने के लिए इस अज्ञान अथवा भ्रामक अर्थ का सुविधानुसार उपयोग करते रहते हैं।

राजनैतिक सिद्धान्त एवं प्रणालियां

प्रश्न – साम्यवादियों का दावा है कि उनके सिद्धान्त मानव-जाति के क्रमिक विकास की वैज्ञानिकता पर आधारित हैं। क्या यह उनका एक सबल बिन्दु नहीं है ?

उत्तर – किन्तु वास्तविकता यह है कि मानव-विकास के सच्चे स्वरूप की वैज्ञानिक अन्वीक्षा (जांच) उनके इस दावे को असत्य सिद्ध करती है। साम्यवाद का

एकमेव आधार 'भौतिक वाद' मानव-विकास का सबसे आदिम पहलू है। क्रमिक विकास का क्रम निरपवाद रूप से स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है। मनुष्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में पूर्णतया भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त होता है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति व समय भौतिक सुख एवं शारीरिक संतुष्टि के पीछे लगा देता है। जैसे ही वह प्रगति पथ पर चलकर उच्च स्तर की ओर विकसित होता है, वह अपनी भावनात्मक आकांक्षाओं की संतुष्टि द्वारा मानसिक सुख की कामना करता है। अब वह संस्कृति के मार्ग पर अग्रसर होता है, जो मानव-विकास की ही दूसरी संज्ञा है। उसका सौन्दर्य-बोध तीव्र होने लगता है और वह कला का पुजारी बन जाता है। वह उसमें निहित सौन्दर्य के नाना स्वरूपों को खोजने का प्रयास करने लगता है। यही स्थिति बौद्धिक रूप से आनन्द की अनुभूति का प्रारंभ है। वह ज्ञान रूपी महासागर की अतल गहराइयों में गोता लगाने में सुख प्राप्त करता है। विज्ञान व दर्शन उसकी शोधपरक बौद्धिक-शक्ति के समक्ष चुनौतीपूर्ण अध्याय प्रस्तुत करने लगते हैं। तथापि, वह इन सबसे भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता, वह और आगे बढ़ने की कामना करता है। अर्थात्, अब वह अध्यात्म के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है अन्ततोगत्वा, वह परम सत्य, उस ईश्वर तक पहुंच जाता है, जो सर्वव्यापी एवं परम आनन्द का सूक्ष्म सिद्धान्त है।

ऐसी है मानव-विकास की सच्ची प्रकृति। अर्थात् निम्न से उच्च की ओर एवं भौतिक से अध्यात्म की ओर उठने वाला आरोही क्रम। तब साम्यवादी लोग अपनी भौतिकवादी दृढ़धर्मिता के वैज्ञानिक आधार पर दावा कैसे कर सकते हैं ? वास्तव में इस दृष्टि से पर्यावलोचन करने पर ये साम्यवादी लोग प्रतिक्रियावादी, प्रगति-विरोधी एवं प्रतिगामी ही ठहरते हैं।

प्रश्न – फिर भी समता उनका आधारभूत सिद्धान्त है ?

उत्तर – किन्तु यह भौतिकवाद सदोषपूर्ण आधार पर स्थित है। मेरी समझ में नहीं आता कि यदि मैं सिर्फ पदार्थ मात्र हूं, तो मुझे समानता के आधार पर अन्य सभी के साथ सहयोग की भावना क्यों संजोनी चाहिए ? मुझे दूसरे को निगल कर क्यों नहीं जीना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्य को भौतिक आवश्यकताओं का पुतला मात्र मानने की उनकी मूल विचारधारा भी तथ्यों से प्रमाणित नहीं होती। भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त मनुष्य की भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक व संवेदनात्मक आदि अनेक आवश्यकताएं भी होती हैं, जो अधिक महत्वपूर्ण नहीं तो बराबर के महत्व की तो हैं ही। क्या कोई विचार प्रणाली मानव अस्तित्व की इस जटिलता का विचार किए बिना तात्विक दृष्टि से मूल्यवान हो सकती है ? सच्ची समानता का

आधार इस सत्य का साक्षात्कार ही हो सकता है कि सभी प्राणी उसी दिव्य सत्ता के अंश है, जिसे चाहे 'परमसत्य' कहा जाय अथवा 'परमेश्वर'।

प्रश्न – क्या आप संघकार्य में साम्यवाद या अन्य किसी वाद का समावेश करना चाहेंगे ?

उत्तर – मुझे अन्य वादों की चिन्ता नहीं है। यदि हमारी विचारधारा में कोई वाद अथवा किसी वाद का अंश समाविष्ट हो, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। तथैव, यदि कोई विचारधारा इसमें आकर मिल जाए, तो भी मैं चिन्ता नहीं करूंगा।

प्रश्न – आपका किस 'वाद' में विश्वास है ?

उत्तर – मैं इसमें विश्वास नहीं करता कि मानव की बौद्धिक क्षमता का दिवाला निकल गया है, और वह किसी वाद की सीमाओं में समा सकेगा।

प्रश्न – क्या हमारे देश में तब तक साम्यवाद का विकास अपरिहार्य नहीं है, जब तक आर्थिक विषमता विद्यमान है ?

उत्तर – साम्यवादियों के पनपने का आधार वर्ग-संघर्ष भी विषमता का परिणाम नहीं है। हमने श्रम की महत्ता व गरिमा का विचार उचित ढंग से आत्मसात नहीं किया है। उदाहरणार्थ, दैनिक तीन-चार रु. आय वाला रिक्शाचालक 'बेचारा' एवं ६० रु. मासिक कमाने वाला लिपिक 'बाबूजी' कहलाता है। दृष्टिकोण का यही भेद घृणा उत्पन्न करता है। इसका हल स्नातकों द्वारा ऐसे कार्यों को अपनाना है जिससे शारीरिक श्रम का सम्मान मिल सके। कर्म में ऊंच-नीच का भेद नहीं होता। यह तो समाज रूपी सर्वशक्तिमान परमेश्वर की ही आराधना है। 'भगवद्गीता' में कहा गया है-

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।

शोषण व शोषित वर्ग की अवधारणा भी गलत है। कभी मालिक, तो कभी श्रमिक हड़ताल करते हैं। स्वामी की हानि या श्रमिकों की मांग का भार अंततः उपभोक्ता पर ही पड़ता है। अर्थात् वास्तविक शोषित तो उपभोक्ता ही है।

प्रश्न – साम्यवादी अर्थव्यवस्था का विकल्प क्या है ?

उत्तर – कहने की आवश्यकता नहीं; प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, वस्त्र तथा आश्रय की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो होनी ही चाहिए किन्तु सोवियत रूस की भांति राज्य के पास सभी अधिकार केन्द्रित नहीं होने चाहिए। अतः मेरा सुझाव है कि सहकारी संस्थाओं द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिए। हमें उत्पादन की आधुनिक प्रौद्योगिकी तो अपनानी चाहिए; किन्तु अपनी समाज-रचना की मूलभावना सुरक्षित रखनी चाहिए।

प्रश्न – क्या लोकतंत्र भारतीय अवधारणा है ?

उत्तर – हम पश्चिमी जगत से भी पहले लोकतंत्र–सहित अनेक अवधारणाओं का परीक्षण कर चुके हैं।

प्रश्न – क्या आप लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन तन्त्र मानते हैं ?

उत्तर – बनार्ड शा ने कहा है कि लोकतंत्र का अभ्युदय परोपकारी अधिनायक के अभाव के कारण हुआ है। यदि शासन चलाने वाले लोग सत्य निष्ठ तथा नि:स्वार्थी हैं, तो कोई भी शासन व्यवस्था कारगर हो सकती है। अंतत: यह सब मनुष्यों की गुणवत्ता पर आकर ही टिक जाता है।

प्रश्न – क्या एक सत्य निष्ठ अधिनायक का शासन बेईमान द्वारा चालित लोकतंत्र से अधिक श्रेयस्कर है ?

उत्तर – तानाशाही निरंकुशता द्वारा अच्छे शासन की परम्परा पीढ़ी–दर–पीढ़ी जारी रखना असंभव है। उसमें परिवर्तन की व्यवस्था आवश्यक है। मानव–स्वभाव के सन्दर्भ में भी परिवर्तन आवश्यक है। और, लोकतंत्र ऐसी ही एक व्यवस्था है।

प्रश्न – हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अनुसार राजा की क्या भूमिका थी ?

उत्तर – उसे धर्म के निर्देशों का पालन करना चाहिए। जब वह चक्रवर्ती राजा बनने की इच्छा करता है, तो उसे अश्वमेध यज्ञ करना होता है। वह तीन बार 'अदण्ड्योऽमि' कहता है; जिसका आशय है कि मैंने विश्व पर विजय प्राप्त कर ली है और अब मुझे कोई दण्ड नहीं दे सकता। हर बार यज्ञ का प्रमुख पुरोहित उसके पीठ पर धर्म दण्ड छूकर कहता है 'धर्म–दण्ड्योऽसि' अर्थात् तुम धर्म द्वारा दण्डनीय हो।

प्रश्न – हमारे देश में लोकतंत्र अपेक्षित रूप से सफल क्यों नहीं है ?

उत्तर – लोकतांत्रिक व्यवस्था के कर्णधार ही अपने व्यवहार में लोकतंत्रीय नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति सदैव सत्ता में रहना चाहता है; तो वह लोकतंत्रीय नहीं है। सच्चा लोकतांत्रिक डंके की चोट पर यह घोषित करेगा कि मैं दूसरों के लिए रास्ता साफ करूंगा। परन्तु हमारे देश में लोग मृत्यु–पर्यन्त अपने पद पर बने रहना चाहते हैं।

प्रश्न – सम्यक् मानसिक दृष्टिकोण किस प्रकार विकसित हो सकता है ?

उत्तर – प्रशिक्षण द्वारा। 'प्रशिक्षण' का आशय है – राष्ट्र, जन और राष्ट्रीय स्वभाव के प्रति सम्यक दृष्टि का गठन।

आर्थिक समस्याओं का समाधान

प्रश्न – आजकल के बहुचर्चित विषय 'उद्योगों के राष्ट्रीयकरण' के विषय में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर – उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का अर्थ है राज्य का पूंजीवाद,जो उतना ही अच्छा या बुरा है जितना पूंजीवाद। मैं ऐसी सहकारी औद्योगिक व्यवस्था की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा हूं, जिसमें सरकारी समिति का ही नहीं, समाज का भी प्रत्येक सदस्य अपने अधिकार तथा कामचोरी की अपेक्षा दायित्व एवं कर्तव्य को अधिक महत्व देगा। भारतीय संस्कृति समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व तथा कर्तव्यों पर बल देती है। मैं चाहूंगा कि स्वतंत्र भारत इस भावना से पुन: आप्लावित हो।

प्रश्न – भारत की परिस्थितियों में कौन सा औद्योगिक स्वरूप हमारे लिए सर्वाधिक अनुकूल होगा ?

उत्तर – पूरे देश में लघु उद्योगों एवं गृह-उद्योगों का जाल फैलाना होगा। वे बड़े औद्योगिक केन्द्रों का पोषण करें, जैसा कि जापान का परिदृश्य है। उदाहरणार्थ- साइकिल उद्योग में प्रत्येक पुर्जा अलग-अलग जगह बनाकर साइकिल एक स्थान पर ही बनाई जा सकती है। केवल सुरक्षा आदि से संबंधित कुछ विशिष्ट उद्योग ही विशाल स्तर पर लगाने चाहिए। इस दृष्टिकोण द्वारा ही कृषि व अन्य उद्योगों का सामंजस्य पूर्ण विकास सुनिश्चित किया जा सकता है। इससे ग्रामीण व शहरी जीवन के मध्य बढ़ती जा रही असमानता समाप्त करने में भी सहायता मिलेगी।

प्रश्न – ऐसा लगता है कि इन दिनों औद्योगिकीकरण किसी भी राष्ट्र की प्रगति का मानदण्ड बन गया है ?

उत्तर – यही कारण है कि विश्व संघर्ष तथा युद्ध की ओर बढ़ता जा रहा है। अतिरिक्त उत्पादन की खपत अन्य देशों में करने की होड़ से एक सीमा के बाद बाजार के लिए संघर्ष जन्म लेने लगता है, जिसकी परिणति युद्ध में होती है।

दूसरी बात लोग बेरोजगार बना दिए जाते हैं। यह नहीं होना चाहिए। आवश्यकताओं का पैदा करते जानने वाला पश्चिमी सिद्धान्त तथा उसकी पूर्ति के लिए अधिक मशीनों की आवश्यकता के इस चक्र का परिणाम मनुष्य को मशीनों का गुलाम बनाने में ही होगा। यह बात ध्यान रहे कि नियंत्रण नहीं किया जाए तो यह अपने निर्माता का ही विनाश कर देगी। नैतिक शक्ति से सम्पन्न बुद्धिमान लोग ही ऐसे भस्मासुर को नियंत्रित व निर्देशित कर सकते हैं। ऐसे अधिकार-सम्पन्न लोग ही मनुष्य की नियति का दिशा-निर्देश कर सकते हैं।

प्रश्न – आपके मतानुसार देश में कितनी और कैसी मशीनों का निर्माण किया जाए ? यह तय करने का मानदण्ड क्या होना चाहिए ?

उत्तर – आर्थिक, औद्योगिक एवं मशीनीकरण संबंधी नीतियों का निर्धारण अधिकतम लोगों को रोजगार देने के आधार पर होना चाहिए, ताकि लोगों में मुद्रा-वितरण होता रहे । एक नवनिर्मित बांध का उदाहरण सामने है, जिसके निर्माण के समय खुदाई व समतलीकरण के लिए विदेशों से करोड़ों रुपये की मशीनों का आयात किया गया। संबंधित अभियन्ताओं से भेंट होने पर मैंने मशीनी उपयोग का कारण पूछा। मैंने यह भी पूछा कि क्या वह सस्ता पड़ा ? उन्होंने बताया कि शारीरिक श्रम करने पर भी इतना ही व्यय होना था। हजारों श्रमिकों की मजदूरी भी इतनी होती, जितनी कि मशीनों की कीमत। ऐसी दोषपूर्ण नीति के परिणामस्वरूप हमने एक ओर अपना धन विदेशों को भेजा और दूसरी ओर हजारों मजदूरों को मजदूरी से वंचित कर दिया।

प्रश्न – सभी योजनाएं व कार्यक्रम देश को निर्धनता के दुश्चक्र से निकालने में पूर्ण असफल रहे हैं। कुछ लोग नये आर्थिक जादुई करिश्मों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

उत्तर – युद्ध के बाद जापान और पश्चिमी जर्मनी उस समग्र आर्थिक रूपान्तर के जादू के जीवंत प्रमाण हैं, जो वहां के नागरिकों के अनुशासित प्रयासों व राष्ट्रभक्ति के उत्साह का परिणाम है। आणविक प्रलय की विभीषिका से ग्रस्त तथा वधशाला के रूप में परिणत जापान ने ऐसी चमत्कारिक प्रगति की है कि आज अमरीका भी बाजार में जापान के उत्पादों से प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ है। वह जापानी मुद्रा 'येन' से अपने 'डालर' को सम्बद्ध करने हेतु जापान से याचना कर रहा है। हर वह व्यक्ति इस बात का साक्षी है, जिसने जापान का यात्रा की है कि वह प्रगति वहां के छोटे से छोटे मजदूर की उत्कट राष्ट्रभक्ति का परिणाम है। प्रत्येक जापानी के हृदय की धड़कन से एक ही आवाज आती है – देश पहले।

जर्मनी को भी युद्ध के कारण अपने उद्योगों का लगभग ऐसा ही विनाश सहन करना पड़ा है। इसके साथ ही उसकी श्रेष्ठ युवा शक्ति का विलोप भी हुआ। इस पर युद्ध ऋण के भुगतान-हेतु विजेता देशों की सेनाओं को अपनी भूमि पर रखने और उनका व्यय-भार उठाने को बाध्य होना पड़ा। इन संकटों व अग्नि परीक्षाओं के साथ ही उसको विभाजन की विभीषिका भी झेलनी पड़ी। इस सबके पश्चात् भी जर्मनवासियों ने साहस नहीं खोया। पश्चिमी जर्मनी अक्षरश: अपनी भस्म से ही नवजीवन तथा उत्साह के साथ पुन: उठ खड़ा हुआ है और आधुनिक राष्ट्रों से स्पर्धा

कर रहा है। इस चमत्कारिक प्रगति का रहस्य भी उसके नागरिकों की राष्ट्रभक्ति में ही निहित है। पूंजीपति व श्रमिक, वैज्ञानिक व अध्यापक, व्यापारी व कृषक सभी ने अपने राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति एवं सम्पन्नता के लिए बड़े से बड़े त्याग और बलिदान किए हैं। यही वे तथ्य हैं, जिनके आधार पर इन देशों ने अपनी भूमि से गरीबी व भुखमरी का उन्मूलन किया है, न केवल नारे लगाकर अथवा अपनी भीमकाय योजनाओं की दुंदुभि बजाकर। प्रत्येक राष्ट्र को एकमेव यही मार्ग अपनाना होगा। राष्ट्रीय प्रगति एवं समृद्धि के मार्ग में आसान पगडण्डियां नहीं हुआ करतीं।

आन्दोलनों का कारण

प्रश्न – आजकल हिंसक आन्दोलनों की बाढ़–सी आ गई है; इसका कोई विशेष कारण है क्या ?

उत्तर – बढ़ते असन्तोष, नैराश्य भाव और उन्हें दूर करने में सरकार के प्रति शोचनीय सीमा तक विश्वास के अभाव ने ही, देश के विभिन्न भागों में लोगों को अपनी समस्याओं के समाधान–हेतु आन्दोलन छेड़ने के लिए प्रेरित किया है। दुर्भाग्यवश, यह भावना बढ़ती गई है कि जब तक आन्दोलन न हो और हिंसा न फैले; तब तक सरकार स्थिति के प्रति जागृत ही नहीं होती। और जब सजग होती है, तो वह भी अन्धाधुन्ध और प्रतिकारी हिंसा में लिप्त हो जाती है। मेरे विचार से, इस भावना का अतिवादी रूप खतरनाक है। यह सत्ता पक्ष का ही कर्तव्य है कि वह समय रहते सद्भावनापूर्वक तथा उचित कार्यवाही करे और सुनिश्चित करे कि जनता को ऐसी खतरनाक धारणा का कोई कारण न दिया जाए।

प्रश्न – किन्तु आन्दोलन के नाम पर छात्रों द्वारा सरकार व निजी सम्पत्ति का विध्वंस किये जाने के विषय में आपके विचार क्या हैं ?

उत्तर – सबसे दुःखद पहलू यह है कि इस समस्या के प्रति कोई चिंतित दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत हमारे प्रधानमंत्री (तत्कालीन) ने आन्दोलनकारियों को निर्दोष होने के प्रमाण पत्र यह कह दिया है कि 'यह युवा शक्ति के जागरण का लक्षण है।' कैसी विचित्र एवं विकृत व्याख्या है। क्या चाहे जैसी भी गतिविधि को जागृति की संज्ञा दी जा सकती है ? घोर सन्निपात की अवस्था में विकट ज्वर–ग्रस्त भी उग्र शक्ति के आवेश में हाथ–पैर मारने लगता है। क्या इस स्थिति को भी 'जागृति' कहना चाहिए ? इसके विपरीत क्या यह शारीरिक शक्तियों के गंभीर असंतुलन का लक्षण नहीं है।

उग्र व हिंसक गड़बड़ियों को भड़काने वाले गंभीर तत्व क्या हैं ? किसी स्थान पर एक छात्र नकल के आरोप में परीक्षा से निलंबित किया गया, परन्तु अन्य छात्र उसे बचाने के लिए आ गए और अध्यापकों व कॉलेज भवन पर आक्रमण प्रारंभ कर दिया। देखत ही देखते वह हुड़दंग 'छात्र आन्दोलन' बन गया। एक अन्य स्थान पर एक छात्र ने एक महिला से अभद्रता की। वह शरणार्थी बर्मी महिला फलों की दुकान लगाती थी। जब वह सहायता के लिए चिल्लाई, तो उसके पति ने आकर उस छात्र को धक्का देकर गिरा दिया। बस, उसके सैकड़ों छात्रावासी साथियों के लिए उस बर्मी नागरिक पर हमला करने के लिए यह पर्याप्त कारण बन गया। इसी प्रकार हन्दी के पक्ष-विपक्ष में हुए आन्दोलनों के नाम पर भी छात्रगण विध्वसंकारी गतिविधियों में संलग्न हो गए थे।

एक बार कुछ छात्र नेता शिक्षण-शुल्क (फीस) बढ़ाने के विरोध में प्रारंभ अपने आन्दोलन का औचित्य सिद्ध करने हेतु मुझसे मिले। उनका तर्क था कि इस कारण उनके परिवार को आर्थिक कष्ट हुआ है और उन्हें रात दिलाने के लिए बाध्य होकर वे यह आन्दोलन चला रहे हैं। इस पर मैंने एक सरल सा प्रश्न किया कि यदि आपको माता-पिता के आर्थिक कष्ट की इतनी ही चिन्ता है, तो निश्चित रूप से आपको अपने सिनेमा, होटल आदि के आमोद-प्रमोद व्यय में कटौती करनी चाहिए न ? क्या ऐसा है ? उन्होंने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया।

जनसंख्या-समस्या का समाधान

प्रश्न – जनसंख्या की समस्या के विषय में आपका क्या दृष्टिकोण है?

उत्तर – इतना तो सर्वविदित है कि यदि आप व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान कर दें, तो वह अधिक बच्चों को जन्म नहीं देगा।

प्रश्न – ऐसी स्थिति में कुछ एकड़ भूमि का स्वामी होने के कारण स्वयं को सुरक्षित अनुभव करने वाले किसान के अधिक बच्चे नहीं होने चाहिए ?

उत्तर – नहीं, सुरक्षा की दृष्टि से वह नितान्त दयनीय है। कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि, तो कभी महामारी के कारण सदैव मृत्यु और आपदा के समीप ही बना रहता है। अवचेतन मन में जिजीविषा के कारण वह इस आशा से अधिक बच्चे पैदा करता है कि उनमें से कुछ तो जीवित बच ही जायेंगे।

प्रश्न – जापान में निर्धनों को परिवार-नियोजन के संसाधन नि:शुल्क उपलब्ध कराये जाते हैं, क्या हमारे यहां भी ऐसा कुछ होना चाहिए ?

उत्तर – नहीं, केवल आर्थिक अभाव के कारण किसी को सीमित परिवार रखने के लिए बाध्य किया जाना समाज पर आक्षेप होगा। इसका निदान परिवार सीमित करने में नहीं; बल्कि पर्याप्त काम देने में है। असाध्य रोगी की नसबंदी उचित हो सकती है, परन्तु गरीब व्यक्ति की नहीं। 'कृपावध' कहकर भी इसका बचाव नहीं किया जा सकता। निर्धन होना कोई अपराध तो नहीं है।

इसमें एक अन्य आपत्ति भी है। यदि एक बार परिवार-नियोजन को प्रोत्साहन दिया गया, तो निर्धनों की अपेक्षा सम्पन्न लोग ही इसे अधिक अपनाने लगेंगे। शिक्षित व सम्पन्न लोग इन चीजों को अधिक समझते और अपनाते हैं। निर्धन तो न इसे समझते हैं और न ही अपनाते हैं। वे इससे आशंकित रहते हैं। परिणामस्वरूप, परिवार-नियोजन के प्रचार से शिक्षित वर्ग की संख्या कम होती है। और, कुल मिलाकर इससे जनसंख्या की गुणवत्ता ही गिरती है। क्या जापान या अन्य कोई देश खुजनन के सिद्धान्तों को इतना समझता है कि उसे परिवार-नियोजन की नीतियां सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित की जा सकें ? कुछ दिन पहले ही वहां विभिन्न जातियों के संकरण को रामबाण औषधि के रूप में स्वीकार किया गया था, परन्तु उस पर अभी से पुनर्विचार प्रारंभ हो गया है। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि बाह्य प्रजनन हानिकारक है और अंत:प्रजनन हानिकारक नहीं भी हो सकता। परन्तु यह केवल नकारात्मक स्थापना है। यह सिद्ध हो चुका है कि संकर संतानें कुछ पीढ़ियों बाद अपनी मूल प्रजातियों से कम गुणवती होने लगती है। अत: संतान की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए सतत चयनात्मक संकरित प्रजनन आवश्यक है। असली बिन्दु यह है कि क्या मानव के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाएगा। मुझे विश्वास है कि सभी यह स्वीकार करेंगे कि मानव समाज पशुओं का कोई बाड़ा नहीं है।

ये देश जनसंख्या नियंत्रण की बात करते हैं; परन्तु आत्म-नियंत्रण की नहीं। उन्हें तब तक कामाचार की चिन्ता नहीं, जब तक उनकी क्षमतानुसार सन्तान उत्पन्न हो। यह एक प्रकार से भ्रूण-हत्या के लिए सहमति देने के समान है। ऐसे समाज में लोग केवल नैतिक राक्षस ही होंगे।

प्रश्न – यदि औषधियों आदि के प्रयोग से विज्ञान मृत्यु दर कम कर जनसंख्या बढ़ाने में संलग्न है, तो उसका उपयोग जन्म दर कम करने में क्यों नहीं किया जाता ?

उत्तर – मैं नहीं समझता कि औषधियों से दीर्घकाल तक जीवन सुरक्षित हो सकता है; बल्कि, ऐसी औषधियों से शरीर की प्राणशक्ति क्षीण होती है और ये

निकट भविष्य में ही जीवन-भक्षक सिद्ध हो जाएंगी। जनसंख्या स्वयं को नियंत्रित कर लेगी। प्रकृति अपने ढंग से कार्य करती रहती है। ऐसा प्राय: हुआ है कि प्रत्येक युद्ध के पूर्व व पश्चात् जन्म-दर में आकस्मिक वृद्धि होती है। यह विनाश के प्रति मनुष्य जाति की अन्तर्निहित प्रतिक्रिया होती है। इसी प्रकार परिस्थितियां सुधरने पर जब वह सुरक्षा का अनुभव करने लगता है, तो जन्म दर में स्वाभाविक गिरावट आ जाती है।

धर्म-विषयक विचार

प्रश्न – हमारे मठाधीशों पर आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने हमारी जनता की धार्मिक आवश्यकताओं को अनदेखा किया है। इस विषय में आपकी धारणा क्या है ?

उत्तर – यह सत्य है कि अभी तक अधिकांश मठाधीश अपने मठों तक ही सीमित रहकर हस्ति-दंत-मनोरम (कल्पना लोक) में ही विचरण करते रहे हैं। परिणामस्वरूप, हमारे लोग, विशेषकर पहाड़ों व वनों में रहने वाले दूरस्थ बन्धु, धार्मिक क्रिया से पूर्णतया वंचित रहे हैं। उदाहरणार्थ असम में चार 'सत्राधिकार गोस्वामी' पिछली कई शताब्दियों से अपने मठों से बाहर नहीं निकले हैं। लगभग सभी ब्रह्मपुत्र नदी के उसी टापू पर अपने-अपने मठों में रहते हैं, किन्तु अभी तक उन्होंने एक-दूसरे को नहीं देखा है। जब वे चारों विश्व-हिन्दू-सम्मेलन में पधारे, तो एक-दूसरे का परिचय पूछने लगे। परन्तु, अब स्थितियां बदल रही हैं। पूज्य दक्षिणापथ स्वामी जी भी प्रवास करते हैं और अपने वनवासी अनुयायियों से समरस होकर उन्हें 'ओंकार दीक्षा' देते हैं। इससे असम के इन वन क्षेत्रों के हिन्दुओं में श्रद्धा व उत्साह की नई लहर उत्पन्न हो गई है।

प्रश्न – परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हमने अपना नैतिक अधिकार ही खो दिया है ?

उत्तर – एक बार विश्व हिन्दू सम्मेलन का आमंत्रण देने के लिए हमारे कार्यकर्ता कई मठाधीशों के पास गए। वे कई सम्प्रदायों के थे। कुछ एक ही सम्प्रदाय के छोटे व बड़े मठों के थे। हमारे कार्यकर्ताओं से उच्च मठाधीशों ने पहला ही प्रश्न पूछा कि बैठने की व्यवस्था किस प्रकार होगी ? क्या हमारे लिए विशेष रूप से उच्च आसनों की व्यवस्था हो जाएगी ? लघु मठाधीशों के बराबर बैठने से उनकी 'पीठ' का मान घटेगा। परन्तु यह बताने पर कि संन्यास में कोई भेदभाव करना असंभव है, तो कईयों ने आने से मना कर दिया। कैसा दु:खद है कि सभी सांसारिक बन्धनों व भेदभावों से मुक्तता के

प्रतीक संन्यासी आज 'स्तर' व 'सम्मान' की चिन्ता करने की हद तक उतर आए हैं। कैसी विडम्बना है कि वे गद्दी की ऊंचाई से अपनी मान्यता की गुरुता-लघुता नापने लगे हैं !

एक कारण और भी है। आज कल साधु और मठाधिपति भी राजनेताओं की चरणवन्दना करने लगे हैं। एक बार जब मैं दिल्ली में था, तब मेरे आतिथ्यकर्ता से एक भगवा वस्त्रधारी साधु मिलने आए। मेरे आतिथेय प्रभावशाली व्यक्ति थे। 'मैंने साधु से पूछा कि किस काम से आना हुआ ? उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि मेरे आतिथेय कुछ केन्द्रीय मंत्रियों से कह दें, ताकि उनके आश्रम से संबंधित भूमि को कानूनी शिकंजे से बचाया जा सके। जब मैंने उन्हें सुझाव दिया कि संन्यासी होने के नाते उन्हें सम्पत्ति की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, तो उन्होंने कहा कि बिना सम्पत्ति के मेरा आश्रम कैसे चलेगा ? मैंने पूछा कि क्या प्रारंभ में आश्रम के संस्थापक के पास कोई सम्पत्ति थी ? क्या संस्थापक ने अपनी तपस्या के बल पर लोगों को धर्म पथ पर आकर्षित नहीं किया था ? साधु ने इस तर्क को स्वीकार किया। तब मैंने पूछा कि आप भी अपने गुरु के पदचिह्नों का अनुसरण क्यों नहीं करते?' उनके पास इसका कोई उत्तर न था।

जब सामान्य लोग साधुओं व मठाधीशों में ऐसी विकृतियां देखते हैं तो हम उनसे ये आशा कैसे कर सकते हैं कि वे उनके उपदेशों से प्रभावित हों। नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर चलता है। अत: ऊंचे-पदों पर आसीन लोगों को अपने आदर्श जीवन का संदेहातीत उदाहरण स्थापित करना चाहिए।

प्रश्न – आजकल आध्यात्मिक उत्साह में ह्रास होता दिखाई पड़ता है। संन्यासी बनने वाले तरुणों की संख्या बहुत गिरती जा रही है। हमारे जीवन में ऐसी कौन सी गड़बड़ी आ गई है ?

उत्तर – कुछ दिनों से युवकों के मानसिक व आध्यात्मिक पक्ष के स्थान पर संस्थाओं की चिन्ता अधिक होने लगी है। युवकों को आध्यात्मिक साधन का प्रशिक्षण देने के लिए स्वामियों तथा साधुओं को स्वयं आगे आना चाहिए। उन्हें शिष्यों को संस्कृत व्याकरण सहित समस्त प्रशिक्षण देना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द नियमित रूप से अपने शिष्यों को संस्कृत पढ़ाते थे और अन्तिम दिन भी उन्होंने शिष्यों को व्याकरण पढ़ाई।

अंततोगत्वा ये संन्यासी कहां से आते हैं ? हमारे हिन्दू परिवारों और हिन्दू समाज से ही न ! घर का वातावरण आध्यात्मिक विकास हेतु उपयुक्त बनाया जाना चाहिए। जहां तक समाज-पोषण तथा गठन का सवाल है, इसे तो भुला ही दिया

गया है। हमारे अनेक प्रमुख संन्यासियों को 'हिन्दू' शब्द का उच्चारण करने में शर्म लगती है। ऐसे दृष्टिकोण से तो हमारा प्रेरणा स्रोत ही सूख जाएगा।

प्रश्न – शास्त्र–विहित धार्मिक अनुष्ठानों के श्रम–साध्य एवं समय–साध्य होने के कारण जनसाधारण इन्हें दैनिक जीवन में अपनाने में असमर्थ है; क्या कोई सरल अनुष्ठान या संस्कार है, जिसको वे उपयोगी ढंग से अपना सकें ?

उत्तर – मेरे विचार से भक्ति–पथ पर अग्रसर करने के लिए राम–नाम या ईश्वर के किसी नाम का जाप कारगर होगा। यह कहना उचित नहीं लगता कि किसी मन्त्र या सम्प्रदाय की दीक्षा की औपचारिता न होने के कारण वे श्रद्धा–भक्ति रहित हैं। परन्तु इसी वर्ग ने अनेक दिग्गज आध्यात्मिक विभूतियों को जन्म दिया है, जिनके प्रति तथाकथित उच्च वर्ग द्वारा भी उत्कृष्ट श्रद्धा–सम्मान प्रदर्शित किया गया है। सर्दियों से इस वर्ग ने सामान्य, किन्तु एक–निष्ठ भक्ति द्वारा हृदय के उल्लेखनीय गुण प्रस्तुत किए हैं। यह हमारे धर्मगुरुओं का दायित्व है कि वे उनके बीच जाकर उनमें छिपे भक्ति एवं गुणों को जागृत करें।

यहां धर्मगुरुओं को एक प्रचलित परिपाटी से बचना होगा। हमारे प्रत्येक धर्मगुरु किसी न किसी सम्प्रदाय या मठ से सम्बन्ध रखते होंगे और नि:सन्देह अपने सम्बन्धित मठ में प्रचलित परम्परागत पूजा–पद्धति का अनुपालन उनका कर्तव्य है। परन्तु, जनसामान्य के बीच उन्हें उन्हीं बिन्दुओं पर बल देना होगा, जो सर्वमान्य हो सकें। किसी विशेष पद्धति का अनुपालन या उसके पक्ष में तक–वितर्क अथवा भगवान के किसी विशिष्ट गुण या नाम का पक्ष लेकर अन्यों की आलोचना या विरोध हिन्दू–समाज के एकीकरण तथा कायाकल्प के महालक्ष्ण को क्षति ही पहुंचायेगा।

प्रश्न – एक सामान्य भ्रांति है कि हमारे धर्मग्रन्थ सामुदायिक जीवन की नहीं; केवल व्यक्तिवाद की शिक्षा देते हैं और यही हमारे पतन व क्षरण का कारण है। क्या ऐसा है ?

उत्तर – हमारा सर्वोच्च प्राचीनतम धर्मग्रन्थ ऋग्वेद है। यह सूत्र रूप में हमें निरन्तर संगठित होकर सामूहिक रूप से जीवन जीने के विशिष्ट निर्देश देता है –

संगच्छद्ध्वं संवदद्ध्वं सं वो मनांसि जानताम्

(हम सब मिलकर चलें, हम सब एक स्वर में बोलें तथा हम सभी समान मन वाले होकर विचार करें)

प्रश्न – कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष का सिद्धान्त व्यक्ति को केवल अपने हित में केन्द्रित रखकर उसे शेष समाज के प्रति दायित्वों व कर्तव्यों से दूर रखता है। यह सत्य है क्या ?

उत्तर – यह मोक्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अज्ञानता के सिवाय कुछ भी नहीं है। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त 'आत्म' शब्द भौतिक जीवन से संबंधित नहीं है; बल्कि वह ऐसा 'स्व' है, जो अन्तर्यामी अतीन्द्रिय एवं सर्वव्यापक है। अत: जो व्यक्ति 'स्वं' का विचार करता है, वह व्यक्तिगत स्व के प्रति सचेत नहीं होता, बल्कि मानव मात्र के सुख-दु:ख से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

प्रश्न – हिन्दू धर्म में प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया को हमारे समाज ने यथेष्ठ प्रोत्साहन नहीं दिया है। इसके लिए हमें क्या करना चाहिए ?

उत्तर – हमारे अधिकांश निर्धन बन्धुओं ने (उदाहरणार्थ दक्षिणी समुद्री तथा के दारिद्र्य ग्रस्त मछुआरों ने) ईसाई मत को अपनी आस्था के कारण नहीं, बल्कि अपनी निर्धनता के कारण अपनाया। ऐसे मछुआरों के लिए मण्डी समितियां बनाकर उनके उत्पादन की खपत की व्यवस्था करनी चाहिए, ताकि उनको ईसाई क्रेताओं के एकाधिकार से मुक्त किया जा सके। क्रमिक रूप से राम, कृष्ण, विवेकानन्द या अन्य किसी महान दार्शनिक के नाम पर भजन मण्डली बनाकर उन्हें बताना चाहिए कि वे कैसा शुद्ध और समर्पित जीवन-यापन करते थे। इस प्रकार इन भोले-भाले लोगों में शुद्ध, सरल व सात्विक जीवन की इच्छा उद्‌बद्ध करनी चाहिए। इसके पश्चात् उन्हें आभास कराना चाहिए कि ईसाई प्रचारकों का ईसा की महानता से कोई लेना-देना नहीं है। उनमें इस भावना का विकास करना चाहिए कि श्रेष्ठ लोगों का थोड़ा भी सहयोग निकृष्ट लोगों के बड़े सहयोग से उत्तम है।

उन्हें अपने धर्म में लौटाने के प्रत्यक्ष असली कार्य की अपेक्षा अधिक विज्ञापन का आधुनिक ढंग बिल्कुल लाभकारी नहीं है। इस विषय में अधिक शोर-शराबा नहीं होना चाहिए। हमें ग्रामीण क्षेत्रों के मठ व आश्रमों के स्वामियों से सम्पर्क कर उनके मन में इस दिशा में पूरी शक्ति लगाकर प्रयास करने की आवश्यकता बिठानी चाहिए।

प्रश्न – ईसाई मिशनरी चिकित्सालयों में ईसाइयों को प्राथमिकता व नि:शुल्क चिकित्सा दी जाती है। वे इस भेदभाव को इस आधार पर उचित ठहराते हैं कि विदेशी ईसाइयों से हमें आर्थिक सहायता प्राप्त होती है, अत: उनकी सेवा हमारा प्रथम दायित्व है।

उत्तर – यह दृष्टिकोण व्यवसाय की भावना व उद्देश्य के नितान्त प्रतिकूल है। इसका एकमात्र उदात्त लक्ष्य है मानव-मात्र को रोगों के कष्टों से मुक्ति दिलाना। जब किसी चिकित्सक के पास कोई व्यक्ति आता है, तो उसकी चिकित्सा का आधार

धर्म, सामाजिक स्तर व लिंग इत्यादि नहीं, बल्कि रोगी की आवश्यकता ही होनी चाहिए।

प्रश्न – ईसाई प्रचारक अपनी धर्मान्तरण गतिविधियों को इस आधार पर भी न्यायोचित ठहराते हैं कि केवल, ईसावाद ही आधुनिक मानव की आध्यात्मिक क्षुधा को तृप्त कर सकेगा।

उत्तर – परन्तु ईसावाद अपने देश में ही भौतिकवाद का ज्वार रोकने में असफल रहा है। यद्यपि हमारे देश में ईसाई प्रचारक पर्याप्त संख्या में धर्मान्तरण में संलग्न हैं, परन्तु स्वयं ईसाई देश इससे अधिकाधिक दूर होते जा रहे हैं। आज-कल वहां बहुत कम लोग चर्च में जाते हैं। वे भुतहा हो गए लगते हैं। वास्तव में कुछ चर्च तो बिक रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वहां किसी अन्य विचारधारा की आवश्यकता अनुभव हो रही है, जो आधुनिक मन को संतुष्टि दे सके और आज की गंभीर चुनौतियों का सामना करने और उनके जीवन को आध्यात्मिक पुट देने में सक्षम हो। इन देशों की वर्तमान प्रवृत्ति हिन्दुत्व को भावी आश्रय के रूप में स्वीकारने को उत्सुक दिखाई देती है।

प्रश्न – क्या यह विडम्बना नहीं है कि हमारी जिस भूमि पर नित्य हवन-पूजन होता है और असंख्य मंत्रों का उच्चारण किया जाता है, वहीं हमारे चरित्र का निरन्तर पतन हो रहा है ?

उत्तर – यह केवल अग्नि में घी डालने का उपक्रम नहीं है। जीवन में त्याग भाव जगाने का इसका सही अर्थ एकदम भुला दिया गया है। मन्त्रों का उच्चारण भी यन्त्रवत् प्रक्रिया बनकर रह गया है; अपना हृदय तो उसमें उड़ेला ही नहीं जाता। यह तो ग्रामोफोन के रिकॉर्ड जैसा हो चला है। सचमुच ध्वन्यंकित (टेप) मन्त्र बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। ऐसे कार्यक्रमों का कोई प्रभाव कैसे हो सकता है।

प्रश्न – अस्पृश्यता, ऊंच-नीच की भावना इत्यादि विभिन्न सामाजिक बुराइयों को प्राय: हिन्दू दर्शन के मत्थे मढ़ दिया जाता है ?

उत्तर – वस्तुत: सत्य तो इसके एकदम विपरीत है। हिन्दू दर्शन का मूल सिद्धान्त संपूर्ण समाज को एक जीवन्त स्वरूप-विराट पुरुष के रूप में देखने की शिक्षा देती है। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति, उसकी सामाजिक स्थिति जो भी हो; उसी संश्लिष्ट तथा जीवमान शरीर का एक अंग मात्र है। जैसे शरीर छोटे से छोटे अंग की देखभाल करता है, उसी प्रकार समाज को प्रत्येक व्यक्ति के हितों, आवश्यकता व आकांक्षाओं की भी चिन्ता करनी चाहिए। क्या जीवमान शरीर का कोई अंग अस्पृश्य, उपेक्षित या दीन-दलित हो सकता है ? क्या उनमें परस्पर ऊंच-नीच

की भावना हो सकती है ? एकताबद्ध करने वाली इसी सामाजिक जागरूकता के विलुप्त हो जाने के कारण ही ये विविध बुराइयां उत्पन्न हो गई हैं।

प्रश्न – आपके विचार से नेताओं में हिन्दुत्व के हौवों का मुख्य कारण क्या है ?

उत्तर – केवल राजनीति। प्रारंभिक काल में कांग्रेसी नेतागण भी हिन्दू-राष्ट्रीयता की भावना का उद्घोष प्रतिपादन किया करते थे, यहां तक कि हिन्दू-राष्ट्र की भी चर्चा किया करते थे। तिलक के भाषणों में ऐसी अभिव्यक्ति दिखाई देती है। महर्षि अरविन्द भारत को महामाता, महादुर्गा से कम कुछ नहीं मानते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने विख्यात गीत 'देवि-भुवन-मन-मोहिनी' में हिन्दू-राष्ट्र की उसी महिला का गान किया है। बंकिम चन्द्र का अमर गीत 'वन्देमातरम्' हमारी सच्ची राष्ट्रीयता का ही उद्घोष करता है। इस देश की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, इतिहास और धरोहर आदि की महानता एवं गरिमा का गुणगान कांग्रेस के मंच से बहुत बार किया गया है। परन्तु समय के साथ-साथ राष्ट्रवाद के आह्वान का स्थान राजनैतिक दांव-पेचों ने लेना प्रारंभ कर दिया और शब्द बदलने लगे। उदाहरणार्थ – 'हिन्दू' का स्थान पहले 'हिन्दुस्तानी' व 'हिन्दी' और अन्त में 'इण्डिया' ने ले लिया।

यह रोग आज भी व्याप्त है। अभी हाल ही में मेरी जानकारी में एक विचित्र घटना आई। ई. सन्१९७२ में महर्षि अरविन्द के जन्म शताब्दी समारोहों के दौरान एक पस्ताव किया गया कि भारत सरकार उनके साहित्य का सभी भारतीय भाषाओं में प्रकाशन करने हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान करे। इस पर सरकार ने दो शर्तें रखीं। प्रथम, पाण्डिचेरी के आश्रम से अखण्ड भारत का मानचित्र हटाकर उसके स्थान पर वर्तमान राजनैतिक भारत का मानचित्र लगाया जाये। द्वितीय, अरविन्द साहित्य के भावी प्रकाशनों से 'हिन्दू', 'हिन्दूराष्ट्र' व 'सनातन धर्म' इत्यादि शब्द हटा दिए जाएं। परन्तु अरविन्द आश्रम की श्री मां ने उन शर्तों को अस्वीकार कर दिया। आश्रम अधिकारियों ने सरकार को उत्तर दिया कि हमें हमें इस बात की चिन्ता नहीं कि सरकार धन देगी या नहीं, परन्तु श्री अरविन्द की शिक्षाओं के मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सरकार दाब-धौंस व अनुग्रह के द्वारा हिन्दू शब्द उद्ध्वस्त करने का प्रयास करती रहती है।

प्रश्न – हमारे समाज में परस्पर टकराव वाली जाति, उपजाति एवं विभिन्न-पूजा-पद्धतियों का जन्म कैसे हो गया ?

उत्तर – जब विदेशियों के क्रूर शासन काल में देशवासियों को दासता एवं दुर्दशा की अंधेरी निशा से उबरने के लिए आशा की किरण नहीं दिखाई पड़ती थी,

तो सामाजिक रूप से लोगों ने प्रभुचरणों में ही आश्रय खोजा होगा। उन्होंने 'एक सौ एक' रूपों में भगवान की आराधना प्रारंभ कर दी। किन्तु आचार्यगण अपने द्वारा प्रतिपादित विभिन्न दर्शनों का प्रामाण्य आधार वेदों को ही मानते थे। इस प्रकार वेदों के प्रति लोक-आस्था अडिग रही। एकता का केवल यही एक सूत्र उपासना के विविध विश्वासों के पश्चात् भी समाज को एक सूत्र में बांधे रहा।

परन्तु कतिपय परवर्ती आचार्यों ने इस मूल आधार की उपेक्षा की। इसका प्रभाव यह हुआ कि उनके शिष्यों ने अपने गुरु के शब्दों को अन्तिम प्रमाण मान लिया। इस प्रकार उन्होंने विशिष्ट सम्प्रदाय की स्थापना कर डाली। आज ऐसे सभी सम्प्रदायों की मूल अवधारणाओं व अन्तर्निहित सिद्धान्तों पर बल देकर उनकी मूलभूत एकता को प्रकट व प्रस्थात करना नितान्त आवश्यक है।

प्रश्न – आज विज्ञान का युग है, इसलिए सुझाव दिया जाता है कि विज्ञान की धारणाओं से साम्य स्थापित करने हेतु अपने धर्म में कतिपय सुझाव व परिष्कार की आवश्यकता है।

उत्तर – किन्तु धर्म हवा के हर झोंके से चक्कर काटने वाला दिशा-सूचक यन्त्र नहीं है, वह झोंका चाहे कितना भी वैज्ञानिक क्यों न हो। धर्म में जीवन का शाश्वत विधान अन्तर्निहित है। वास्तव में मानव-सुखी व सभ्यता के विकास के लिए विज्ञान का उपयोग इस प्रकार होना चाहिए कि जीवन के मूल सिद्धान्तों से उसका विरोध उत्पन्न न हो। इसी प्रकार, जीवन के हर पहलू के विषय में वैज्ञानिक मापदण्ड का उपयोग मानव जीवन की विविध समृद्धता के प्रकटीकरण का विनाश कर सकता है। अनेक देशों में इस कारण ही मानव के गहन भाव दुष्प्रभावित होकर नीरस, घिसे-पिटे और भौतिक हो चुके हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

प्रश्न – क्या संघ एक राजनैतिक संगठन है ?

उत्तर – यह इस अर्थ में राजनैतिक नहीं है कि वह पारम्परिक चुनावों तथा सत्ता की दौड़ आदि में भाग नहीं लेता। यह एक सांस्कृतिक संगठन है, जो राष्ट्र एवं जन की एकता पर बल देता है। यदि राष्ट्रीय एकता के लिए घातक कोई बात दिखाई देती है, तो हम उस विषय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं और समाज को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न – बिना राजसत्ता के आप अपनी नीतियों व कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की आशा कैसे करते हैं?

तो सामाजिक रूप से लोगों ने प्रभुचरणों में ही आश्रय खोजा होगा। उन्होंने 'एक सौ एक' रूपों में भगवान की आराधना प्रारंभ कर दी। किन्तु आचार्यगण अपने द्वारा प्रतिपादित विभिन्न दर्शनों का प्रामाण्य आधार वेदों को ही मानते थे। इस प्रकार वेदों के प्रति लोक-आस्था अडिग रही। एकता का केवल यही एक सूत्र उपासना के विविध विश्वासों के पश्चात् भी समाज को एक सूत्र में बांधे रहा।

परन्तु कतिपय परवर्ती आचार्यों ने इस मूल आधार की उपेक्षा की। इसका प्रभाव यह हुआ कि उनके शिष्यों ने अपने गुरु के शब्दों को अन्तिम प्रमाण मान लिया। इस प्रकार उन्होंने विशिष्ट सम्प्रदाय की स्थापना कर डाली। आज ऐसे सभी सम्प्रदायों की मूल अवधारणाओं व अन्तर्निहित सिद्धान्तों पर बल देकर उनकी मूलभूत एकता को प्रकट व प्रस्थात करना नितान्त आवश्यक है।

प्रश्न – आज विज्ञान का युग है, इसलिए सुझाव दिया जाता है कि विज्ञान की धारणाओं से साम्य स्थापित करने हेतु अपने धर्म में कतिपय सुझाव व परिष्कार की आवश्यकता है।

उत्तर – किन्तु धर्म हवा के हर झोंके से चक्कर काटने वाला दिशा-सूचक यन्त्र नहीं है, वह झोंका चाहे कितना भी वैज्ञानिक क्यों न हो। धर्म में जीवन का शाश्वत विधान अन्तर्निहित है। वास्तव में मानव-सुखी व सभ्यता के विकास के लिए विज्ञान का उपयोग इस प्रकार होना चाहिए कि जीवन के मूल सिद्धान्तों से उसका विरोध उत्पन्न न हो। इसी प्रकार, जीवन के हर पहलू के विषय में वैज्ञानिक मापदण्ड का उपयोग मानव जीवन की विविध समृद्धता के प्रकटीकरण का विनाश कर सकता है। अनेक देशों में इस कारण ही मानव के गहन भाव दुष्प्रभावित होकर नीरस, घिसे-पिटे और भौतिक हो चुके हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

प्रश्न – क्या संघ एक राजनैतिक संगठन है ?

उत्तर – यह इस अर्थ में राजनैतिक नहीं है कि वह पारम्परिक चुनावों तथा सत्ता की दौड़ आदि में भाग नहीं लेता। यह एक सांस्कृतिक संगठन है, जो राष्ट्र एवं जन की एकता पर बल देता है। यदि राष्ट्रीय एकता के लिए घातक कोई बात दिखाई देती है, तो हम उस विषय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं और समाज को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न – बिना राजसत्ता के आप अपनी नीतियों व कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की आशा कैसे करते हैं?

उत्तर – राष्ट्रीय कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के दो मार्ग हैं, एक राजसत्ता द्वारा और दूसरा जनमानस के दृष्टिकोण में परिवर्तन द्वारा। हमने दूसरा मार्ग अपनाया है।

प्रश्न – तब आप राजनैतिक प्रश्नों पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति कैसे करते रहते हैं ?

उत्तर – कुछ विषय केवल राजनैतिक ही नहीं होते। यह भी संभव है कि कोई विषय राजनैतिक महत्व के साथ ही सांस्कृतिक महत्व का भी हो।

प्रश्न – राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हिंसा को आप स्वीकार करते हैं या अस्वीकार ?

उत्तर – नागरिक-नागरिक के बीच हिंसा व उग्रता का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

प्रश्न – सरकार-परिवर्तन के लिए हिंसा का सहारा क्या न्यायसंगत हो सकता है ?

उत्तर – मान लें कि ऐसी विषम परिस्थिति, जिसमें दमन व अत्याचार चरम सीमा पर हैं; लोग भयंकर उत्पीड़न के शिकार हैं; शासक वर्ग निरंकुश, राक्षसी प्रवृत्ति का हो गया है और शान्ति पूर्ण ढंग से सत्ता परिवर्तन के मार्ग अवरुद्ध हो गए हैं; ऐसी स्थिति में हिंसा उचित मानी जा सकती है।

प्रश्न – हमारा राष्ट्र सेक्यूलर है; अत: सरकार को आशंका हो सकती है कि संघ रूपी हिन्दू सांस्कृतिक संगठन धर्मनिरपेक्षता को समूल नष्ट कर सकता है।

उत्तर – प्रश्न परिकल्पना पर आधारित है। कौन कहता है कि पंथ-निरपेक्ष राज्य में सांस्कृतिक गतिविधियां निषिद्ध होती हैं; हिन्दू समाज की विभिन्न जातियों व वर्गों में अपने समान सांस्कृतिक आधार पर एकता स्थापित करने का संघ कार्य पूर्ण वैधानिक है।

प्रश्न – क्या यह सत्य है कि अहिन्दुओं के प्रति घृणा का प्रचार करता है ?

उत्तर – संघ के विरुद्ध यह नितान्त अनुत्तरदायित्व पूर्ण एवं निंदनीय आरोप है। हिन्दू संस्कृति की उदारता व सहिष्णुता से पूरा विश्व परिचित है। हिन्दू केवल अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण किसी से स्वप्न में भी घृणा नहीं कर सकता है। ऐसी उदात्त संस्कृति के पुनर्जागरण के प्रति समर्पित संघ भी ऐसा नहीं कर सकता और घृणा का पाठ पढ़ाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न – कुछ लोग आप पर हिंसा का आरोप लगाते हैं ।

उत्तर – ऐसा प्रचार उन साम्यवादियों से प्रभावित लोग ही करते हैं, जो स्वयं हिंसा में विश्वास रखते हैं, उसका व्यवहार करते हैं तथा जो संविधान को नष्ट करना चाहते हैं। हमारे आलोचक ही हिंसक हैं। तनिक उनकी हिंसक भाषा व खूनी चुनौतियों पर ध्यान तो दीजिए।

प्रश्न – कुछ लोग साम्प्रदायिक दंगों में संघ का हाथ होने का आरोप लगाते हैं ?

उत्तर – यह आरोप पूरी तरह निराधार व हास्यास्पद है, क्योंकि दंगे कोई हाल की उपज नहीं है। ऐसे उपद्रव हमारे देश में संघ की स्थापना से पहले भी होते रहे हैं। उदाहरणार्थ मोपालाओं के द्वारा केरल में नृशंस हत्याएं एवं ब्लूचिस्तान की हिंसा। १९२३ से २७ ई. की अवधि में नागपुर में दंगे हुए थे। वास्तव में संघ के शक्तिशाली हो जाने से, १९२७ के बाद नागपुर में कभी दंगे नहीं हुए। यदि संघ दंगों का षड्यंत्र रचता, तो उसके मुख्यालय नागपुर में अब तक कोई अहिन्दू बस नहीं पाता। नागपुर में पिछले दिनों जहां उपद्रव हुए थे वहां संघ की कोई शाखा ही नहीं थी। सरकार ने भी स्वीकार किया कि संघ ने स्थिति शान्त करने में त्वरित व पूर्ण सहयोग दिया। शक्तिशाली संघ दंगों का कारण नहीं, अपितु हिंसा को सदैव के लिए रोकने का एकमेव उपकरण है।

प्रश्न – संघ एक अच्छा संगठन है, किन्तु जनता के मन में कुछ संदेह व्याप्त हैं। ऐसा क्यों है ?

उत्तर – इसके लिए तथाकथित नेता और उनका मिथ्याप्रचार ही जिम्मेदार है।

प्रश्न – कुछ लोग हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा के प्रबल विरोधी क्यों हैं?

उत्तर – वे ही लोग एकान्त बातचीत में इसे स्वीकार करते हैं।

प्रश्न – ऐसी धारणा है कि संघ केवल शिक्षित वर्ग तक ही प्रभावी है तथा समाज के पिछड़े वर्ग तथा दीन–दलितों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ?

उत्तर – सभी कार्य शिक्षित वर्ग से आरंभ होते हैं और बाद में सामान्य वर्ग में पहुचते हैं। आज हमारा कार्य भी धीमी गति से ही क्यों न सही; समाज के प्रत्येक वर्ग तक भलीभांति पहुंच रहा है।

प्रश्न – कुछ लोग मानते हैं कि आज के सन्दर्भ में हिन्दू संगठन के विचार अनुपयोगी हैं और हर पुरानी बात का तिरस्कार करने वाली सम्पूर्ण क्रांति ही देश उद्धारक हो सकती है ?

उत्तर – निश्चय ही विश्व में क्रांतियां हुई है, परन्तु या तो अनवरतता अथवा

क्रांतिकारी विकासवादी प्रकृति की थी। जहां भी परम्परागत सम्बन्धों से विच्छेद हो गया है, वहां के समाज जीवन का पूर्ण उन्मूलन हो गया है।

प्रश्न – इस सन्दर्भ में चीन के सम्बन्ध में आपके विचार क्या हैं ?

उत्तर – उन्होंने अपने अतीत से नाता नहीं तोड़ा है। कुछ समय बाद दिखाई देगा कि उनके सभी परम्परागत ढंग पुन: प्रभावी बन जायेंगे। अपनी शक्ति व प्रभाव के विस्तार का वर्तमान ढंग उनके ऐतिहासिक शासकों की पुरातन परम्परा के अनुरूप ही है।

प्रश्न – परन्तु बौद्ध धर्म ने उसमें कुछ परिवर्तन किया होगा ?

उत्तर – बौद्ध मत वहां की धरती में गहराई से कभी प्रवेश नहीं कर सका; वह केवल ऊपरी परिधान ही बन सका। किसी विद्वान ने लिखा है कि आज भी चीन में कन्फ्यूशियसवाद का ही प्रभाव विद्यमान है। परन्तु यह भी आंशिक सत्य ही है। कन्फ्यूशियसवाद के अल्पांश एवं प्राचीन शासकों की परम्परा के बहुतांश का मिश्रण ही वर्तमान है। साम्यवाद भी एक अस्थायी व्यवस्था है। उनका जीवन इतना भ्रष्ट हो गया था कि सैनिक क्रान्ति अवश्यंभावी थी।

प्रश्न – हिटलर ने भी आपकी तरह युवकों को एकत्र कर उनमें अनुशासन व एकता का भाव भरना प्रारंभ किया था; परन्तु बाद में उसने सभी राजनैतिक दलों का दमन कर दिया। उसके 'नाजी' संगठन व आपके संघ में क्या अन्तर है ?

उत्तर – हिटलर की गतिविधियां राजनीति पर केन्द्रित थीं। हम राजनीति से जुड़े बिना जीवन-निर्माण का प्रयास कर रहे हैं। अनेक लोग राजनैतिक उद्देश्यों के लिए संगठित होते हैं, परन्तु वह उद्देश्य पूरा न होने पर एकता समाप्त हो जाती है। हम किसी अस्थायी उपलब्धि के स्थान पर स्थायी एकता के हामी हैं, इसलिए हमने अपने संगठन को राजनीति से अलग रखा है।

प्रश्न – यह उपलब्धि कैसे होती है ?

उत्तर – हम समाज के लिए त्यागपूर्ण जीवन अपनाकर इसे प्राप्त करते हैं। जब पर्याप्त लोग ऐसा सोचने व करने को प्रेरित किये जाते हैं, तो शेष समाज भी निश्चित रूप से उसका अनुसरण करता है।

प्रश्न – संघ का कार्य सर्वव्यापी है – वास्तव में इसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर – हम प्रकाश से तुलना करके देखें। यह सर्वव्यापी है, परन्तु यह स्वयं सभी कार्य नहीं करता। यह केवल अन्धकार को दूर करता है और सभी को मार्ग दिखलाता है। संघ के कार्य का भी यही स्वरूप है। यदि संघ स्वयं ही हर क्षेत्र में

योजनाओं के निर्माण और कार्यान्वयन में लग जाएगा, तो चतुर्दिक विभ्रम फैल जायेगा। तब तो संघ को हर किसी का शोध प्रबन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। उस स्थिति में सामाजिक पुनर्रचना का कार्य अवरुद्ध हो जाएगा और केवल शोध ग्रन्थों के ढेर ही दिखाई देंगे।

प्रश्न – आप अपना लक्ष्य कितने वर्षों में प्राप्त कर लेंगे ?

उत्तर – इसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना चाहूंगा। महान् शब्दकोषकार डा. जॉनसन व उनके सम-सामयिक अन्य बड़े लोग प्रत्येक रात्रि को एक क्लब में मिलते थे। प्रख्यात लेखक गोल्डस्मिथ भी उनमें से एक थे। एक रात जब वे भोजन के लिए बैठे, तो गोल्डस्मिथ के मन में एक विलक्षण विचार आया। उन्होंने कहा, 'यहा से चांद पर पहुंचने के लिए कितनी मछलियों की आवश्यकता पड़ेगी ?'किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। विचित्र प्रश्न से खीझकर डॉ. जानसन ने कहा, 'अच्छा हमें नहीं पता, आप ही बताइये'। तब गोल्डस्मिथ ने कहा, 'एक ही, यह यदि वह इतनी पर्याप्त लम्बी हो तो !' अत: जो लोग यह प्रश्न करते हैं, उनके लिए मेरा यही उत्तर है। यहां तक कि यह 'कल' ही हो सकता है; यदि हम सब संगठित हो जाएं; तो।

प्रश्न – गोलवलकर के बाद कौन ?

उत्तर – आप ! आप क्यों नहीं ?

प्रश्न – धन्यवाद ! गुरुपीठ प्राप्त करना इतना सरल नहीं।

उत्तर – ठीक है आपको बलशाली 'व्यूह रचना' करनी होगी, यद्यपि यह आसान नहीं है। परन्तु यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि यह प्रश्न तभी उठेगा, जब किसी व्यक्ति को संगठन में अपरिहार्य माना जायेगा। संघ इस परम्परा का पोषक नहीं है। कोई भी अग्रणी बनकर दायित्व को संभाल लेगा। जहां तक मेरा विषय है, मैंने अपने मित्रों को बता दिया है कि मैं पहले ही दीर्घा की ओर लौट रहे बल्लेबाज की भूमिका में आ गया हूं।

❑❑❑

हमारा वोट किसे ?

(१९५७ के आम चुनावों के पूर्व लिखे गए एक लेख का सारांश)

आगामी कुछ दिनों में देशवासी मतदान द्वारा लोकसभा एवं विभिन्न विधानसभाओं हेतु प्रतिनिधियों का चुनाव करेंगे और पांच वर्ष के लिए उन्हें देश का शासन सौंप देंगे। ५ वर्ष का समय एक दीर्घ अवधि है, जिसमें प्रतिनिधियों की प्रवृत्तियों के आधार पर जनता की बड़ी हानियां या लाभ हो सकते हैं। हमारे संविधान में ऐसे प्रतिनिधियों को वापस बुलाने की कोई व्यवस्था नहीं है, जो मतदाताओं को सन्तुष्ट न कर सकें अथवा जो चुनाव के समय जनता को दिए गए आपातरम्य आश्वासनों से मुकर जाएं। ऐसी विफलता और कभी-कभी जनेच्छा की मनमानी अवहेलना सामान्य बात हो गई है। इन दोनों स्थितियों के बावजूद, ऐसा कोई तंत्र मतदाताओं के पास नहीं है कि वे अपने द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के विचारों एवं क्रिया-कलापों से असहमत होने पर उन्हें वापस बुला सकें।

वापस न बुला सकने का दुष्प्रभाव

एक बार चुने जाने के बाद वे पूरे पांच साल के लिए सुरक्षित रूप से लाभप्रद एवं आरामदायक गद्दी पर बैठे रह सकते हैं - यह जानकर वे और उनका दल अर्द्ध-शिक्षिक एवं अल्प-ज्ञानी मतदाताओं के सम्मुख यह मायाजाल फैलाते ही हैं कि यदि उन्हें चुने जाने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हो जाये, तो वे पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाएंगे। प्रेम और युद्ध में सब उचित होता है और चूंकि चुनाव अपने प्रतिद्वद्वियों के विरुद्ध युद्ध की भांति लड़े जाते हैं, अत: चुनावी वायदों की पूर्ति मानों उनके उल्लंघन में ही समझी जाती है। इसमें किसी को कोई अनैतिकता भी दिखाई नहीं पड़ती। अत: लुभावने झूठ के जाल में फंसाकर मतदाताओं को अपने पाले में लाने की होड़ सभी प्रत्याशियों में लग जाती है। ऐसे व्यक्ति और दल जिनमें झूठ का यह अभियान चलाने की अधिकतम प्रतिभा होती है; अधिकाधिक मतों को अपनी ओर आकर्षित कर सत्ता हथिया लेते हैं और उनसे किए गए वायदों का पूर्ण तिरस्कार कर सत्ता का मनमाना उपभोग करते हैं। इसके कुछ अपवाद तो हो सकते हैं; परन्त पिछले अनुभवों के आधार पर ऐसे लोगों के चुने जाने के अवसर रेगिस्तान में हरे टापू की भांति अत्यल्प ही होते हैं।

अत: मतदाता का दायित्व बहुत बड़ा है, क्योंकि उसके पास आगामी पांच वर्ष के लिए देश और समाज का भविष्य मुहरबन्द करने की शक्ति है। एक बार किसी

के पक्ष में निर्णय दे देने के बाद अपनी गलती सुधारने, निर्णय में परिवर्तन करने अथवा उससे उद्‌भूत सर्वनाशी प्रभाव का निराकरण करने का कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता। अत: इस अति महत्व की समस्या के प्रति मतदाता को अपने संपूर्ण विवेक से दृढ़तापूर्वक विचार करते हुए चुनाव करना होगा।

दो अर्द्ध-सत्य

देश के अग्रणी लोग मतदाताओं को समझाने-बुझाने में व्यस्त हैं। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख सिद्धान्त सामने आ रहे हैं। दोनों सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं; जितनी कि विधायिकाओं-हेतु आम चुनाव की लोकतांत्रिक प्रणाली। उनमें पुरातन की ही पुनरावृत्ति है, नवीनता कुछ नहीं। समाचार पत्रों के अनुसार इनमें से एक है पण्डित नेहरू का प्रतिपादन कि व्यक्ति के गुण-दोष भूलकर दल अर्थात् उनकी कांग्रेस को चुना जाए और दूसरा है चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का कथन कि दल की उपेक्षा कर व्यक्ति की समीक्षा एवं उसके चरित्र का आकलन किया जाए। राजाजी ने ठीक ही कहा है, क्योंकि अन्तत: जनप्रतिनिधियों का चरित्र ही विधायिका के अन्दर और बाहर सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

किन्तु उक्त दोनों विचार आंशिक रूप से ही सत्य हैं; क्योंकि उत्तम चरित्रवान व्यक्तियों से रहित तथा राष्ट्रहित में नि:स्वार्थ समर्पण के अभाव में कोई भी दल सिर्फ ऊंची घोषणाओं, लम्बे-चौड़े दावों और जुलूसों के आधार पर एक लकवाग्रस्त, अनुपयोगी और हानिकारक शरीर से अधिक कुछ नहीं हो सकता। दूसरी, ओर समान लक्ष्य और कार्यक्रम के परस्पर-सम्बद्ध चरित्रवान, किन्तु किसी संगठित दल से न जुड़े हुए लोग ऐसे मशीनी पुर्जे के समान हैं, जो अपने आप में सक्षम होते हुए भी किसी सामूहिक कार्य के लिए अनुपयोगी तथा उपलब्धि-अर्जन के लिए अक्षम होते हैं।

अत: इन दोनों विचारों को एक साथ लेना होगा और राष्ट्रीय हितों के लिए समर्पित, स्वार्थरहित, योग्य, सामूहिक कार्यान्वयन में समर्थ तथा समाञ्जस्यपूर्ण राष्ट्रीय विचारों से अनुप्राणित चरित्रवान लोगों के दल को चुनना होगा। इन दोनों के अन्तर को न पहचान पाने पर पछतावा ही हाथ लगेगा। ऐसी स्थिति में मतदाता ठीक से समझ लें कि वह किसं दल का समर्थन करे और कैसे प्रत्याशी को चुने।

एकदलीय तन्त्र किसी भी आवरण में स्वीकार्य नहीं

चुनाव मैदान में उतरे प्रमुख दलों में से कुछ ने समाजवाद अपना आदर्शवाद माना है। किन्तु, जर्मनी का समाजवाद नाजीवाद में और इटली का समाजवाद फासीवाद में बदल गया। इनके उत्थान-पतन का इतिहास तथा उसके फलस्वरूप एकदलीय अधिनायकवाद के दुष्प्रभाव सर्वविदित हैं। अपने देश में इसकी वही दु:खद गाथा नहीं दोहरायी जाएगी, इसकी कोई गारण्टी नहीं। प्रत्येक नागरिक को बहुमूल्य स्वतंत्रता की सुरक्षा सतर्कतापूर्वक करनी चाहिए। उसे न तो अपनी अस्मिता को राजतन्त्रीय अधिनायकवाद के हाथ गिरवी रखना चाहिए, और न ही स्वयं को चन्द ठीकरों पर बिका दास बनने की छूट देनी चाहिए। अत: तथाकथित समाजवादी आदर्शों के बीच से सावधानीपूर्वक लक्ष्य का सन्धान करना चाहिए और दृढ़निश्चयी होकर उनसे अपना मुख मोड़ लेना चाहिए, जो असामाजिक व अराष्ट्रीय सिद्धान्तों में लिप्त हों।

साम्यवादी दल रूसी खेमें के समर्थक हैं और भारत में उस प्रणाली की स्थापना का स्वप्न देख रहे हैं। हाल ही में हंगरी में घटी घटनाओं से इस प्रणाली की स्पष्ट कल्पना हो सकती है। उन्होंने अपने जीवन के चालीस वर्षों में ऐसे रक्तपात व सामूहिक हत्याकाण्ड आदि देखें हैं, जिनकी बराबरी मानव सभ्यता के सर्वाधिक अंधेरे एवं बर्बर काल में भी नहीं मिल सकती। इस आत्म-घोषित प्रगतिशील विचारधारा के भयानक प्रभाव औसत आदमी को दास बनाने, संवेदनाओं, भावनाओं व विचारों पर कठोर नियंत्रण लाने तथा स्वातंत्र्य-दमनकारी तरीकों से मानव को निर्जीव पुर्जामात्र बनाकर रखने में देखा जा सकता है। यह हम लोगों की प्राचीनतम विरासत के बिल्कुल प्रतिकूल है। वास्तव में साम्यवाद और समाजवाद में हमें कोई भी ग्राह्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही उस प्रतिक्रियावादी प्रक्रिया की विकृत सन्तान हैं, जो सभी उत्पादन साधनों, सम्पदा तथा राजसत्ता को चन्द हाथों में समेटकर जीवन के सब पहलुओं पर क्रमश: बढ़ते जाते कठोर नियंत्रण द्वारा व्यक्तिगत जीवन को निर्जीव एवं निरानन्द बनाना चाहते हैं।

हिन्दू-विरोधी थैली के चट्टे-बट्टे

ये दल अहिन्दू होने पर गर्व करते हैं। हमारे अस्तित्व व समरसता की जड़ों को खोखला कर हमारी हिन्दू जीवन-पद्धति के विरोधी विभिन्न कानूनों (जो गौ के प्रति हमारी सम्मानपूर्ण भावना, संस्कृति तथा विशिष्ट धर्म के विरोधी हैं) को मुस्लिम-समाज के पक्ष

में लागू करते हैं। यह पक्षपात रवैया कांग्रेस द्वारा अपने प्रत्याशी-चयन में मुस्लिम-आरक्षण के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण, उनके आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने इत्यादि में उनके कुत्सित हिन्दू-विरोध का संपूर्ण वीभत्सता के साथ पर्दाफाश करता है।

यदि सत्ता की बागडोर ऐसे हिन्दुओं (प्राय: हिन्दू विरोधियों) के हाथ में चली गयी, तो हिन्दू समाज, धर्म व संस्कृति और हिन्दुओं के अभिलाषित मानबिन्दुओं के समूलोच्छेदन का संकट पैदा हो सकता है। कभी-कभी कुछ सचमुच अच्छे व्यक्ति उनके प्रत्याशी बनकर चुनाव में उतर सकते हैं। मतदाता यदि केवल ऐसी अच्छाई (!) से ही निर्देशित होगा तो वे प्रत्याशी निश्चित रूप से विजय लाभ करेंगे। किन्तु, उस दल के अनुशासन में फंसकर उनके हिन्दू विचार, आदर्श, श्रद्धा एवं गुण किसी काम नहीं आएंगे और वे उस दल-तन्त्र में पूर्णरूपेण अस्तित्वहीन हो जायेंगे।

उचित चयन के लिए

मैं उस महान् समाज का आह्वान कर रहा हूं, जिसके लिए अथक प्रयास करना मेरा धर्म बन गया है। उस पुरातन-चिरन्तन हिन्दू राष्ट्र को, जिसकी आराधना मैं दिव्य शक्ति की सच्ची अभिव्यक्ति के रूप में करता हूं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे सभी आत्मचेतना से अनुप्राणित तथा स्वतंत्र व अकुतोभय होकर अपने मताधिकार का प्रयोग करें तथा व्यक्ति एवं दल के समर्थन-हेतु किसी के बहकावे में न आयें और पथ से रंचमात्र भी डिगे बिना अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करें। वे सतर्क एवं विवेकशील बनें और संकल्पबद्ध होकर अपना मत ऐसे दल और व्यक्ति को दें, जो हिन्दू समाज तथा हिन्दू-हितों के प्रति समर्पण भाव रखने वाले, अनुदारता से मुक्त, प्रगतिकामी, विशालहृदय व उदारवादी, घृणारहित तथा मतभेद रखने वाले लोगों के प्रति भी अविरोधी हों। अनिवार्यत: प्रभावी हिन्दू, उज्ज्वल वैयक्तिक व राष्ट्रीय चरित्र-सम्पन्न, पदारूढ़ या पदरहित होकर भी राष्ट्र-समाज की सेवा के लिए कृतनिश्चय पद, प्रतिष्ठा, पैसे, प्रसिद्धि व यश की चाह से निर्लिप्त, समरसतापूर्ण सामूहिक कार्यशैली के महत्व के कद्रदान, मातृभूमि व उसकी सन्तानों के प्रति आस्था व समर्पण के भाव से आप्लावित तथा अपने निजी सुख-दु:ख को पूरी तरह भुलाकर कठिनतम कार्य के गुरुतर दायिव का निर्वहन करने में सक्षम हों। ऐसा आचरण करने पर ही मतदाता का वोट व्यर्थ नहीं जायेगा। इस सावधानी से ही मतदाता अपनी प्रिय मातृ-भूमि भारतमाता के पूंजीभूत वैभव सम्मानपूर्ण राष्ट्रजीवन की सुदृढ़ आधारशिला रखने में सहायक होने का अलभ्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

❑❑❑

चुनाव–परिणाम के सन्दर्भ में मार्गदर्शन

(एक कार्यकर्ता को सम्बोधित पत्र का अंश)

मुझे विश्वास है कि आप चुनावी राजनीति के प्रति मेरी अरुचि से भली-भांति परिचित हैं। जो चुनाव में हारे हैं, वे परिणामों को खेल-भावना से ग्रहण कर शोक-क्लेश से ऊपर उठकर, जय-पराजय को समभाव तथा अनासक्तिपूर्वक कार्य करने की अपनी संस्कृति की सच्ची भावना से स्वीकार करें। जिन्होंने विजयश्री का वरण किया है, उन्हें आनन्द मनाने का अधिकार तो है; किन्तु गर्व से फूलने का नहीं। पराजित लोगों को स्वाभाविक रूप से दु:ख होगा, किन्तु निराश और हतोत्साहित होने का कोई भी कारण मुझे नहीं दिखता। सदैव की भांति यह एक ही राष्ट्र के विभिन्न दलों के बीच एक खेल है, जिसे पूर्ण मैत्री एवं भ्रातृत्व की भावना से प्रणोदित होकर खेला जाना चाहिए।

चुनाव-प्रचार में स्वाभाविक रूप से कुछ उग्रता व कटुता उत्पन्न हो ही जाती है; परन्तु मेरे विचार से ये सभी अवांछित भाव तत्काल समाप्त होने चाहिए और 'हम एक राष्ट्र व एक मातृभूमि की एक सन्तान है' - यह उत्कट भाव निर्माण होना चाहिए। सभी को दलीय भावनाओं से उठकर पारस्परिक सहयोग से समाजहित के कार्यों में जुटने हेतु कृतसंकल्प होना चाहिए। वस्तुत: सहमति का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और मतभेदों का दायरा अति सीमित, नगण्य-सा है। इसी दृष्टि के सहारे हमारा लोकतंत्रीय स्वरूप इसको ही नष्ट करने और देश में अराजकता निर्माण करने के इच्छुक तत्वों के समस्त आघात सहकर भी चिरंजीवी रह सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

❑❑❑

हमारे कार्य के लक्ष्य का अंतिम स्वरूप
हमारे समाज की पूर्ण संगठितावस्था, जिसमें
प्रत्येक व्यक्ति, आदर्श हिंदू मनुष्यत्व की मूर्ति
बनकर समाज के संगठित व्यक्तित्व का
सजीव अंग होगा।

उल्लेख सूची

(ग्रन्थ में आए विशेष व्यक्ति, प्रसंग, स्थल आदि का उल्लेख)

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्
उत्तर पूर्वांचल (नेफा) के विद्यार्थियों को शिक्षार्थ महाराष्ट्र लाने का प्रकल्प २४३
अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन, नागपुर ६६
अगस्त्य ७१
अजीजान व तात्या टोपे ४५६
अर्जुन ६६, ११६, १५६, २५५, २७१, ३३८
अध्यात्म रामायण २७७
अर्थशास्त्र (कौटिल्य) २०६
अन्तरराष्ट्रीयता २६२-२६३
अफ़जल खां १६०-४६०
अबू बेन आदम ३४३
अभ्यंकर बॉरिस्टर
डाक्टर हेडगेवार की निन्दा में बोलने के लिए शब्द नहीं ४६१
अम्बेडकर ३५०, ४८६
अमेरिका २५६, २६७, २६५, ३१६
अमेरिकी संवाददाता और
गुरुजी की भेंट २३६
अरविन्द ७३, ८३, १५४, ५०८
अराजकतावाद ३१
अल्पसंख्यकों का प्रश्न ४८६
अवतार २८१
अष्टावक्र
राजा जनक के दरबार की कथा ४४६
अस्पृश्यता-मूल ३४७
एकता पर बल दो, भेदों की अनदेखी करें ३५२
असम ८६, २६७, ३००-३०१
छोटे-छोटे राज्यों में विभाजन २४६
कम्युनिस्टों की प्रवंचना २६४
चाय बागानों के अंग्रेज व हिन्दू मालिक ३६१-६२
असमी-बंगला झगड़ों का मुसलमानों को लाभ २१६-२१७
बंगला भाषियों के विरुद्ध दंगे १७८-१७६
अंग्रेज, नायडू, ब्राह्मण चपरासी की कथा १३५
आज़ाद मौलाना १८६, १८७
आन्ध्र प्रदेश
पृथक तेलंगाना हेतु आन्दोलन २४८
आर्य ५६
आर्य और हिन्दू ६६
आर्य-द्रविड़ वाद ११६
आयुर्वेद-शल्य क्रिया २०७
इंग्लैण्ड २३०, २५८, २६२, ३१०, ३१७, ३२८
इण्डियन नेशनल कांग्रेस
संघ-राज्य व भाषावार प्रान्त २२५
अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का अस्थायी उद्देश्य २३३
इण्डिया ऑफिस को पत्र १३५
इब्राहिम खान, गारदी १३१, १६०, १६१
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर
स्वावलम्बन का आदर्श ४३०
ईसाईयत १८८-१७४
रक्तरंजित विस्तारवाद ६
मिशनरी ५०७
ईसाई प्रचारक और गुरुजी १६०

एकात्म शासन पद्धति १६६, २२२-२८, २४८
एमेरी-देशभक्ति की प्रेरणादायक परम्परा का उदाहरण ३६८
औरंगज़ेब ७०, १४६, २११, २६४, ४२४, ४४४
कर्ण (गुजरात के राजा की कथा) ४२४
कबीर ४४३
कामा मैडम १४१
कार्यकर्ता (ध्येयवादी मनुष्य) ४४५
काश्मीर
विलीनीकरण का प्रश्न ३२०
कुन्ती
एक चक्र पुरी १५३
युद्ध में जाने के लिए आशीर्वाद २८६
कुम्भकर्ण ३३३
कुमारप्पा, जे.सी.
रूस-चीन यात्रा के बाद चेतावनी २६५
कुरान ४८४, ४८८
कुंवर सिंह बाबू ३०५
खुश्चेव २६५
कौटिल्य २०६
कोलम्बस ६
खण्डोलबल्लाल ४२६-४२७
गफ्फार खां, अब्दुल ३१८
गांधारी ८६
गांधी इंदिरा
भारत की उज्ज्वल परम्परा का उल्लेख २५२
गांधी, मोहनदास कर्मचन्द (महात्मा)
अस्पृश्यता निर्मूलन प्रयत्न ३४७
कांग्रेस को भंग करने का परामर्श २३३
गोलमेज परिषद् ४१७
हेडगेवार से भेंट ४१४, ३५३
संघ शिविर, वर्धा में ४१४
गीता रहस्य १६०
गुरु गोविन्द सिंह ७२, १२५, १४५, ३०५, ३७२, ४२६
गुरु दक्षिणा-समर्पण की परम्परा ४०८
गुरु पूर्णिमा, दक्षिणा की कल्पना ४७०
गोलवलकर, माधव सदाशिव
अंतिम संदेश ४७५-४८०
आर्थिक प्रश्न संबंधी ४६८-५००
काशी विद्यापीठ का अनुभव ३६२
गिरिजन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर ३५८
गोलवलकर व ईसाई मिशनरी भेंट १६०
गोलवलकर व छागला भेंट २४४-४५
गोलवलकर व पटेल भेंट १८०
गोलवलकर व मुखर्जी भेंट ४६७-६८
सूफी विद्वान से भेंट १८६
गोहत्या बन्दी आन्दोलन ४६३-६५
घर-
संस्कार केन्द्र, माता-पिता का कर्तव्य ३७७
चाऊ एन लाई २६४
चांडाल व विश्वामित्र
शरीर रक्षा संबंधी कथा २६६
चाणक्य ८६
चारित्र्य
व्यक्तिगत व राष्ट्रीय ४१८
दूसरा पहलू-राष्ट्रीय ४२४
चीन १४, १४०, १६८, २५६, २८६, ३२२
चैतन्य महाप्रभु ७२, ४२७
चंगेज खां २६७
चन्द्रगुप्त २१०
चन्द्रशेखर आजाद ४४८
छत्रसाल १४६, ३०५
छागला, मौहम्मद करीम
गोलवलकर से भेंट २४४-४५
ज्योतिषी २६३
ज्योतिषी व राजा की कथा ४४८
जनसंघ-भारतीयकरण ४६०
जयचन्द ११०, १२५, २११

जयप्रकाश नारायण २६७
जयसिंह २११, ४२४
जॉन्सन, कोषकार व स्वर्णकार संवाद ५१४
जसवन्तसिंह २११
जाबाला २४२
जिलानी-गोलवलकर वार्ता ४८३-४६१
जैमिनी व महर्षि व्यास की कथा ४४६-४५०
टायनबी, अर्नाल्ड
पाकिसतान निर्माण संबंधी लेख १७८
टीपू सुल्तान १६६
ठाकुर, रवीन्द्रनाथ
मातृभूमि की स्तुति ८३
जापान-गुलाम राष्ट्र का सन्देश सुनना नहीं चाहते २६८
तात्या टोपे ३०५
व अजीजान की कथा ४५६
तिलक १११, १६०, २७७, ३८४
संगीत कार्यक्रम का प्रसंग ४५४
हिन्दू राष्ट्र-शब्द प्रयोग ३०५
तुकाराम ७२
दया की परिभाषा २७३
तुलसीदास ७२, १२०
दधीचि २४
दयानन्द स्वामी ७३, ३४७
देवो दुर्बल घातकः २७२
द्रौपदी २८४, ४२५, ४३०
नानक ७२, ३४७, ३६२
आत्म-समर्पण का आनन्द ४५४-५५
नारायण गुरु ३४७
निवेदिता-सामूहिक प्रार्थना ४१७
नेहरू, जवाहरलाल ६७, १३०, १७०, १७४, १८६, २३६, २५०, २७०, २६३, २६७, ४३६
नागा पर्वतीय क्षेत्र में प्रवास २३६
मुस्लिम जनसम्पर्क १४७
विरोध ही राष्ट्र अपमान ३६७
पूर्ण स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा ३१८
संस्कृति के चार अध्याय १३०
हिन्दू शब्द के बारे में मत १००-१०१
हिन्दू संस्कृति का प्रभाव ३६
नौरोजी, दादाभाई १४१
पटेल, वल्लभ भाई १८६
पटेल व गुरुजी भेंट १८०
पण्डित, विजयलक्ष्मी २६७,४३६
परशुराम ४५५
पलुस्कर विष्णु दिगम्बर १४३
पानीपत युद्ध १३२,२६३-६४
पालकर, नेताजी ४४४
पृथ्वीराज चौहान ११०,१२५,२३६
प्रहलाद ५१-४२
बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ १४७
बलराम ४५१
बंकिमचन्द्र ८३
बंदा बैरागी ७२
ब्राह्मण व बकरी की कथा १५५-५६
बिच्छू व साधु की कथा ४४७
भगवद्गीता ६६,११६,२७१, २७५, ३५४, ४६७
अहिंसा का उपदेश २७०
सहज कर्तव्य का उपदेश ११६
भगवाध्वज
भगवान का ध्वज ४७१
यज्ञ का प्रतीक ४७१
संघ के गुरु स्थान पर ३८६
भारत-चीन युद्ध ३२२-२३
भारत व पाश्चात्य देशों के संबंध २६७-६८
भीम १५३-५४
भीष्म ६६,२८४
मध्वाचार्य १०६
मनुस्मृति ३०६, ३०७
महाजन, मेहरचन्द १८६

महाभारत ८६, १५३, २१०, २८४, २८६, ४२५-२६, २४२, २९६-९७
नपुंसक की अहिंसा २७०
महाविद्यालय
प्राध्यापक व हमबग की कथा १४९
महमूद अली १४३, १८६-८७
मण्डन मिश्र व शंकराचार्य शास्त्रार्थ ४०६
मालवीय, मदन मोहन ४१७
मानव
जीवन लक्ष्य ३-८२
ऋण-देव/पितृ/ऋषि २०५-०६
मानसिंह ११०, २११, २१६
मुखर्जी, श्यामा प्रसाद
गोलवलकर से भेंट ४६७
हेडगेवार से भेंट ४६७
मुंजे
स्मारक समिति ४७८
रेलवे प्रवास का प्रसंग १५४
मुराराबाजी ४४४
'मेकमोहन सीमारेखा २९५
मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवाद २४
मोपला नाड १८२
मोपला हत्याकाण्ड ५११
मौहम्मद गौरी ११०, १२५, २११, २३९
मौहम्मद पैगम्बर ८८, ११०, २११
युधिष्ठिर का अवतार ४६०
रणजीत सिंह ३१४
रमण महर्षि ७३
राजगोपालाचारी २३५, २९७
जनप्रतिनिधियों का चरित्र ही महत्वपूर्ण ५१५
मुंजे निधिपत्र पर हस्ताक्षर ४७८
हिन्दी थोपने के स्थान पर विभाजन मान्य २३५
राजेन्द्र प्रसाद
असम प्रवास १८८
सोमनाथ मंदिर जीर्णोद्धार १५२
राणा प्रताप ११०, १४६, २११ ३१४, ३५१, ३५६
रानाडे, महादेव गोविन्द ४३०
रामकृष्ण परमहंस ३७, ५५, ७३ १११, ४०१
मिठाई खाने वाले बालक की घटना ४१०
नरेन्द्र से भेंट ८९
रामतीर्थ ६३, ६९, ७३, ४३०-३१
रामदास, समर्थ गुरु ७२
रामलाल (क्रान्तिकारी) ३४५
रामानुज ७२, १०६
रामायण ६३, १५९, ३१७, ३४५, ३५२
उद्‌बोधक कथा भण्डार २४२
राम-रावण युद्ध कथा २७०-७१
राष्ट्र
अप्रतिकार की प्रकृति २७१
आधुनिक विद्वानों का मत १२२
प्रादेशिक राष्ट्रवाद १३३-१५०
राष्ट्र जीवन का प्रवाह शाश्वत ४६
स्वावलम्बन-स्वतंत्रता का मेरुदण्ड ३२४
स्वावलम्बन ही पुण्य, दुर्बलता पाप २६८
राष्ट्र संघ ५, ३१९
लक्ष्मीबाई, झांसी की रानी ३०५
लिंकन, अब्राहम १२७, २२८
लोकशाही व साम्यवाद २२
वशिष्ठ ७१
वन्देमातरम् ८३
वाटरलू की लड़ाई ४१३
वाल्मीकि ४८५
विजयनगर साम्राज्य ३१९, १६०
विदुला-संजय संवाद ३६८
विद्यारण्य, स्वामी ७२
विद्यार्थी संगठन-अपेक्षा ३७७
विनोबा भावे १८१, १९७

विवेकानन्द ३७, ५०, ६३, ७३, ८६, १११, ४२६, ४५६, ५०५, ५०६
विश्व हिन्दू सम्मेलन ५०४, ३४६
विश्वामित्र ७१, २६६
शंकर देव ३५८
शंकराचार्य ४६, ७१, १०६, २०५, २२८, ४०६, ४५२
शास्त्री, लाल बहादुर ३०६, ३२१
शिवाजी महाराज ६३, ११०, १२५, १४५, १४६, १६०, ३०५, ३१४, ३५१, ४२४, ४४४, ४६०
कल्याण के सूबेदार की कन्या की घटना १२४
नेताजी पालकर-हिन्दूकरण ४४४
शिवि राजा-कपोत-रक्षा कथा ४६७
शिक्षक
विचार करने की मौलिक दृष्टि ३८०
ध्येय की प्रेरणा देना ३७२
विकृति की शुद्धि कीजिए २४२-४३
शिक्षा प्रणाली ३७५
श्रीकृष्ण ६४, ७२, ११६, १२०, १५६, २०५, २५५, २७०, २७७, २७६, २८४, ३१४, ३३८, ४४४, ४५१, ४८५
संदीपन आश्रम में सामान्य विद्यार्थी ६५
धर्म संस्थापना हेतु दुष्ट-संहार-आवश्यक २७६
नरकासुर द्वारा अपहृत स्त्रियों से विवाह कर सम्मान दिलाया ४४४
भगवत् गीता संदेश २७१
सुदामा के साथ मैत्री ६५
शेख अब्दुल्ला २६७
संभाजी ४२६
समाजवाद
मतपत्र द्वारा समाजवाद १६८
३०५
सात्यिकी
ब्रह्मराक्षस व क्रोध की कथा ४५१
सांदीपनी ६५
साम्प्रदायिकता के सात रूप ६६-६७
सावरकर, विनायक दामोदर १३६
सावित्री ४२
सावित्री की आत्मा का आह्वान ३७१
सेक्यूलरवाद १६२-६३
हिन्दू
अनेकता में एकता-विशेषता १०४
अन्य सम्प्रदायों के प्रति समादर ३०७-०८
अविभाज्य निष्ठा १६६-७०
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति १०३
जीवन लक्ष्य ५६
व्याख्या ५६
व्युत्पत्ति १००
संगठन कालबाह्य नहीं ५१२
समाज व्यवस्था १०२
संस्कार ६२
हिन्दू व सिख १०७-१०८
हिन्दू जीवन पद्धति
व्यक्ति और समाज हितों का समन्वय ३३
स्वधर्म निधनं श्रेय: सूत्र ६६
हिन्दू तत्वज्ञान
अस्पृश्यतादि-दोषों के कारण ५०८
आंतरिक सुसंवाद के समानसूत्र ६
चतुर्विध पुरुषार्थ १८
जागतिक एकता का विचार ८
भावात्मक सक्रिय जीवन ६६
विविधता में एकता का दर्शन ७-८
व्यक्ति व समाज पूरक २६
समाज जीवन के आदर्श ६४
समावेशकता १७०
हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व १२१
हिन्दू राष्ट्र व सेक्यूलरिज्म १५६

अल्पसंख्यकों को सच्चा आश्वासन १६२
हिन्दू राष्ट्रीयत्व १५२
हिन्दू समाज
आत्म-विस्मृति के उदाहरण २१६
पारस्परिक समानता के लिए धर्माचार्यों का ऐतिहासिक निर्देश ३४७-४८
वर्ण-व्यवस्था वैशिष्ट्य १०९-१११
विविध पंथोपंथ व उपासना पद्धति ५०९
हिमालय ८५
हिरण्यकश्यप ९७
हुसैन, ज़ाकिर
मस्जिद का उद्घाटन १६३
हेडगेवार, केशव बलीराम ५३, २२९, ३५३, ३८३-८४, ३८९, ४६८
अखण्ड कर्मयोग ४६६
अनुपम कार्य कौशल्य ४६३
अभ्यंकर-प्रोमेसरी नोट ४६१-६२
असहयोग आन्दोलन में सहभाग ४६०
आत्म-विलोपित ४६४
आदर्श कार्यकर्ता ४४३-४५६
कांग्रेस के स्वतंत्रता-आन्दोलन में भाग ३८४
गांधी जी से भेंट ३५३, ४१४
मुखर्जी से भेंट ४६७
कांग्रेस व मुंजेह्नरेल प्रवास का प्रसंग १५४
सभा में पूर्व-शिक्षक के पैर छूकर सम्मान से बिठाया ६६-६७
ज्ञानेश्वर ७२, ४५९
ज्ञानेश्वरी ५४, ३६७

❑❑❑